...निगरानी डीएम के हवाले

आगरा : प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना में ठेकेदारों और इंजीनियरों के बंदरबांट पर लगाम लगाने के लिए अब जिलास्तर पर डीएम की अध्यक्षता में कमेटी गठित होगी। सीडीओ और डीएम की अगुआई वाली इस कमेटी की ओके रिपोर्ट के बाद ही अब ठेकेदार को सड़क निर्माण का भुगतान हो पाएगा।

ग्राम्य विकास अनुभाग ने यह फैसला विभिन्न जिलों के सीडीओ की उस शिकायत के बाद किया है, जिसमें कहा गया था कि उनको प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के कार्यों की जानकारी उपलब्ध नहीं करायी जाती। प्रमुख सचिव रोहित नंदन ने डीएम की अध्यक्षता में कमेटी गठित करने के आदेश दिये हैं, जिसमें सीडीओ संयोजक होंगे और सम्बन्धित पीआईयू के अधिशासी अभियंता, अधीक्षण अभियंता और डीएम द्वारा नामित राजस्व विभाग के अधिकारी सदस्य रहेंगे।

एफबीआई ने मुंबई हमले में पाक नागरिकों से की पूछताछ

मुंबई, एजेंसी : गत वर्ष 26 नवंबर को मुंबई में हुए आतंकी हमले के सिलसिले में अमेरिका में भी मुकदमा दर्ज किया गया है। इस सिलसिले में कुछ पाकिस्तानी नागरिकों से पूछताछ भी की गयी है। अमेरिकी जांच एजेंसी फेडरल ब्यूरो आफ इंवेस्टिगेशन (एफबीआई) ने गुरुवार को मामले की सुनवाई कर रही विशेष अदालत में यह जानकारी दी। एफबीआई ने हालांकि इन लोगों के नाम का खुलासा नहीं किया।

गवाह ने विशेष लोक अभियोजक उज्ज्वल निकम को बताया कि मुंबई आतंकी हमले में छह नागरिकों की मौत के चलते लास एंजिलिस में भी एक मुकदमा दर्ज किया गया है। अमेरिकी कानून के अनुसार किसी अमेरिकी नागरिक की विदेश में हत्या होने पर देश में मुकदमा दर्ज कर मामले की जांच का प्रावधान है।

मूट कोर्ट प्रतियोगिता आ...

भरतजी अग्रवाल

इलाहाबाद : विधि के छात्रों को कर क्षेत्र का प्रखर अधिवक्ता बनाने व मजबूत बार की संरचना को लक्षित करते हुए 21 से 23 अगस्त तक इलाहाबाद में 'प्रथम राजाराम अग्रवाल स्मृति राष्ट्रीय कर मूट कोर्ट प्रतियोगिता' का आयोजन किया गया है। यह प्रतियोगिता आल इंडिया फेडरेशन आफ टैक्स प्रैक्टिशनर्स (नार्थ जोन) व इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विधि संकाय के संयुक्त तत्वावधान में हो रही है। इस आयोजन से विधि के छात्रों को वरिष्ठ अधिवक्ताओं के साथ चर्चा करने का भी अवसर मिलेगा। आल इंडिया फेडरेशन आफ टैक्स प्रैक्टिशनर्स के नेशनल प्रेसीडेंट एवं वरिष्ठ अधिवक्ता भरतजी अग्रवाल ने गुरुवार को पत्रकारों से बात करते हुए बताया कि यह पहला अवसर है, जब उत्तर भारत में राष्ट्रीय मूट कोर्ट प्रतियोगिता का आयोजन किया जा रहा है। इसमें देश भर के राष्ट्रीय विधि कालेज व विश्वविद्यालयों की कुल 20 टीमें भाग ले रही हैं। प्रतियोगिता चार चरणों में होगी, जिसका मूल्यांकन वरिष्ठ अधिवक्ताओं व न्यायाधीशों द्वारा किया जायेगा। उद्घाटन समारोह इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में 21 अगस्त को शाम पांच बजे होगा। इसके मुख्य अतिथि उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति मार्कंडेय ... उच्चतम न्यायाल... न्यायमूर्ति बृजेश ... न्यायमूर्ति एसआर ... न्यायालय, न्याय... पीठ, इलाहाबाद ... राजेश बिंद ... न्यायालय के ... विश्वविद्यालय के ... शामिल होंगे। श्री ... अगस्त को प्रारंभि... दौर प्रातः दस ... विश्वविद्यालय के ...

स्टाम्प शुल्...

लखनऊ : आर्थिक ... व मध्यम स्तर ... परियोजनाओं के... विकास निगम, ... विकास प्राधिकर... पक्ष में निष्पादित ... स्टाम्प ड्यूटी में ... प्रमुख सचिव कर ... वर्मा द्वारा इस संबं... मुताबिक वृहद ... हेक्टेयर या उस... होंगी। 100 से 50... मध्यम स्तर की ... के लिए संबंधित ... स्तर तक के ... प्रमाण पत्र देना ...

...मि घोटाले की सुनवाई 24 को

...: नोएडा की ... औद्योगिक दर ... दिये जाने के ... प्रशासनिक ... याचिका पर ... न्यायालय में ... गली सुनवाई 24 अगस्त ... मुख्यमंत्री मायावती के ... विकास विभाग ने मुख्य ... गुप्ता से दोषी अफसरों के ... करने पर जवाब तलब ... हितगत याचिका नोएडा के ... राकेश बहादुर, तत्कालीन ... देव दत्त, तत्कालीन ... आयुक्त की हैसियत से इस घपले में लिप्त दोषी अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई क्यों नहीं की। यह घपला पूर्ववर्ती मुलायम सरकार के कार्यकाल में हुआ था। गौरतलब यह भी है कि जिस अवधि में यह घोटाला हुआ उस दौरान भी अतुल कुमार गुप्ता ही औद्योगिक विकास आयुक्त थे। बसपा सरकार के मुताबिक इस घोटाले की वजह से सरकारी खजाने को 4721 करोड़ रुपये की चोट पहुंची है।
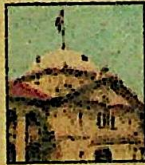
ग्यारह पूर्व सांसदों और दो ...

मुख्यमंत्री आज फि... विकास कार्यों की ...

लखनऊ, जा ब्यू: मंडल स्तरीय पुलिस व प्रशासनिक अधिकारियों के बाद अब प्रमुख सचिवों व सचिवों की बारी है। मुख्यमंत्री मायावती शुक्रवार को योजना भवन में इन अधिकारियों के साथ राज्य सरकार की प्राथमिकता वाले कार्यों व योजनाओं की समीक्षा करेंगी। ज्ञातव्य है कि मुख्यमंत्री पिछले दिनों पुलिस महानिरीक्षकों ... अलग-अलग ... जिनमें उन्हें ... विकास ... उच्चाधिकारि... की थी। इस ... विभागीय प्र... साथ समीक्षा ...

आधुनिक विश्व का इतिहास

(1453 ई० से 1789 ई० तक)

लेखक

डॉ० हीरालाल सिंह

अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० रामवृक्ष सिंह

अवकाशप्राप्त प्रवर उपाचार्य, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग;
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

प्रकाशक

स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स

इलाहाबाद

प्रकाशक :
स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स
3, विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद – 3
फोन : 405708

- संशोधित संस्करण – 2002–2003

लेज़र कम्पोजिंग
शिवा कम्प्यूटर
23/47/163 बी० शिव नगर, अल्लापुर,
इलाहाबाद – 6 फोन नं० 502520

मुद्रक : दि रिपब्लिकन प्रेस, इलाहाबाद

नवाँ संस्करण

आधुनिक यूरोप का इतिहास (1453–1789ई०) अपने नवें संस्करण में आपके समक्ष उपस्थित हैं । पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका में पुस्तक का जो परिचय दिया हुआ हैं, उसे हम पुनः इस संस्करण के साथ संलग्न कर रहे हैं । अल्प काल में इस पुस्तक के नवें संस्करण प्रकाशित हो चुके, इसके लिए हम पाठकों एवं प्राध्यापकों के प्रति अत्यधिक आभारी हैं । विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध हुई, हम इसे ही अपनी उपलब्धि मानते हैं । मुद्रण की असावधानी के कारण पुस्तक के पिछले अनेक संस्करणों में भाषा एवं ऐतिहासिक तथ्यों की अशुद्धियाँ आ गयी थीं जिन्हें प्रस्तुत संस्करण में दूर करने का पूर्ण प्रयास किया गया है ।

अनेक वर्षों से मेसर्स नन्दकिशोर ऐण्ड सन्स, चौक, वाराणसी, ने जो इसके पूर्व इस पुस्तक के प्रकाशक रह चुके हैं, हमारे श्रम का अनुचित लाभ उठाया है । अतः हमें बाध्य होकर पुस्तक का प्रकाशन उनसे लेकर स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स, इलाहाबाद को सौपना पड़ा है । स्टूडेण्ट्स फ्रेण्ड्स इलाहाबाद भारतीय प्रकाशन–जगत में अपना नाम सार्थक कर रहे हैं । इन्होंने पुस्तक का यह संस्करण प्रकाशित कर हमें नये सिरे से पाठक–समुदाय की सेवा करने का अवसर प्रदान किया हैं, जिसके लिए हम उनके प्रति अभारी हैं ।

विजया दशमी, 1981

हीरालाल सिंह
रामवृक्ष सिंह

चौदहवाँ संस्करण

आधुनिक यूरोप का इतिहास (1453-1789ई०) का चौदहवाँ संस्करण आपके समक्ष उपस्थित हैं । अल्प काल में इस पुस्तक के तेरह संस्करण प्रकाशित हो चुके, इसके लिए हम पाठकों एवं प्राध्यापकों के प्रति अत्यधिक आभारी है । विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध हुई, हम इसे ही अपनी उपलब्धि मानते हैं । मुद्रण की असावधानी के कारण पुस्तक के पिछले अनेक संस्करणों में भाषा एवं ऐतिहासिक तथ्यों की अशुद्धियाँ आ गयी थीं जिन्हें प्रस्तुत संस्करण में दूर करने का पूर्ण प्रयास किया गया है ।

यह चौदहवाँ संस्करण तेरहवें संस्करण का ही पुनः मुद्रण है ।

जुलाई, 1989

सत्रहवाँ संस्करण की भूमिका

समयाभाव के कारण प्रस्तुत संस्करण में अधिक परिवर्द्धन का प्रयास नहीं किया गया है, परन्तु बड़ी सावधानी के साथ संशोधित करने का प्रयत्न किया गया है और प्रेस की अनेक अशुद्धियों को ठीक कर दिया गया है । अन्य ग्रन्थों के लिखने में व्यस्त रहने के कारण लेखक को इस ग्रन्थ पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए समय न प्राप्त हो सका, परन्तु जिज्ञासुओं को लेखक यह विश्वास दिलाता है कि आगामी संस्करण को अधिकाधिक परिवर्द्धित करने का यताशक्ति प्रयास किया जायेगा । नये सुझावों का कृतज्ञतापूर्वक स्वागत किया जायेगा ।

लेखक—

15 जुलाई, 1993

भूमिका

जब तक भारतीय विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा रही है, तब तक यूरोपीय इतिहास पर हिन्दी में पुस्तकों के प्रणयन की ओर लेखकों का ध्यान नहीं जा सका। परन्तु देश की स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् जब हमारी राष्ट्रभाषा शिक्षा का माध्यम बन गयी है, तब से इस विषय पर हिन्दी में पुस्तकों के घोर अभाव ने विद्यार्थियों के लिए एक गहन समस्या का रूप धारण कर लिया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की अनुभूति का परिणाम है।

मध्य और आधुनिक काल की सन्धि में यूरोपीय इतिहास में 'पुनर्जागरण' (Renaissance) की जो सशक्त धारा प्रवाहित हुई और उसके परिणामस्वरूप राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में जो व्यापक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उनके संक्षिप्त विवरण के साथ प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन प्रारम्भ हुआ है। सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में स्पेन और धर्म-सुधार की, सत्रहवीं में फ्रांस की तथा अठारहवीं में उद्‌बुद्ध निरंकुश राजतंत्र (Enlightened Despotism) और उपनिवेशों एवं साम्राज्य स्थापनार्थ विश्वव्यापी संघर्ष की प्रधानता रही है। अतः इस ग्रंथ में आवश्यकतानुसार इनका तो विस्तार वर्णन है, किन्तु यूरोपीय इतिहास के सर्वांगीण ज्ञान के लिये आवश्यक समझकर इन शताब्दियों के अन्य दूसरे राज्यों का संक्षिप्त विवरण भी दे दिया गया है। साथ ही पुस्तक के सीमित आकार तथा विश्व-विद्यालयों द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर राजनीतिक इतिहास का तो यथासम्भव विशेष विवेचन है, किन्तु सांस्कृतिक प्रगति के संक्षिप्त परिचय-मात्र से ही हमें सन्तोष करना पड़ा है।

वस्तुतः यूरोपीय इतिहास के प्रत्येक अंग पर यूरोपीय भाषाओं में प्रणीत साहित्य इतना विस्तृत और व्यापक है कि इस विषय पर किसी प्रकार की मौलिकता का दावा करना व्यर्थ है और हमें यह स्वीकार करने में रंचमात्र संकोच नहीं कि प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में अंग्रेजी भाषा में प्राप्य प्रामाणिक ग्रन्थों का पूर्ण उपयोग किया गया है। यह बात दूसरी है कि प्रत्येक विषय के विवेचन एवं निरूपण की शैली हमारी अपनी है। हमने अपने वर्षों के अध्ययन-अध्यापन एवं अनुभव के आधार पर इस पुस्तक में विभिन्न दृष्टिकोणों की पूर्ति का यथा-साध्य प्रयास प्रयास किया है और हमें विश्वास है कि इसके द्वारा स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों को इस विषय-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति तो हो सकेगी ही, यूरोपीय इतिहास में अभिरुचि रखने वाले अन्य पाठक भी इससे लाभ उठा सकेंगे।

ग्रन्थ के प्रणयन में हमें यूरोपीय नामों के शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देना पड़ा। वस्तुतः यूरोप की भिन्न-भिन्न भाषाओं में स्थानों और व्यक्तियों के नामों के भिन्न-भिन्न उच्चारण प्रचलित हैं, ऐसी दशा में कौन-सा उच्चारण स्वीकार किया जाय, यह समस्या कठिन थी, इस परिस्थिति में अधिकांश के उच्चारण में तो हमने इस देश की भाषा को ही प्रधानता दी है, परन्तु कुछ नामों के अंग्रेजी उच्चारण इतने व्यापक रूप से प्रचलित और मान्य हो चुके हैं कि हमें बाध्य होकर उनके स्वरूप को स्वीकार करना पड़ा है और कुछ स्थानों पर पाद-टिप्पणियों में उनके तत्सम रूप का भी निर्देशन कर दिया गया है।

पाठकों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में महत्वपूर्ण नामों और घटनाओं की संक्षिप्त अनुक्रमणिका तथा प्रमुख वंश-वृक्षों के कोष्ठक भी प्रस्तुत किये गये हैं। विभिन्न यूरोपीय देशों और राज्यों के कुछ मानचित्र भी यथास्थान संलग्न हैं जो स्थानों की भैगोलिक स्थिति तथा राज्यों की सीमा की जानकारी में सहायक होंगे। साथ ही यूरोपीय इतिहास के गम्भीर और व्यापक अध्ययन के लिये अंग्रेजी भाषा में प्रणीत ग्रंथों की एक संक्षिप्त सूची भी पुस्तक के अन्त में दे दी गई है जो जिज्ञासु पाठकों के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकेगी।

पुस्तक के गुण—दोष का वास्तविक विवेचन तथा इसकी उपयोगिता का यथार्थ मूल्यांकन तो विज्ञ पाठकों और यूरोपीय इतिहास के प्राध्यापकों पर है । पर इसे अधिक उपादेय बनाने के निमित्त हमें उनके बहुमूल्य सुझाव सधन्यवाद स्वीकृत होंगे।

अन्त में हम डा० रमाशंकर त्रिपाठी, अध्यक्ष, इतिहास विभाग तथा आचार्य, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, के प्रति सहर्ष आभार स्वीकार करते हैं जिनसे प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में प्रेरणा एवं समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए हैं। प्रो० केदारेश्वर भट्टाचार्य के प्रति भी हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने यूरोपीय इतिहास की उलझनपूर्ण गुत्थियों के स्पष्टीकरण में हमारी सहायता की है।

हीरालाल सिंह
रामवृक्ष सिंह

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
1. आधुनिक यूरोप का प्रारम्भ मध्यकाल का अन्तिम स्वरूप : धार्मिक एकता, सामन्तवाद, नगरों का उत्थान-पुनर्जागरण-इटली में पुनर्जागरण : मानववाद, साहित्य, स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्र-कला-यूरोप में पुनर्जागरण-आविष्कार और विज्ञान-भैगोलिक अनुसन्धान : नवीन व्यापारिक मार्गों की खोज, पुर्तगाल का प्रयास, स्पेन-औपनिवेशिक साम्राज्य-आधुनिक काल की विशेषताएँ: राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक।	1-31
2. आधुनिक काल के प्रारम्भ में प्रमुख राज्य इटली : मिलान, वेनिस, फ्लोरेंस, रोम-नेएल्स-जर्मन साम्राज्य : सम्राट् मैक्सिमिलियन-स्पेन : फर्डिनैड और इजाबेला-फ्रांस : चार्ल्स अष्टम, लुई द्वादश-इंग्लैण्ड : हेनरी सप्तम।	32-42
3. धार्मिक आन्दोलन धर्म सुधार के कारण-मार्टिन लूथर : किसानों का विद्रोह-प्रोटेस्टेंट नामकरण-ऑगसबर्ग की सन्धि-जर्मनी में धर्म-सुधार के प्रारम्भ होने के कारण-लूथरवाद का प्रसार-इग्लैण्ड में आंग्ल चर्च-अन्य प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय : ज्विंगलीवाद कैल्विनवाद, कैल्विन के सिद्धान्त, लूथर और कैल्विन, कैल्विनवाद का प्रसार-कैथलिक धर्म-सुधार :	43-68

प्रोटेस्टेंट आन्दोलन की दशा, ट्रेंट की कौंसिल,जेसुइट संघ, निषिद्ध ग्रन्थों की सूची, धार्मिक न्यायालय, कैथोलिक धर्म-सुधार की सफलता के कारण, धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव।

4. स्पेन का चरमोत्कर्ष 69-97

चार्ल्स पंचम : स्पेन की महत्ता के कारण, चार्ल्स का उत्तराधिकार, स्पेन का शासन, नेदरलैंड्स, फ्रांस के साथ युद्ध, इंगलैण्ड के साथ सम्बन्ध, तुर्कों के साथ संघर्ष, जर्मन सम्राट् के रूप में, चरित्र-फिलिप द्वितीयः उत्तराधिकार नीति, स्पेन का शासन, यूरोपीय धार्मिक नीति, फ्रांस के साथ युद्ध, चरित्र-नेदरलैण्ड्स का विद्रोह, विद्रोह का कारण, मार्गरेट का शासन, अल्वा का क्रूर शासन, आरेंज का राजकुमार विलियम, परमा का शासन।

5. फ्रांस और धर्म-सुधार 98-107

पुनर्जागरण-धर्म-सुधार : फ्रांसिस प्रथम, हेनरी द्वितीय-गृह-युद्ध : कैथेरीन द मेडिची, दल-संगठन, फ्रांसिस द्वितीय, चार्ल्स नवम, सैं जमैं की सन्धि, सेंट बार्थोलोम्यू दिवस, हेनरी तृतीय, तीन हेनरियों का युद्ध।

6. सोलहवीं शताब्दी के अन्य राज्य 108-121

जर्मनी : राजनीतिक विघटन, धार्मिक विभाजन इंगलैण्ड : सुदृढ़ राजतंत्र, बाह्य नीति, स्काटलैण्ड के साथ सम्बन्ध, आयरलैण्ड से सम्बन्ध, देश का बहुमुखी उत्कर्ष-स्वीडेन : वासा राजवंश, तुर्क साम्राज्य : तुर्कों की यूरोपीय विजय, शासन-व्यवस्था।

7. फ्रांस उत्कर्ष की ओर 122–143

हेनरी चतुर्थ : प्रारम्भिक कठिनाइयाँ, धर्म-परिवर्तन, नाँत का अध्यादेश, दृढ़ राजतंत्र की स्थापना, सुधार कार्य, बाह्य नीति, चरित्र-लुई त्रयोदश-कार्डिनल रीशलू : नीति, राष्ट्र की एकता, शासन का केन्द्रीकरण, बाह्य नीति, चरित्र-कार्डिनल मेजरिन : फोंद, परराष्ट्र-नीति

8. तीस वर्षीय युद्ध 144–163

युद्ध के कारण-बोहेमिया का विद्रोह-बोहेमिया और पैलेटिनेट के युद्ध-डेनिश हस्तक्षेप-वालेन्स्टाइन-गस्टवस एडाल्फस स्वीडिश काल-फ्रेंच काल-वेस्टफैलिया की सन्धि-सन्धि का महत्व स्पेन के पतन के कारण।

9. फ्रांस का चरम-उत्कर्ष 164–192

लुई चतुर्दश का काल-लुई के राजनीतिक विचार वर्साई-फ्रांस की सांस्कृतिक उन्नति-प्रमुख राजकर्मचारी-कोल्बैर-लुई की परराष्ट्र-नीति-लुई के युद्ध : डीवोल्यूशन का युद्ध, डच-युद्ध, ऑग्सबर्ग की लीग का युद्ध-स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध : राज्य के उत्तराधिकारी, प्रंश्न का यूरोपीय रूस, विभाजन की सन्धियाँ, युद्ध की प्रमुख घटनाएँ, यूट्रेक्ट की सन्धि की समीक्षा-लुई की धार्मिक नीति-लुई का चरित्र।

10. सत्रहवीं शताब्दी के अन्य राज्य 193–215

इंग्लैंड : स्टुअर्ट राजा और पार्लियामेंट, गृह-युद्ध, कामनवेल्थ राजतंत्र की पुनः स्थापना, शानदार विप्लव-स्वीडेन : गस्टवस एडाल्फस, क्रिस्टिना, चार्ल्स दशम, चार्ल्स एकादश, चार्ल्स द्वादश, स्वीडेन के पतन के कारण-हालैंड : व्यापारिक उन्नति, धार्मिक मतभेद, संघर्ष का प्रारम्भ, फ्रेडेरिक हेनरी,

विलियम द्वितीय, जन द विट-टर्की। दौर्बल्यारम्भ, वियना का घेरा, धर्म-युद्ध।

11. रूस का उत्कर्ष 216-250

जारशाही की स्थापना : बाह्य प्रभाव, इवान महान्, इवान चतुर्थ, यूरोपीय सम्पर्क के अभाव के कारण-रोमनाफ राजवंश : अशान्ति काल, प्रथम तीन जार-पीटर महान् : गृह-नीति, बाह्य नीति, पीटर के कार्यों का मूल्यांकन, चरित्र-पीटर महान् के उत्तराधिकार : कैथरीन प्रथम, पीटर द्वितीय, एन्न, एलिजाबेथ, पीटर तृतीय-कैथेरीन महान् : सिंहासनारोहण, गृह-नीति, बाह्य-नीति, पश्चिमी और मध्य यूरोप, टर्की के साथ युद्ध-पोलैंड का विभाजन : पोलैंड के पतन के कारण, स्टैनिसलास का निर्वाचन, पोलैण्ड का प्रथम विभाजन, द्वितीय विभाजन, तृतीय विभाजन-कैथेरीन का चरित्र।

12. प्रशा का उत्थान 251-272

प्रारम्भिक विकास-फ्रेडेरिक विलियम : परराष्ट्र-नीति, गृह-नीति-फ्रेडेरिक तृतीय-फ्रेडरिक विलियम प्रथम-फ्रेडेरिक महान् राजनीतिक विचार, सुधार कार्यों की समीक्षा-उद्बुद्ध निरंकुशता : चार्ल्स तृतीय, जोसेफ प्रथम गस्टवस तृतीय, उद्बुद्ध निरंकुशता की कमजोरी।

13. आस्ट्रिया 273-300

आस्ट्रिया का साम्राज्य : आस्ट्रिया और हैप्सबर्ग राजवंश, बोहेमिया और हंगरी, नेदरलैड्स और इटली के राज्य, शासन की कठिनाइयाँ-आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध : उत्तराधिकार-स्वीकृति-पत्र, युद्ध का प्रारम्भ, घटनाएँ, एक्सलाशापेल की सन्धि-कूटनीतिक क्रान्तिः आस्ट्रिया और इंगलैण्ड कोनित्ज

और फ्रांस, वेस्टमिंस्टर की सन्धि, वर्साई की सन्धि, कूटनीतिक क्रान्ति का प्रभाव-सप्तवर्षीय युद्ध : युद्ध का प्रारम्भ, प्रमुख घटनाएं, फ्रेडेरिक की रक्षा, हूबरटसबर्ग की सन्धि मेरिया थेरेसा के शासन-सुधार-जोसेफ द्वितीय : धार्मिक सुधार, शासन-सुधार बाह्य नीति, चरित्र।

14. अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड 301-312

कैबिनेट-प्रथा-औपनिवेशिक साम्राज्य : सप्तवर्षीय युद्ध, पेरिस की सन्धि-अमरीकी स्वतंत्रता का संग्राम : संघर्ष के कारण, युद्ध की प्रमुख घटनाएँ।

15. फ्रांस क्रान्ति की ओर 313-349

लुई पंचदश : आर्लेआँ का शासन, कार्डिनल फ्लेरी-पोलैंड के उत्तराधिकार का युद्ध, लुई का शासन-लुई षोडस-तुर्गो, नेकर, आर्थिक संकट कालीन, प्रधानों की सभा, ब्रिएन, स्टेट्स-जनरल फ्रांस की क्रांति के कारण-पुरातन व्यवस्था : राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, सरदार वर्ग, पादरी वर्ग, सर्वसाधारण वर्ग, आर्थिक व्यवस्था-अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम का प्रभावबौद्धिक क्रान्ति : क्रान्ति की विशेषताएँ, विश्व-कोश, ईश्वरवाद, आर्थिक विचार, बौद्धिक क्रान्ति की कुछ विशेषताएँ, विश्व-कोश, ईश्वरवाद, आर्थिक विचार, बौद्धिक क्रान्ति की कुछ दुर्बलताएँ-क्रान्ति की देन-फ्रांस के कुछ प्रमुख लेखक: मोंतेस्क्यू, वोल्तेर, रूसो-बौद्धिक आन्दोलन का फ्रांस की क्रांति पर प्रभाव।

मान-चित्र

चार्ल्स पंचम का साम्राज्य 77

नेदरलैण्ड्स 1608 ई० में 99

जर्मनी 1648 ई० में 163
सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस 182
पोलैण्ड का विभाजन 254
प्रशा का उत्थान 271

वंश-वृक्ष

बूरबों राजवंश 355
हैप्सबर्ग राजवंश 356-57
रोमनाफ राजवंश 358
होयेनजोलर्न राजवंश 359
सहायक ग्रन्थों की सूची 360-361

अध्याय 1

आधुनिक यूरोप का प्रारम्भ

मध्यकाल का अन्तिम स्वरूप

धार्मिक एकता—मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय जगत की प्रधान विशेषता उसकी धार्मिक एकता है। यूरोप में ईसाई-धर्म के प्रचार का प्रारम्भ सर्व-प्रथम ईसामसीह के परम शिष्य सन्त पीटर ने किया था और इसका सूत्रपात रोम के शाश्वत नगर से हुआ था। समस्त मानव-जाति के कल्याण की पवित्र एवं मधुर भावना से अनुप्राणित यह धर्म प्रायः तीन सौ वर्षों तक रोम के सम्राटों दमन-चक्र का बड़ी शान्ति और धैर्य के साथ सामना करते हुए क्रमशः पल्लवित और पुष्पित होता रहा। सम्राटों की धार्मिक असहिष्णुता और अत्याचारों के बीच ईसाइयों ने अनुपम त्याग और तपस्या के बल पर अपना संगठन दृढ़ और शक्तिशाली कर लिया और लोगों के हृदय पर तो इस धर्म का स्नेह-सिंचित साम्राज्य इतना प्रभावपूर्ण हो गया कि अन्त में चौथी शताब्दी में रोम के प्रबल सम्राट कांस्टेंटाइन को भी इस धर्म के सम्मुख नत-मस्तक होना ही पड़ा। अब ईसाई-धर्म रोम-साम्राज्य का अविच्छिन्न अंग बन गया। पाँचवीं शताब्दी में रोम-साम्राज्य के पतन से भी इस धर्म की सजीवता और संगठन में कमी नहीं आने पायी और ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रायः समस्त यूरोप इस धर्म का अनुयायी हो गया। इस समय से पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप और ईसाई-जगत समानार्थी शब्द बन गये और एक के कहने से स्पष्ट रूप से दूसरे का बोध हो जाता था। इस काल में समस्त ईसाई-जगत् की गणना एक राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाई के रूप में होती थी। ईसाई धर्म के प्रचलित सिद्धांतों के अनुसार लोगों का दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर ने चर्च और राज्य दोनों को उत्पन्न किया है और वे दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि चर्च का प्रधान और सन्त पीटर का उत्तराधिकारी पोप मनुष्य की आत्मा पर शासन करता है तो सम्राट् उसके भौतिक शरीर का स्वामी है। परन्तु इस द्वैध शासन में अधिक दिनों तक सामंजस्य स्थिर न रह सका और ईश्वर के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में ईसाई-जगत पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए पोप और सम्राट् का संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसमें अन्त में विजय धर्म के प्रतिनिधि पोप की ही रही। परिणामस्वरूप राजाओं और सम्राटों का पद भी पोप की इच्छा पर आधारित समझा जाने लगा।

मध्यकाल में धर्म की राज्य पर और पोप की साम्राज्य पर इस शानदार विजय का आधार चर्च का विशाल संगठन है। वस्तुतः चर्च की शक्ति का मूल रहस्य ईसामसीह के

पवित्र हाथों द्वारा इसकी स्थापना है। ईसाइयों का यह दृढ़ विश्वास है कि चर्च के बाहर मोक्ष असम्भव है और एकमात्र चर्च का प्रधान पोप ही मानव-जाति को मोक्ष-मार्ग प्रदर्शित कर सकता है। फलतः कालान्तर के श्रद्धालु ईसाई जनता के कल्याण और उद्धार के निमित्त धर्म के मौलिक सिद्धांतों का संग्रह किया गया और मनुष्य के विभिन्न एवं विपरीत वातावरणों के अनुकूल अनेक प्रार्थनाओं और पूजा-पद्धतियों का निर्माण हुआ जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रत्येक ईसाई के जीवन में धर्म की प्रधानता अक्षुण्ण रखने के निमित्त सप्त-संस्कारों का सृजन हुआ जिनमें धर्म के समस्त मौलिक उपदेशों का समावेश हो जाता है। इनमें 'मान्यता-प्रदान'(Ordination) का संस्कार केवल पादरियों के निमित्त होता था। इस संस्कार द्वारा धर्म में उनकी दीक्षा होती थी और उनके उपासकों (Laity) के अन्य संस्कारों को सम्पन्न कराने का अधिकार प्रदान किया जाता था। जन्म-संस्कार (Baptism बतिस्मा) द्वारा नवजात शिशु चर्च की सदस्यता प्राप्त करता था। प्रमाणीकरण (Confirmation) संस्कार द्वारा, जिसे बिशप संपादित करता था, प्रायः बारह वर्ष की आयु के बच्चों की चर्च की सदस्यता प्रमाणित की जाती थी और उन्हें धर्म-सम्बन्धी आवश्यक बातों का ज्ञान कराया जाता था। प्रायश्चित्त (Penance) का संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसके द्वारा जन्म-संस्कार के बाद समस्त पापों का निवारण होता था। इनमें सर्वप्रथम पापात्मा को अपने किए हुए पापों के प्रति अन्ताकरण से दुःख प्रकट करना और ईश्वर को पुनः अप्रसन्न न करने का संकल्प करना होता था। इसके पश्चात् पादरी के सामने उसे अपने पाप को स्वीकार करते हुए उससे क्षमा प्राप्त करनी होती थी और साथ ही उसके आदेशानुसार तीर्थयात्रा, प्रार्थना या दान में किसी एक प्रायश्चित्त को अंगीकार करना होता था। ये प्रायश्चित्त 'सत्कर्म' (Good Work) कहलाते थे। इस प्रकार 'सत्कर्म' सभी पापों से मुक्ति का साधन बन गये थे और उत्तर मध्यकाल में इन पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। चर्च में सम्पादित 'विवाह-संस्कार' के द्वारा स्त्री और पति का सम्बन्ध अविच्छेद्य समझा जाता था। 'अन्तिम अभिषेक' या मृत्यु-संस्कार (Extreme Unction) द्वारा पुजारी मरणासन्न व्यक्ति की आत्मा को चिरशान्ति और स्वर्ग में पहुँचने के लिए शक्ति प्रदान करता था। पवित्र यूकारिस्ट (Holy Eucharist) का संस्कार 'लाई्स सपर' से सम्बन्धित था। इसमें पूजन के निमित्त रखी हुई रोटी और मदिरा पादरी या बिशप की सहायता से ईसामसीह के मांस और रक्त में परिणत हो जाती थी और प्रसाद-रूप में ईसाइयों में उनका वितरण होता था। वस्तुतः यही कैथलिक धर्म का केन्द्रीय रहस्य है। इसी के आधार पर ईसाई धर्म में मांस' या सामूहिक प्रार्थना के महत्वपूर्ण उत्सव का निर्माण हुआ है जिसके लिए सुसज्जित और विशाल गिर्जाघरों की आवश्यकता हुई। इसमें धूप, दीप, सुगन्ध, माला

आदि तथा गायन-वादन के साथ धूमधाम से प्रार्थना और पूजन का समारोह होता है। इन सभी संस्कारों का संपादन केवल पुजारी या बिशप ही करा सकता था, क्योंकि ईसाइयों का विश्वास है कि चर्च की सहायता से ही इन संस्कारों को सम्पन्न करके मोक्ष का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। वास्तव में अपने अभीष्ट आत्मा के उद्धार के लिए इन संस्कारों पर आश्रित मनुष्य चर्च की दया और सहानुभूति का पात्र बन गया था। मनुष्य सम्राट की आज्ञाओं की अवहेलना कर सकता था परन्तु चर्च की नहीं, क्योंकि चर्च की सहायता से वंचित उसकी आत्मा का उद्धार असम्भव था।

ईसाई- जगत् से चर्च के इस विस्तृत प्रभाव का दूसरा आधार उसका विशाल और शक्तिशाली संगठन था जिसका प्रधान रोम का पोप था। पोप के अधीन असंख्य पुजारियों, बिशपों और आर्चबिशपों का एक बहुत बड़ा संगठन समस्त ईसाई-जगत् में फैला हुआ था जिनके द्वारा वह लोगों के धार्मिक और नैतिक जीवन को नियंत्रित करता था। इनके अतिरिक्त चर्च के शासन में उसकी सहायता के लिए उच्च धर्माधिकारियों का एक बड़ा दल रोम में ही रहता था जिनमें से एक वर्ग को कार्डिनल कहते थे। इनकी नियुक्ति पोप करता था और उसकी मृत्यु पर ये ही कार्डिनल अपने में से किसी एक को उसका उत्तराधिकारी चुनते थे। इन असंख्य अधिकारियों के अतिरिक्त आत्म-त्यागी और निःस्पृह भिक्षु और भिक्षुणियों के भी अनेक दल थे, जो अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और आज्ञा पालन का व्रत लिये हुए पोप के संरक्षण में समाज-सेवा और मानव-कल्याण के स्तुत्य कार्य में संलग्न थे।

ईसाई-जगत् की एकता का स्तम्भ इस विशाल रोमन कैथलिक चर्च का आर्थिक आधार भी पर्याप्त दृढ़ था। इसके पास सारे यूरोप में अपनी जमीन और जागीरें थीं जिसकी सारी आय का स्वामी चर्च था। इसे अपने सदस्यों पर तो कर लगाने का अधिकार था ही, साथ ही दूसरे लोगों की आय के एक विशिष्ट भाग का भी यह अधिकारी था। इस कर को 'टाइथ' (Tithe) या दशमांश के नाम से पुकारते थे। साथ ही चर्च के आवश्यकतानुकूल विशेष कर लगाने का अधिकार था। इसके अपने नियम और न्यायालय थे जहाँ पर धर्माधिकारियों के अभियोग का निर्णय होता था। इनमें सम्बन्धित अभियोग राज्य के साधारण न्यायालयों में नहीं लाये जा सकते थे। इसके विपरीत सर्वसाधारण के विवाह, तलाक और वसीयत सभी मामलों का फैसला चर्च के नयायालय के ही अधीन था। इस प्रकार इन धार्मिक न्यायालयों के अधिकार बहुत व्यापक हो गये थे।

लोगों के नैतिक और धार्मिक जीवन का उत्थान चर्च का प्रथम उत्तरदायित्व था। अतः स्वाभाविक रूप से शिक्षा का नियन्त्रण भी इसके ही हाथ में आ गया था। प्राइमरी

स्कूलों से विश्वविद्यालयों तक समस्त शिक्षा का संचालन चर्च के हाथ में था। ईसाई-जगत् की विचार-धारा को नियन्त्रित एवं प्रभावित करने का यह उत्तम अस्त्र था। इसके अतिरिक्त चर्च ने समाज-सेवा के भी अनेक कार्यों को ग्रहण कर लिया था जिसके द्वारा चर्च के उच्च आदर्शों की रक्षा होती थी। तात्पर्य यह है कि "समस्त यूरोप में अपने अधिकारियों की सेना, अपने विशाल नैतिक प्रभाव तथा विस्तृत राजनीतिक अधिकारों से युक्त चर्च ईसाई-जगत् की एकता के लिए महत्वपूर्ण शक्ति बन गया था।" पोप से लेकर गाँव के पुजारी तक चर्च के समस्त अधिकारियों का एक विशिष्ट वर्ग बन गया था जिसे पुरोहित-वर्ग (Clergy) कहते थे। मध्यकालीन यूरोपीय समाज में यह सर्वोच्च वर्ग था और प्रथम वर्ग (First Estate) के नाम से सम्मानित था।

उत्तर मध्यकालीन चर्च बाह्य दृष्टि से शक्ति और साधन-सम्पन्न होता हुआ भी अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण क्रमशः श्री-हीन होने लगा था। चर्च का धन और सम्मान ही उसके पतन के साधन बन गये। इसके विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप लगने प्रारम्भ हो गये। समय-समय पर पोप और दूसरे धर्माधिकारियों ने सुधारों द्वारा इस दोष का निराकरण करना चाहा, परन्तु ये असफल रहे। चर्च के पदों का क्रय और विक्रय प्रधान दोष था और कभी-कभी स्वयं पोप भी इस दोष से मुक्त न थे। बड़े-बड़े धर्माधिकारी ईसाई-धर्म के मौलिक सिद्धान्त, सरल और त्यागमय जीवन की उपेक्षा करके भव्य प्रासादों में सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी ओर छोटे पुजारियों पर धार्मिक अनुष्ठानों, विवाह, मृत्यु या अन्य दूसरे अवसरों पर सर्व-साधारण से अधिकाधिक धन चूसने का आरोप था। इसके अतिरिक्त-ब्रह्मचर्य के व्रत का त्याग करके चर्च के अधिकारी विशेषतः भिक्षु एवं भिक्षुणी घोर विलासिता में फंस गये थे जिससे लोगों की दृष्टि में उनका नैतिक स्तर बहुत नीचे गिर गया था। इस दोष से कुछ पोप भी वंचित न थे। फलतः चर्च की कटु आलोचना प्रारम्भ हुई और उसके सिद्धान्तों पर भी आक्षेप होने लगे। इस प्रकार के लोगों को चर्च ने अधार्मिक या नास्तिक कहकर धर्म से निष्कासन का दण्ड प्रारम्भ किया और राज्य उन्हें समाज का शत्रु कहकर अग्नि द्वारा मृत्युदण्ड देने लगा। परन्तु इससे चर्च की आलोचना का अन्त न हो सका। वस्तुतः लोगों की यह मनोवृत्ति आधुनिक युग के आगमन की सूचक थी।

सामन्तवाद—मध्यकालीन यूरोप की दूसरी विशेषता उसकी सामन्तवादी व्यवस्था है। सामन्तवाद में तत्कालीन समस्त आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का समावेश है जिनके द्वारा समाज असभ्य जीवन से ऊपर उठने का प्रयास कर रहा था। रोम-साम्राज्य के पतन के पश्चात् असभ्य एवं अर्द्धसभ्य जातियों के आक्रमण ने सारे

यूरोप में घोर उपद्रव और अशान्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। सबकी सम्पत्ति और जान-माल संकट में थे। मनुष्य को बाहरी शत्रुओं का और शासन के अभाव में आपस में ही एक-दूसरे का भय था। फलतः प्रत्येक जिले या स्थान में व्यक्तियों का समूह अपनी रक्षा के लिए एक साधन-सम्पन्न और शक्तिमान् व्यक्ति के आश्रय का इच्छुक बन गया और उसने विवश होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार परिस्थिति की देन के रूप में प्रत्येक क्षेत्र में छोटे-छोटे सामन्त स्वतः बनते गये। परन्तु उन्हें आपस में ही एक-दूसरे का भय था जिसे दूर करने और अपनी रक्षा के लिए उन्होंने अपने से अधिक शक्तिमान् व्यक्ति या सामन्त की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार सामन्तों की एक के बाद दूसरी कोटि बनती गयी जिसके शीर्षस्थान में राजा और निम्नतम स्तर में अधिकारहीन किसान या दास था। वस्तुतः यह रक्षक और स्वाभाविक संगठन और मेल था जो इस समय की राजनीतिक और व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर अवलम्बित था। यूरोपीय समाज का यह नवीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संगठन क्रमशः रूढ़िगत होता हुआ कालान्तर में सामन्तवाद के नाम से विख्यात हुआ।

इस व्यवस्था के भीतर सैद्धान्तिक रूप से समस्त भू-भाग का स्वामी राजा था, परन्तु वास्तविक रूप में सम्पूर्ण भू-खण्ड विभिन्न कोटि के सामन्तों और किसानों में वितरित था। प्रत्येक सामन्त या किसान अपनी भूमि का स्वामी इसलिए बना हुआ था कि वह अपनी रक्षा के बदले अपने या अपने बड़े सामन्त की सैनिक सहायता करे। इस प्रकार भूमि का क्रमिक विभाजन और सैनिक सेवा इस प्रथा की विशेषताएँ थीं। इस काल में भूमि या कृषि ही धन और शक्ति का एकमात्र साधन थी। समाज मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित था। एक वर्ग शासकों या सामन्तों का था जो भूमि का स्वामी और शस्त्रधारी सैनिक था और दूसरा वर्ग अधिकार और शस्त्र-हीन असंख्य शासित किसानों और दासों का था जिसे अनिवार्य रूप से अपने स्वामी के खेत में भी काम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने स्वामी को अनेक प्रकार के कर और उपहार देने पड़ते थे। न्याय और रक्षा के तथा अन्य जो भी अधिकार प्राप्त थे, उनके बदले में उन्हें अपने स्वामी के लिए जीना और मरना था।

अपने प्रारम्भिक काल में सामन्तवाद ने स्थानीय सुरक्षा, कृषि और न्याय की समुचित व्यवस्था करके समाज की प्रशंसनीय सेवा की, परन्तु कालान्तर में व्यक्तिगत युद्धों की परम्परा स्थापित करके यह प्रथा स्वयं समाज की शान्ति की घातक बन गयी। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति ही सामन्तों का उद्देश्य बन गया और उनके सामने सामूहिक रूप से राष्ट्र या समाज की भलाई का आदर्श लुप्त हो गया। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में

शक्ति और साधन-सम्पन्न नये शहरों के उत्थान और आधुनिक युग के प्रारम्भ में बारूद के आविष्कार ने इस प्रथा को गहरा धक्का दिया और जब यूरोप में नयी जागृति आयी, राष्ट्रीयता का अभ्युदय हुआ और स्थानीय राजभक्ति का स्थान केन्द्रीय राजभक्ति ने ग्रहण किया तो धीरे-धीरे सामन्तवादी प्रथा का लोप होने लगा और कुछ दिनों के बाद यह प्रथा समाज से उठ ही गयी।

नगरों का उत्थान—उत्तर मध्यकालीन यूरोप की तीसरी और अत्यन्त महत्वपूर्ण विशिष्टता नगरों का उत्थान है। पूर्व मध्यकाल में सामन्तों के किलों और मठों के आस-पास, छोटे-छोटे नगर बसे हुए थे। बाजारों का केन्द्र, नदियों का किनारा या चौराहा होने के कारण इन नगरों की उन्नति होती गयी। इनके निवासी अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ पैदा करते और अधिकांश आपस में ही उनका विनिमय भी करते थे। ये नगर सामन्तों के अधीन थे जिनहें इन नगर-निवासियों द्वारा अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे जिससे उनकी दशा सर्फ या दासों से अच्छी नहीं थी। परन्तु प्रायः 1000 ई० के पश्चात् यूरोप के नगरों ने तत्कालीन स्थिति में बड़ा परिवर्तन उपस्थित कर दिया। जैसे-जैसे व्यापार और उद्योग-धन्धों की वृद्धि होती गयी, वैसे-वैसे धन-वैभव का विकास होता गया। उत्साही नगर-निवासियों ने उत्पादन और वितरण को यथाशक्ति प्रोत्साहन दिया। फलतः उद्योग-धन्धों और व्यापार के केन्द्र नवीन नगरों का निर्माण होता गया और कुछ ही समय पश्चात् यूरोप में नगरों की संख्या बहुत बढ़ गयी। क्रमशः कृषि-प्रधान समाज का स्वरूप भी बदलने लगा और उसके प्रतीक सामन्तों ने अपने सामने इन नगर-निवासियों द्वारा निर्मित एक प्रतिद्वन्द्वी समाज को देखा जो धन और संस्कृति के अतिरिक्त सैनिक शक्ति में भी उनसे बढ़कर था। इस नवीन समाज में नवचेतना, नवीन स्फूर्ति और उत्साह था जिसके सामने सामन्तों की शक्ति असहाय होकर क्रमशः क्षीण और लुप्त होने लगी।

उत्तर मध्यकालीन नगरों की तीन प्रधान देनें हैं- राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक। राजनीतिक क्षेत्र में उनका संघर्ष सर्वप्रथम सामन्तों से ही प्रारम्भ हुआ। अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा के लिए इस वैभवशाली और जागरूक एवं चैतन्य वर्ग ने अपनी स्वतंत्रता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फलतः पुराने और नये सभी नगरों के निवासी स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्न में जुट गये। उन्हें अपनी स्वतंत्रता मोल लेने और उसकी रक्षा करने के अवसर भी प्राप्त होते गये। राजाओं और सामन्तों को किले बनवाने, युद्ध करने या धर्म-युद्धों में भाग लेने के लिए सदैव धन की आवश्यकता थी। अतः नगरों के व्यापारियों ने धन द्वारा अपनी स्वतंत्रता मोल ली और बड़ी सतर्कता एवं उत्साह के साथ वे इस नवक्रीत स्वतंत्रता की रक्षा में जुट गये। वे इसकी वृद्धि के लिए भी सतत्

प्रयत्नशील रहते थे। क्रमशः इटली और जर्मनी के नगरों ने स्वतंत्र प्रजातंत्र की भी स्थापना कर ली। इनमें से अपेक्षाकृत इटली के नगरों की वृद्धि अधिक हुई और जर्मनी के नगरों को बाध्य होकर 'पवित्र-रोम-साम्राज्य' की सीमा के भीतर ही अपना विकास करना पड़ा। इन देशों के नगर सामन्तशाही के प्रभाव से सर्वथा मुक्त थे। इसके विपरीत फ्रांस और इंग्लैण्ड आदि में नगरों के व्यापारियों ने व्यापार की वृद्धि के लिए देश की शान्ति को अधिक आवश्यक समझकर राजा को ही शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया। फलतः सामन्तों को दबाकर केन्द्रीय शासन को सबल और संगठित बनाने के राजा के प्रयत्नों का उन्होंने पूर्णतः समर्थन किया। यद्यपि स्वार्थपरता और पारस्परिक कलह एवं द्वेष में इन नगरों के निवासी सामन्तों से कम न थे, परन्तु एक नवीन और उदीयमान आर्थिक तथा सामाजिक संगठन के प्रतिनिधि होने के कारण इन्होंने सामन्तवादी अव्यवस्था को दूर कर सबल केन्द्रीय शासन की स्थापना में पूर्ण सहयोग दिया।

अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए नगरों के व्यापारियों ने अपनी श्रेणियाँ स्थापित कर ली थीं। ये श्रेणियाँ वस्तुओं के उत्पादन और वितरण की व्यवस्था, क्रय और विक्रय पर नियंत्रण तथा हर प्रकार के व्यापारिक भ्रष्टाचार को रोकने का प्रयत्न करती थीं। इनकी ओर से निर्धन या बीमार सदस्यों की आर्थिक सहायता भी की जाती थी। शिल्पी और कारीगरों की भी अपनी श्रेणियाँ थी। इन व्यापारियों के उत्साह ने यूरोप के व्यापार और कला-कौशल को उन्नतिशील बनाया। जब पूर्व के देशों की वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा में यूरोप पहुँचने लगीं तो विनिमय के निमित्त इन नगर-निवासियों को भी अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इसी काल में स्पेन और फ्रांस का उत्तरी अफ्रीका के अरबों के साथ और इटली के नगरों का पूर्व के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। मध्य और उत्तरी यूरोप के व्यापार में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। फलतः यूरोपीय देश धनी समृद्धिशाली होते गये। धन की वृद्धि ने समाज में एक नवीन वर्ग को जन्म दिया। धन के कारण राजा, ऊँचे पादरी और सरदार सभी व्यापारी-वर्ग का उचित सम्मान करने लगे और उनके प्रतिनिधि राज-सभाओं में भी रहने लगे। समाज के भीतर यह नवनिर्मित वर्ग मध्य-वर्ग के नाम से विख्यात हुआ जो अपनी नवीन चेतना, शिक्षा और धन के कारण क्रमशः प्रभावशाली होता गया।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी नगरों की देन बहुत अधिक है। नगरों में रहने वाले लोगों के पारस्परिक सम्पर्क और संघर्ष ने उनके सोचने और विचारने की शक्ति को उत्तेजित किया। दूर देशों में भ्रमण करने के कारण उनके अनुभव और ज्ञान में प्रभूत विकास हुआ। नागरिक स्वतंत्रता ने उन्हें अपने विचारों और आदर्शों को अपने ढंग पर वास्तविक स्वरूप

देने में सहायता पहुँचायी। फलतः भौतिक जीवन की भाँति उनके आध्यात्मिक जीवन में भी उन्नति हुई। धर्म और दर्शन तथा विद्या और कला को उन्होंने प्रश्रय दिया और शीघ्र ही यूरोप के नगर संस्कृति के केन्द्र बन गये। इनमें बड़े-बड़े विद्यालयों की स्थापना हुई और गाथिक शैली के विशाल गिर्जाघरों और भवनों का निर्माण हुआ जो अपने सौन्दर्य में अद्वितीय हैं। इस शैली के गिर्जाघरों की मुख्य विशेषता उनकी विशालता, सुन्दर मेहराब, पत्थरों पर उत्खनन कार्य, खिड़कियों और वातायनों पर बने सुन्दर, रंगीन चित्र और ऊँची उठती हुई गगनचुम्बी मीनारें हैं जो श्रद्धालु ईसाइयों की उच्च धार्मिक भावना और विनीत प्रार्थना के सुन्दर प्रतीक हैं। चित्रकला और संगीत में भी इन नगरों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की।

पुनर्जागरण

यूरोपीय इतिहास के मध्य और आधुनिक युग के सन्धि-काल में प्राचीन विद्या, साहित्य और कला का जो पुनरुद्धार हुआ उसे रेनेसाँ (Renaissance) या 'संस्कृति का पुनर्जन्म' कहते हैं। यह रेनेसाँ या पुनर्जन्म शब्द कुछ भ्रामक प्रतीत होता है, क्योंकि यद्यपि निकट पूर्वकालीन परम्परा अनेक कारणों से प्रभावित होकर परिवर्तित होती जा रही थी, परन्तु इस काल में भी उसकी श्रंखला सर्वथा भंग नहीं हुई थी। साथ ही पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्रों में जो परिवर्तन हुए उन सभी परिवर्तनों का भी पूरा बोध इस शब्द से नहीं होता। वस्तुतः यह बहुमुखी प्रतिभा का काल था जिसने मनुष्य की चिन्तन-शक्ति, प्रयोग-बुद्धि और विचार-स्वातंत्र को उत्तेजित एवं उद्वेलित किया था। इस काल में शहरों के अभ्युदय और राष्ट्रीयता की भावना ने नयी राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ खड़ी की छापेखाने द्वारा अधिकाधिक मात्रा में प्रस्तुत यूनानी और रोम के प्राचीन साहित्य ने समाज के सामने नयी मान्यताएँ और आदर्श उपस्थित किये। भौगोलिक अन्वेषणों ने ईसाइयत के सीमित विस्तार को व्यापक स्वरूप प्रदान किया और व्यापारादि के लिए अनेक नवीन आधार और मार्ग प्रस्तुत किये।

परन्तु ये सभी क्रान्तिकारी परिवर्तन आकस्मिक न थे, बल्कि इनके पीछे एक दीर्घकालीन इतिहास सम्बद्ध है। सर्वप्रथम मध्यकालीन विश्वविद्यालयों ने ही प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् अरस्तू के तर्क-शास्त्र के आधार पर ईसाई-धर्म के विश्वास-प्रधान उपदेशों को तर्क द्वारा सम्पुष्ट करके बौद्धिक जागरण का मार्ग उन्मुक्त किया था। साथ ही चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अनेक विद्वान् प्राचीन साहित्य के पुनरुत्थान और प्रचार के कार्य में संलग्न थे। नगरों के निवासियों ने भी मध्यकालीन विद्वानों के अपने भौतिक जीवन का

बौद्धिक समर्थन न प्राप्त होने पर प्राचीन साहितय का आश्रय लिया। फलतः इन धन-कुबेरों का प्रश्रय प्राप्त कर प्राचीन यूनान और रोम के साहित्य और कला के पुनरुद्धार की प्रक्रिया अधिक तीव्र और गतिशील हो उठीं। अधिकाधिक यूनानी विद्वान् इटली के विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य में नियुक्त किये जाने लगे। इस सांस्कृतिक आन्दोलन को 1453 ई० में कुस्तुन्तुनिया नगर के पतन से विशेष प्रोत्साहन मिला, क्योंकि यूनानी विद्वानों के निकट सम्पर्क के कारण यूरोपीय विद्वानों को वहाँ के साहित्य और कला के अध्ययन का अधिक अवसर मिला। फलतः विद्याव्यसनी के रुचि-परिवर्तन और प्राचीनता के प्रति सहज आकर्षण ने विद्या, कला और विज्ञान की मध्यकालीन मान्यताओं को समाप्त कर प्राचीनता की आधारशिला पर नवयुग के आदर्शों का निर्माण प्रारम्भ किया। जीवन के इस परिवर्तित दृष्टिकोण ने पुराने ग्रन्थों का, और विशेषतः धर्मग्रन्थ बाइबिल का, वैज्ञानिक ढंग पर अध्ययन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। प्रत्येक कलाकार सभी अंगों से पूर्ण रेखा-चित्र या मूर्तियों में जान डालने की और उन्हें जीवन के अधिक निकट लाने का प्रयास करने लगा। साहित्यकार भी अपने ग्रन्थ में शैली और सौन्दर्य को प्राधान्य प्रदान करने लगा। वैज्ञानिकों ने केवल प्रयोग और सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर प्रत्येक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न आरम्भ किया, वे प्रकृति की आत्मा में प्रवेश कर उसके रहस्य को जानना और उससे प्रेरणा प्राप्त करना चाहते थे। वस्तुतः इस सांस्कृतिक उत्थान के युग में आदर्श और यथार्थ के मधुर सम्मिश्रण का प्रयास चल रहा था।

इटली में पुनर्जागरण

इस विधारधारा का प्रारम्भ सर्वप्रथम इटली में हुआ। इटली में रोम की प्राचीन सभ्यता के पर्याप्त अवशेष वर्तमान थे और जब मानसिक विप्लव के कारण लोगों का ध्यानं प्राचीनता की ओर आकृष्ट हुआ तो इटली के निवासियों को ही सर्वप्रथम इन अवशेषों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ। यूनान के पूर्वी साम्राज्य से भी इटली का ही अधिक सम्पर्क था। साथ ही इटली में ही नगरों का सर्वाधिक विकास हुआ जहाँ के निवासियों ने व्यक्ति और विचारों की स्वतंत्रता को जीवन में प्रधानता प्रदान की थी। इसीलिए यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा इटली में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का कार्य सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ।

इस नवयुग का निर्देशक महाकवि दान्ते था। उसकी कविताओं में भाषा का लावण्य, भावों की रोचकता और मानसिक कल्पना की विविधता एवं वैचित्रय है उसने तत्कालीन सभी विद्याओं का अध्ययन किया था और वह साहित्यकार के अतिरिक्त वैज्ञानिक भी था। समकालीन अन्य कवियों की भाँति वह पादरी नहीं अपितु गृहस्थ था

और लैटिन का पण्डित होने पर भी उसने अपनी मातृभाषा इटैलियन में अपने प्रसिद्ध काव्य 'डिवाइन कामेडी' की रचना की थी। उसने अरस्तू को 'सच्चा दार्शनिक' कहकर उसकी प्रतिष्ठा की और रोम के महाकवि वर्जिल को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर यमलोक की काल्पनिक यात्रा की। परन्तु प्राचीन साहित्य और लेखकों की प्रशंसा में पेट्रार्क (1304-74 ई०) दान्ते से भी आगे बढ़ा था। उसने मध्यकालीन शिक्षा का परित्याग करके अपने समय के विद्वानों का ध्यान रोम के प्राचीन साहित्य और उसके सौन्दर्य की ओर आकृष्ट किया। बचपन में सिसरो की मधुर भाषा पढ़कर उसे न समझने पर भी पेट्रार्क बड़ा प्रसन्न होता था। उसने लैटिन भाषा की पुस्तकों का संचय और लिखावठ के कारण उनमें उत्पन्न अशुद्धियों का संशोधन अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था। उसने प्राचीन ग्रन्थकारों के सन्देश को स्वतः हृदयगम किया और पुनः उसे अपने देशवासियों को सुनाया। फलतः शिखित लोगों में लैटिन साहित्य के प्रति विशेष रुचि और व्यसन उत्पन्न हुआ।

मानववाद—जिन विद्वानों ने अपना जीवन यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य के अध्ययन में लगाया उन्हें मानववादी (Humanist) के नाम से पुकारा जाता है। यह शब्द लैटिन के 'ह्यूमेनिटस' (Humanitus) शब्द से निकला है जिसका अर्थ 'उन्नत ज्ञान' है। यह शब्द 'साहित्य-प्रियता' का बोधक है। इन लोगों में धर्मशास्त्र के प्रति कोई रुचि नहीं थी। इनकी दृष्टि में मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के लिए प्राचीन साहित्य का ज्ञान अधिक आवश्यक था। इन मानववादी विद्वानों ने बड़े उत्साह और सतर्कता के साथ प्राचीन ग्रन्थों की खोज प्रारम्भ की और लिखावट के कारण उत्पन्न अशुद्धियों को दूर कर उन्हें पुनः लिपिबद्ध किया। अनेक ग्रन्थ पुराने मठों में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त हुए जिनका शुद्ध और संशोधित पाठ तैयार कराकर धनी व्यक्ति या विद्वानों ने अपने पुस्तकालयों में सुरक्षित रखा। राजन्य-वर्ग के उत्साही और विद्याप्रेमी लोगों ने इन विद्वानों और कलाकारों को प्रश्रय और प्रोत्साहन प्रदान किया और प्रायः उन्हें अपना व्यक्तिगत सचिव या अपने बालकों का शिक्षक नियुक्त किया। तत्कालीन इटली के सभ्य और शिक्षित व्यक्तियों ने प्राचीन साहित्य और उसके लालित्य का ज्ञान प्राप्त करना अपने जीवन का आवश्यक कार्यक्रम बना लिया था। परिणामस्वरूप लोगों के हृदय में लौकिक और पारलौकिक जीवन के सम्बन्ध में मध्यकालीन विश्वासों से अश्रद्धा उत्पन्न होने लगी। लोग मठों के महत्व और पुजारियों के आत्म-त्याग को हास्यस्पद समझने लगे। इन लोगों के विचार से दूसरे जन्म की चिन्ता छोड़कर प्रत्येक मनुष्य को इस जीवन में आनन्द का उपभोग करना चाहिए। स्वभावतः श्रीमन्तों के लिए यह भौतिकवादी शिक्षा अधिक आकर्षण की वस्तु बन गयी और उन्होंने इसे सहर्ष हृदयगम किया।

इटली में मानववादी आन्दोलन का चरम उत्कर्ष पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। इटली में यह शान्ति का काल था जिसमें साहित्य और कला की प्रभूत उन्नति हुई। इस क्षेत्र में फ्लोरेन्स ने विशेष ख्याति प्राप्त की। दान्ते, पेट्रार्क और बोक्कात्चो के कारण यह नगर पहले ही प्रसिद्ध हो चुका था। पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्लोरेन्स का शासक मेडिची परिवार का राजकुमार लोरेव्जो था जो अपनी सफल राजनीति, काव्यप्रियता और साहित्य एवं कला के संरक्षण के कारण महान् की संज्ञा से विभूषित किया जाता है। इस काल में फ्लोरेन्स में प्रसिद्ध विद्वानों और कलाकारों का ऐसा जमघट हुआ कि यह समस्त यूरोप की बौद्धिक राजधानी के रूप में परिणत हो गया। इन विद्वानों और कलाकारों में माइकेल ऐंजेलो, दोनातेलो, फ्रा फिलिपो लिप्पी, सैंड्रोबातिचेली, मेकियावेली, फिचिनो पोलिशियन, ल्यूका देला रोबिया, पेरुजिनो और लियोनार्डो द विंची आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने तत्कालीन समाज को विशेष गौरव प्रदान किया। बहुमुखी प्रतिभा-समन्वित इन कलाकारों ने कला के विभिन्न क्षेत्रों में समान योग्यता और प्रवीणता प्राप्त की थी। उदाहरणार्थ, माइकेल ऐंजेलो, लिओनार्डो द विंची और अलबर्टी का उल्लेख किया जा सकता है। चित्र और मूर्तिकला में सिद्धहस्त माइकेल ऐंजेलो कुशल इंजीनियर, स्थापत्य-विशारद और साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित था। सत्तर वर्ष की अवस्था में लिखे हुए उसके गीत दान्ते का स्मरण दिलाते हैं। लिओनार्डो अपने समय का विचित्र कलाकार था। यह एक साथ उच्चतम कोटि का चित्रकार, प्रवीण शिल्पी, स्थापत्य का मर्मज्ञ, विचारक और वैज्ञानिक था। वह सदैव अपने नये-नये प्रयोगों द्वारा प्रत्येक वस्तु के मूल में प्रवेश करने का प्रयास किया करता था। शरीर-विज्ञान की भी उसे अच्छी जानकारी थी। उसने हवा में उड़ने का भी प्रयास किया, परन्तु सफल न हो सका। इनहीं की भाँति अलबर्टी भी बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह अपने युग का सर्वोच्च खिलाड़ी और घुड़सवार तो था ही, साथ ही चित्र और चर्चों के निर्माण तथा काव्य-रचना में भी सिद्धहस्त था। इनके अतिरिक्त उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा भी स्तुत्य थी और इसके विभिन्न क्षेत्रों में उसका समान प्रवेश था। वस्तुत: इस काल के कलाकार बहुमुखी ज्ञान की उत्कट अभिलाषा से अनुप्राणित थे और यही उनकी सफलता का मुख्य रहस्य था।

साहित्य—इस काल के इटली के साहितय-सेवियों ने मध्यकालीन साहित्य और धर्मशास्त्र का परित्याग करके ग्रीक और लैटिन साहित्य के प्रति विशेष अभिरुचि दिखायी। लैटिन भाषा पर अधिकार और सिसरों के भाषण या लेखन-शैली का अनुकरण इनके प्रिय विषय थे। प्रत्येक मानववादी विद्वान् वक्ता, लेखक, कवि और शिक्षक था जो अपने लेखों या व्याख्यानों द्वारा घूम-घूम कर प्राचीन साहित्य का रहस्योद्घाटन किया

करता था। वह राजा और राजकुमार, नर और नारी सबकी श्रद्धा और सम्मान का पात्र था। इन्हीं विद्वानों के अथक परिश्रम और अध्यवसाय ने प्राचीन साहित्य के वास्तविक सौन्दर्य का द्वार उन्मुक्त किया। गौरवपूर्ण अतीत के प्रति श्रद्धा और भविष्य की चिन्ता ने उनके उत्साह का संवर्द्धन किया। खोए हुए ग्रन्थों की खोज, पाठ-सुधार और शब्दों की शुद्ध व्याख्या उनके प्रिय विषय थे। फलतः व्याकरण, शब्दकोश, भाष्य, टिप्पणी और कला सम्बन्धी निबन्धों की बाढ़-सी आ गयी। साथ ही ग्रन्थों की वैज्ञानिक आलोचना भी प्रारम्भ की। इसका जन्मदाता लोरेव्जो बल्ला था जिसने चर्च के प्रति 'कास्टेण्टाइन के दान' ऐतिहासिकता को अस्वीकार करते हुए अकाट्य तर्कों से अपने पद का साहसपूर्ण और सफल प्रतिपादन किया। इस काल में साहित्य के क्षेत्र में एक दूसरी नवीन धारा भी प्रवाहित हुई। अब तक राजाओं, महाराजाओं या सफल सेनापतियों का गुणगान ही लेखकों या कवियों का वर्ण्य-विषय था, परन्तु अब विद्वानों और कलाकारों के जीवन-चरित्र भी लिखे और पढ़े जाने लगे। इससे सर्व-साधारण की दृष्टि में मनुष्योचित्त गुणों का मूल्य बढ़ा और समाजसेवी व्यक्तियों की प्रशंसा में ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ।

इस पुनरुत्थान-काल के साहित्यिकों का सन्देश सर्वसाधारण के निमित्त न था। इस साहित्य का विस्तार केवल शिक्षित उच्च वर्ग के लोगों तक ही सीमित था, इससे अनपढ़ जनता का हृदय प्रभावित न हो सका। इटली के राजकुमारों, धनिकों तथा पोप और उसके सहायकों के संरक्षण में कुछ इने-गिने प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने ही इस नवीन साहित्य का सृजन और प्रणयन किया.जिससे शिक्षित समुदाय की रुचि तो अवश्य परिष्कृत हुई, परन्तु जनसाधारण के बीच उनके सामाजिक सम्बन्ध की खाई और चौड़ी हो गयी। इसके अतिरिक्त भौतिक जीवन के प्रति विशेष अनुराग ने मध्यकालीन आध्यात्मिक बन्धन को शिथिल कर दिया और लोगों के हृदय में धर्म के प्रति विराग उत्पन्न होने लगा। प्रारम्भ में तो नहीं, परन्तु प्लेटो और अरस्तू, सिसरो और सेनेका के निरन्तर अध्ययन ने कालान्तर में तर्क और विवेक को जागृत कर धार्मिक श्रद्धा और विश्वास को गहरा आघात पहुँचाया जिसकी परिणति अन्त में जाकर धर्म-सुधार में हुई।

इस काल के साहित्यकारों में फ्लोरेन्स के सुप्रसिद्ध विद्वान मेकियावेली (Niccolo Machiavelli) का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। यह इस युग का राजनीति-शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। इसने 'प्रिंस' नाम की राजनीति की पुस्तक का प्रणयन किया जिसके द्वारा तत्कालीन राजाओं और राजनीतिज्ञों की मानसिक दशा का सूक्ष्म परिचय मिलता है। इस ग्रंथ में उन नियमों और प्रणालियों का वर्णन किया गया है जिनके द्वारा जनता पर स्वेच्छाचारी शासकों का निरंकुश शासन अधिक दृढ़ हो सके। उसके विचार में

प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली के दिन समाप्त हो चुके थे। इसने राजाओं के लिए सदाचारी, श्रद्धालु एवँ दयावान् का आडम्बर तथा सद्गुणों का दिखावा बनाये रखना अधिक लाभदायक बताया है।

स्थापत्य—इटली में साहित्य की भाँति ललित कलाएँ भी रोम और यूनान के प्राचीन आदर्शों से अनुप्राणित होकर स्वच्छन्द गति से नवीन मार्गों का अनुसरण करने लगीं। स्थापत्य के क्षेत्र में मध्ययुग में गाथिक शैली की प्रधानता थी जिसे तत्कालीन स्थपतियों ने उसके उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचाया था। परन्तु प्राचीनता के प्रति आकृष्ट इटली के कलाकारों ने नवीन प्रेरणा के लिए रोम और यूनान के प्राचीन अवशेषों तथा स्थापत्य सम्बन्धी ग्रंथों का अध्ययन प्रारम्भ किया। इस नवीन पथ का प्रथम प्रख्यात निर्देशक फ्लोरेन्सवासी फिलिपो ब्रूनेलेस्की (Filippo Brunelleschi-1377-13446 ई०) था, जिसने रोम के मन्दिरों और नाट्यशालाओं के अवशेषों के अध्ययन के पश्चात् प्रचलित गाथिक शैली का परित्याग कर स्तम्भ और मेहराब-प्रधान शैली को अपनाया। परन्तु बाह्यलंकार-प्रेमी परवर्ती स्थपतियों ने अपने स्वतंत्र कलात्मक प्रयोग एवं परिष्कृति रुचि द्वारा इस प्राचीन शैली को नवीन परिधान में अलंकृत किया जिसमें सूक्ष्मता के सौन्दर्य एवं आनुपातिक एकता की प्रधानता है। इस शैली का चरमोत्कर्ष माइकेल ऐंजेलो के फ्लोरेन्स-स्थित मेडिची-गिर्जाघर में दर्शनीय है। परन्तु इस शैली का क्रमिक विकास रोम के विशाल प्रासादों ओर गिर्जाघरों में विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इस नगर में चान्सलर का प्रासाद, फर्नीज-प्रासाद और अन्त पीटर का गिर्जाघर आदि इस शैली के उत्कृष्टतम नमूने हैं। स्थापत्य-कला के संरक्षण और संवर्द्धन में वेनिस नगर भी रोम के ही समकक्ष हैं।

मूर्तिकला—इटली में नवीन मूर्ति-कला का पथ-प्रदर्शक फ्लोरेन्स-निवासी प्रसिद्ध शिल्पी दोनातेलो (Donatello—1386-1466 ई०) था जो स्थपति ब्रूनेलेस्की का समकालीन था। शिल्प के प्राचीन आदर्शों से प्रभावित दोनातेलो ने प्रकृति के विस्तृत प्रांगण से अधिक प्रेरणा प्राप्त की और प्राचीन आदर्शों की रक्षा करते हुए भी इस कलाकार ने खेलते या बैठे हुए बच्चों तथा समकालीन पुरुषों की मूर्तियाँ निर्मित करने में विशेष सफलता प्राप्त की। उसके परवर्ती मूर्तिकारों ने उसके ही अनुकरण पर साधारण जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर शिल्पकला की चरम अभिव्यक्ति की। इन शिल्पियों में ल्युका देला रोबिया (Luca della Robbia) वेराक्क्यो (Verocchio) और माइकेल ऐंजेलो के नाम विशेष रूप से उल्लेनीय हैं। माइकेल ऐंजेलो इन समस्त शिल्पियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। उसने दोनातेलो के यथार्थवाद में आदर्श का अनुपम पुट देकर प्रचलित

शिल्प-कला को नवीन स्परूप प्रदान किया जो यूनानी शिल्पकला की प्रधान विशेषता है। रोम नगर में 'मोजेज' ओर फ्लोरेन्स में मेडिची-गिर्जाघर की मूर्तियाँ इस कलाकार की उत्कृष्टतम् कृतियाँ हैं। इस काल की शिल्पकला के उत्कर्ष का वैयक्तिक कारण भी प्रतीत होता है। श्रेष्ठ मानव की अन्तिम दुर्बलता, ख्याति और अमरत्व की मधुर आशा से अनुप्राणित इटली के धन-कुबेरों और कलाकारों का सुन्दर सहयोग शिल्पकला की चरम अभिव्यक्ति का साधन बन गया। यदि नव-निर्मित मूर्ति में वैभवशाली संरक्षक के अमरत्व का स्वप्न पूरा हुआ तो कलाकार ने निजी अमरत्व के साथ अपने जीवन-काल में ही धवल कीर्ति भी अर्जित की। इस काल के शिल्पियों की अद्भुत कलात्मक सफलता का यही रहस्य था।

चित्र-काल—सांस्कृतिक पुनरुत्थान-काल में इटली में स्थापत्य और शिल्प की अपेक्षा चित्रकला ने अधिक उन्नति की। नमूनों के अभाव में इस कला पर प्राचीन यूनान या रोम की छाप कम है। यद्यपि इस कला के क्षेत्र में मध्यकालीन धार्मिक परम्परा का स्थान प्रचलित यथार्थवादिता ने ग्रहण कर लिया था, परन्तु धार्मिक प्रतीकों की परम्परा अक्षुण्ण बनी रही। इसका प्रधान कारण यही है कि चित्र-कला को चर्च ने ही सबसे अधिक प्रोत्साहन और संरक्षण प्रदान किया। इस कला को धार्मिक परम्परा से दूर हटाकर जीवन के समीप लाने का-यथार्थवादी बनाने का-प्रथम प्रयास फ्लोरेन्स-निवासी माजात्चो (Masaccio—1401-28 ई०) ने किया। फ्रा फिलिपों लिप्पी (Fra Filippo Lippi) और फ्रा एंजेलिको (Fra Angelico) ने इस नवीन यथार्थवादी शैली को और पुष्ट किया। परन्तु चित्रकला के उत्कर्ष में इटली के पाँच कलाकारों की अदभुत देन है। इनमें काल-क्रम से प्रथम नाम फ्लोरेन्स वासी बातिचेलि (Botticelli) का है। इसने यथार्थवाद में रहस्यवादिता के मिश्रण द्वारा अपने चित्रों में अदभुत कोमलता, आकर्षण एवं हृदयग्राहिता उत्पन्न की है। दूसरा चित्रकार लिओनार्डो द विंची (Leonardo davinci 1452-1519 ई०) भी फ्लोरेन्स का ही निवासी था जिसने अपने नगर के अतिरिक्त मिलान और फ्रांस में भी संरक्षण प्राप्त किया था। बहुमुखी प्रतिभा समन्वित लिओनार्डो ने चित्रकला में अद्भुत दक्षता प्राप्त की थी। उसके सभी चित्रों में मिलान के 'अन्तिम भोज' और पेरिस के 'मोना लिसा' नामक चित्र सर्वश्रेष्ठ हैं। इसके चित्रों में अंग-प्रत्यंग की गठन तथा प्रकाश, छाया एवं रंग का मधुर समन्वय देखते ही बनते हैं। इसके यथार्थवाद में आदर्शवादिता का पुट है। तीसरा फ्लोरेन्स, निवासी चित्रकार माइकेल ऐंजेलो (Michel Angelo—1475-1564 ई०) है जो अनेक दृष्टियों से सोलहवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ कलाकार और अद्भुत प्रतिभा का व्यक्ति था। इसने भी लिओनार्डो की भाँति चित्र-कला में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है। परन्तु इसे उन लोगों

के बीच रहना पड़ा जो न तो उसे भली-भाँति समझ सके और न उसका उचित सम्मान कर सके। इससे माइकेल का जीवन दुखी था। इस स्थिति का प्रभाव उसकी कृतियों पर भी पड़ा। उसने रोम में 'सिस्टाइन चैपेल' की दीवारों पर बीस वर्ष के परिश्रम से जो विशाल चित्रमाला तैयार की उसमें 'अन्तिम निर्णय' नामक चित्र में ईश्वर की दया या प्रेम का भाव तो कम है, भय और आतंक की मात्रा ही अधिक है। माइकेल का यह चित्र विश्व के अकेले चित्रों में सम्भवतः सबसे अधिक विख्यात है।

इटली का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार रैफेल (Raphael 1483-1520 ई०) था ! इसके चित्रों पर माइकेल का प्रभाव है जिसके साथ इसने रोम में अनेक वर्षों तक काम किया था। सौन्दर्य और लावण्य में उसके चित्र अद्वितीय हैं। पोप के प्रासाद में इसके बनाये भित्ति-चित्र इसकी अद्भुत दक्षता के परिचायक है। 'सिस्टाइन मेडोना' और 'मेडोना आफ दी चेयर' इसके सुन्दरतम चित्र हैं। वेनिस-निवासी टीशियन (Titian-1470-1576 ई०) रंग के सौन्दर्य और उसके मिश्रण में अद्वितीय था। उसने अपने समकालीन 'सम्राट् चार्ल्स पंचम' और 'पोप पाल तृतीय' के अतीव सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। उसके चित्रों में वेनिस के वैभव एवं ऐश्वर्य की स्पष्ट झलक हैं। पूर्व की कला एवं आदर्श का प्रभाव वेनिस की चित्र-कला की विशेषता है।

यूरोप में पुनर्जागरण

यद्यपि विद्या का पुनरुद्धार सबसे पहले इटली में हुआ, परनतु इसके प्रचारक मानववादियों ने पश्चिमी यूरोप को इस विचारधारा से अछूता न छोड़ा। व्यक्तिगत रूप से या विद्यालयों में बहुत-से विद्वानों ने 'नवीन विद्या' का अध्ययन या प्रचार जारी रखा। विभिन्न देशों में अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जिन्हें राजाओं, राजकुमारों और व्यापारियों से पूर्ण सहयोग और पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम ने 'नीवन विद्या' के उत्थान के लिए 'फ्रांस के विद्यालय' (College de France) की स्थापना की। उसे एक फ्रांसीसी विद्वान् विलियम बूदे (William Bude) से, जो लैटिन और ग्रीक भाषाओं का सिद्धहस्त लेखक था, 'नीवन विद्या' के प्रचार में पर्याप्त सहयोग मिला। दूसरे देशों के शासकों ने भी फ्रांसिस का अनुकरण किया। जनसाधारण में भी इस विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा। साधारणतः इस 'नवीन विद्या' ने लोगों के हृदय में एक प्रकार की धार्मिक सहिष्णुता का भाव जागृत किया जिससे ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों और नवीन विद्या के अध्ययन में उन्हें किसी प्रकार का विरोध नहीं प्रतीत हुआ। चर्च ने 'नवीन विद्या' को जो संरक्षण प्रदान किया था उससे यह विचारधारा और पुष्ट एवं बलवती ही होती गयी।

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोप के विभिन्न देशों में अत्यन्त वेग से 'नवीन विद्या' का प्रचार प्रारम्भ हुआ। यूरोप के तत्कालीन मानववादी विद्वानों में डेसिडेरियस, इरैसमस (Desiderius Erasmus 1467-1536 ई०) शीर्षस्थान का अधिकारी है। यह हालैण्ड के राटरडम नगर का निवासी था, परन्तु उसने अपना अधिकांश समय जर्मनी, फ्रांस, इटली, स्वीटजरलैण्ड और इंगलैण्ड में ही व्यतीत किया था। वह अपनी अद्वितीय प्रतिभा, प्रकाण्ड विद्वत्ता, विचारों की गहनता तथा सुन्दर एवं स्पष्ट लेखन-शैली के लिए समस्त यूरोप में 'विद्वान्' (The Scholar of Europe) के नाम से सम्मानित था। अपने समकालीन प्रायः सभी बड़े लेखकों, विद्वानों, राजाओं और महाराजाओं तथा पोप के साथ उसका पत्र-व्यवहार एवं मैत्री का सम्बन्ध था। उसने अज्ञान और अज्ञानजन्य अन्ध-विश्वासों तथा अनेक प्रचलित आचारों का जोरदार खण्डन किया और अपने ग्रन्थ 'मूर्खता की प्रशंसा' (Praise of Folly) में चर्च के पादरियों और साधुओं पर गंभीर व्यंग्य किया। उसने अनेक सुन्दर ग्रंथों के अतिरिक्त ग्रीक और भाष्य के साथ लैटिन में बाइबिल के विद्वतापूर्ण संस्करण प्रस्तुत किये। वह औरों के साथ अपनी भी खिल्ली उड़ाता था। उसका कहना था कि 'विद्वान फ्लैंडर्स में बने चित्रित पर्दों की भाँति होते हैं जो दूर से देखने पर ही प्रभावशाली लगते हैं।'

इस काल के कुछ दूसरे प्रसिद्ध मानववादी विद्वानों का उल्लेख भी आवश्यक है। जर्मनी में जान रयूक्लिन (Reuchlin) और फिलिप मेलांकथन अग्रगण्य थे। रयूक्लिन ग्रीक साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित तथा हेब्रू के दर्शन और व्याकरण का मर्मज्ञ था और उसका भ्रातृज मेलांकथन ब्रिटेनवर्ग के विश्वविद्यालय में ग्रीक भाषा का प्राध्यापक और मार्टिन लूथर का अभिन्न मित्र था। इंग्लैण्ड में जान कालेट तथा टामस मूर के नाम उल्लेखनीय हैं। टासम मूर ने प्लेटो की भाँति अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'युटोपिया' में आदर्श राज्य और समाज का वर्णन किया है। डेनमार्क का प्रसिद्ध विद्वान हेल्गेसन (Halgesen) कुशल वैयाकरण और इतिहासज्ञ था।

इस मानववादी आन्दोलन ने समस्त पश्चिमी और मध्य यूरोप को प्रभावित किया। फ्रांसीसी, अंग्रेजी और स्पेनी भाषाएँ 'प्राचीन साहित्य' की अत्यधिक ऋणी हैं। शीघ्र ही फ्रांसीसी भाषा सुन्दरता और लालित्य में लैटिन और इटेलियन भाषा का मुकाबला करने लगी। अंग्रेजी के महाकवि चासर ने पेट्रार्क तथा लैटिन के अन्य बड़े विद्वानों का अनुकरण किया। परन्तु इंग्लैण्ड पर 'नवीन विद्या' का प्रभाव धीरे-धीरे पड़ा और सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की साहित्यिक उन्नति अपनी चरम सीमा पर पहुँची। इस युग के विद्वानों में विलियम शेक्सपियर और जान मिल्टन के नाम

सर्वोच्च हैं। सांस्कृतिक पुनरुत्थान-काल के प्रारम्भ में तो जर्मन साहित्य की विशेष वृद्धि न हो सकी, परन्तु जब मार्टिन लूथर ने बाइबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया तो बड़ी शीघ्रता के साथ इस भाषा का विकास प्रारम्भ हुआ। इस काल में स्पेन का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सरवैंटीज था जिसकी पुस्तक 'डान क्वीक्जाट' ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की।

साहित्य की भाँति ललित कलाओं के क्षेत्र में भी यूरोपीय देशों ने इटली का नेतृत्व स्वीकार किया और राजनीति में पराजित इटली कला में यूरोप का विजेता बन गया। इटली के स्थपतियों का समस्त यूरोप पर कलात्मक एकाधिपत्य था। यूरोप में प्रचलित भवन-निर्माण की मध्यकालीन गाथिक शैली असभ्यता का प्रतीक समझी जाने लगी और इटली की नवीन शैली में भवनों का निर्माण होने लगा। फ्रांस का राजा फ्रांसिस इटली के अभियान से लौटते समय वहाँ के अनेक वास्तुविधा-विशारदों को अपने साथ लाया जिन्होंने नवीन शैली के भवनों और प्रासादों से पेरिस तथा अन्य अनेक नगरों को सुसज्जित किया। पेरिस लूवर-प्रासाद का, जो आजकल लूवर म्यूजियम के नाम से विख्यात है, इसी काल में निर्माण हुआ। स्पेन में भी फिलिप द्वितीय ने इस शैली को संरक्षण प्रदान किया और इस्कोरियल के विशाल प्रासाद के निर्माण में इसका प्रयोग हुआ। नेदरलैण्ड्स और जर्मनी में भी इसी काल में इस नवीन शैली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, परन्तु इंगलैण्ड में इसका प्रवेश सत्रहवीं शताब्दी में ही हो सका।

स्थापत्य की अपेक्षा शिल्प-कला की प्रगति यूरोप में अत्यधिक शीघ्रता के साथ हुई। फ्रांस के राजा फ्रांसिस तथा इंगलैण्ड के राजा हेनरी सप्तम ने इटली के शिल्पियों को अपने देशों में निमन्त्रित किया। स्पेन में इजाबेला और फर्डिनैंड की समाधि पर इस शैली की मूर्तियाँ अंकित हैं। जर्मनी भी इस नवीन शिल्प कला में इन देशों से पीछे न था। वस्तुतः सोलहवीं शताब्दी में समस्त पश्चिमी यूरोप में इटली की नवीन शिल्प-कला का व्यापक प्रचार चुका था।

चित्रकला के क्षेत्र में भी पश्चिमी यूरोप इटली का ऋणी है। फ्रांसिस प्रथम इटली के अनेक चित्रकारों को अपने साथ फ्रांस लाया था जिन्होंने फ्रांसीसी चित्रकारों को अपनी नवीन शैली की दीक्षा दी। इटली के प्रसिद्ध चित्रकार लिओनार्डो दि विंची को फ्रांसिस ने अनेक वर्षों तक संरक्षण प्रदान कर पेरिस में रखा जहाँ उस महान् कलाकार ने फ्रांसीसियों को चित्रकला की शिक्षा दी। स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय ने भी इस नवीन चित्रकला को राजाश्रय प्रदान किया। उसके दरबार का श्रेष्ठतम चित्रकार एल ग्रीको (El Greco) नामक यूनानी था जिसने बहुत-से धार्मिक चित्रों का निर्माण किया था। स्पेन का दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार वेलेस्क्वीज था। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मनी ने भी अनेक

चित्रकार उत्पन्न किये जिनमें लूकस क्रैनाक, ड्यूरर और हाल्बीन सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। इनकी तुलना इटली के बड़े चित्रकारों से की जा सकती है। सत्रहवीं शताब्दी में हालैण्ड ने भी उच्च कोटि के चित्रकार उत्पन्न किये। यहाँ के धनी व्यापारियों ने लौकिक चित्रों को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया। यहाँ के चित्रकारों में रैमब्रैण्ड सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

अविष्कार और विज्ञान

मध्यकालीन यूरोप में आविष्कार ओर विज्ञान के क्षेत्र में कोई प्रगति न हो सकी। इसके कारण समाज को रूढ़िवादिता, धर्मान्धता और नीवन प्रयोगों के प्रति घोर उदासीनता आदि हैं। विचार-स्वातंत्र्य के अभाव में मनुष्य का मानसिक विकास सर्वथा अवरुद्ध था और गति या क्रियाशीलता न थी। परन्तु 'नवीनविद्या' के प्रचार ने रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर कुठाराघात ही नहीं किया, अपितु मनुष्य के बौद्धिक विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। अब प्रगति का इच्छुक मानव अधिकारियों के अधिकार की अवहेलना करता हुआ स्वतंत्रतापूर्वक नवीन प्रयोगों एवं सिद्ध-निष्कर्षों के आधार पर अपने मानसिक विकास के प्रयास में संलग्न हो गया। फलतः आविष्कार और विज्ञान दोनों में गति और क्रियाशीलता का संचार हुआ और वे क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर हुए। अवश्य ही प्रारम्भ में विकास की यह प्रगति अति मन्द थी, परन्तु इससे उसकी दृढ़ता और उपादेयता में किसी प्राकर की कमी न आने पायी।

आविष्कार—चौदहवीं शताब्दी में यूरोप में बारूद का आविष्कार हुआ, परन्तु इसके प्रयोग के साधन के अभाव में प्रायः एक शताब्दी तक इस आविष्कार से यूरोप ने विशेष लाभ नहीं उठाया। साधनों को प्रस्तुत करने के लिए क्रियाशील मानव-मस्तिष्क ने अन्त में तोप और बन्दूकों का भी आविष्कार किया। बारूद और बन्दूक के संयोग ने युद्ध-विद्या क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। इनके सामने शस्त्रास्त्र-सज्जित सैनिक असहाय और दुर्ग व्यर्थ थे, और मध्यकाल में सामन्तों की शक्ति के यही दो प्रधान साधन थे। इनकी निरुपयोगिता ने क्रमशः निर्बल होते जा रहे सामन्तवर्ग को सर्वथा निर्जीव कर दिया। दूसरी ओर तोप और बन्दूकों का प्रयोग केवल राजकीय सेना तक ही सीमित था, फलतः केन्द्रीय शक्ति का शीघ्रता के साथ विकास प्रारम्भ हुआ और अल्पकाल में ही यूरोप के सामन्तवादी राजनीतिक जीवन का अन्त-सा हो गया।

इस काल का दूसरा और अत्यधिक महत्तवपूर्ण आविष्कार छापेखाने का था। इसके पूर्व पुस्तकें अत्यन्त अध्यवसाय और परिश्रमपूर्वक हाथ से लिखी जाती थीं और उनका मूल्य इतना अधिक होता था कि सर्वसाधारण के लिए वे सर्वथा अलभ्य थीं। ये पुस्तकें

और भी दुर्लभ हो गयीं जब यूनान और इटली तथा अन्य यूरोपीय देशों को मिस्र पर अरबों के अधिकार के पश्चात् 'पेपिरस' (Papyrus) का मिलना बन्द हो गया। इसी 'पेपिरस' से अंग्रेजी का आधुनिक शब्द पेपर (कागज) निकला है। पेपिरस के अभाव में पुस्तकें जानवरों की खाल पर लिखी जाने लगीं जो और अधिक महँगी पड़ती थीं। फलतः यूरोप के सामने ग्रन्थ-निर्माण सम्बन्धी दो प्रधान समस्याएँ थीं—लिखने के लिए जानवरों की खाल के स्थान पर किसी सस्ती वस्तु का प्रयोग और हाथ की लिखावट के स्थान पर गतिशील अक्षरों का आविष्कार। इन दोनों आविष्कारों पर ही ज्ञान का अधिकाधिक विस्तार आधारित हो सकता था। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में सतत् प्रयत्नशील मानव-मस्तिष्क ने दोनों ही अभावों की पूर्ति की। कागज का निर्माण तो पहले ही से आरम्भ हो चुका था, अब जर्मनी के मेंज शहर के निवासी जान गटेनबर्ग ने गतिशील अक्षरों का भी आविष्कार किया। फलतः सन के बने कागज और गतिशील अक्षरो के सहयोग से सर्वप्रथम जर्मनी में सन् 1454 ई० में बाइबिल का प्रथम लैटिन संस्करण प्रस्तुत हुआ। अब अधिकांश संख्या में पुस्तकों का मुद्रण प्रारम्भ हुआ। उनके मूल्य में कमी हुई और वे सबके लिए सुलभ हो गयीं। परिणामस्वरूप विधा और ज्ञान पर कुछ सीमित व्यक्तियों का एकाधिकार समाप्त हो गया। इस परिवर्तित स्थिति में अनपढ़ जनता का तो कोई तात्कालिक लाभ न हो सका, परन्तु उदीयमान मध्य वर्ग ने अपनी शक्ति और साधनों के विस्तार में इस नवीन आविष्कार से पूर्ण लाभ उठाया। सुधारकों को मुद्रित पुस्तकों या निबन्धों द्वारा अपने विचारों के प्रचार में बहुत सुविधा हुई। पुस्तकों के प्रणयन में लैटिन की अपेक्षा सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बोलचाल की भाषा का प्रयोग बढ़ा जिसने यूरोपीय भाषाओं और उनके साहित्य के विकास की गति को बहुत तीव्र कर दिया। शीघ्र ही उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पुस्तकों की माँगों को पूरा करने के लिए समस्त यूरोप में छापेखाने का जाल बिछ गया।

विज्ञान—पुनर्जागरण-काल में विज्ञान की उन्नति की गति अत्यधिक मन्द थी। मानववादी विद्वानों का ध्यान एकमात्र 'नवीन विद्या' और कला की ओर आकृष्ट था और विज्ञान के प्रति उन्होंने घोर उदासीनता दिखलायी। परन्तु इस उदासीनता के बीच भी 'नवीन विद्या' ने यूनानियों के वैज्ञानिक ज्ञान-कोष को तो यूरोप के लिए सुलभ कर ही दिया। परन्तु समाज में प्रचलित अन्धविश्वास एवं श्रद्धा-समन्वित अधिकार इसके विकास में बाधक बन गये। इस प्रतिकूल वातावरण के बीच विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो सम्भव न था, परन्तु इस पर भी कुछ व्यक्तियों ने अपना प्रयत्न जारी रखा। तेरहवीं शताब्दी का अंग्रेज साधु राजर बेकन 'प्रयोगीय विज्ञान' (Experimental Science) का जन्मदाता कहा जाता है। उसने प्रचलित मूर्खता एवं

अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए अनेक लेख और पुस्तकें लिखीं और मनुष्य-समाज को मध्यकालीन कट्टरता तथा अधिकारियों के शासन से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से संसार की ओर देखने की शिक्षा दी। उसने अधिकार, परम्परा, मूर्ख समाज और शिक्षा से दूर रहने वाली मानव चित्तवृत्ति के सम्मान को मूर्खता के चार मूल कारण बतलाये और उनकी निन्दा की। इस पर विजय पाने पर ही मनुष्य का विकास सम्भव है। परन्तु राजर बेकन की शिक्षा और प्रयत्न से प्रायः तीन शताब्दियों बाद ही मनुष्य ने स्वतंत्र रूप से प्रकृति के गुप्त रहस्यों को खोजने और समझने का प्रयत्न किया।

वैज्ञानिक प्रयोग और खोजों में विद्वानों को सबसे अधिक संघर्ष चर्च से करना पड़ा, क्योंकि श्रद्धा और विश्वास-प्रधान धर्म, विचार स्वातन्त्र्य और प्रयोग का विरोधी था। साधारणतः लोगों का यूनानी विद्वान् टालेमी के सिद्धान्त पर अडिग विश्वास था कि पृथ्वी विश्व का केन्द्र है और सूर्य तथा अन्य ग्रह उसके चारों ओर परिक्रमा करते हैं। इसके विरुद्ध कहना नास्तिकता का प्रतीक था और वह व्यक्ति दण्ड का भागी था। सोलहवीं शताब्दी में पोलैण्ड के एक विद्वान् कोपरनिकस ने इस विश्वास को चुनौती दी। उसने इस विषय पर अनेक यूनानी ग्रंथें के अध्ययन एवं अपने साधारण यन्त्रों की सहायता से यह सिद्ध किया कि अन्य ग्रहों की भाँति पृथ्वी भी एक ग्रह है जो सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। वह अपनी कीली पर घूमती है जिससे रात-दिन होते हैं। परन्तु दण्ड के भय से उसे अपने विचारों को सहसा प्रकाशित करने का साहस न हुआ। ग्रहों की परिक्रमा से सम्बन्धित' (Concerning the Revolution of the Heavenly Bodies) नामक उसका क्रान्तिकारी ग्रंथ सन् 1543 ई० में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष उसकी मृत्यु भी हो गयी और वह चर्च का कोपभाजन बनने से बच गया। यूरोप में इस सिद्धान्त का स्वागत बहुत मन्द गति से हुआ। सन् 1600 ई० जार्डेनों ब्रूनो नामक इटली के विद्वान् को इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण चर्च ने रोम में जीवित ही जला डाला। एक दूसरा विद्वान् गैलीलिओ भी इसी सिद्धान्त का समर्थक था, परन्तु चर्च के भय से उसने अपना विचार वापस ले लिया। उसने धर्माधिकारियों के सामने अपनी गलती स्वीकार कर ली और मान लिया कि पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है और, सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। वस्तुतः प्राचीन सिद्धान्तों केप्रति अटूट श्रद्धा और अन्धविश्वास वैज्ञानिक विकास में घोर बाधक थे।

'नवीन विद्या' के प्रति मानववादियों की अन्ध-भक्ति चिकित्सा-शास्त्र के विकास में भी बाधक सिद्ध हुई। यूनानी चिकित्सा-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित (Galen) के ग्रन्थों ने यूरोपीय चिकित्सा प्रणाली का पर्याप्त उन्नयन किया। परन्तु इस शास्त्र को गेलेन के

सिद्धान्तों के आगे भी बढ़ाया जा सकता है, इसे स्वीकार करने के लिए कोई भी प्रस्तुत न था। फलतः विकास की गति अवरुद्ध हो गई। सोलहवीं शताब्दी में ऐंड्रियन वेसालियस नामक एक विद्वान् ने इस धारणा को चुनौती दी। उसने रसायन-शास्त्र की सहायता से अनेक नवीन औषधियों की खोज की और शरीर-विज्ञान के सम्बन्ध में 'मनुष्य-शरीर की बनावट' (Structure of the Human Body) नामक ग्रंथ की रचना सन 1543 ई० में की जिसमें उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि एक कुशल चिकित्सा द्वारा चीर-फाड़-गृह में मनुष्य-शरीर सम्बन्धी प्राप्त ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। इसी समय हारवे नामक दूसरे विद्वान् ने यह सिद्ध किया कि शरीर में रक्त-प्रवाह होता रहता है। इन विद्वानों के साहसपूर्ण प्रयत्नों से यह प्रतीत होता है कि सोलहवीं शताब्दी में विज्ञान चर्च के चंगुल से मुक्त होने का प्रयास कर रहा था। अनेक वैज्ञानिक विश्व की समस्याओं और प्रकृति के रहस्य को समझाने और सुलझाने के लिए यूनानी विचारधारा का नवीन ढंग से प्रयोग कर रहे थे और उनकी सफलता के रहस्य वैज्ञानिक प्रयोग और विचार-स्वातन्त्र्य थे।

भौगोलिक अनुसन्धान

आधुनिक यूरोप के पुनरुथान और विकास में भौगोलिक अनुसन्धानों का बहुत बड़ा हाथ है। इसके फलस्वरूप धर्म और साम्राज्य-विस्तार तथा व्यापार के लिए अपरिमित क्षेत्र प्राप्त हुआ और यूरोपीय व्यापारियों को अरब-व्यापारियों के अवलम्बन से मुक्ति मिली। क्रमशः व्यापार के प्राचीन केन्द्र भूमध्यसागर का पूर्व गौरव नष्ट होने लगा और अटलांटिक महासागर यूरोपीय व्यापार का प्रधान मार्ग बन गया। नवीन भौगोलिक ज्ञान ने ईसाई-जगत् की कूपमण्डूकता और अन्धविश्वास को गहरा आघात पहुँचाया। अथक परिश्रम और अद्वितीय साहस के साथ पृथ्वी की परिक्रमा प्रारम्भ हुई। दूर के अन्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ जिससे विद्या और विज्ञान की उन्नति में भी सहायता मिली। साथ ही साम्राज्यों की स्थापना और धर्म-प्रचार के कारण बड़ी-बड़ी राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याएँ सर्वथा नवीन रूप में विश्व के सम्मुख उपस्थित हुई जिनका पूर्ण समाधान दुर्भाग्यवश आज तक सम्भव नहीं हो पाया।

नवीन व्यापारिक मार्गों की खोज—सुदूर एवं मध्यपूर्व के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मध्यकाल से ही स्थल-मार्गों की खोज हो रही थी। इसी समय मंगोलों की विशाल विजय ने भी यूरोप की भौगोलिक विचारधारा को पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया। उनके शासन-काल में एशिया और यूरोप का सम्पर्क अधिक बढ़ गया था और सभी स्थल-मार्ग सुरक्षित भी हो गये थे। फलतः अनेक यूरोप-

निवासी मंगोलों के दरबार में पहुँचने का प्रयास करने लगे। इस प्रयत्न में सफल वेनिस-वासी मार्कोपोलो तथा उसके पिता एवं चाचा को मंगोल दरबार में पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। मार्कोपोलो ने अपनी लम्बी यात्रा का विशद वर्णन 'मार्कोपोलो की यात्रा' नामक पुस्तक में किया है। इस पुस्तक के अध्ययन ने यूरोपीय लोगों के हृदय में पूर्व के देशों के प्रति विशेष रुचि और आकर्षण उत्पन्न किया। दूसरी बात यह थी कि उत्तरी इटली के नगरों ने कुस्तुन्तुनिया और पश्चिमी एशिया के नगरों के रास्ते पूर्व के समस्त व्यापार का एकाधिकार प्राप्त कर लिया था और आराम की सामग्री, मसाले, रेशम तथा अनेक प्रकार के रत्नादि इन्हीं नगरों, और विशेषतः वेनिस के रास्ते, यूरोपीय देशों में पहुँचते थे जहाँ वे बहुत ऊँचे दामों में बिकते थे। इससे यूरोप के दूसरे देशों के व्यापारियों में असन्तोष और ईर्ष्या के भाव जागृत हो रहे थे। परन्तु इस स्थिति का अन्त भी शीघ्र ही हो गया और उस्मानी तुर्कों के बढ़ाव के कारण पूर्व की ओर जाने वाले स्थल-मार्ग खतरे में पड़ गये। इस नवीन परिस्थिति में अब दूसरा मार्ग ढूँढ़ने की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी। संयोगवश इस समय तक कुतुबनुमे का आविष्कार हो चुका था जिससे दिशा का ठीक-ठाक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। साथ ही यह भी सिद्ध हो चुका था कि पृथ्वी गोल है और पूर्व की ओर न चलकर पश्चिम की ओर से भी भारतवर्ष या पूर्व के अन्य देशों तक पहुँचा जा सकता है। इस नवीन अविष्कारों ने पूर्व के सुदूर देशों के साथ व्यापार के निमित्त अन्य मार्ग ढूँढ़ने की अभिलाषा को और तीव्र कर दिया। अतः यद्यपि पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही इस दिशा में यूरोप के निवासियों का प्रयास चल रहा था, परन्तु इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अत्यधिक उत्साह, लगन और उत्कण्ठा के साथ यह प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

पुर्तगाल का प्रयास—सन् 1415 ई० में अफ्रीका के समुद्रतट पर स्थित स्यूटा (Ceuta) पुर्तगाल की विजय भौगोलिक अन्वेषण की दिशा में प्रथम प्रयास है। इसी ने भविष्य के समस्त अन्वेषणों का मार्ग प्रशस्त किया। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में पुर्तगाल के राजकुमार हेनरी ने, जो नाविक के नाम से विख्यात है, अफ्रीका के समीपवर्ती समुद्रतट के अन्वेषण का कार्य बड़ी तत्परता के साथ प्रारम्भ किया। उसे इस कार्य में समुद्रतट के निवासी मुसलमानों को ईसाई बनाने की मधुर सम्भावना एवं मसालों के दूर देशों में पहुँचने की उत्कट अभिलाषा, इन दो उद्देश्यों से प्रेरणा मिल रही थी। उसने अपने इसी प्रयत्न में अजोर (Azores) और मडीरा (Madeira) के द्वीप-समूहों का पता लगाया। उसकी मृत्यु के पश्चात् भी पुर्तगालियों के अन्वेषण का कार्य पूर्ववत् चलता रहा। सन् 1486 ई० में डीआस (Diaz) ने उत्तमाशा अन्तरीप का पता लगाया और सन् 1498 ई० में वास्कोडिगामा इसी मार्ग से भारतीय बन्दरगाह कालीकट आ पहुँचा। अब

पूर्व का व्यापार पुर्तगाल के हाथ में आ गया। इससे अरबों और वेनिस के व्यापार को गहरा धक्का लगा और इन लोगों ने पुर्तगाल का पर्याप्त विरोध किया। वेनिस के यूरोपीय व्यापार का एकाधिकार नष्ट हो गया और अब पुर्तगाल पूर्वी देशों से लाये हुए मसाले, रेशम और आराम की वस्तुओं को यूरोपीय बाजारों में प्रस्तुत करने लगा।

स्पेन—तत्कालीन नाविकों का विश्वास था कि यदि पृथ्वी गोल है तो पूर्व की ओर न चलकर पश्चिम दिशा से भी पूर्व के देशों में पहुँचा जा सकता है और अटलांटिक महासागर पार करके उस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। जिनोआ का एक साहसी नाविक क्रिस्टोफर कोलम्बस, जो मार्कोपोलो की यात्रा के विवरणों से अत्यधिक प्रभावित था, इसी मार्ग से भारत तथा पूर्व के दूसरे देशों में पहुँचने के लिए अधीर हो रहा था। पुर्तगाल की ओर से निराश होकर उसने कैस्टील (स्पेन) की महारानी इजाबेला से सहायता माँगी। इस प्रकार स्पेन की सहायता से तीन छोटे जहाजों के साथ कोलम्बस ने अगस्त सन् 1492 में अटलांटिक की भयावह यात्रा प्रारम्भ की और प्रायः ढ़ाई महीनों की निरन्तर समुद्र-यात्रा के पश्चात् जबकि उसके सभी साथी साहस और धैर्य खो चुके थे, कोलम्बस बहामा के द्वीप-समूह में पहुँचा जहाँ उसने स्पेन का झण्डा खड़ा किया। कोलम्बस का विश्वास था कि वह भारत के समीप पहुँच चुका है और इसीलिए उसने इन द्वीपों के निवासियों को इंडियन (भारतीय) कहा। यद्यपि इसके बाद कोलम्बस ने तीन बार और यात्रायें की, परन्तु अपने जीवन भर वह अपनी भूल को नहीं समझ सका।

पुर्तगाल और स्पेन की इस सफलता ने दूसरे यूरोपीय राष्ट्रों में भी अन्वेषण-कार्य के लिए नवीन आशा और उत्साह का संचार किया। प्रत्येक नाविक और साहसी व्यक्ति अनजान देशों में पहुँच कर धन-संचय करने का स्वप्न देखने लगा। अभूतपूर्व सफलता के लिए समुद्र की दुर्गम और भयावह यात्रा करने के लिए वह पूर्ण रूप से प्रस्तुत था। फलतः नाविकों की अन्वेषण सम्बन्धी यात्राओं का ताँता-सा लग गया। सन् 1497 ई० में जान कैबाट नामक वेनिस के एक नाविक ने इंग्लैण्ड की ओर से उत्तरी अमेरिका के तट पर केप ब्रिटेन द्वीप का पता लगाया। सन् 1499 ई० में पिंजों (Pinzon) ने ब्राजील को ढूँढ़ निकाला। शीघ्र ही पेरू और मैक्सिकों तथा अन्य देशों की बारी आयी। इसी समय पश्चिमी गोलार्द्ध का नामकरण भी हुआ और एक साधारण व्यापारी एवं नाविक अमेरिगो (Amerigo) के नाम पर इसका नाम अमेरिका पड़ा। इससे यही प्रतीत होता है कि कोलम्बस के अदम्य साहसपूर्ण कार्य शीघ्र ही विस्मृत होते जा रहे थे।

कोलम्बस अमेरिका के समीप तक तो पहुँच गया, परन्तु वह विश्व की परिक्रमा न कर सका। उसके इस कार्य की पूर्ति मेजलान (Magellan) नाम के व्यक्ति ने की। स्पेन

की ओर से मसाले की द्वीपों की खोज में इसने दक्षिणी अमेरिका के किनारे-किनारे अपनी यात्रा प्रारम्भ की। दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी छोर के मेजलान अन्तरीप का नाम भी उसके ही नाम पर पड़ा। उमंग और उत्साह से अपूर्ण एवं मधुर आशाओं से अनुप्राणित मेजलान प्रशान्त महासागर के विस्तीर्ण वक्षः स्थल को चीरता हुआ सहसा फिलिपाइन के तट से आ टकराया। यद्यपि इस द्वीप पर अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी, परन्तु उसके साथियों ने उत्तमाशा अन्तरीप होकर पृथ्वी की प्रथम परिक्रमा पूरी की।

औपनिवेशिक साम्राज्य—इन अन्वेषणों का प्रारम्भिक उद्देश्य व्यापार था, जिसमें नवीन देशों की खोज में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। पुर्तगाल और स्पेन ने इस देशों और द्वीपों पर अधिकार स्थापित करके अपने विस्तृत औपनिवेशिक साम्राज्य की भी स्थापना की। वे नहीं चाहते थे कि यूरोप के दूसरे देश इस क्षेत्र में उतरें और उनके एकाधिकार में हिस्सा बँटायें। अतः उन्होंने पोप को मध्यस्थ बनाकर आपस में ही दुनिया का बँटवारा कर लिया। अब वे अपने व्यापार तथा साम्राज्य के विस्तार का प्रयत्न करने लगे। उनके लिये यह सौभाग्य की बात थी कि यूरोप के अन्य देश अभी तक अन्वेषण-क्षेत्र में नहीं उतरे थे, अन्यथा उन्हें रोकना प्रायः असम्भव हो जाता। स्पेन ने शीघ्र ही दक्षिणी अमेरिका का और पुर्तगाल ने ब्राजील का यूरोपीयकरण करना प्रारम्भ किया और अपनी विजय को, जो छल, कपट एवं विश्वासघात की लम्बी कहानी है, अत्याचार और हिंसा के बल पर स्थायी बनाने का प्रयत्न किया।

इन देशों में चर्च ने भी व्यापार और साम्राज्यवाद का साथ दिया। एशियाई देश तो पहले से ही अधिक सभ्य और समुन्नत थे, अतः इन देशों में साम्राज्यवाद और चर्च को प्रारम्भिक काल में विशेष सफलता न प्राप्त हो सकी। परन्तु यूरोपीयकरण के ये दो साधन अमेरिका में पूर्ण सफल हुए। साम्राज्य के साथ रोमन कैथलिक धर्म भी अमेरिकी देशों में पहुँचा जहाँ पादरियों को धर्म-प्रचार के लिए नास्तिकों की एक लम्बी दुनिया ही प्राप्त हो गयी थी। इन रोमन कैथलिक पादरियों में साम्राज्यवाद के अभिशाप आदिम निवासियों के घोर शारीरिक कष्ट, यातना एवं निर्धनता की चिन्ता तो बिल्कुल न थी, परन्तु उनकी आत्मा की उन्नति एवं उद्धार के लिय इन लोगों में पर्याप्त उत्साह था। निस्सन्देह चर्च ने कुछ अंशों में लोगों की कठिनाइयाँ दूर करने में सहायता भी पहुँचायी, परन्तु यह भी धर्म की दीक्षा के निमित्त प्रलोभन का साधन था।

इन अन्वेषणों ने सहसा विश्व का आकार बढ़ाकर पश्चिमी यूरोप के लिए अपार धन-राशि का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इससे व्यापार और कला-कौशल में पर्याप्त उन्नति

हुई और लोगों का जीवन सुखमय हो गया। परन्तु स्पेन में नयी दुनिया से सोने और चाँदी की जो बाढ़ आयी उसने वहाँ के विलासिता और आलस्य उत्पन्न कर दिया। शीघ्र ही स्पेन का सारा आर्थिक संगठन छिन्न-भिन्न हो गया जिसने अन्त में वैभवशाली स्पेन को निर्बल और शक्तिहीन बना दिया। चर्च के लिए भी ये नयी खोजें बहुत लाभदायक सिद्ध न हो सकीं। क्योंकि दुनिया के विस्तार ने ईसाइयत की पुरानी परम्परा और विचारधारा को गहरा आघात पहुँचाया और चर्च के दुर्भाग्य से यह आघात उस समय पहुँचा जब यूरोप में उसकी एकता और अस्तित्व दोनों ही के लिये धर्म-सुधार के रूप में भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया था।

पुर्तगाल और स्पेन के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देश औपनिवेशिक साम्राज्य के क्षेत्र में देर में उतरे। इसका प्रधान कारण इन देशों की अपनी आन्तरिक कठिनाइयाँ थीं। इंग्लैण्ड के राजा हेनरी सप्तम ने इस दिशा में समयानुकूल प्रयत्न प्रारम्भ किया था, परन्तु उसके बाद कुछ समय के लिये इंग्लैण्ड में धर्म-सुधार के कारण यह उत्साह शिथिल हो गया। उत्तरी अमेरिका के उत्तरी समुद्र-तट से मसालों की दुनिया में पहुँचने का प्रयास भी इंग्लैण्ड ने किया, परन्तु मार्ग बर्फीला होने के कारण असफलता पहले ही से निश्चित थी। इस प्रयत्न के परिणाम-स्वरूप इतना तो अवश्य हुआ कि उत्तरी अमेरिका के समुद्रतट के साथ इंगलैण्ड का सम्पर्क बना रहा जो सत्रहवीं शताब्दी में उपनिवेश स्थापित करने में सहायक हुआ। सोलहवीं शताब्दी में धर्म-सुधार और दीर्घकालीन गृह-कलह के कारण फ्रान्स भी औपनिवेशिक साम्राज्य की दौड़ में भाग न ले सका। जब हेनरी चतुर्थ ने फ्रांस में शान्ति की स्थापना की और देश की आर्थिक उन्नति की ओर ध्यान दिया तो फ्रांस ने भी कनाडा और लुसियाना में अपने उपनिवेशों की स्थापना की। परन्तु जर्मनी की ओर से कोई भी प्रयत्न न हो सका। वस्तुतः दूर देशों में उपनिवेशों की स्थापना के लिए अपने देश में दृढ़ केन्द्रीय शासन की आवश्यकता थी जिसका जर्मनी में शताब्दियों से अभाव था और यह अभाव उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण तक बना रहा। यही दशा इटली की भी थी। सांस्कृतिक क्षेत्र में यूरोप का शिरोमणि इटली अपनी आन्तरिक राजनीतिक दुर्बलता के कारण यूरोप के महत्वाकांक्षी राजाओं और सम्राटों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ था। उपनिवेश और साम्राज्य तो सबल और स्वतंत्र राज्य के लिए थे, पराजित और पराधीन राज्य के लिए नहीं।

आधुनिक काल की विशेषताएँ

आधुनिक काल का प्रारम्भ—इतिहास का सम्यक् ज्ञान श्रृंखलाबद्ध घटनाओं की एकता पर आश्रित है। अतीत की पृष्ठ-भूमि पर ही किसी घटना का वास्तविक

अध्ययन सम्भव है और भविष्य के प्रति उसकी देन उसका ऐतिहासिक मूल्य निर्धारित करती है। अतः इस एकता के सामने इतिहास को कालों में विभाजित करना अस्वाभाविक अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु दिशा परिवर्तन के रूप में इतिहास के शाश्वत प्रवाह का पूर्व, मध्य और आधुनिक स्वरूप सर्वथा कृत्रिम भी नहीं है। अन्य देशों की भाँति यूरोपीय इतिहास में भी इन तीनों कालों की अपनी स्वतंत्र एवं मौलिक विशेषताएँ हैं जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और स्पष्ट हैं। परन्तु इस विभिन्नता के बीच काल-विभाजन के लिए किसी घटना या तिथि-विशेष का आश्रय उपयुक्त नहीं जान पड़ता। वस्तुतः यूरोपीय इतिहास में मध्य और आधुनिक काल के बीच इतना मन्द और असमान गति से परिवर्तन हुआ कि उन्हें अलग करने वाली किसी तिथि का निर्धारित करना कठिन है। उदाहरणार्थ, जहाँ आज के इस वैज्ञानिक युग में भी अधिकांश धर्मनिष्ठ पुजारियों की मनोवृत्ति सर्वथा मध्यकालीन एवं अपरिवर्तित है, वहाँ मध्यकालीन यूरोप के साधु राजर बेकन को आधुनिक कालीन मनीषी, चिन्तक और वैज्ञानिक स्वीकार किया जा सकता है। इंगलैण्ड जैसे उन्नत देश में भी नगरों का मध्यकालीन विधान सन् 1835 ई० में बदला और यूरोप के अनेक भूभागों में तो ग्रामीण जीवन का मध्यकालीन स्वरूप आज भी बना हुआ है। परन्तु यत्र-तत्र बिखरे इस मध्यकालीन स्वरूप के बीच भी अपनी मौलिक विशिष्टताओं से युक्त आधुनिक यूरोप मध्यकालीन यूरोप से सर्वथा भिन्न है।

सर्वप्रथम यूरोपीय पुनर्जागरण-काल के अन्तिम चरण में आधुनिक काल की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। 'नवीन विद्या' के प्रेमी यूरोप के मानववादी साहित्यकारों और कला मर्मज्ञों ने जनता के सामने जीवन का नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया। फलतः लोगों के विचारों में सहिष्णुता एवं उदारता का प्रादुर्भाव हुआ और उर्वर मानव-मस्तिष्क नूतनता के निर्माण में संलग्न हुआ। समाज में मध्यकालीन मान्यताएँ हास्यास्पद बन गयीं और उनके स्थान पर नवीन आदर्शों की स्थापना हुई। मध्यकालीन श्रद्धा एवं विश्वास का स्थान तर्क-समन्वित आलोचनात्मक बुद्धि ने ग्रहण किया। फलतः रचनात्मक कार्यों में व्यक्तिगत विचारों और आदर्शों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जिससे समाज, धर्म और राजनीति की नवीन रूप-रेखा प्रस्तुत होने लगी। मध्यकालीन और नवीन आदर्शों एवं विचारों का यह संघर्ष वक्रगति से प्रायः दो शताब्दियों तक चलता रहा, जिसमें, अन्त में विजय प्रगति की ही रही। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक आते-आते यूरोप के स्वरूप में इतना व्यापक परिवर्तन हो गया कि उसे निस्संकोच रूप से आधुनिक काल की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इस काल में मध्य युग की अपेक्षा आधुनिक काल की विशेषताएँ

अधिक स्पष्ट और प्रौढ़ हो गयी थीं और यूरोपीय इतिहास का प्रवाह दूसरी दिशा में परिवर्तित हो चुका था।

आधुनिक युग के निर्माण में 1453 ई० में कुस्तुन्तुनिया के पतन से उत्पन्न और उससे चालित शक्तियों के सहयोग की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जब यूनानी विद्या और संस्कृति तथा व्यापार और कला-कौशल का यह प्रधान यूरोपीय केन्द्र तुर्कों के हाथ में आ गया तो यूनान के साहित्य-सेवियों और कलाकारों ने इटली में शरण ली, जो इस घटना के पूर्व से ही यूरोपीय पुनर्जागरण का केन्द्र बना हुआ था। यूनानी विद्वानों के इस सक्रिय सहयोग ने पुनर्जागरण को नवीन स्फूर्ति, शक्ति और दृढ़ता प्रदान की जिससे उसका मन्द प्रवाह अत्यधिक वेग के साथ विभिन्न दिशाओं में फूट निकला। अब बड़ी शीघ्रता के साथ नवनिर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ और, जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, प्रायः आधी शताब्दी में ही अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तनों ने यूरोप के तत्कालीन स्परूप में मौलिक परिवर्तन उपस्थित कर दिया।

भौगोलिक अन्वेषणों के कार्य में भी इस घटना ने विशेष सहायता प्रदान की। यद्यपि पूर्व के देशों के साथ व्यापार के निमित्त दूसरे भागों की खोज यूरोपवासियों ने पहले ही से प्रारम्भ कर दी थी, परन्तु कुस्तुन्तुनिया के पतन के पश्चात् तो यह कार्य अत्यावश्यक हो गया, क्योंकि इस नगर से जाने वाला स्थलीय मार्ग अब यूरोपीय व्यापार के लिए बन्द हो गया। फलतः समुद्री मार्ग की खोज बड़ी लगन और तत्परता के साथ प्रारम्भ हुई। इसी प्रयत्न में संलग्न कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। इस खोज ने यूरोप के सामने व्यापार, साम्राज्य-विस्तार तथा धर्म-प्रचारार्थ एक विशाल दुनिया उपस्थित कर दी, जो अकेले ही किसी भी देश के ऐतिहासिक प्रवाह को दूसरी दिशा में मोड़ने की क्षमता रखती थी। फलतः यूरोप के नव-निर्माण कार्य के कुस्तुन्तुनिया के पतन ने 'पुनर्जागरण' को जो तीव्र गति प्रदान की थी वह इस क्रान्तिकारी खोज तथा इससे सम्बद्ध दूसरी खोजों से और अधिक वेगवती हो उठी, जिससे यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन ने अपना मध्यकालीन बाना छोड़कर नवीन स्वरूप धारण किया और यहीं से यूरोपीय इतिहास के आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। नीचे की पंक्तियों में आधुनिक काल की इन्हीं विशेषताओं को प्रदर्शित करने का संक्षिप्त प्रयास है।

राजनीतिक—मध्यकाल में राज्य का स्वरूप यूरोपीय था। समस्त ईसाई जगत् राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से एक इकाई माना जाता था और सिद्धान्ततः उसका शासन पोप और सम्राट् इन दोनों के अधीन था। धार्मिक क्षेत्र में पोप का और राजनीतिक क्षेत्र में सम्राट् का प्राधान्य था। इस प्रकार ईसाई-जगत् की एकता का यह आदर्श, जो

अतीत के गर्भ में विलीन रोम साम्राज्य की देन था, ज्यों-का-त्यों पूर्ववत बना था। इस समस्त ईसाई-जगत् की राज-भाषा लैटिन थी। इसके विपरीत आजकल के यूरोप के राजनीतिक संगठन का आधार राष्ट्रीयता है, जिसमें स्वतंत्रता के साथ जातीयता, भाषा, धर्म और संस्कृति की एकता आवश्यक हे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रांस, स्पेन और इंग्लैण्ड में दृढ़ राजतंत्रों की स्थापना हो गयी थी, जिसने मध्यकालीन ईसाइयत की एकता को गहरी क्षति पहुँचायी। अपने-अपने देश में रोम के चर्च के नियंत्रण से मुक्त सुदृढ़ राज्य की स्थापना इन देशों के शासकों का आदर्श था और सोलहवीं शताब्दी में इस आदर्श की प्राप्ति भी हो गयी। इसी युग में यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता की भावना का भी संचार हुआ जिसने देश-प्रेम के भाव को जागृत किया। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ आधुनिक राष्ट्रीयता का आधार राष्ट्र है, वहाँ उस काल में राष्ट्र प्रेम शासकों के ही प्रति था, वे ही राष्ट्रीयता के प्रतीक समझे जाते थे। उनके ही व्यक्तिगत गौरव, उत्थान और पतन पर राष्ट्र का उत्थान या पतन आधारित था। उनकी ही सफलता पर राष्ट्र की एकता सम्भव थी। सेनाएँ राज्य के लिये नहीं, अपितु राजा के लिये ही युद्ध करती थीं और सैनिक की व्यक्तिगत भक्ति राजा के प्रति ही थी।

परन्तु तत्कालीन सुदृढ़ राजतंत्रों के द्वारा राष्ट्रीय संगठन को एक ठोस रूप प्राप्त हुआ जिसने अन्त में आधुनिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया। इस काल के विद्वान् और राजनीतिज्ञ मेकियावेली ने विश्रृंखलित इटली की एकता का जोरदार समर्थन किया था। मार्टिन लूथर ने अपने प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रचारार्थ, जिसे वह जर्मन-धर्म का स्वरूप दे रहा था, देश-प्रेम के नाम पर जर्मन राजकुमारों से उसे स्वीकार करने की प्रार्थना की थी और कुछ अंशों में उसकी प्रार्थना स्वीकृत भी हुई। सोलहवीं शताब्दी में यूरोप के सबल राज्यों के राष्ट्रीय संघर्ष ने शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को जन्म दिया जो शताब्दियों बाद आज भी सर्वथा नवीन और आधुनिक सिद्धान्त हैं।

स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों के साथ ही यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य का उत्थान आरम्भ हुआ। साहित्यकारों, सुधारकों तथा दूसरे अन्य व्यक्तियों ने अपने हृदय के मधुर उद्गारों, विचारों, भावनाओं और सिद्धान्तों को अपनी राष्ट्रीय भाषा में लिपिबद्ध किया। शेक्सपियर ने अंग्रेजी भाषा में इंग्लैण्ड की प्रशंसा के गान गाये और अपने विस्तृत, अमर एवं अमूल्य साहित्य का सृजन किया। मार्टिन लूथर ने जर्मन भाषा में बाइबिल का अनुवाद कर उसे सबके लिए सुलभ किया। फ्रांसीसियों ने अपने देश की भावनाओं और आदर्शों को मातृ-भाषा में छन्द-बद्ध किया। इस प्रकार यूरोप में राष्ट्रीय साहित्य और भाषा का विकास बड़ी शीघ्रता के साथ हुआ और अल्पकाल में ही छापाखाने के सहयोग से उसकी जनप्रियता पूर्णतः स्थापित हो गयी।

आधुनिक काल की राजनीति में औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वस्तुतः अमेरिका की खोज से ही इसका सूत्रपात होता है। इसी समय से यूरोप अपने विश्व-विजय के अभियान में अग्रसर हुआ जिससे अमेरिका तथा अन्य दूसरे देशों और द्वीपों का यूरोपीयकरण प्रारम्भ हुआ। उपनिवेशों की स्थापना को देकर सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगाल और स्पेन के बीच जिस संघर्ष का प्रारम्भ हुआ उसकी चरम अभिव्यक्ति अठारहवीं शताब्दी में विभिन्न यूरोपीय राज्यों के भीषण युद्ध में हुई।

धार्मिक—मध्यकाल में समस्त ईसाई-जगत् का एकमात्र और सर्वोच्च धर्माधिकारी रोम का पोप था। उसके आदेश सर्वमान्य थे। वह अखिल ईसाई-जगत् के धर्म, आचार और नीति का नियामक था। साम्राज्य का अस्तित्व तो केवल सिद्धान्तों तक ही सीमित रह गया था, परन्तु पोप का अधिकार वास्तविक था। पादरियों के विशाल संगठन द्वारा वह समस्त ईसाई-जगत् पर शासन करता और दृढ़ नियंत्रण रखता था। यूरोप के विभिन्न देशों से कर के रूप में प्रतिवर्ष अपार धनराशि रोम में स्वतः खिंची चली आती थी। यद्यपि मध्यकाल में भी उसके इस एकाधिकार को नियंत्रित करने के प्रयत्न हुए परन्तु वे असफल रहे। सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में मार्टिन-लूथर ने चर्च का सफल विरोध किया और उसके तथा अन्य धर्म-सुधारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रचलित धर्म में व्यापक तथा मौलिक सुधार हुए। इन धर्म-सुधारकों ने ईसाइयत की प्रतिष्ठित एवं सर्वमान्य एकता को समाप्त कर दिया, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक देश में स्वतंत्र एवं राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई ! 'नवीन विद्या' के प्रचार ने लोगों में स्वतंत्र रूप से सोचने की प्रवृत्ति जागृत की थी। अतः सर्वप्रथम चर्च द्वारा स्वीकृत लैटिन भाषा का परित्याग कर लोगों ने अपनी मातृ-भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाया। विज्ञान, साहित्य और कला के ज्ञान ने उनमें स्फूर्ति एवं स्पन्दन उत्पन्न किया था। फलतः लोग हर बात को आधिकारिक ढंग पर मानने के लिए प्रस्तुत न थे। विरोध के इस वातावरण में मार्टिन लूथर तथा अन्य सुधारकों का भेरी-घोष गूँज उठा। अब सभी देशों के शासक पोप के नियन्त्रण से मुक्त राष्ट्रीय चर्च की स्थापना के प्रयत्नों में लग गये। यद्यपि आधुनिक काल में धर्म सर्वथा व्यक्तिगत समझा जाता है, परन्तु इस रूप का पूर्ण स्फुटन सोलहवीं शताब्दी में सम्भव न हो सका/उस काल में राष्ट्रीय चर्च का प्रधान राजा होता था और उसका ही धर्म राष्ट्रीय धर्म समझा जाता था। साथ ही बाहरी देशों और उपनिवेशों में ईसाई-धर्म के प्रचार का कार्य इसी काल से प्रारम्भ हुआ और अमेरिका तथा दूसरे देशों की खोज ने इसे और सरल बना दिया। नवीन भौगोलिक खोजों ने ईसाई-जगत् की एकता के सर्वमान्य सिद्धान्त को सदा के लिए समाप्त तो अवश्यक कर दिया, परन्तु साथ ही धर्म-प्रचार के

लिए असीम क्षेत्र भी उपस्थित किया। इस प्रकार साम्राज्य-विस्तार के साथ सुदूर देशों में धर्म-प्रचार कें कार्य का बीजारोपण इस काल के प्रथम चरण में ही हुआ।

सामाजिक—मध्यकाल में समाज के संगठन का आधार सामन्तवादी प्रथा थी जिसमें कृषि-प्रधान और सेवा-प्रधान तत्वों का मिश्रण था। धार्मिक दृष्टिकोण से पुजारी और उपासक समाज के यही दो अंग थे। अधिकारों के आाधार पर समाज में पुरोहितों तथा सरदारों के अधिकारयुक्त प्रथम तथा द्वितीय वर्ग और सर्वसाधारण का अधिकारहीन तृतीय-ये तीन वर्ग थे। मनुष्य साधारण रूप से समूह का एक अंग था और उसका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व न था। न वह स्वतंत्र रूप से अकेला सोच सकता था और न कोई उद्यम ही कर सकता था। तत्कालीन समस्त वातावरण स्वतंत्र विचारों का घोर विरोधी था और सम्पूर्ण ईसाई-जगत् की विचारधारा धर्म द्वारा संचालित और नियंत्रित थी। परन्तु व्यापार तथा कला-कौशल की उन्नति ने मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में मध्यम वर्ग को जन्म दिया जो धन के आधार पर प्रथम और द्वितीय वर्ग के समकक्ष आने का प्रयत्न कर रहा था। व्यापार की उन्नति और मानववादी साहित्य ने व्यक्तिवादी सिद्धान्त को जन्म दिया जिससे अनुप्राणित मनुष्य स्वतंत्र रूप से सोचने और कार्य करने तथा समुदाय के नियंत्रण से मुक्त होने का सफल प्रयास करने लगा। उस समय के अन्वेषकों, नाविकों तथा उपनिदेश संस्थापकों के साहस-पूर्ण कार्यों द्वारा व्यक्तिवादी सिद्धान्त का चरम उत्कर्ष हुआ। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पूँजीपतियों, दलालों और बैंक संचालकों ने शताब्दियों से सम्मानित प्रथाओं का परित्याग करके व्यापार के क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र मनोवृत्ति का परिचय दिया। इस प्रकार समाज के संगठन का मध्यकालीन आधार समुदाय नष्ट होने लगा और आधुनिक व्यक्तिवादी आदर्श सम्पुष्ट और सम्मानित होने लगा। दूसरी ओर नगरों के विकास, बारूद के अविष्कार तथा केन्द्रीय शासन के संगठन ने मिलकर सामन्तवादी प्रथा को इतना निर्बल और शक्तिहीन कर दिया कि समाज के संगठन का यह मध्यकालीन आधार भी आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही समाप्त हो गया और उसका स्थान शक्ति और साधन-सम्पन्न मध्यम वर्ग ने ग्रहण किया। वह वर्ग बुद्धिजीवी, व्यापार-कुशल, मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न था, फलतः यूरोप के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में उत्तरोत्तर इसका ही प्राधान्य होने लगा। व्यापार के कारण अपार धन की वृद्धि हुई और उसने समाज में धनी और निर्धन इन दो वर्गों को उत्पन्न किया। व्यापार के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण ने जमींदारों को भी नगरों की ओर आकृष्ट किया और अब उनके लिए अपनी जमींदारी में रहना और उसकी देखभाल करना सम्भव नहीं रह सका। फलतः उनके कारिन्दों द्वारा किसानों पर अनके प्रकार के अत्याचार प्रारम्भ हुए, जिससे उनकी मुसीबतें नित्यप्रति बढ़ती ही गयीं। नवीन भौगोलिक अन्वेषणों के

फलस्वरूप स्पेन और पुर्तगाल में अपार धनराशि बाहर से आने लगी जिसने इन देशों के, और विशेषतः स्पेन के, सामाजिक जीवन को चंचल कर दिया। अमेरिकी देशों से सरलता से प्राप्त होने वाली इस स्वर्ण-राशि ने स्पेन की राष्ट्रीय अकर्मण्यता को जन्म दिया जो अन्त में उसके पतन का कारण बन गई।

आर्थिक—मध्यकाल में यूरोप के आर्थिक संगठन का आधार व्यापारियों की श्रेणियाँ थीं। जिनके साथ मध्यकालीन व्यापार और नगरों के विकास का इतिहास सम्बद्ध है। समस्त व्यापार का संचालन इन श्रेणियों के ही हाथों में था। कुछ कालोपरान्त कारीगरों ने भी अपनी श्रेणियाँ स्थापित की। इन सभी श्रेणियों के साधन और क्षेत्र सीमित थे। उत्पादन, वितरण, क्रय और विक्रय सभी निश्चित नियमों से संचालित और नियंत्रित थे। परन्तु भौगोलिक अन्वेषणों ने आर्थिक क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। नवीन मार्ग, नवीन क्षेत्र, नवीन साधन तथा नवीन व्यापारिक वस्तुओं ने इन श्रेणियों की उपादेयता को समाप्त कर दिया। अब बड़े परिमाण पर अधिक साधनों द्वारा व्यापार की आवश्यकता पड़ी। उत्पादन के साधनों में भी अमूल परिवर्तन करना पड़ा। इस स्थिति ने ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों को जन्म दिया, बैंकों की स्थापना हुई और बड़ी मात्रा में उत्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। धन की द्रुत गति से वृद्धि होने लगी, जिसमें पूँजीवाद को जन्म दिया। राज्यों की दृढ़ता, विस्तार और विकास में पूँजीवाद और व्यापार सबल शक्ति के रूप में गिने जाने लगे। अब राष्ट्रीय व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के विकास के लिए राज्यों की ओर से नियम और विधान प्रस्तुत होने लगे। राज्य ने व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए भी नियम बनाये। इस प्रकार पूँजीवादी तो संरक्षण के लिए राज्य की ओर आकृष्ट हुए ही, श्रमिक भी अपने हितों की रक्षा के लिए राजाश्रय चाहने लगे। समस्त देश में धन और वैभव का विकास प्रारम्भ हुआ। बड़े-बड़े कल-कारखाने स्थापित हुए। व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि के निमित्त अधिकाधिक उपनिवेशों की स्थापना आवश्यक समझी जाने लगी, जिसके लिए यूरोपीय राष्ट्रों में प्रारम्भ में होड़ और अन्त में भीषण संघर्ष प्रारम्भ हो गये। इस प्रकार आधुनिक आर्थिक जीवन की रूपरेखा भी इस काल में ही स्पष्ट और प्रौढ़ होने लगी थी।

अध्याय 2

आधुनिक काल के प्रारम्भ में प्रमुख राज्य

आधुनिक काल के प्रारम्भ में एक ओर तो स्पेन, फ्रांस एवं इंगलैण्ड में राजनीतिक एकता, राष्ट्रीयता तथा राज्यवाद की ओर प्रगति हो रही थी और दूसरी ओर इटली तथा जर्मनी राजनीतिक अनैक्य एवं अराजकता के शिकार बन रहे थे। परन्तु अपने इस घोर राजनीतिक दौर्बल्य में भी साहित्य तथा ललित कला के क्षेत्र में इटली यूरोप के राज्यों में अग्रगण्य था और उसमें सांस्कृतिक गौरव के सम्मुख यूरोप के सबल राज्य भी नत-मस्तक थे। अतः इस सांस्कृतिक प्रधानता के कारण इटली से ही आधुनिक यूरोप के इतिहास का प्रारम्भ अधिक युक्तिसंगत एवं समीचीन प्रतीत होता है।

इटली

मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में इटली के नगरों ने रोम के पोप के साथ मिलकर समस्त प्रायद्वीप को 'पवित्र रोम सम्राट्' के चंगुल से मुक्त कर लिया था। साथ इस काल में क्रमशः सामन्तवाद का ह्रास, नगर-राज्यों का विकास तथा पोप की प्रधानता और इन सबसे उत्पन्न घोर अराजकता एवं अशान्ति इटली के इतिहास के प्रधान अंग हैं। फलतः जहाँ एक ओर उत्तरी और मध्य इटली में व्यापारिक नगरों की शीघ्रता केसाथ वृद्धि होने लगी, वहीं दूसरी ओर सम्राट् के भय से सर्वथा मुक्त इन नगरों ने अपने राज्य एवं व्यापारिक हितों की वृद्धि के निमित्त घोर पारस्परिक कलह प्रारम्भ कर दिया। पहाड़ी क्षेत्रों में कुछ सामन्त अभी शेष थे, जिन्होंने पर्याप्त दृढ़ता के साथ उन्नतशील एवं सबल नगरों का प्रतिरोध किया। रोम और उसके पास के विस्तृत भू-भाग पर पोप का अधिकार था, जो धार्मिक क्षेत्र में यूरोप का एकाधिकारी और साथ ही इस भू-भाग का स्वामी एवं शासक भी था। दक्षिणी इटली में नेपुल्स का राज्य था जिसमें सिसिली का द्वीप भी सम्मिलित था। ये दोनों मिलकर सिसिली के राज्य के नाम से भी विख्यात थे।

राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में उत्तरी तथा मध्य इटली के नगरों की ही प्रधानता थी। यद्यपि ये नगर स्वतंत्र तथा साधन एवं शक्ति-सम्पन्न थे, परन्तु उनके पारस्परिक कलह ने इटली में शान्ति स्थापित न होने दी। फलतः एक ओर तो छोटे नगर बड़े नगरों का शिकार होने लगे और दूसरे ओर इन नगरों पर महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का अधिकार स्थापित होने लगा। आधुनिक काल के प्रारम्भ तक लोम्बार्डी, वेनीशिया और टस्केनी के प्रदेशों में क्रमशः मिलान, वेनिस एवं फ्लोरेन्स के नगरों की प्रधानता स्थापित हो गया थी जो शक्ति और साधन में रोम के पोप और नेपुल्स के राज्य के समकक्ष थे। समस्त इटली में इन्हीं पाँच राज्यों का प्राधान्य था और सेवाय जैसे जो छोटे-छोटे सामन्ती राज्य शेष भी

थे, वे इटली की राजनीति में प्रायः नगण्य हो चुके थे। इन पाँचों राज्यों के विकास का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

मिलान—मिलान के राज्य के प्रारम्भिक स्परूप प्रजातांत्रिक था। परन्तु यहाँ के निवासी अपनी स्थानीय समस्याएँ सुलझाने में असमर्थ सिद्ध हुए, जिसके परिणामस्वरूप यह प्रजातन्त्रीय शासन क्रमशः निरंकुशतंत्र के रूप में बदलता गया और मिलान के समूचे लोम्बार्डी-प्रदेश पर अधिकार होने के पूर्व ही यह निरंकुश शासन-तन्त्र पर्याप्त प्रबल हो गया। इस नगर में निरंकुश शासन की स्थापना सर्वप्रथम विस्कण्टी परिवार ने की थी और जब पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य (1447 ई०) में वंशहीन होने के कारण इस परिवार का अंत हो गयातो एक नये सैनिक नेता फ्रांसेस्को स्फोर्जा ने मिलान पर अपना अधिकार स्थापित (1450 ई०) कर लिया। आधुनिक काल के प्रारम्भ में इस नवीन वंश ने मिलान में एक शानदार शासन की स्थापना की थी।

वेनिस—मध्यकाल के प्रारम्भ में ही वेनिस का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसकी उन्नति में मानव शक्ति को प्रकृति से भी पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुई। एड्रियाटिक सागर के उत्तरी सिरे पर द्वीपों में बसा हुआ यह सामुद्रिक नगर शीघ्र ही भूमध्यसागर के व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन गया। प्रकृति ने स्थल की ओर से भी इसकी रक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर दी थी। परिणामस्वरूप वेनिस ने भूमध्यसागर के पूर्वी भाग में केवल व्यापार का ही एकाधिकार नहीं प्राप्त किया, प्रत्युत एक विशाल सामुद्रिक साम्राज्य भी स्थापित किया, जिसमें आस-पास के अतिरिक्त इजीयन सागर के छोटे-बड़े बहुत-से द्वीप सम्मिलित थे। इसके पश्चात् वेनिस के शासकों ने इटली के पूर्वोत्तर भाग में अपना अधिकार स्थापित करना प्रारम्भ किया। इस राज्य-विस्तार नीति का प्रमुख कारण भी व्यापार ही था। थोड़े ही दिनों में समस्त वेंनीशिया प्रान्त इनके अधिकृत हो गया और इटली की प्रतिस्पर्धात्मक राज्यनीति में वेनिस एक प्रमुख अभिनेता बन गया।

प्रारम्भ में वेनिस में भी प्रजातंत्रात्मक शासन था। परन्तु यहाँ के व्यापारी वर्ग ने, जिसने इस नगर के गौरव में चार चाँद लगाये थे, सत्तारुढ़ रहने का निश्चय कर लिया था। फलतः इस प्रजातंत्रात्मक शासन ने वंशानुगत अभिजाततंत्र का स्वरूप धारण कर लिया और शासन का समस्त अधिकार विशिष्ट परिवारों के हाथ ही में सीमित रह गया। इन्होंने शासन के निमित्त अनेक उपसमितियों की स्थापना की थी, जिनमें दस नागरिकों की एक उपसमिति जो 'दस' के नाम से विख्यात थी, सर्वोपरि सिद्ध हुई और वास्तविक सत्ता इसके हाथ में केन्द्रीभूत हो गयी। जीवन-काल के लिए चुना हुआ ड्यूक तो केवल नाममात्र के लिए ही शासन का प्रधान था। वैभव और शक्ति-सम्पन्न वेनिस नगर ने

पुनर्जागरण-काल में इटली की संस्कृति में पर्याप्त योग दिया था और इसके राजनीतिक जीवन में भी अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व बना रहा।

फ्लोरेन्स—आर्थिक उत्कर्ष में वेनिस के समकक्ष और सांस्कृतिक क्षेत्र में अधिक गौरवशाली होते हुए भी फ्लोरेन्स नगर राजनीतिक स्थायित्व में वेनिस की तुलना न कर सका। टस्केनी का यह नगर मुख्यतः औद्योगिक केन्द्र था। मध्यकाल के पूर्वार्द्ध में ही व्यापारियों तथा औद्योगिक नागरिकों की श्रेणियों ने साधारण नागरिकों तथा मजदूरों को अधिकार विहीन कर शासन-सत्ता हस्तगत कर ली थी। इस आन्तरिक कलह के होते हुए भी यहाँ के निवासियों में राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रति अत्यधिक ममता ने फ्लोरेन्स में शासन के प्रजातांत्रिक स्वरूप को अधिक दिनों तक स्थिर रखा। परन्तु अन्त में वर्गीय अशान्ति शासन के लिए घातक सिद्ध हुई और पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इस नगर में मेचिडी परिवार सत्तारुढ़ हो गया, जिसने प्रजातांत्रिक शासन के बाहय स्वरूप की रक्षा भी अधिकार को वंशानुगत कर लिया। इस शताब्दी के अंतिम चरण में इस परिवार के शासक लोरेन्जो ने अपना व्यक्तिगत अधिकार और अधिक सुदृढ़ कर लिया। यह अपने समय का एक प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ, प्रभावशाली व्यक्ति एवं सफल शसक था जो 'महान' की पदवी से विभूषित किया जाता था। यह स्वयं तो कुशल कवि था ही साथ ही काव्य और कला का विख्यात संरक्षक भी था। इसके शासन काल में फ्लोरेन्स में काव्य एवं काल की अभूतपूर्व उन्नति हुई जिसके परिणामस्वरूप यह नगर तत्कालीन यूरोप का सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक केन्द्र बन गया था।

रोम— इटली में 'पवित्र रोमन सम्राट्' का अधिकार समाप्त हो जाने पर रोम के पोप ने, जो समस्त यूरोप में कैथलिक धर्म का एकाधिकारी था, इस नगर के आसपास के भू-भाग पर अधिकार करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही उसका यह प्रयत्न सफल सिद्ध हुआ और रोम से एड्रियाटिक सागर तक के पर्वतीय एवं मैदानी भू-भाग पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। एपिनाइन के पर्वतीय भाग के सामन्तों ने पोप की राज्य-विस्तार-नीति का घोर विरोध किया और उनका यह संघर्ष बहुत दिनों चलता रहा। वस्तुतः पन्द्रहवीं शताब्दी के पोपों ने कैथलिक धर्म का आध्यात्मिक प्रधान होते हुए भी यूरोप के अन्य शासकों की भाँति राज्य-विस्तार और उसके संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया था। इस नीति का प्रधान कारण पुनर्जागरण-काल में भौतिक जीवन के प्रति यूरोप का विशेष आकर्षण था जिससे धर्माधिकारी पोप भी उदासीन नहीं रह सके। इस काल के पोपों का जीवन तत्कालीन समय और वातावरण के सर्वथा अनुकूल बन गया था और यूरोप के निरंकुश शासकों की भाँति इन धर्माधिकारियों ने भी भोग-विलास एवं जीवन के आनन्द को पूर्णतः अपना लिया था।

साहित्य और ललित कलाओं को प्रश्रय तत्कालीन पोपों की दूसरी विशेषता थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक के पोपों पर यूरोपीय पुनर्जागरण का पूर्ण प्रभाव था। धार्मिक कृत्यों की अपेक्षा विशाल चर्चों और भव्य प्रासादों का निर्माण, विद्वानों और कलाकारों को प्रश्रय एवं उनका संरक्षण तथा राजदरबारों की शानदार सजावट इन पोपों के जीवन का प्रधान कार्यक्रम था। इन कार्यों के लिए आवश्यक धन रोमन कैथलिक पुजारियों और प्रजा से अधिकाधिक कर के रूप में संगृहीत होने लगा। इस धन-संग्रह और विलासिता से उनका चारित्रिक पतन प्रारम्भ हुआ। बोर्जिया परिवार का पोप अलेक्जाण्डर (1492-1503 ई०) इन्द्रियजन्य सुख और भोग-विलास के लिए सबसे अधिक कुख्यात है। साथ ही उसने अनेक क्षेत्रज पुत्रों की समृद्धि के लिए चर्च की सम्पत्ति और अपने समस्त साधनों का यथाशक्ति उपयोग किया। वह अपने चरित्रहीन पुत्र सीजर बोर्जिया को चर्च के राज्य का स्वामी भी बनाना चाहता था, परन्तु उसकी आकस्मिक मृत्यु ने उसके मनोरथ को निष्फल कर दिया। अलेक्जाण्डर के उत्तराधिकारी जूलियस (1503-1513 ई०) के तत्वाधान में रोम स्थित सेण्ट पीटर के विश्वविख्यात गिर्जाघर और उसके भित्ति-चित्रों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो ललित कला की अमूल्य निधियाँ हैं।

नेपुल्स का राज्य—इटली के दक्षिण भाग में स्थित नेपुल्स का राज्य उत्तरी इटली से सर्वथा भिन्न और उसके प्रभावों से पूर्णतः वंचित था। इस सामन्ती राज्य में इटली के पुनर्जागरण-काल में भी मध्यकालीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था अक्षुण्ण बनी रही। पन्द्रहवीं शताब्दी में नेपुल्स में स्पेन के अरागान परिवार का शासन प्रारम्भ हुआ। इसके पहले परिवार से एक फ्रांसीसी परिवार का संबंध था। फलतः यहीं से इटली के अधिकार के लिए स्पेन और फ्रांस का वह दीर्घकालीन संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसने आगे चलकर केवल इटली को ही नहीं प्रत्युत यूरोपीय राजनीति को भी पर्याप्त प्रभावित किया।

जमर्न-साम्राज्य

सन् 800 ई० में प्रसिद्ध फ्रैंक सम्राट् शार्लमेन ने पोप द्वारा रोम नगर में अपना अभिषेक कराया और प्राचीन रोम साम्राज्य की स्मृति में उसने 'रोमन सम्राट् की उपाधि धारण की और उसका जर्मन साम्राज्य रोम साम्राज्य के नाम से विख्यात हुआ। दसवाँ शताब्दी के मध्य से चर्च के साथ अत्यधिक सम्पर्क के कारण यह साम्राज्य 'पवित्र रोमन साम्राज्य' और सम्राट् 'पवित्र रोमन सम्राट्' के नाम से पुकारे जाने लगे। इस साम्राज्य में जर्मनी और इटली के देश थे। तेरहवीं शताब्दी में साम्राज्य से इटली का सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर भी गौरवपूर्ण अतीत की मधुर स्मृति दिलाने वाले ये दोनों नाम ज्यों-के-त्यों

बने रहे। तब से जर्मनी के स्थान पर ही 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का प्रयोग होने लगा और दोनों नाम समानार्थी बन गये।

जर्मनी सैकड़ों सामन्ती राज्यों का समूह था जिसका प्रधान 'पवित्र रोमन सम्राट्' था। सम्राट् को इटली के दीर्घकालीन युद्धों में सहायता प्रदान कर जर्मनी के बहुसंख्यक सामन्तों ने उससे व्यापक अधिकार प्राप्त कर लिया था। चौदहवीं शताब्दी के मध्य (1356 ई०) में इन सत्ताधारी सामन्तों ने सम्राट् को 'गोल्डेन बुल' नामक वैधानिक प्रपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया जिसके परिणामस्वरूप वह नाममात्र के लिए सम्राट् बना रहा और वास्तविक अधिकार सामन्तों के हाथ में आ गया। इस वैधानिक परिवर्तन के अनुसार सम्राट् के चुनाव का एकमात्र अधिकार जर्मनी के सात प्रमुख राजकुमारों को प्राप्त हुआ जिसमें तीन धर्माधिकारी शसक मेंज (Mainz) ,ट्रायर (Trier) और कोलोन के आर्चबिशप तथा बोहेमिया का राजा, सैक्सोनी का ड्यूक ब्रैडेनवर्ग का राजकुमार मारग्रेव (Margrave) और पैलेटाइन का काउण्ट (Count) ये चार राजकुमार थे। शासन और विधान सम्बन्धी कार्यों में सम्राट् जर्मन पार्लियामेण्ट या 'डायट' के अधीन था। इस 'डायट' के तीन वर्ग थे। पहला वर्ग सम्राट् के निर्वाचक उपर्युक्त सात प्रमुख राजकुमारों का था, छोटे सामन्तों और धर्माधिकारियों का समूह द्वितीय वर्ग था और कुछ समय पश्चात् 'स्वतंत्र नगरो' के प्रतिनिधियों ने तीसरे वर्ग का निर्माण किया। इन तीन वर्गों की अनुमति से ही सम्राट् कोई निर्णय ले सकता था। सेना, शासन और कोषाधिकार से वंचित सम्राट् जर्मन एकता का निर्बल प्रतीक मात्र रह गया था, वास्तविक अधिकार तो बहुसंख्यक राजकुमारों, सामन्तों या नगरों के अधिकारियों के हाथ में था जो अपने आन्तरिक शासन में सर्वथा स्वतंत्र थे।

सम्राट् मैक्समिलियन—पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में सम्राट् मैक्समिलियन के शासन-काल (1493-1519 ई०) में देश में यूरोप के अन्य राज्यों की भाँति राष्ट्रीय भावना का संचार हुआ और जर्मनी की एकता के निमित्त सम्राट् के अधिकारों को व्यापक बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। वैधानिक सुधारों का एक कार्यक्रम भी प्रस्तुत हुआ, परन्तु सम्राट् की निष्क्रियता एवं निर्बलता तथा स्थानीय जर्मन राज्यों की स्वातन्त्र्य-प्रियता के कारण सारा प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुआ। कर और सेना विहीन सम्राट् पूर्ववत् पवित्र जर्मन साम्राज्य का श्रृंगार और बाह्य एकता का निर्बल प्रतीक मात्र रह गया। फलतः जर्मन साम्राज्य यूरोप के राज्यों में गौरवपूर्ण पद से वंचित, असम्बद्ध और शक्तिहीन राज्य के रूप में ही बना रहा। परन्तु इस प्रयत्न का एक फल अवश्य हुआ। 'शाश्वत आन्तरिक शान्ति' की घोषणा द्वारा जर्मनी के बहुसंख्यक राज्यों के व्यक्तिगत युद्ध के अधिकार का अन्त कर दिया गया और साथ ही एक सर्वोच्च राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना भी हुई।

जर्मन सम्राट् मैक्समिलियन हैप्सवर्ग परिवार का और जर्मनी के अन्तर्गत एक छोटे-से राज्य आस्ट्रिया का वंशानुगत शासक था। यद्यपि जर्मनी की एकता के प्रयत्न में वह निष्फल रहा और सम्राट् के पद और गौरव की वृद्धि न कर सका, परन्तु आस्ट्रिया के शासक के रूप में उसने अपनी शक्ति और मर्यादा की पर्याप्त वृद्धि की। इस दिशा में उसने तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार पारिवारिक वैवाहिक सम्बन्धों का आश्रय लिया जिसका मार्ग-निर्देश स्वयं उसके विवाह के रूप में उसके पिता ने किया था। उसका विवाह बर्गण्डी की राजकुमारी मेरी के साथ हुआ था जो यूरोप के एक वैभव-सम्पन्न राज्य नेदरलैण्ड्स की उत्तराधिकारिणी थी। इस प्रकार उनका पुत्र फिलिप आस्ट्रिया के वंशानुगत राज्य के अतिरिक्त नेदरलैण्ड्स का भी अधिकारी हुआ। मैक्समिलियन ने अपने इस पुत्र का विवाह स्पेन की राजकुमारी जोन के साथ किया जो स्पेन के विस्तृत साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी थी। फिलिप और जोन की प्रथम सन्तान चार्ल्स था जो अपने समय में आस्ट्रिया, नेदरलैण्ड्स और स्पेन के सम्मिलित राज्य का एकमात्र अधिकारी हुआ। उसका पिता फिलिप पहले ही मर चुका था अतः अपने पितामह के जीवन-काल में ही वह स्पेन के नेदरलैण्ड्स का राजा बन गया था। सन् 1519 ई० में मैक्समिलियन की मृत्यु के पश्चात् वह 'पवित्र रोमन सम्राट् भी चुना गया और अब चार्ल्स पंचम के नाम से विख्यात हुआ। उसके सम्राटपद पर आसीन और विस्तृत साम्राज्य का स्वामी होने के कारण अतीत के गर्भ में विलीन रोम साम्राज्य के गौरव की पुनरावृत्ति की प्रबल सम्भावना उत्पन्न हो गयी। परन्तु स्मरण रहे कि यह सम्भावना उसके जर्मन पद के कारण नहीं थी, जहाँ वह साम्राज्य का श्रृंगारमात्र था, अपितु स्पेन के राजा के रूप में भी जहाँ के अपरिमित साधनों का वह एकमात्र अधिकारी था।

स्पेन

आठवीं शताब्दी में उत्तरी अफ्रीका के मुसलमान मूरों ने अरबों के नेतृत्व में समस्त स्पेन पर अधिकार कर लिया था। ईसाइयों के कुछ समूहों ने उत्तर के पहाड़ों में शरण लेकर किसी प्रकार अपने धर्म की रक्षा की, परन्तु इनके हृदय में अपने देश और धर्म की स्वतंत्रता की ज्वाला सदैव प्रज्वलित होती रही और समय-समय पर उन्होंने मूरों को क्रमशः दक्षिण की ओर हटाना भी प्रारम्भ किया। फलतः पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक स्पेन के दक्षिणी भाग में केवल ग्रेनाडा का प्रान्त मूरों के अधीन रह गया। जैसे-जैसे स्पेन मूरों के आधिपत्य से मुक्त होता गया, वहाँ पर नवीन ईसाई राज्यों की स्थापना होती गयी। यद्यपि इन राज्यों में पर्याप्त पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष थे, परन्तु इनसे उनके जातीय संघर्ष में शिथिलता नहीं आने पायी। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के साथ वैवाहिक सम्बन्धों और

विजयों द्वारा स्पेन का राष्ट्रीय एकीकरण भी प्रारम्भ हो गया था जिसके फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पेन मे केवल कैस्टील और अरागान के दो प्रबल राज्य शेष रहं गये थे। जब कैस्टील की उत्तराधिकारिणी राजकुमारी इजाबेला का विवाह अरागान के राजकुमार फर्डिनैण्ड के साथ (1479 ई०) सम्पन्न हुआ तो वह बाधा भी दूर हो गयी और स्पेन की राजनीतिक एकता सत्य बन गयी। परन्तु प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग में पुर्तगाल ने अपने स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा की और इसका प्राय: पाँचवाँ भाग एक पृथक् राज्य बन गया जो आज तक वर्तमान है।

फर्डिनैण्ड और इजाबेला—कैस्टील और अरागान की शक्ति और संगठन का आधार मूरों के विरुद्ध उनका राष्ट्रीय एवं धार्मिक संघर्ष था जिसकी पूर्णाहुति ग्रेनाडा में मूरों की अन्तिम पराजय से हुई। फर्डिनैण्ड और इजाबेला ने सन् 1492 ई० में ग्रेनाडा पर विजय प्राप्त कर स्पेन की राष्ट्रीय और धार्मिक एकता को साकार बनाया और शताब्दियों से पराजित एवं पराधीन स्पेन पूर्ण स्वतंत्र राज्य बन गया।

यद्यपि स्पेन को पिरेनीज की पहाड़ियाँ यूरोप से अलग करती हैं, जिसके फलस्वरूप स्पेन के निवासियों में यूरोपीय लोगों से कुछ विभिन्नतायें भी उत्पन्न हो गयी थीं, परन्तु फर्डिनैण्ड और इजाबेला की विस्तार-नीति ने स्पेन को यूरोप के निकट सम्पर्क में ला दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में जब नेपुल्स के राजवंश का अन्त हो गया तो अरागान का एक राजकुमार वहाँ का राजा बनाया गया। फलत: कालान्तर में यह राज्य भी बढ़ते हुए स्पेन के राज्य का अंग बन गया। पुराने सम्बन्धों के आधार पर फ्रांस ने भी नेपुल्स के राज्य पर अपना दावा पेश किया। परन्तु फर्डिनैण्ड अपने इस नये अधिकार की रक्षा के लिए कृत-संकल्प था। परिणाम-स्वरूप स्पेन और फ्रांस में नेपुल्स के राज्य के लिए संघर्ष छिड़ गया जिसमें फर्डिनैण्ड ने अपने सफल कूटनीति से पूर्ण विजय प्राप्त की और सन् 1504 ई० में में फ्रांस के राजा लुई द्वादश को बाध्य होकर नेपुल्स, सिसिली और सार्डिनिया पर स्पेन के अधिकार को स्वीकार करना पड़ा। नवार-राज्य के अधीन पिरेनीज के दक्षिण स्थित भू-भाग पर भी फर्डिनैण्ड ने सन् 1512 ई० में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उधर जब फ़र्डिनैण्ड की पुत्री जोना का विवाह जर्मन-सम्राट् मैक्समिलियन और मेरी के पुत्र फिलिप के साथ हुआ तो अन्त में नेदरलैण्ड्स का भाग्य भी स्पेन के साथ संलग्न हो गया। परन्तु स्पेन के शासक केवल यूरोप में ही राज्य-विस्तार की सफल नीति से सन्तुष्ट न थे, प्रत्युत उनके तत्वावधान और संरक्षण में विख्यात नाविक कोलम्बस ने अमेरिका का अन्वेषण (1492 ई०) किया जिसके फलस्वरूप पश्चिमी गोलार्द्ध में स्पेन के विस्तृत साम्राज्य की स्थापना हुई। वस्तुत: फर्डिनैण्ड और इजाबेला की सफल नीति ने स्पेन को इतना दृढ़ और शक्तिशाली बना

दिया कि उनके पश्चात् सोलहवीं शताब्दी में समस्त यूरोप में स्पेन का ही प्राधान्य रहा। यूरोप के दूसरे राज्य स्पेन की ओर भय, आशंका और सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

फर्डिनैण्ड और इजाबेला के सम्मिलित शासन में निःसदेह रूप से यूरोप स्पेन के गौरव की वृद्धि हुई परन्तु उनकी आन्तरिक शासन-नीति देश के लिए बहुत हितकर न सिद्ध हो सकी। कैस्टील और अरागान का राजनीतिक एकीकरण अवश्य हो गया था, परन्तु इससे शासन-सम्बन्धी वैभिन्य दूर न हो सका और दोनों राज्यों के नियम और विधान पूर्ववत् बने रहे। इस पार्थक्य की भावना ने राष्ट्रीय संगठन में शैथल्य उत्पन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप सोलहवीं शताब्दी में स्पेन के शासकों को अनेक आन्तरिक विद्रोहों और संघर्षों का सामना करना पड़ा।

ग्रेनाडा के मूरों के साथ स्पेन के दीर्घकालीन संघर्ष के कारण इस देश में संकुचित राष्ट्रीयता और घोर धार्मिक असहिष्णुता की नीति का प्रादुर्भाव हुआ। मूरों की पराजय ने उनके राज्य का तो अन्त कर दिया, परन्तु वहाँ के निवासी के रूप में शताब्दियों पुराना उनका सम्पर्क बना रहा। ये लोग कुशल किसान और सफल व्यापारी थे। इन्हीं की भाँति व्यापार-कुशल जाति यहूदियों की भी थी। इन दोनों ही जातियों ने देश के आर्थिक जीवन को समुन्नत बनाया था। परन्तु ग्रेनाडा के अन्तिम संघर्ष ने स्पेन में घोर धार्मिक उत्तेजना और असहिष्णुता उत्पन्न कर दी। स्पेन का समस्त ईसाई-समाज इस बात पर एकमत था कि मूर और यहूदी दोनों ही जातियाँ ईसाई-धर्म स्वीकार करें अन्यथा उन्हें मृत्यु या देश-निष्कासन का दण्ड दिया जाय। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए एक विशिष्ट धार्मिक न्यायालय का अवलम्बन लिया गया जिसे 'इन्क्वीजिशन' कहते हैं। इस न्यायालय की शाखायें देश के विभिन्न भागों में स्थापित थीं जिनके द्वारा मूरों और यहूदियों का बलात् धर्म-परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। विरोध-प्रदर्शन पर बहुत बड़ी संख्या में इन्हें जीवित अग्नि में जला दिया गया या अन्य घोर यातनायें दी गयीं। अपने सम्मान और धर्म की रक्षा के लिये कुछ तो दूसरे देशों में भाग गये। ईसाइयों की इस नीति ने स्पेन के आर्थिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया, क्योंकि देश का अधिकांश व्यापार इन्हीं लोगों के हाथ में था। यद्यपि इन्क्वीजिशन मुख्यतः धार्मिक न्यायालय था, परन्तु मूरों और यहूदियों का मूलोच्छेद करके इसने राज्य के संगठन में पर्याप्त सहायता प्रदान की।

महारानी इजाबेला सुन्दर, बुद्धिमान् और धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री थी। सन् 1504 ई० में उसकी मृत्यु के बाद के शासन का एकाधिकार उसके पति फर्डिनैण्ड के हाथों में आया, जिसने सफलतापूर्वक बारह वर्षों तक और राज्य किया। पुत्र के अभाव में राज्य की उत्तराधिकारिणी उनकी ज्येष्ठ पुत्री जोना थी जो फिलिप से ब्याही थी। सन् 1506 ई० में फिलिप की भी मृत्यु हो गयी और जोना विक्षिप्त मस्तिष्क के कारण शासन के

सर्वथा अयोग्य थी। फलतः सन् 1516 ई० में फर्डिनैण्ड की मृत्यु के उपरान्त जोना का सोलह वर्षीय पुत्र चार्ल्स प्रथम स्पेन के विस्तृत साम्राज्य का स्वामी हुआ जो यूरोपीय इतिहास में जर्मन सम्राट् चार्ल्स पंचम के नाम से विशेष रूप से विख्यात है।

फ्रांस

राज्य के संगठन में फ्रांस को स्पेन से पहले सफलता प्राप्त हुई और तेरहवीं शताब्दी में ही वहाँ के राजाओं ने सामन्तों पर नियंत्रण स्थापित करके समस्त यूरोप में सबसे अधिक दृढ़ शासन की स्थापना की। परन्तु उसके बाद ही फ्रांस का इंग्लैण्ड के साथ शतवर्षीय युद्ध प्रारम्भ हो गया। जिसमें लगातार पराजय के कारण उसकी राज-शक्ति को गहरा आघात पहुँचा। इस पराजय-जन्य अपमान के कारण देश में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई और आर्क की वीरांगना जोन के नेतृत्व ने नवजीवन और नवस्फूर्ति का संचार किया। युद्ध का अन्तिम परिणाम फ्रांस के लिए हितकर हुआ। फ्रांस को सफलता तो मिली ही, राजा के अधिकारों में भी वृद्धि हुई। उसे भूमिकर लगाने का अधिकार मिला जिससे प्राप्त कोष के द्वारा वह स्थायी सेना रख सकता था। कोष और स्थायी सेना ने राजा की शक्ति को संपुष्ट किया। व्यापार की उन्नति के लिए देश की शान्ति को आवश्यक समझकर नगरों के निवासियों ने राजा के साथ सहयोग किया। फलतः लुई एकादश ने (सन् 1461-83 ई०) बड़े-बड़े सामन्तों को अधीन किया और अपनी सफल कूटनीति एवं बुद्धिकौशल से अनेक सामन्तों के पुत्राभाव में उनकी विस्तृत जागीरें राज्य के अधीन की। साथ ही उसके समय में सामन्ती न्यायालयों पर राजकीय न्यायालयों की प्रधानता स्थापित की गयी जिससे सामन्तों पर नियंत्रण रखना सरल हो गया और राज्याधिकार की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में भी फ्रांसी राजाओं ने अपनी प्रधानता स्थापित की। सन् 1438 ई० में बूर्ज की 'पवित्र स्वीकृति' (Pragmatic Sanction) द्वारा फ्रांसीसी चर्च पर से पोप का एकाधिकार समाप्त हो गया और उसे आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। अब अधिकाधिक रूप से राजा ही बिशपों की नियुक्ति करने लगा और उसने देश पर कर लगाने के पोप के अधिकार को भी अमान्य कर दिया। इस प्रकार फ्रांसीसी चर्च तो पोप के नियंत्रण से मुक्त हुआ ही, राजा के धार्मिक अधिकारों में भी वृद्धि हुई। इससे फ्रांस में राष्ट्रीयता के विकास के साथ राज्य के संगठन में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई।

चार्ल्स अष्टम—चार्ल्स अष्टम (1483-98 ई०) ने नेपुल्स के राज्य को अधिकृत करने के लिये इटली पर आक्रमण (1494 ई०) किया जिसमें वह अपनी महत्वाकांक्षा, शक्ति और शौर्य का प्रदर्शन भी करना चाहता था। विद्वानों, कलाकारों और सौन्दर्य के पुजारियों की भूमि इटली के सहसा धराशायी होने से यूरोप की शक्तियाँ आश्चर्यचकित रह गयीं। पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष एवं कलह के कारण इटली के राज्य उसका सामूहिक विरोध न कर सके और विजेता चार्ल्स अष्टम का राजा बन बैठा। परन्तु जितनी शीघ्रता के

साथ उसे सफलता मिली थी उतनी ही शीघ्रता के साथ स्पेन के राजा फर्डिनैण्ड ने इटली के राज्यों का संघ स्थापित करके उसे इटली छोड़ने पर बाध्य किया और चार्ल्स का सारा प्रयास निष्फल गया। परन्तु चार्ल्स अष्टम की गौरवपूर्ण प्राथमिक विजय ने इटली के दौर्बल्य को यूरोप के समक्ष नग्न कर दिया।

लुई द्वादश—जब चार्ल्स अष्टम का उत्तराधिकारी लुई द्वादश (सन् 1498-1515 ई०) फ्रांस का राजा हुआ तो उसने भी अपने पिता की इटली सम्बन्धी नीति अपनायी और शासन के दूसरे ही वर्ष मिलान नगर पर अधिकार कर लिया। उसने नेपुल्स को भी जीतने का प्रयत्न किया, परन्तु उसके प्रतिद्वन्द्वी स्पेन के राजा फर्डिनैण्ड ने उसकी एक भी न चलने दी। बाध्य होकर लुई द्वादश ने नेपुल्स पर अपने अधिकार का बिना शर्त परित्याग (1504 ई०) कर दिया। इसके बदले वह चाहता था कि फर्डिनैण्ड मिलान पर उसका आधिपत्य स्वीकार कर ले, क्योंकि यह राज्य फ्रांस के अति निकट था और इस पर भी उसने अपना वंशगत अधिकार प्रदर्शित किया था। परन्तु राजनीति-कुशल एवं दूरदर्शी स्पेन-नरेश के लिए इटली में फ्रांस का राज्य-विस्तार किसी भी रूप में असह्य था। फलतः फर्डिनैण्ड ने इटली के कुछ राज्यों की सहायता से लुई द्वादश को मिलान से भी मार भगाया (1512 ई०)। इस प्रकार स्पेन और फ्रांस की सैन्य-शक्ति प्रायः समान थी, परन्तु प्रारम्भ से ही इटली में विजय का गौरव स्पेन को ही प्राप्त होता रहा।

इंग्लैण्ड

आधुनिक काल के निकट पूर्व में इंग्लैण्ड में दो स्पष्ट धारायें परिलक्षित होती हैं। एक ओर तो क्रमशः पार्लियामेण्ट का विकास और उसकी शक्ति में वृद्धि हो रही थी और दूसरी ओर सामन्तों के युद्ध से समस्त देश संत्रस्त था। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मैगनाकार्टा के द्वारा पार्लियामेण्ट ने अपनी शक्ति को दृढ़ कर राजा की स्वेच्छाचारिता को नियंत्रित किया था। इसी शताब्दी के अन्त में (1295 ई०) नगरों के प्रतिनिधियों को भी पार्लियामेण्ट की सदस्यता प्राप्त हुई जिससे उसकी संख्या, शक्ति और गौरव में वृद्धि हुई। क्रमशः पार्लियामेण्ट दो वर्गों में विभक्त हो गयी। एक तो सामन्तों और उच्च धर्माधिकारियों की सभा थी जिसे 'लार्ड्स कहते हैं और दूसरी सभा में छोडे जमींदारों और नगरों के प्रतिनिधि थे जिसे 'कामन्स सभा' (लोकसभा) कहते हैं। इनके द्वारा राजा के अधिकार पर्याप्त मात्रा में नियंत्रित हो गये और अब वह पार्लियामेण्ट की अनुमति के बिना देश पर कर नहीं लगा सकता था।

दूसरी प्रधानता समान्तों का सतत विद्रोह है। फ्रांस के साथ चलने वाले शतवर्षीय युद्ध का अन्त इंग्लैण्ड के लिये अहितकर सिद्ध हुआ और उसकी प्रारम्भिक विजयें अन्त में जाकर पराजय में परिणत हो गयीं। इसी समय निर्बल राजाओं के शासन में लंकास्टर और यार्क परिवारों के बीच उत्तराधिकार के लिये भीषण नर-संहार छिड़ा जिसमें देश के सभी सामन्तों ने भाग लिया। इस गृह-युद्ध को 'गुलाबों का युद्ध' कहते हैं जिसमें

व्यक्तिगत रूप से शक्ति-संचय और लूट इन सामन्तों के प्रधान उद्देश्य थे। बासवर्थ के युद्ध में (1485 ई०) हेनरी ट्यूडर की विजय ने इस युद्ध का अन्त किया। इसमें समस्त देश को अपार धन-जन की क्षति उठानी पड़ी थी, फलतः किसी भी प्रकार देश में शान्ति की स्थापना ही इंग्लैण्डवासियों की उत्कट कामना थी और इसीलिये उन्होंने विजयी हेनरी ट्यूडर का स्वागत किया। इस प्रकार हेनरी ने, जिसे हेनरी सप्तम कहते हैं, इंग्लैण्ड में ट्यूडर राजवंश की स्थापना की।

हेनरी सप्तम—हेनरी सप्तम (1485-1509 ई०) ने सर्वप्रथम देश में शान्ति की स्थापना की। वह स्वंय लंकास्टरवंश से तो सम्बन्धित था ही, यार्क वंश की एक राजकुमारी के साथ अपना विवाह करके उसने दोनों परिवारों के कलह को शान्त किया। तत्कालीन परिस्थिति में दृढ़ केन्द्रीय शासन स्थापित करने की स्वभाविक अभिलाषा उसके हृदय में जागृत हुई। इस कार्य में उसके सम्मुख दो विरोधी शक्तियाँ थीं। एक ओर तो वे सामन्त थे जो 'गुलाबों के युद्ध' के पश्चात् भी शेष थे और दूसरी ओर शक्ति-सम्पन्न पार्लियामेण्ट थी जिसने पहले ही से राज्याधिकार पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था। सर्वप्रथम हेनरी ने 'वर्दी के कानून' द्वारा सामन्तों के वर्दीधारी सैनिक रखने के अधिकार को समाप्त किया। और पुनः स्टार-चैम्बर-न्यायालय द्वारा उपद्रवकारी सामन्तों को दण्डित करके इस समस्त वर्ग को पूर्ण रूप से अपने अधीन किया। इससे सामन्तों द्वारा स्थानीय विद्रोहों की आशंका समाप्त हो गयी।

अपने दूसरे प्रतिद्वन्द्वी पार्लियामेण्ट के साथ उसका व्यवहार सर्वथा भिन्न था। उसने इस दिशा में बड़ी दूरदर्शिता और सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया। इंग्लैण्ड के विधान और जीवन में पार्लियामेण्ट का महत्वपूर्ण स्थान था। अतः उसे छेड़ने की अपेक्षा उसके साथ सहयोग और मैत्री का भाव बनाये रखना ही उसने उचित समझा। पार्लियामेण्ट द्वारा स्वीकृत करों से ही वह सन्तुष्ट था। उसे मितव्ययिता से अपना खर्च चलाना मंजूर था, परन्तु धन के लिये पार्लियामेण्ट के आश्रित होना स्वीकार न था। पार्लियामेण्ट भी देश में शान्ति-स्थापना के उसके सफल प्रयत्नों के प्रति अनुगृहीत थी, अतः वह भी अनावश्यक रूप से उसे छेड़ना नहीं चाहती थी। हेनरी ने अपने शासन के अन्तिम वर्षों में पार्लियामेण्ट की बहुत कम बैठकें बुलाई। फलतः उसके अभाव में राजा की शक्ति और सम्मान में पर्याप्त वृद्धि हुई और फ्रांस तथा स्पेन की भाँति इंग्लैण्ड में भी दृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना हुई।

हेनरी सप्तम ने अपनी शक्ति और गौरव की वृद्धि लिये स्पेन और स्काटलैण्ड के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। देश के पुराने शत्रु फ्रांस के साथ भी उसने कभी युद्ध की आशंका उत्पन्न न होने दी; क्योंकि इससे स्वतः उसकी ही स्थिति भयावह हो सकती थी। उधर फ्रांस की महत्वाकांक्षा को नियंत्रित करने के लिये स्पेन और स्काटलैण्ड की मित्रता पर्याप्त थी।

अध्याय 3

धार्मिक आन्दोलन

16वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में धार्मिक क्षेत्र में एक ऐसा आन्दोलन हुआ जिसके सैकड़ों वर्ष से आती हुई रोमन चर्च की सार्वभौम सत्ता विच्छिन्न हो गई और ईसाई-धर्म एक न रहकर कई भागों में बँट गया। इसके संबंध में प्रसिद्ध लेखक गीजो (Guizot) लिखता है कि इसने मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित निरंकुशता का अन्त कर मानव-मस्तिष्क की स्वतंत्रता स्थापित की। उसके मत में यह एक साधारण सुधार न था, बल्कि एक क्रांति थी। निस्संदेह प्रोटेस्टेण्ट धर्म-सुधार यूरोपीय इतिहास की एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि प्रायः सवा सौ वर्षों तक जितनी भी घटनाएँ हुई उन पर स्पष्ट अथवा परोक्ष रूप से इसका प्रभाव पड़ता रहा। यदि 1517 से 1648 ई० तक के काल को धर्म-सुधार का युग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। कई इतिहासकार 1517 ई० से ही, जिससे धर्म-सुधार प्रारम्भ हुआ, यूरोपीय इतिहास के आधुनिक युग का प्रारम्भ मानते हैं। इस मत को हम स्वीकार करें या न करें, इसमें इतना सत्य तो है ही कि उन मुख्य प्रवृत्तियों और बातों में जो आधुनिक युग को मध्य-काल से पृथक् करती हैं, धर्म-सुधार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

धर्म-सुधार के कारण

यह विचारणीय है कि रोमन चर्च की एकता 16वीं शताब्दी में क्यों प्रतिष्ठित न रह सकी। किसी भी संस्था का इतना व्यापक और इतना दीर्घकालीन प्रभाव बिना गुणों के संभव नहीं था और यदि उसके विरुद्ध आन्दोलन हुआ तो निश्चय ही उसका जीवन दूषित हो गया होगा। बात ऐसी ही थी। 15वीं शताब्दी के अन्त में पोपशाही का रूप विकृत हो गया था। पोप अलेक्जाण्डर षष्ठ (1492-1503) चरित्र-भ्रष्ट था और उसने अपने पद का दुरुपयोग किया। उसका उत्तराधिकारी जूलियस द्वितीय (Julius II, 1503-13 ई०) मुख्यतः सैनिक था। वह रोमन चर्च को एक सुसंघटित इटालियन राज्य में परिवर्तित करना चाहता था। उसके बाद लियो दशम (Leo X, 1513-21 ई०) पोप हुआ। उसकी विशेष रुचि भवन-निर्माण और कला की उन्नति में थी। इन विषयों पर बहुत अधिक धन खर्च होने लगा जिससे पोप को अनेक अनुचति साधनों द्वारा द्रव्य एकत्र करने की आवश्यकता पडी। सर्वोच्च धर्माधिकारी होते हुए भी पोप राजनीति में पूरी दिलचस्पी लेते थे। उनके जीवन का राजनीतिक रूप बहुत-कुछ उसी प्रकार का था जैसा किसी भी इटली के शासक का। ईसाई-जगत् के सर्वप्रधान व्यक्ति का राजनीतिक होना शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से अच्छा न था। किसी भी संस्था का जीवन और विशेषकर धार्मिक, उसके प्रधान आदर्शों से प्रभावित होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि

धर्म-सुधार के समय के पोप धार्मिक स्फूर्ति पैदा करने में असमर्थ थे। अब तक आते-आते पोपशाही की प्रतिष्ठा कुछ अंशों में गिर चुकी थी। एक समय था जब बड़े-से-बड़े शासक पोप का विरोध करने में डरते थे। 1077 ई० में कनोसा (Conossa) में पोप ग्रेगरी सप्तम के सामने पवित्र रोमन सम्राट् हेनरी चतुर्थ को अत्यंत विनम्रता के साथ क्षमा-याचना करनी पड़ी थी। कहते हैं कि जनवरी के महीने में तीन दिन तक हेनरी किले के द्वार के सामने नंगे पैर खड़ा रहा और तब ग्रेगरी ने निष्कासन की आज्ञा वापस ली। 14वीं शताब्दी में फ्रांस के राजाओं के प्रभाव में आ जाने से पोपशाही की मर्यादा को बड़ा धक्का पहुँचा। करीब 70 वर्ष तक (1305-77 ई०) पोप की राजधानी रोन नदी पर स्थित आविन्यों थी। इस काल के सभी पोप फ्रांसीसी थे और वे पूर्णतया फ्रांस के प्रभाव में थे। अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में पोप फ्रांस के बन्दी थे। इससे भी बुरी दशा 1378 ई० में हुई जब पोपशाही का विभाजन (Schism) हो गया। एक पोप रोम में रहता था, दूसरा आविन्यों में। इस प्रकार करीब 40 वर्ष तक दो पोप और कार्डिनलों के दो कालेज थे। दोनों पोप एक-दूसरे की आलोचना करते थे। फलतः चर्च के कर्मचारियों का काफी पतन हुआ। धन-प्राप्ति के लिए अनेक अनुचित साधनों का प्रयोग होने लगा। ऐसी परिस्थिति में असंतोष होना स्वाभाविक था। इसकी अभिव्यक्ति कुछ व्यक्तियों द्वारा चर्च के सुधार की माँग के रूप में 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आक्सफोर्ड के प्राध्यापक जान विक्लिफ में प्रकट हुई। जॉन विक्लिफ (John Wycliffe) ने धर्माधिकारियों की धन-लोलुपता और उनकी अत्यधिक शक्ति की आलोचना की। उसके मतानुसार प्राचीनतम सादे जीवन की पुनः प्रतिष्ठा से ही चर्च के दोष दूर हो सकते थे। विक्लिफ ने यहाँ तक कहा कि यदि धर्माधिकारी धन का व्यय आध्यात्मिक कामों में न करें तो राज्य को उनकी संपत्ति ले लेनी चाहिए।

सन् 1384 ई० में विक्लिफ की मृत्यु के बाद उसके मतावलंबियों (Lollards) ने उसके विचारों का प्रचार किया। परन्तु इंगलैण्ड के राजा हेनरी चतुर्थ ने उन्हें नास्तिक कहकर उनका दमन कर दिया। यद्यपि यह आन्दोलन असफल रहा, किन्तु धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि चर्च दोषपूर्ण है और सुधारों की आवश्यकता है। विक्लिफ की तरह बोहेमिया में जॉन हस (John Hus) ने भी चर्च की आलोचना की। उसके ऊपर नास्तिकता का अभियोग लगाया गया और जब उसने अपराध स्वीकार नहीं किया तो 1415 ई० में वह जीवित जला दिया गया। इंगलैण्ड और बोहेमिया में चर्च के ऊपर जो आक्रमण हुए उनसे चर्च की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा और पोप को अपना धार्मिक नेतृत्व उसी रूप में पुनः न प्राप्त हो सका।

दोष केवल पोप में न थे, सारा चर्च दूषित हो गया था। धर्माधिकारी अपने धार्मिक कृत्यों को न कर विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। लगभग एक-तिहाई विशप अपने सेवा-क्षेत्र में उपस्थित नहीं रहते थे। नियुक्तियाँ भी सर्वथा योग्यता के आधार पर

नहीं होती थीं। प्रभावशाली लोग धनादि द्वारा कोई भी पद प्राप्त कर सकते थे। कहा जाता था कि रोम में सभी चीजें बिक्री के लिए थीं। इसके अतिरिक्त एक ही धर्माधिकारी अनेक पदों पर नियुक्त होकर उनसे पूरा लाभ उठाता था। उदाहरणार्थ, लोरेन के ड्यूक के लड़के के अन्दर नौ बिशप्रिक, तीन आर्चबिशप्रिक और एक कार्डिनलेट थी। स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था कर्तव्य के उचित निर्वाह के लिए अत्यंत बाधक थी।

वास्तव में चर्च का रूप बहुत कुछ व्यावसायिक हो गया था। विश्वास का स्थान आडंबर ने ले लिया था और कर्तव्य-पालन का विलास-प्रियता और अनैतिकता ने। चर्च की सम्पत्ति का उपयोग परोपकारी कार्यों में न होकर राजनीति, कला और दरबार की शोभा तथा सजावट में होता था। धर्म के बड़े-बड़े पदाधिकारी दरबारी प्रवृत्ति के हो गये थे और उनके नैतिक जीवन का स्तर नीचा हो गया था। खर्च अधिक होने से चर्च को वैध उपायों के अतिरिक्त अवैध साधनों द्वारा धन एकत्र करने की आवश्यकता हुई। धन देकर अमीर लोग चर्च के असुविधाजनक नियमों के पालन से मुक्त हो जाते थे। धन द्वारा पाप से मुक्ति का क्षमा-पत्र आसानी से प्राप्त किया जा सकता था। 1517 ई० में लूथर ने चर्च के ऊपर अपना प्रारम्भिक प्रहार इसी क्षमा-पत्र (Indulgences) के प्रश्न को लेकर किया था। क्षमा-पत्र का सिद्धान्त अपने मूल रूप में आपत्तिजनक नहीं था। वास्तव में वह एक दृढ़ और सच्चे विश्वास पर आधारित था। इसके अनुसार पोप की ईसाई-धर्म के साधु-सन्तों द्वारा संचित गुण-राशि के आधार पर, पापी को प्रायश्चित्त और सच्चा दुःख प्रकट करने पर लौकिक दंड से मुक्त करने का अधिकार था। इसका अभिप्राय पाप के क्षमा या पाप करने की आज्ञा से नहीं था। पापी केवल दंड से पूर्णतः या अंशतः मुक्त किया जा सकता था। कालान्तर में अधिकारियों ने अपने इस अधिकार का दुरुपयोग करना शुरू किया। वस्तुतः ऐसी धारणा दृढ़ हो चली कि धन से मुक्ति क्रय की जा सकती है।

चर्च के इस विकृत रूप के विरुद्ध आवाज उठना स्वाभाविक था और ऐसे समय में तो निश्चय ही जब विद्या के पुनर्जागरण से यूरोप में एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई थी, वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण का इस आडम्बर और पाखण्ड से सामंजस्य स्थापित होना असम्भव था। छापाखाने के विकास और बाइबिल के राष्ट्रीय भाषाओं में अनुवाद होने से धर्म के वास्तविक रूप को समझना बहुतों के लिए सम्भव हो सका। अभी तक धार्मिक ज्ञान पर कुछ इने-गिने लोगों का एकाधिकार था। उनकी शिक्षाएँ और उनके द्वारा धार्मिक तथ्यों का स्पष्टीकरण चरम सत्य समझे जाते थे। परन्तु 16वीं शताब्दी में इन अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और एकाधिकार की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से टक्कर हुई। हमें स्मरण रखना चाहिए कि मानववाद इस जगत् से सम्बन्ध रखता था, पारलौकिक और बाह्याडंबर से आच्छादित विश्वासों में उनकी रुचि न थी। ऐसे विद्वानों में जिन्होंने

चर्च के दोषों की निन्दा की, इरैसमस (Erasmus) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी पुस्तक 'मूर्खता की प्रशंसा' में चर्च के अन्धविश्वासों और अनैतिक जीवन आदि बातों पर कड़ा व्यंग्य है। वह तत्कालीन दूषित जीवन से बड़ा क्षुब्ध था। उसने बाइबिल के नवीन टेस्टामेंट (New testament) को ग्रीक में प्रकाशित किया और 1516 ई० में उसका लैटिन में रूपान्तर किया। इससे स्पष्ट हो गया कि चर्च के प्रामाणिक लैटिन संस्करण (Vulgate) में अनेक त्रुटियाँ थीं। उसने लैटिन संस्करण की भूमिका में लिखा कि मेरी इच्छा है कि कैथलिक धर्म की शिक्षाओं का अनुवाद सभी भाषाओं में हो ताकि सब लोग उन्हें पढ़ सकें, किसान हल और जुलाहा ढरकी चलाते समय तथा पथिक मार्ग में चलते समय उन्हें गा सकें। यद्यपि इरैसमस ने चर्च के दोषों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, परन्तु वह केवल सुधार चाहता था और इस कारण लूथर के आन्दोलन के पक्ष में न था। प्रोटेस्टेण्ट लेखकों ने इसलिए उसके धर्म-सुधार सम्बन्धी रुख की निन्दा की है और उसे कायर कह डाला है। परन्तु सच यह है कि इरैसमस का विश्वास था कि ज्ञान की उन्नति के साथ-साथ चर्च के दोष दूर हो जायंगे और धर्म का वास्तविक रूप प्रतिष्ठित होगा। वह सहिष्णु था और शक्ति द्वारा धर्म-सुधार का विरोधी था। इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तकों द्वारा उसने अण्डा देने का काम किया, जिसे लूथर ने सेया।

कैथलिक चर्च के विरुद्ध कुछ आर्थिक कारणों से भी असंतोष था। चर्च की अतुल संपत्ति को हस्तगत करने और उपयोगी ढंग पर उसके प्रयोग की प्रबल इच्छा महत्त्वाकांक्षी जमींदारों और साहूकारों में थी। उन्होंने ऐसे आन्दोलन का स्वागत किया जिससे उन्हें ऐसी सम्पत्ति प्राप्त हो सके। धर्म-सुधार के परिणाम-स्वरूप जिन्हें चर्च की सम्पत्ति मिली वे उसके बड़े शक्तिशाली समर्थक हो गये। हमें स्मरण रखना चाहिए कि कैथलिक धर्म में सूद लेना बुरा समझा जाता था, परन्तु यह विचारधारा उस युग की पूँजीवादी प्रवृत्ति के-जिसमें सूद धन और व्यापार की वृद्धि का आवश्यक साधन था-विरुद्ध थीं।

धर्म-सुधार के होने में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से भी सहायता मिली। 16वीं शताब्दी में बहुतों से राजा बाह्य हस्तक्षेप को दूर कर निरंकुश सत्ता स्थापित करने में तत्पर थे। जब तक रोमन चर्च जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप था तब तक उसकी प्रभुसत्ता का क्षेत्र काफी सीमित था। उनके देश से कर के रूप में एक बड़ी धन-राशि का बाहर रोम भेजा जाना उन्हें खलने लगा। चर्च के साथ पवित्र रोमन सम्राट् के भी हस्तक्षेप की परिधि बड़ी थी। जर्मनी के राज्य तो विशेष रूप से बाह्य हस्तक्षेप से मुक्त होना चाहते थे। निःसंदेह धर्म-सुधार का आन्दोलन उनकी राष्ट्रीय भावना के अनुरूप सिद्ध हुआ जिसमें उन्होंने अपने शक्ति-विस्तार का सुअवसर देखा। लूथरवाद का राष्ट्रीय रूप उसकी सफलता का एक प्रधान कारण है।

मार्टिन लूथर

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आदर्शहीनता, विद्या की पुनर्जागृति और आर्थिक तथा राजनीतिक बाह्य हस्तक्षेप से मुक्त होने को इच्छा से धर्म-सुधार अनिवार्य हो गया। रोमन चर्च के प्रति असंतोष का जो रूप एक छोटी नदी की तरह था उसने इन परिस्थितियों में एक विशाल स्वरूप धारण कर लिया। इसी समय मार्टिन लूथर ने अपने सफल नेतृत्व से उसमें नवजीवन का संचार किया। प्रारम्भ में उसने चर्च के सुधार की माँगें रखीं परन्तु शीघ्र ही उनका सुधारात्मक रूप क्रांति में परिवर्तित हो गया। लूथर कैथलिक चर्च की मौलिक पवित्रता और बाइबिल की प्रामाणिकता स्थापित करना चाहता था।

लूथर का जन्म 1483 ई० में एक किसान-परिवार में हुआ था। उसने एरफर्ट विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त की, परन्तु 1505 ई० में उसने साधु होने का निश्चय किया। दो वर्षों के बाद उसे पुरोहित की दीक्षा और धर्मशास्त्र में डॉक्टरी भी मिली। तत्पश्चात् वह बिटेनबर्ग के विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुआ। धर्मशास्त्र के अध्यापन-कार्य में वह बड़ा सफल रहा। उसका व्याख्यान सुनने के लिए जर्मनी के अन्य भागों से विद्यार्थी आने लगे। कैथलिक चर्च के प्रति उसे बड़ी श्रद्धा थी और वह रोम भी गया। परन्तु वहाँ जाकर चर्च का जो विकृत रूप उसने देखा उससे उसको बहुत दुःख हुआ। अपने अनुभव और अध्ययन के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मोक्ष प्राप्ति के लिए श्रद्धा और विश्वास आवश्यक है न कि 'सत्कर्म'। 1517 ई० में जब टेटजल (Tetzel) संत पीटर के पुनर्निर्माण के लिए क्षमा-पत्र बेच रहा था, लूथर ने इसके विरोध में 95 निबन्ध बिटेनबर्ग के चर्च के द्वार पर लगा दिये। उनमें टेटजल और पोप की घोर निन्दा की गयी थी। लूथर का कहना था कि उन ईसाइयों को, जिन्हें सच्चा पश्चात्ताप हुआ था, ईश्वर ने पहले ही क्षमा-दान दे दिया था। उन्हें ऐसे क्षमा-पत्रों की, जो केवल लौकिक दंडों से मुक्त कर सकते हैं, कोई आवश्यकता नहीं। संत पीटर के चर्च के निर्माण के सम्बन्ध में लूथर ने कहा कि अतुल धन-राशि के स्वामी पोप को उसे अपने धन से बनाना चाहिए न कि निर्धन श्रद्धालु व्यक्तियों के पैसे से। प्रारम्भ से उसके विरोध का उद्देश्य कैथलिक चर्च का अन्त करना नहीं था। सन् 1511 ई० में उसने कहा—"मैं ईश्वर और उसकी समस्त सृष्टि के समक्ष शपथ-पूर्वक कहता हूँ कि रोमन चर्च की शक्ति के नष्ट करने का मेरा कोई भी विचार न तो पहले रहा है और न अब तक है, मैं उसी की प्रभु-शक्ति में विश्वास करता हूँ।" परन्तु 95 निबन्धों के प्रकाशन के बाद उसने कई और निबन्ध लिखे। उनमें उसने कैथलिक पदाधिकारियों पर प्रहार किया। फलतः उसके और पोप के बीच किसी प्रकार का समझौता होना असम्भव हो गया। उसने एक लेख में कैथलिक कर्मचारियों के धार्मिक अधिकारों का खण्डन किया और राजाओं तथा उच्च वर्ग से अपील की कि वे धर्म-सुधार का कार्य अपने हाथ में लें। उसने

धर्माधिकारियों की धार्मिक व्याख्या के विशेषाधिकार को गलत बतलाया और राष्ट्रीय चर्च की स्थापना पर जोर दिया। उसने दूसरे निबन्ध में संस्कार-पद्धति की आलोचना की। उसके मत में हर एक ईसाई ईश्वर की दृष्टि में पुरोहित है और उसे ईश्वरीय कृपा-प्राप्ति के निमित्त किसी व्यक्ति अथवा संस्कार पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसने केवल जन्म, प्रायश्चित और पवित्र यूकारिस्ट (Holy Eucharist) इन तीन संस्कारों को आवश्यक बताया। लूथर के संस्कार सम्बन्धी विचारों से चर्च के ऊपर बड़ा धक्का पहुँचा, क्योंकि इनके सम्पादित कराने का अधिकार उसके कर्मचारियों को ही प्राप्त था। तीसरे लेख में लूथर ने ईसाई-जीवन के विषय में और भी स्पष्ट ढंग से अपने विचार व्यक्त किये। उसका मत था कि ईश्वर की दया में श्रद्धा रखने से ही वास्तविक ईसाई-जीवन सम्भव है। उसने चर्च के इस मत का खण्डन किया कि संसार से अलग रहकर चारित्रिक विकास द्वारा आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति होती है। उसने बतलाया कि यह संसार ईश्वर का उतना ही है जितना स्वर्ग और इसलिए दिन=प्रतिदिन का कार्य करते हुए परहितार्थ परिश्रम में आध्यात्मिक जीवन निहित है। उसके मतानुसार ईश्वर की कृपा में विश्वास रखकर अपने पड़ोसियों की सेवा करने से मोक्ष मिल सकता है।

चर्च के सुधार के सम्बन्ध में लूथर के पहले विक्लिफ और हस ने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था, परन्तु वे असफल रहे। परन्तु जब 16वीं शताब्दी में लूथर ने विरोध किया तब परिस्थिति भिन्न थी। तब भी कैथलिक चर्च से एक वैध सम्प्रदाय के रूप में स्वीकृति प्राप्त करने में लूथरवाद को काफी संघर्ष लेना पड़ा। लूथर पोप के स्थान पर बाइबिल का राज्य प्रतिष्ठित करना चाहता था। कैथलिक जगत् के स्वामी पोप को यह परिवर्तन कब सह्य हो सकता था? 1520 ई० में उसकी एक आज्ञा द्वारा लूथर धर्म का शत्रु घोषित किया गया। परन्तु निर्भीक लूथर ने निष्कासन की इस आज्ञा को बिटेनबर्ग के बाजार में सबके सामने जला दिया। पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पंचम भी धर्म-सुधार का कट्टर शत्रु था। उसे कैथलिक धर्म में पूर्ण श्रद्धा थी और वह दिल से इस आन्दोलन का दमन करना चाहता था। 1521 ई० में जर्मनी के एक नगर वर्म्स (Worms) में साम्राज्य की सभा चार्ल्स के अधीन हो रही थी। प्रश्न यह था कि लूथर के साथ क्या किया जाय? निश्चित हुआ कि उसे प्राण-रक्षा का आश्वासन देकर सभा के सामने बुलाया जाय। अपने मित्रों के मना करने पर भी ऐसे खतरनाक स्थान में जाकर उसने अपूर्व साहस का परिचय दिया। उसने अपने विरोध का दायित्व स्वीकार किया और अपने निश्चित मार्ग से हटने से इन्कार कर दिया। वह नास्तिक घोषित किया गया और साम्राज्य-रक्षा से वंचित कर दिया। लूथर की जान खतरे में थी। परन्तु सैक्सोनी (Saxony) के शासक फ्रेडेरिक ने उसे वाटबुर्ग के किले में शरण दी। यहाँ उसने बाइबिल का जर्मन अनुवाद किया, जिसका साहित्य और धर्म दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

किसानों का विद्रोह (The Peasants' Revolt)—लूथर के आन्दोलन से जर्मनी के किसानों को भूमिपतियों के अत्याचारों से मुक्त होने के लिए बड़ा प्रोत्साहन मिला। उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। उनका हरेक प्रकार से शोषण हो रहा था। वे करों के बोझ से दबे हुए थे और उन्हें जबरजस्ती अपने मालिकों का काम करना पड़ता था। उनकी माँगों में दासवृत्ति (Serfdom) और अन्यायपूर्ण दंड का अन्त, मछली मारने और शिकार के अधिकार मुख्य थे। माँगें यथोचित थीं और उनका हल निकाला जा सकता था। किसानों ने सोचा था कि कैथलिक सत्ता का विरोधी लूथर अत्याचारों को दूर करने में उनकी सहायता करेगा। 1524 ई० में उनके असन्तोष ने मध्य और दक्षिणी-पश्चिमी जर्मनी में उग्र विद्रोह का रूप धारण कर लिया। लूथर भयभीत हो गया। अपने आन्दोलन की रक्षा के लिये उसने उच्च वर्ग के लोगों का पक्ष लिया और उन्हें विद्रोह का दमन करने के लिए प्रोत्साहित किया। अन्त में किसानों का आन्दोलन असफल रहा। परन्तु लूथरवाद पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। उसकी लोकप्रियता कम हो गई और वह शासक और मध्यमवर्ग की सहायता पर आश्रित हो गया। अनुमान है कि करीब 50 हजार व्यक्तियों की हत्या हुई और अत्यन्त नृशंसता के साथ विद्रोह का दमन हुआ। लूथर के पक्ष में इतना कहा जा सकता है कि यदि वह शांति और सुरक्षा की स्थापना पर जोर न देता तो उसके कार्य में बाधा उपस्थित होती, परन्तु कठोर साधनों का समर्थन उसके चरित्र पर एक बड़ा धब्बा है। किसानों की माँगें न्याय-संगत थीं। उसने अपनी जनप्रियता का प्रयोग किसी उचित हल के निकालने में नहीं किया, परन्तु वह कठोर दमन का समर्थक हुआ।

प्रोटेस्टेण्ट नामकरण—1526 ई० में साम्राज्य की सभा स्पीयर (speier) में हुई, परन्तु इस धार्मिक आन्दोलन के सम्बन्ध में कोई निर्णय न हुआ। धर्म-निश्चय का दायित्व, ईश्वर और सम्राट् को ध्यान में रखते हुए शासक वर्ग पर छोड़ दिया गया। लूथरवादी आन्दोलन के समर्थकों ने इसका अर्थ अपने पक्ष में लगाया। 1529 ई० में स्पीयर की दूसरी सभा हुई। इस सभा में फिलिप मेलांकथन (Philip Melanchthon) ने समझौते के लिए कुछ सिद्धान्त रखे। मेलांकथन लूथर का मित्र था और बिटेनबर्ग विश्वविद्यालय में उसके साथ प्राध्यापक था। उसके विचारों में लूथर की-सी उग्रता न थी, परन्तु तब भी कैथलिकों की हठधर्मी से समझौते के प्रयत्न निष्फल रहे। स्पीयर की दूसरी सभा ने वर्म्स के निर्णय का प्रमाणीकरण किया। दूसरे शब्दों में, कैथलिकों ने लूथरवादी सुधार को मान्यता न दी। सुधारवादियों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और इसी विरोध से इस आन्दोलन का प्रोटेस्टेण्ट नाम पड़ा। 1530 ई० में मेलांकथन के सिद्धान्तों के आधार पर प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक रूप स्थिर हुआ। सम्राट् चार्ल्स पंचम ने इस निर्णय के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय किया। 1531 ई० में प्रोटेस्टेण्ट राज्यों ने अपने रक्षार्थ श्मालकाल्डेन (Schmalkalden) का संघ बनाया,

जिसके सदस्यों में सैक्सोनी, हस और ब्रैण्डेनबर्ग के नाम प्रसिद्ध हैं। संघ का निर्माण चार्ल्स को चुनौती थी, परन्तु इटली के युद्धों में फँसे रहने के कारण और तुर्कों के आक्रमण के डर से वह तुरन्त सैनिक कार्यवाही न कर सका। 15 वर्ष के बाद उसने युद्ध की पूरी तैयारी की। इसी समय लूथर की मृत्यु हो गई। प्रोटेस्टेण्ट राज्यों में संगठन का अभाव था। इसके अतिरिक्त सैक्सोनी के ड्यूक मारिस (Maurice) ने चार्ल्स का साथ दिया। कारण यह था कि वह अपने चचेरे भाई जॉन फ्रेडेरिक से, जो वहाँ का शासक था, ईर्ष्या करता था। उसने सोचा कि चार्ल्स से उसको निर्वाचक बनने और शक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। 1547 ई० में मुलबर्ग (Muhlberg) के युद्ध में प्रोटेस्टेंटों की हार हुई और ऐसा जान पड़ा कि उनके आन्दोलन की समाप्ति हो जायंगी। परन्तु 1548 ई० में आग्सबर्ग की सभा ने जिस अन्तरिम (Interim) समझौते की घोषणा की उससे यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। तय हुआ कि जब तक ट्रेंट की कौन्सिल का स्थायी निर्णय प्रकाशित न हो तब तक वे पुरोहित, जिन्होंने शादी कर ली थी, अपने वैवाहिक जीवन को छोड़ने के लिए बाध्य न किये जायँ और जो प्रोटेस्टेण्ट ढंग से पूजा करते थे उनके ऊपर कैथलिक पूजा-पद्धति न लादी जाय। विजय के उपरान्त चार्ल्स का यह निर्णय निस्संदेह सहिष्णुतापूर्ण था।

आग्सबर्ग की संधि (Peace of Augsburg)—अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के अनुकूल होने से प्रोटेस्टेंटों की जान में जान आई। अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने पर सैक्सोनी के मारिस ने चार्ल्स का साथ छोड़ दिया। फ्रांस के राजा हेनरी द्वितीय ने स्पेन और आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रोटेस्टेंटों की सहायता की। वह इसके उपलक्ष्य में मेत्ज (Metz) , तूल (Toul) और वर्दून (Verdun) चाहता था। 1552 ई० में जर्मनी से चार्ल्स का सारा प्रभाव जाता रहा। परन्तु जब एक वर्ष के बाद एक युद्ध में मारिस की मृत्यु हो गई, तब चार्ल्स को फिर आशा हुई। उसने फ्रांस से अपनी हार का बदला लेने के लिये मेत्ज का घेरा डाला, किन्तु उसे सफलता न मिली। निराश होकर उसने भाई फर्डिनैण्ड को धार्मिक समस्या के सुलझाने का काम दिया। 1555 ई० में आग्सबर्ग की सभा ने कई महत्त्वपूर्ण निर्णय किये, जिनसे धर्म-सुधार के एक अध्याय का अन्त होता है। आग्सबर्ग की सन्धि के अनुसार संपूर्ण जर्मनी पर एक प्रकार की धार्मिक व्यवस्था लादने का विचार छोड़ दिया गया और वहाँ के शासकों को, जिनकी संख्या 300 से ऊपर थी, अपनी प्रजा के धर्म के निश्चित करने का अधिकार मिला। परन्तु उन्हें कैथलिक धर्म या लूथरवाद में किसी एक को ही चुनने की स्वतंत्रता मिली। अभिप्राय यह कि कैल्विन और ज्विंगली संप्रदायों को इस संधि में मान्यता नहीं प्राप्त हुई। इस प्रकार धार्मिक स्वतंत्रता व्यक्तियों को नहीं, राज्यों को मिली। कैथलिक संपत्ति के विषय में यह निर्णय हुआ कि जो चर्च की रियासतें 1552 ई० के पहले प्रोटेस्टण्टों के हाथ में चली गई थी उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय, परन्तु इस तिथि के बाद धर्म-परिवर्तन के बावजूद भी रोमन

चर्च की संपत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। धार्मिक संरक्षण (Ecclesiastical Reservation)की इस शर्त द्वारा कैथलिक संपत्ति के बचाये रखने की व्यवस्था की गई।

आग्सबर्ग की व्यवस्था में धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त न स्वीकृत हुआ, क्योंकि यह किसी उच्च सिद्धान्त की भावना से प्रेरित होकर नहीं की गई थी। इसका संबंध तात्कालिक स्थिति से था। धार्मिक स्वतन्त्रता व्यक्तियों को नहीं, शासकों को मिली। परन्तु अपने राजय-धर्म से भिन्न मत में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों के लिए यह संभव था कि वे पास के किसी दूसरे राज्य में चले जायँ। इस संधि का एक बड़ा दोष यह था कि लूथरवाद के अतिरिक्त अन्य संप्रदायों को स्वीकृति नहीं मिली। यद्यपि उस समय यह समस्या गंभीर नहीं थी, परन्तु कालान्तर में जब कैल्विनवाद की शक्ति बढ़ी तो एक जटिल प्रश्न सामने आया। परिस्थितियों से बाध्य होकर कैल्विन के अनुयायियों ने अपनी रक्षा के लिए एक संघ बनाया और एक भयंकर धार्मिक युद्ध का मार्ग प्रशस्त हो गया। चर्च की संपत्ति के प्रश्न का हल निःसन्देह समझौते पर आधारित था। कैथलिक चाहते थे कि जिन बिशपों और आर्चबिशपों ने धर्म का परिवर्तन किया था उनकी संपत्ति चर्च को लौटा दी जाय। प्रोटेस्टेंटों ने धर्म-परिवर्तन के साथ संपत्ति-परिवर्तन के औचित्य पर जोर दिया। भविष्य में भी वे इस संबंध में किसी तरह का प्रतिबंध नहीं चाहते थे। संधि में एक बीच का मार्ग निकाला गया, परन्तु इससे कैथलिक संपत्ति का हस्तान्तरण न रोका जा सका। फलतः दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक संबंध बिगड़ते गये और यह प्रश्न तीस वर्षीय युद्ध का एक मुख्य कारण बना। अपूर्णताओं के होते हुए भी आग्सबर्ग की संधि ने एक कठिन समस्या का ऐसा हल निकाला, जिसमें यद्यपि धार्मिक समन्वय का अभाव था, परन्तु तब भी इससे जर्मनी 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में युद्धों से बचा रहा।

जर्मनी में धर्म-सुधार के प्रारम्भ होने के कारण—लूथर ऐसे साहसी व्यक्ति का नेतृत्व धर्म-सुधार का एक कारण था, परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि यदि वह न भी होता तब भी सुधार रोका नहीं जा सकता था, क्योंकि चर्च का जीवन काफी विकृत हो गया था। हो सकता था कि लूथर की अनुपस्थिति में धर्म-सुधार में कुछ विलंब होता और संभवतः आन्दोलन के सैद्धान्तिक रूप में थोड़ा अन्तर होता। धार्मिक मामलों में लूथर अनुदार था और अधिक परिवर्तनों के पक्ष में न था। उसने जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन को एक विशिष्ट राष्ट्रीय रूप दिया। जब वह रंगमंच पर आया तब धार्मिक आन्दोलन की सामग्री तैयार थी। उसने इस असन्तोष को एक सफल विद्रोह का रूप देकर अपने संप्रदाय की स्थापना की।

जर्मनी में धर्म-सुधार होने के कई कारण थे। छापाखाने का विकास सबसे अधिक नेदरलैण्ड्स और जर्मनी में हुआ था। अतः जर्मनी में होने से एक विशेष मानसिक स्फूर्ति और क्रियाशीलता पैदा हो गयी थी। धर्म-सुधार पूर्व बाइबिल के 15 संस्करण जर्मन भाषा में निकल चुके थे। परिणाम-स्वरूप धर्म के वास्तविक रूप के समझने और उस

संबंध में स्वतन्त्र मत-प्रतिपादन में बड़ी सहायता मिली। दूसरे, जर्मनी की राजनीतिक स्थिति धर्म-सुधार के अनुकूल थी। अनेक राज्यों में बँटे हुए देश में कुछ राज्यों का समर्थन प्राप्त होना काफी सरल था। साथ-ही-साथ बाह्य धार्मिक और राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त होने के लिए यह एक अच्छा अवसर था। तीसरे, जर्मनी में चर्च की आर्थिक सुविधायें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक थीं और उनका दुरुपयोग भी खूब हो रहा था। यहाँ नियुक्तियों के सम्बन्ध में पोप के अधिक अधिकार थे। हर एक नई नियुक्ति में पोप को कर (Annates) के रूप में कुछ मिलता था और यह आमदनी इसलिए और भी बहुत बढ़ गई कि परिवर्तन जल्दी-जल्दी किये जाते थे। धन एकत्र करने का एक अच्छा बहाना तुर्कों के आक्रमण का भय था, परन्तु इस आय का काफी बड़ा भाग अन्य प्रकार के कार्यों में व्यय होता था। पदों को रिक्त रखकर भी रोम ने आमदनी का एक अच्छा साधन निकाल लिया था। जब तक वे रिक्त रहते थे उनकी आमदनी पोप को मिलती थी। इन तरीकों से जर्मनी से काफी धन बाहर चला जाता था। कहा जाता था कि जर्मनी पोप की 'दुधारू गाय' था, जिसे वह अपनी इच्छानुसार दुहता था। पोप के विशेष आर्थिक अधिकारों का कारण वहाँ का असंगठन था। चौथे, जर्मनी के मानववाद में धर्म के मौलिक रूप की जानकारी और बाइबिल के अध्ययन पर अधिक जोर दिया गया। लैटिन और ग्रीक के पंडित जॉन-र्यूक्लिन (John Reuchlin) ने हीब्रू का गहरा अध्ययन किया। मध्यकालीन यूरोप में यहूदियों के प्रति असहिष्णुता होने के कारण हिब्रू का अध्ययन उपेक्षित दशा में था। जब चर्च ने हिब्रू ग्रन्थों के सम्बन्ध राय माँगी तो उसने कहा कि केवल कुछ ही पुस्तकें जलाई जा सकती हैं। रूढ़िवादी विद्वानों ने उनका विरोध किया, परन्तु इस सम्बन्ध में जो वाद-विवाद हुए उनसे चर्च की संस्थाओं की लोकप्रियता कम हो गई और धर्म-सुधार को प्रोत्साहन मिला।

लूथरवाद का प्रसार

लूथरवाद सम्पूर्ण जर्मनी में न स्वीकृत हुआ, परन्तु डेनमार्क, नारवे और स्वीडेन में उसे पूर्ण सफलता मिली। डेनमार्क और नारवे के राजा फ्रेडेरिक प्रथम (1523-33 ई०) ने अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए प्रोटेस्टण्ट आन्दोलन को बड़ी सहायता दी। उसके दरबार में बहुत से धर्मोपदेशक बुलाये गये और उनके प्रचारों के फलस्वरूप 1527 ई० में फ्रेडेरिक ने कैथलिक और प्रोटेस्टेण्ट संप्रदायों को कानूनी समानता प्रदान की। उसकी मृत्यु के बाद 1537 ई० में लूथरवाद राजधर्म घोषित किया गया। कैथलिक बिशपों के धार्मिक अधिकार छीन लिये गये और उनकी संपत्ति पर राज्य का अधिकार हो गया।

डेनमार्क में प्रोटेस्टेण्ट धर्म की स्थापना होने में समय लगा। वहाँ का सामान्य किसान-वर्ग परिवर्तन के पक्ष में न था, किन्तु राजशक्ति के प्रबल होने से उनका विरोध सफल न हो सका। धीरे-धीरे वहाँ भी लूथरवाद स्थापित हो गया। चर्च की अपार संपत्ति को छीनकर डेनमार्क के राजाओं ने अपने देश की बड़ी उन्नति की।

स्वीडेन में भी राजा के ही द्वारा लूथरवाद फैला और वहाँ भी रोम से अलग होने का कारण मुख्यत: राजनीतिक था। 1523 ई० में गस्टवस वासा (Gustavus Vasa) के नेतृत्व में स्वीडेन, करीब सवा सौ वर्षों के बाद डेनमार्क के शासन से मुक्त हुआ परन्तु वहाँ एक प्रबल दल, जिसका प्रधान उपसल (Upsala) का आर्चबिशप था, डेनमार्क के साथ रहना चाहता था और वासा का विरोधी था। वासा ने राष्ट्रीय हित में उपसल के आर्चबिशप को हटाकर एक-दूसरे व्यक्ति की नियुक्ति की माँग पोप के सामने रखी। इस कार्य में उसे पोप से कोई सहायता न मिली। बाध्य होकर वासा ने रोम के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। 1527 ई० में उसने कैथलिक संपत्ति छीन ली और चर्च के ऊपर उसका अधिकार प्रतिष्ठित हो गया। लूथरवादी धर्म शिक्षकों को स्वीडेन में बसने के लिए प्रोत्साहित किया गया। 1531 ई० में एक प्रोटेस्टेण्ट उपसल का आर्चबिशप नियुक्त हुआ। आगे चलकर स्वीडेन के शासक जॉन तृतीय (1569-92 ई०) ने कैथलिक धर्म को पुन: स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु उसके प्रयत्न विफल रहे। 1604 ई० में बहुत-से कैथलिकों को देश छोड़ना पड़ा। स्वीडेन की तरह, उसका अधिकृत देश फिनलैण्ड भी लूथरवादी हो गया।

इंग्लैण्ड में आंग्ल चर्च की स्थापना—इंग्लैण्ड का धर्म-सुधार लूथरवाद से कुछ अंशों में भिन्न था और वह रानी एलिजाबेथ के व्यावहारिक समझौते की प्रवृत्ति से प्रभावित हुआ था। धार्मिक आन्दोलन हेनरी अष्टम के समय में प्रारम्भ हुआ और उसके कारण मुख्यत: राजनीतिक और व्यक्तिगत थे। हेनरी धार्मिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में सर्वप्रधान होना चाहता था। इसके लिए रोम से सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक था। जब पोप ने उसको रानी कैथरीन के परित्याग की आज्ञा न दी तो हेनरी ने क्रुद्ध होकर उससे सम्बन्ध तोड़ दिया। 1529-35 ई० के बीच इंग्लैण्ड में अनेक नियम बने, जिनसे हेनरी चर्च का भी प्रधान हो गया। परन्तु अपने धार्मिक विचारों में हेनरी कैथलिक बना रहा। 1521 ई० में उसने लूथर के विरोध में एक पुस्तक लिखी थी, जिससे प्रसन्न होकर पोप ने उसे धर्म-रक्षक (Defender of the faith) की उपाधि से विभूषित किया। यद्यपि हेनरी ने कैथलिक मठों को भंग किया, परन्तु वह सैद्धान्तिक परिवर्तन के पक्ष में न था। 1539 ई० में उसने छह धाराओं वाले नियम (Act of Six Articles) द्वारा कैथलिक धर्म के मुख्य सिद्धान्तों को अक्षुण्ण रखा और अधर्मियों को कठोर दंड दिया।

हेनरी ने पोप से सम्बन्ध-विच्छेद कर कैथलिक धर्म को कायम रखने का प्रयत्न किया, परन्तु पोप और कैथलिक धर्म पृथक् नहीं किये जा सकते थे। अत: ऐसी स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड षष्ठ (1547-53 ई०) के राज्य-काल में सैद्धान्तिक परिवर्तन करने का प्रयास हुआ। एडवर्ड लड़का था

अतः शक्ति क्रमशः उसके संरक्षक सामरसेट और नार्थम्बरलैण्ड के हाथ में आया। नार्थम्बरलैण्ड ने प्रोटेस्टेण्ट सिद्धान्तों पर आधारित 42 धाराओं वाले नियम और दूसरा प्रार्थना-पुस्तक के प्रयोग बन्द कर दिया। परन्तु जब एडवर्ड की मृत्यु के बाद मेरी टयूडर (1553-58 ई०) गद्दी पर बैठी तो उसने अपने अल्प शासन-काल में एडवर्ड के सुधारों के स्थान पर कैथलिक चर्च को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उसने स्पेन के कट्टर कैथलिक राजा फिलिप द्वितीय से विवाह किया और पोप से क्षमा माँगकर रोम से फिर सम्बन्ध स्थापित किया। 42 धाराओं वाले नियम और दूसरी प्रार्थना-पुस्तक का प्रयोग बन्द कर दिया गया। जिन लोगों ने इन सुधारों को स्वीकार नहीं किया वे मेरी के अत्याचार और निर्दयता के शिकार हुए। कहते हैं कि लगभग 270 आदमियों को अपने विश्वास के लिए शहीद होना पड़ा। प्रसिद्ध व्यक्तियों में क्रैनमर, लैटिमर और रिडले के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मृत्यु के समय लैटिमर ने रिडले से कहा कि आज हम ऐसा दीपक जला रहे हैं जो ईश्वर की कृपा से कभी न बुझेगा। बात सही थी, परन्तु इस प्रकाश के प्रज्वलित करने में उन साधारण व्यक्तियों का अधिक हाथ है जिन्होंने अपने विश्वास के लिये प्राणों की आहुति दे दी। साधारण व्यक्ति यद्यपि बड़े पुरुषों के दुःख से दुःखित होता है, किन्तु अपनी स्थिति के लोगों के त्याग से वह किसी कार्य की श्रेष्ठता में दृढ़ विश्वास करता है।

मेरी के अत्याचार से प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन दबा नहीं, प्रत्युत वह और भी लोकप्रिय हुआ। एक आदर्श के लिये निर्दोष व्यक्तियों के त्याग ने धर्म-सुधार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अभी तक इंग्लैण्ड में धार्मिक आन्दोलन का रूप अनिश्चित और अस्पष्ट था। 1558 ई० में जब रानी एलिजाबेथ गद्दी पर बैठी तो उसने तुरन्त राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर, इस समस्या का स्थायी हल निकाला। धर्म में उसकी विशेष रुचि न थी, अतः उसने एक राजनीतिज्ञ की तरह इस प्रश्न को हल किया। यद्यपि उसके द्वारा स्थापित आंग्ल चर्च का सैद्धान्तिक रूप प्रोटेस्टेण्ट था, किन्तु कैथलिकों को संतुष्ट करने के लिये उसने 42 धाराओं वाले नियम के स्थान पर 39 धाराओं वाला नियम प्रकाशित किया। कुछ परिवर्तनों के साथ एडवर्ड षष्ठ की दूसरी प्रार्थना-पुस्तक प्रयोग में लाई गई। ध्यान रखना चाहिए कि इस पुस्तक में रोम के विरुद्ध कोई भी बात नहीं थी। 1558 ई० के 'एकरूपता के नियम' (Act of Uniformity) द्वारा आंग्ल चर्च के अतिरिक्त अन्य प्रकार की पूजा के लिये आज्ञा नहीं थी। परन्तु कुछ अर्थदंड देकर दूसरे मतों के अनुयायी इससे मुक्त हो सकते थे। यद्यपि इन सुधारों से उग्र प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिक दोनों ही असंतुष्ट रहे, किन्तु यह व्यवस्था स्थायी सिद्ध हुई। इंग्लैण्ड धार्मिक युद्धों से मुक्त होकर अधिक-से-अधिक उन्नति कर सका। एलिजाबेथ के राज्य-काल को स्वर्ण-युग बनाने में इससे बड़ी सहायता मिली।

अन्य प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय

ज्विग्लीवाद

ज्विग्ली (Zwingli) का जन्म 1484 ई० में स्विटजरलैण्ड में हुआ था। उसकी शिक्षा वियना और बाल (Basel) के विश्वविद्यालयों में हुई थी। प्राचीन साहित्य में उसकी बड़ी रुचि थी। उसने ईसाई धर्म के वास्तविक रूप की जानकारी के लिये मौलिक ग्रंथों का अध्ययन किया। वह इरैसमस के पांडित्य से बहुत प्रभावित हुआ था और ज्ञान क्षेत्र में वही उसका आदर्श था। 1506 ई० में वह पुरोहित के रूप में दीक्षित हुआ। स्विटजरलैण्ड में जन्म होने और रहने के कारण उसे जनतांत्रिक पद्धति का पूरा ज्ञान था।

सन् 1519 ई० में ज्विग्ली ने धर्म-सुधार का कार्य जूरिक (Zurich) में प्रारम्भ किया। इसी समय लूथर ने कैथलिक चर्च के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी। उसने लूथर के लेखों को पढ़ा और धर्म-सुधार का समर्थन किया। उसने भी क्षमा-पत्र के दुरुपयोग की निन्दा की और व्रत आदि की प्रथा और संत-पूजा का खण्डन किया। थोड़े ही समय में उसने रोम से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और 1525 ई० में एक नये चर्च की स्थापना की। प्रारम्भ में उसके और लूथर के आन्दोलन में कोई विरोध नहीं था, लेकिन जब उसने धार्मिक सिद्धान्तों और चर्च के शासकीय रूप की व्याख्या की तो दोनों में मतभेद हो गया। चर्च के शासन के सम्बन्ध में ज्विग्ली के विचार लोकतांत्रिक थे जबकि लूथर का उच्च वर्ग के समर्थन पर आश्रित था। कारण यह था कि ज्विग्ली ने जिस क्षेत्र में धर्म-प्रचार किया वहाँ की शासन-प्रणाली जनतान्त्रिक थी। परन्तु मतभेद का प्रधान कारण कम्यूनियन (Communion) से सम्बन्धित था। लूथर के मतानुसार अर्पण-क्रिया के बाद रोटी और शराब में एक नया तत्त्व उसी प्रकार प्रविष्ट होता है जैसे गरम होने पर लोहे में आग। इस प्रकार लूथर ने 'ट्रांसब्स्टेंसियेशन' (Transubstantiation) को तो अस्वीकार कर दिया था, किन्तु बहुत-कुछ उसी प्रकार के एक दूसरे सिद्धान्त 'कांसब्स्टेंसियेशन' (Consubstantiation) का प्रतिपादन किया। ज्विग्ली ने दोनों ही का खंडन किया। उसका कहना था कि कम्यूनियन सर्विस का महत्त्व केवल सांकेतिक है और वह धर्म-ग्रंथों में लिखी हुई वास्तविक घटना का स्मरण दिलाती है। 1529 ई० में हेस (Hesse) के प्रोटेस्टेण्ट शासक फिलिप ने, मतभेद दूर करने के लिए, दोनों सुधारकों को आमन्त्रित किया, परन्तु 'लार्ड्स सपुर' (Lord's Supper) के संबंध में लूथर अपने विचार में तनिक भी परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं था। अतः दोनों ही सम्प्रदायों में एकता न स्थापित हो सकी।

जूरिक में ज्विग्लीवाद का प्रभाव बढ़ने लगा और समीपस्थ क्षेत्रों में भी उसका प्रसार हुआ। जब बर्न (Bern) ने भी इस मत को स्वीकार कर लिया तो ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सारे स्विटजरलैण्ड में फैल जायगा। परन्तु ऊरी (Uri), जूग (Zug) और श्वीत्स

(Schwys) आदि कैण्टन कैथलिक मत पर डटे रहे। ज्विंग्ली बल द्वारा उन्हें प्रोटेस्टेण्ट बनाना चाहता था। अन्त में 1529 ई० में एक गृहयुद्ध हुआ। ज्विंग्ली के समर्थक की हार हुई और वह इस युद्ध में मारा गया। 1531 ई० में कापेल (Kappel) की संधि द्वारा प्रत्येक स्थानीय सरकार को धर्म निर्धारित करने का पूर्ण अधिकार मिला।

कैल्विनवाद

प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने का श्रेय लूथर को नहीं अपितु कैल्विन (Calvin) को है। हम कह चुके हैं कि धार्मिक मामले में लूथर अनुदार था और वह अन्य प्रोटेस्टेण्ट संप्रदायों से समझौता करने के लिये तैयार नहीं था। इसके अतिरिक्त उसका दृष्टिकोण इतना जर्मन था कि उसके द्वारा स्थापित चर्च का रूप राष्ट्रीय रह गया। यद्यपि उसने धार्मिक विषयों पर काफी लिखा किन्तु उसकी पुस्तकों और लेखों का रूप मुख्यत: आलोचनात्मक था। आवश्यकता एक ऐसे संप्रदाय की थी जो अन्तर्राष्ट्रीय हो और जिसके सिद्धान्त स्पष्ट, व्यापक और सुव्यवस्थित ढंग से व्यक्त किये गये हों। इसी कमी को कैल्विन ने पूरा किया। उसने लूथर और ज्विंग्ली के रचनात्मक सिद्धान्तों के आधार पर एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत किया जो रोम के साथ संघर्ष ले सकता था।

कैल्विन का जन्म 1509 ई० में उत्तरी फ्रांस में नोयों (Noyons) में हुआ था [illegible]ह लूथर से 25 वर्ष छोटा था। शुरू में उसके पिता का इरादा उसको पुरोहित बनाने का था। उसने पाँच वर्ष तक पेरिस में धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। तत्पश्चात् कानून को अधिक लाभदायक समझकर उसके पिता ने इस विषय की शिक्षा के लिये कैल्विन को ओलेआँ (Orleans) के विश्वविद्यालय में भेजा। 1533 ई० में कैल्विन को सहसा परिवर्तन का अनुभव हुआ। उसको विश्वास हो गया कि यह उसे कैथलिक धर्म के परित्याग और शुद्ध ईसाई धर्म के शिक्षक बनने के लिये संदेश है। अपने अनुभव के संबंध में वह कहता है कि उसका हृदय इतना पराभूत हो गया और उसमें इतनी विनम्रता आ गई कि शुद्ध और सच्चे जीवन के समक्ष सभी बातें गौण प्रतीत होने लगीं। उसने प्रोटेस्टेण्ट मत स्वीकार कर लिया, परन्तु जब फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम ने धर्म-सुधार की प्रगति रोकने के लिए अत्याचार करना आरम्भ किया तो कैल्विन को अपना देश छोड़ना पड़ा। वह स्विटजरलैण्ड के बाल नगर में गया। वहाँ वह ज्विंग्ली द्वारा चलाये हुए आन्दोलन के संपर्क में आया। यहीं 1536 ई० में उसने ईसाई धर्म पर एक अत्यन्त पांडित्यपूर्ण पुस्तक (Institutes of the Christian Religion) लिखी। पुस्तक फ्रांसिस प्रथम को समर्पित की गई। [illegible] सोचता था कि शायद फ्रांसिस धर्म-सुधार का समर्थक हो जाय, किन्तु वह अपने इस उद्देश्य में सफल नहीं हुआ। ऐतिहासिक तथ्यों के ज्ञान और अकाट्य तर्कों से पूर्ण ऐसा ग्रंथ प्रोटेस्टेण्ट द्वारा अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था। इस ग्रंथ की लोकप्रियता का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि सौ वर्षों से ऊपर तक हर साल इसके कई संस्करण निकलते रहे।

1536 ई० में कैल्विन स्विटजरलैण्ड के प्रसिद्ध नगर जिनेवा गया। वहाँ धर्म-सुधार का आन्दोलन फैल रहा था, परन्तु अभी उसमें शक्ति नहीं आई थी। अपनी प्रतिभा और शक्ति के बल पर कैल्विन वहाँ का सर्व-प्रमुख व्यक्ति हो गया। उसने धर्म-सुधार का कार्य प्रारम्भ किया, परन्तु उसके नियमों की कड़ाई से असंतोष हुआ और 1538 ई० में उसे जिनेवा छोड़ना पड़ा। परन्तु जब उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठा कर कैथलिकों ने अपनी शक्ति का पुन:संघटन करना शुरू किया तब कैल्विन के समर्थकों ने उसे 1541 ई० में फिर बुलाया। इसके बाद वह अन्त समय (1564 ई०) तक वहीं रहा। उसने जिनेवा-निवासियों के व्यक्तिगत जीवन को पूर्णत: पवित्र करने का प्रयत्न किया। व्यभिचार और धर्म-विरुद्ध आचरण के लिये मृत्युदण्ड दिया जाता था। मनोरंजन के साधनों और उत्सवों पर पूरा नियंत्रण था। कैल्विन स्वयं सादे और पवित्र जीवन का प्रतीक था। वह प्रतिदिन धार्मिक शिक्षा देता था और धर्म-प्रचार के लिये लेख लिखता था। उसने कई प्रोटेस्टेण्ट पाठशालायें खोलीं। 1559 ई० में उसने जिनेवा-विश्वविद्यालय की स्थापना की, जहाँ विदेशों से बहुत-से विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। वास्तव में जिनेवा धर्म-सुधार आन्दोलन का एक प्रधान केन्द्र बन गया।

कैल्विन विनम्र और शांत प्रकृति का था। उसकी विचार-पद्धति में एक अजीब सादगी थी। उसके उद्देश्य अत्यन्त ऊँचे थे और उसकी भावनायें सदा नियंत्रित थीं। ईसाई धर्म के प्रथम तीन शताब्दियों के पवित्र रूप की वह प्रतिष्ठा करना चाहता था। उसके सम्बन्ध में उसने एक बड़ी सजीव और विश्वसनीय कल्पना कर रखी थी। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप जिनेवा अन्य देशों के लिये सुधार-आन्दोलन का एक आदर्श शिक्षालय हो गया।

कैल्विन के सिद्धान्त—धर्म सुधार के प्रति कैल्विन की तीन देन हैं। प्रथम तो उसने चर्च का संघटन लोकतांत्रिक आधार पर किया। उसमें साधारण और धर्म पदाधिकारी दोनों ही वर्ग के प्रतिनिधि थे। इस समिति का चर्च सम्बन्धी सभी बातों पर अधिकार था। धार्मिक मामलों में कैल्विन ने समानता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से उसके और लूथर के चर्च में बड़ा अन्तर था।

कैल्विनवाद की दूसरी विशेषता नैतिक अनुशासन थी। पवित्र और नियमित जीवन पर बड़ा जोर दिया जाता था। उच्छृंखलता और विषय में आसक्ति निन्दनीय थी। नैतिक नियमों के उल्लंघन के लिये कड़ा दण्ड दिया जाता था। अनुशासन कायम रखने के लिये कैल्विन ने 18 सदस्यों की एक समिति (Consistory) बनाई थी, जिसमें चर्च के कर्मचारी और साधारण वर्ग के प्रतिनिधि थे। वास्तव में इसे हम धार्मिक और नैतिक विषयों के संचालन और निरीक्षण की पुलिस कह सकते हैं। इसके नियंत्रण की परिधि बहुत बड़ी थी। गुरुजनों के प्रति अशिष्ट व्यवहार के लिये लड़कों को कोड़े लगाये जाते थे। नाच, ताश के खेल और गन्दे गाने के लिये अर्थ-दण्ड और जेल दिया जाता था। यहाँ

तक कि क्या भोजन करना चाहिये और विवाह में कैसे उपहार देने चाहिये, इस सम्बन्ध में भी राज्य का नियंत्रण था। दूसरे मतों में विश्वास रखने वालों को दण्ड दिया जाता था। कैल्विनवाद से पूर्ण सहमत न होने के कारण सरविटस (Servitus) जला दिया गया, यद्यपि वह रोमन चर्च का विरोधी था और जिनेवा में शरण लेने के लिये आया था। इस मामले के निर्णय में कैल्विन ने स्वयं भाग लिया था।

कैल्विनवाद की तीसरी विशेषता उसके सिद्धांतों से सम्बन्ध रखती है। कैल्विन के मत में ईश्वर की विभूति के समक्ष मनुष्य एक अकिंचन प्राणी है। वह मोक्ष-प्राप्ति के लिये कुछ भी करने में असमर्थ है। न तो विश्वास द्वारा और न तो सत्कर्मों द्वारा मुक्ति मिल सकती है। कार्य और प्रार्थना का उद्देश्य ईश्वर की विभूति का दिग्दर्शन कराना है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन को पवित्र बनावे और पवित्र समाज का निर्माण करे। कैल्विनवाद के अनुसार मनुष्य का भाग्य उसके जन्म के साथ ही निश्चित रहता है। सर्वशक्तिमान्, शाश्वत और सर्वद्रष्टा ईश्वर आत्मा की मुक्ति अथवा अमुक्ति का विधायक है। इस ईश्वरी व्यवस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन असम्भव है। केवल ईश्वर ही रक्षक है और यह रक्षा उसकी दया पर निर्भर है। इस प्रकार कैल्विनवाद में पूर्वनिश्चित भाग्य पर जोर दिया गया है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि कैल्विनवादी भाग्यवादी बनकर भी आकर्मण्य नहीं हुए। बात यह है कि व्यवहार में कैल्विनवाद अत्यन्त सक्रिय और शक्तिशाली आन्दोलन सिद्ध हुआ। यह कैसे सम्भव हुआ, इसे बतलाना कठिन है। इसको एक मनोवैज्ञानिक रहस्य कहा जा सकता है।

लूथर और कैल्विन—लूथर चर्च के आमूल परिवर्तन के पक्ष में न था। वह स्पष्ट दोषों के निराकरण से सन्तुष्ट था, परन्तु कैल्विन चर्च के प्रारम्भिक रूप से प्रभावित होकर आमूल परिवर्तन करना चाहता था। दूसरे, लूथर के चर्च का रूप राष्ट्रीय हो गया, जबकि कैल्विनवाद एक लड़ाकू आन्दोलन का रूप धारण कर फ्रांस, स्काटलैंड और हालैंड आदि देशों में फैला। तीसरे, लूथर ने धर्म को राज्य से पृथक् नहीं किया, वास्तव में राज्य लूथरवादी चर्च का संचालक हो गया। परन्तु कैल्विन ने चर्च को राज्य से अलग रखा। वह चर्च को सम्पूर्ण संसार के सच्चे धार्मिक व्यक्तियों से बनी हुई एक अदृश्य संस्था मानता था। उसके मत में चर्च व्यक्ति और ईश्वर के बीच में मध्यस्थ के रूप में आवश्यक नहीं है। चौथे, लूथर ने जन्म, लाईस सपर और प्रमाणीकरण (confirmation) इन तीन संस्कारों को स्वीकार किया जब कि कैल्विन ने केवल प्रथम दो को। पाँचवें, लूथर के मत में ईश्वर में श्रद्धा रखने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है, लेकिन कैल्विन का कहना था कि सबका भाग्य पहले से ही निश्चित है, श्रद्धा और सत्कर्म कुछ नहीं कर सकते। छठें, लूथर का चर्च लोकतांत्रिक प्रणाली पर संघठित नहीं हुआ, क्योंकि परंपरागत संस्थाओं के प्रति उसकी सहानुभूति थी। इसके विपरीत कैल्विन ने अपने चर्च का संघटन लोकतांत्रिक आधार पर किया। सातवें, चारित्रिक शुद्धता और अनुशासन पर जितना

कैल्विन ने जोर दिया उतना लूथर ने नहीं। वह व्यक्ति को ही पवित्र नहीं बनाना चाहता था, बल्कि धर्म के आचरण द्वारा समाज और व्यक्ति का पुन: अभिनवीकरण करना चाहता था। कैल्विन को यदि पहला प्यूरिटन कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

कैल्विनवाद का प्रसार—कैल्विन का आन्दोलन केवल जिनेवा तक ही सीमित न रहा। इसका सैद्धांतिक आधार इतना स्पष्ट, पुष्ट और तर्कसंगत था कि उसकी मृत्यु के पश्चात भी इसकी शक्ति क्षीण नहीं हुई। प्रभाव और शक्ति की दृष्टि से कैल्विनवाद प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों में प्रमुख था। फ्रांस में जिस सुधारवादी विचार-धारा ने जोर पकड़ा वह इसी के ऊपर आधारित थी। हालैण्ड का चर्च भी कैल्विन के सिद्धान्तों पर अवलम्बित था। स्पेन ऐसी महान् शक्ति के हालैण्ड द्वारा सफल विरोध में उसके धार्मिक जोश का कम हाथ न था। स्विटजरलैंड के कई जिलों (Cantons) और पैलेटिनेट (Palatinate) में कैल्विनवाद स्वीकृत हुआ। 17वीं शताब्दी में कुछ समय तक प्यूरिटनों का प्रभाव इंग्लैण्ड में बहुत अधिक था, परन्तु वह अस्थायी सिद्ध हुआ। 16वीं शताब्दी के मध्य में कैल्विनवादी प्रचारकों को स्काटलैंड में पूरी सफलता प्राप्त हुई। वहाँ प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन ने राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। फ्रांस के प्रभाव से मुक्त होने की इच्छा और उच्च वर्ग में चर्च की संपत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा ने धर्म-सुधार को काफी प्रोत्साहन दिया। इस समय वहाँ की रानी मेरी स्टुअर्ट थी। वह अल्पवयस्क थी, अत: उसकी माँ मेरी ऑफ गीज (Mary of Guise), जो एक कट्टर फ्रांसीसी थी, संरक्षिका बनी। जब प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन का जोर बढ़ने लगा तो उसने उसके दमन के लिए एक फ्रांसीसी सेना बुलाई। परन्तु इंग्लैंड की रानी एलिजाबेथ की सहायता से स्काटलैंड के विद्रोहियों ने फ्रांस को अपनी सेना हटाने के लिए बाध्य किया। अब धर्म-सुधार के मार्ग से एक बड़ी बाधा हट गई। इस आन्दोलन को सफल बनाने का श्रेय जान नाक्स (John Knox, 1502-72 ई०) को है। वह स्काटलैंड में पैदा हुआ था और कैल्विन का अनुयायी था। उसे अपने धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी और उसने योग्यता और निष्ठा के साथ उसका प्रचार किया। 1560 ई० में उसने पोप की सत्ता का अंत किया और एक नये प्रोटेस्टेण्ट चर्च की स्थापना की। इसका संघटन इंग्लैण्ड से भिन्न पद्धति पर हुआ। इसका सैद्धान्तिक रूप तो कैल्विनवाद था, परन्तु संघटन में जिनेवा से यह थोड़ा भिन्न था। इसका कारण यह था कि स्काटलैंड जिनेवा से बहुत बड़ा था। यहाँ का धर्म-सुधार प्रेस्बिटीरियन (Presbyterian) चर्च के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसका संघटन पूर्णत: लोकतांत्रिक था।

कैथलिक धर्म-सुधार (Counter-Reformation)

प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन की सफलता से कैथलिक चिन्तित हुए। उनके सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि किस प्रकार प्रगति को रोककर अपनी शक्ति को फिर प्रतिष्ठित करें। कैथलिक चर्च के सच्चे हितैषी उसकी शक्ति और प्रभाव की रक्षा के लिये सुधार

की आवश्यकता पर जोर देने लगे। यह निश्चित था कि धर्म-सुधार का आन्दोलन केवल बल से नहीं दबाया जा सकता था। अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए 16वीं शताब्दी के मध्य में कैथलिक चर्च ने स्वयं अनेक सुधार किये। उनके फलस्वरूप वह प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन की उन्नति को रोकने में ही सफल नहीं हुआ, बल्कि कुछ अंशों में अपने खोये हुए स्थान को पुनः प्राप्त भी कर सका। इस प्रकार यह आन्दोलन कैथलिकों की दृष्टि से, उनके पुनरुद्धार का आन्दोलन है और प्रोटेस्टेण्ट-विरोधी होने के कारण, दूसरी दृष्टि से, धर्म-सुधार का विरोधी है। जहाँ तक सिद्धांतों का प्रश्न था, कैथलिकों ने किसी प्रकार का समझौता या परिवर्तन नहीं किया, परन्तु उन्होंने कई सुधार किये जिनसे चर्च की शिथिलता दूर हुई और वह प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के विरुद्ध आक्रामक रूप धारण करने में समर्थ हो सका।

प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन की दशा—किसी भी आन्दोलन के जीवन में कार्यारम्भ के बाद वाला चरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। जब प्रारम्भ का जोश ठंडा पड़ने लगता है तो सुधार का कार्य शिथिल होने लगता है। यही हालत प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन की थी। 1546 ई० में लूथर की मृत्यु के बाद उसका कोई ऐसा उत्तराधिकारी न था जो उतनी योग्यता और साहस के साथ नेतृत्व कर सके। यह स्थिति और भी चिन्ताजनक इसलिए थी कि जहाँ पर लूथरवाद में शिथिलता आ गई थी, कैथलिकों में एक नई सक्रियता और शक्ति आ रही थी। लूथरवाद के लिए दूसरी कठिनाई यह थी कि उसका सैद्धान्तिक आधार उतना पुष्ट नहीं था। जब तक लूथर जीवित था, इस कमी का अनुभव विशेष रूप से न हो सका, परन्तु कैथलिकों से संघर्ष करने के लिए इसकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसके अतिरिक्त प्रोटेस्टेंटों के विभिन्न सम्प्रदायों में एकता नहीं थी। यद्यपि वे रोमन चर्च के विरुद्ध थे, परन्तु मतभेद को दूर कर एक साथ कार्य करने में सर्वथा असमर्थ थे। इस प्रकार पारस्परिक वैमनस्य से विच्छिन्न प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के सामने कैथलिक पुनरुत्थान के कारण एक भयावह स्थिति आयी।

कैथलिक धर्म-सुधार—कैथलिक धर्म के पुनरुत्थान का कार्य कई साधनों से संपादित हो सका। ऊपर हम कह चुके हैं कि धर्म-सुधार का एक प्रधान कारण पोपशाही का विकृत रूप था। 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पोप राजनीति, 'नवीन विद्या' और कला में दिलचस्पी लेते थे, परन्तु इसी शताब्दी के मध्य में कई पोप-पाल तृतीय, पाल चतुर्थ, पायस चतुर्थ और पायस पंचम—उनसे भिन्न थे। वे अपने दायित्त्व को समझते थे और उन्होंने अपनी निष्ठा और कार्य-परायणता से एक नया वातावरण उपस्थित किया। कैथलिक धर्म में इस समय जो स्फूर्ति आई उसका पर्याप्त श्रेय इन सुधारवादी पोपों को है। उन्होंने नियुक्तियों में योग्यता और सच्चरित्रता पर जोर दिया और चर्च की विलास-प्रियता और अनैतिकता को दूर करने का प्रयत्न किया। कैथलिक धर्म के सर्व-प्रधान पदाधिकारी पोप के धार्मिक मामलों में सचेष्ट होने से सारे चर्च में एक नये जीवन का

संचार हुआ। इसके अतिरिक्त ट्रेंट की कौंसिल, जेसुइट संघ और धार्मिक न्यायालयों के कार्य में कैथलिक धर्म-सुधार को बड़ी शक्ति प्राप्त हुई।

ट्रेंट की कौंसिल (1545-63 ई०)—ट्रेंट (Trent) की कौंसिल के निर्णय से कैथलिक धर्म के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हुआ और उसका संघटन दृढ़ हो गया। प्रारम्भ में इस कौंसिल के बुलाने का उद्देश्य कैथलिक और प्रोटेस्टेंटों के मतभेद को हटाकर समझौते द्वारा चर्च की एकता को पुनः प्रतिष्ठित करना था। परन्तु पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण यह कार्य सरल न था। कैथलिक देशों में भी एकता का अभाव था। फ्रांस और स्पेन राज्य-विस्तार के लिए इटली में युद्ध कर रहे थे। प्रोटेस्टेण्ट सशंक थे और उन्होंने कौंसिल की कार्यवाही में कोई भाग नहीं लिया। प्रारम्भ में पोप इस मामले में उदासीन था। 15वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कान्सटैंस (Constance) और बाल (Basel) की कौंसिलों ने पोपशाही की शक्ति को सीमित करने का जो प्रयत्न किया था, उस कटु अनुभव की स्मृति काफी ताजी थी। उसे आशंका थी कि कहीं ट्रेंट की कौंसिल का निर्णय उसी दिशा में न हो। परन्तु पोप को सम्राट चार्ल्स पंचम के दबाव से इस कौंसिल में भाग लेना पड़ा। निस्संदेह कैथलिकों में बड़ा उत्साह था। पोप की आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। वह इटालियन बिशपों को अधिक संख्या में भेजकर कौंसिल का निर्णय अपने पक्ष में कराने में सफल हुआ। इस कार्य में उसको आसानी इस कारण भी हुई कि कौंसिल की बैठकें उत्तरी इटली में हुईं। यद्यपि अनेक बाधाओं के कारण कौंसिल का कार्य कई बार और काफी समय तक स्थगित हुआ, परन्तु उसके अन्तिम अधिवेशन (1562-63 ई०) में कई महत्त्वपूर्ण निर्णय हुए। इसके परिश्रम के फलस्वरूप कैथलिक धर्म के सिद्धान्त और भी पुष्ट और स्पष्ट हो गये। समझौते की बात तो दूर रही, कौंसिल के निर्णय का सैद्धान्तिक रूप प्रतिक्रियावादी था। सातों संस्कारों को अनिवार्य बतलाया गया और लाइँस सपर के आश्चर्यमय परिवर्तन-रोटी और शराब का ईसा-मसीह के मांस और रक्त में परिवर्तन की पुष्टि की गई। लूथर द्वारा प्रतिपादित श्रद्धा-समन्वित परिमार्जन को असत्य घोषित किया गया। मूर्ति और चित्र आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता और संतों की महत्ता पर जोर दिया गया। पोप की प्रधानता और धार्मिक विषयों में उसके निर्णयों की श्रेष्ठता की पुष्टि की गई। बाइबिल का लैटिन अनुवाद (Vulgate) प्रामाणिक माना गया। अतः स्पष्ट है कि कौंसिल ने सैद्धान्तिक क्षेत्र में तनिक भी संशोधन नहीं किया। लार्ड ऐक्टन के शब्दों में ट्रेंट की कौंसिल ने चर्च के ऊपर एक असहिष्णु युग की छाप डाली।

सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण से भी कौंसिल का अधिक महत्वपूर्ण कार्य उन सुधारों से सम्बन्ध रखता है जिनसे चर्च के कर्मचारियों के जीवन में अनुशासन, पवित्रता और क्रियाशीलता आयीं। चर्च के पदों की बिक्री बन्द हो गई और नियुक्तियों में योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। बिशपों को अपने सेवा-क्षेत्र में रहना आवश्यक कर दिया

गया। वे सांसारिक विषयों को त्यागकर आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न हुए। क्षमा-पत्रों का दुरुपयोग बन्द हो गया। वे केवल सत्कर्म से, न कि धन द्वारा प्राप्त हो सकते थे। चर्च के कर्मचारियों की उचित शिक्षा के लिए पाठशालायें खोली गयीं। एक कर्मचारी की कई पदों पर नियुक्ति की व्यवस्था का अंत कर दिया गया।

जेसुइट संघ (Jesuit Order)—कैथलिक चर्च को शक्तिशाली बनाने में जेसुइट संघ का बड़ा हाथ था। वास्तव में इसके सदस्य चर्च के सैनिक कहे जा सकते हैं। इस संघ का संस्थापक इगनेशस लायोला (Ignatius Loyola, 1491-1556 ई०) था। वह प्रारम्भ में एक सैनिक था और स्पेन की सेना में फ्रांस के विरुद्ध लड़ चुका था। 1521 ई० में एक युद्ध में गहरी चोट लगने के कारण वह लंगड़ा हो गया और सैनिक कार्य के योग्य न रह गया। परन्तु उसकी प्रवृत्ति भौतिक से आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर बढ़ी। उसने क्राइस्ट का सैनिक बनने का निश्चय किया। उसके जीवन की दिशा का वास्तविक परिवर्तन तब हुआ जब वह धर्मशास्त्र, दर्शन और प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने पेरिस गया। वहाँ उसने कैथलिक धर्म की सेवा का व्रत लिया और 7 वर्ष तक अध्ययन किया। उसके कार्यों का महत्त्व इस बात में है कि उसने कुछ चुने हुए अत्यन्त योग्य और कर्तव्यपरायण व्यक्तियों को धर्म-कार्य में रत किया। 1534 ई० में उसने जीसस की सोसाइटी की स्थापना की। इसके सदस्य जेसुइट नाम से प्रसिद्ध हुए। प्रारम्भ में संघ के सदस्यों की संख्या केवल 7 थी, परन्तु 16 वर्ष में उनकी संख्या 1,500 हो गई। इसने अपने कार्य-क्षेत्र का बंटवारा 12 भागों में किया था। उनमें जापान और चीन भी सम्मिलित थे। संघ के सदस्यों को अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, आज्ञा-पालन और पोप के प्रति स्वामिभक्ति का व्रत लेना पड़ता था। लायोला का कहना था कि यदि चर्च किसी वस्तु को, जिसे हम सफेद समझते हैं, काला कहे तो हमें तुरन्त उसे काला कहना चाहिए। आध्यात्मिक सेवा के निमित्त एक सैनिक द्वारा स्थापित किए हुए इस संघ का रूप बहुत-कुछ सैनिक था। संघ का युक्ति 'जनरल' कहा जाता था और उसकी नियुक्ति आजीवन होती थी। हरेक जेसुइट को अपने से ऊंचे पदाधिकारी की आज्ञा निसंकोच माननी पड़ती थी। योग्यता और शिक्षा के आधार पर जेसुइट कई श्रेणियों में विभक्त किये जाते थे। संघ में दीक्षित नवयुवकों को सर्वप्रथम इस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी कि उससे पृथक् उनका व्यक्तित्व न रह गया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लायोला ने 'आध्यात्मिक अभ्यास' (Spiritual Exercises) नाम की एक भक्तिपूरक पुस्तक की रचना की थी। इसके अनुसार प्रत्येक जेसुइट को अपनी दिनचर्या स्थिर करनी पड़ती थी। दो वर्ष के बाद उसके लिए और ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध था। उच्च शिक्षा-प्राप्त सदस्य ही शिक्षक हो सकते थे। जो प्रतिभासम्पन्न थे वे धर्म-शास्त्र के अध्ययन के योग्य समझे जाते थे। पुरोहित के पद पर वे ही नियुक्त हो सकते थे जो पूर्ण रूप से शिक्षित होते थे। पुरोहित पद पर नियुक्ति या संघ की पूर्ण सदस्यता की प्राप्ति के लिए 16 वर्ष के प्रशिक्षण की आवश्यकता

होती थी। जिनमें पुरोहित या शिक्षक होने की योग्यता नहीं होती थी वे संघ की निम्न श्रेणी के सदस्य होते थे।

प्रारम्भ में पोप जेसुइट संघ के प्रति सशंक था, परन्तु 1540 ई० में उसने अपनी स्वीकृति दे दी। इस संघ के विषय में कहा गया है कि यह एक ऐसी तलवार की तरह था। जिसकी मुठिया पोप के हाथ में थी और जिसकी नोंक कहीं भी प्रहार कर सकती थी। जेसुइटों ने सेवा, दान, शिक्षा और धर्म-प्रचार द्वारा कैथलिक चर्च की शक्ति में बहुत ही वृद्धि की। उन्होंने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजनीति आदि साधनों का भी प्रयोग किया। धर्म-प्रचार के लिए जेसुइट उन भयावह स्थानों में गये जहाँ अन्य मिशनरियों को जाने का साहस नहीं होता था। मैकाले ने एक स्थान पर लिखा है कि जेसुइटों ने उन क्षेत्रों में लोगों को कैथलिक बनाया जहाँ न तो लालच और न तो उत्सुकता ने उसके किसी भी देशवासी को जाने के लिए प्रोत्साहित किया था और उन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य ऐसी भाषाओं में किया जिनका एक अक्षर भी पाश्चात्य देशों के निवासी न समझ सकते थे। जेसुइटों ने शिक्षा को धर्मोन्नति का प्रधान साधन बनाया। स्कूल-शिक्षक के रूप में उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता था। शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी और कई दृष्टियों से उनकी शिक्षण-पद्धति यूरोप में सर्वश्रेष्ठ थी। इटली, फ्रांस, स्पेन, नेदरलैंड्स, आस्ट्रिया और जर्मनी में उनके स्थापित कालेजों ने 17वीं शताब्दी में प्रमुख स्थान ले लिया। पुर्तगाल और स्पेन में तो शिक्षा-क्षेत्र में उनका एकाधिकार स्थापित हो गया।

निषिद्ध ग्रन्थों की सूची (Index)—1555 में कैथलिक चर्च ने निषिद्ध पुस्तकों की एक सूची निकाली। कुछ पुस्तकों के अध्ययन की एकदम मनाही कर दी गई, कुछ के ऐसे भाग आपत्तिजनक घोषित किये गये जिन्हें कैथलिक अनुचित समझते थे। एक सूची ऐसे लेखकों की थी जिनकी पुस्तकें कैथलिकों के लिए निषिद्ध बतलाई गई। जिन स्थानों में इस सूची के अनुसार ज्ञान के साधनों पर नियंत्रण हुआ वहाँ निश्चय ही मानसिक शिथिलता आ गई, परन्तु भाग्यवश बहुत से कैथलिक देशों ने व्यवहार में इसे कार्यान्वित नहीं किया।

धार्मिक न्यायालय (Inquistion)—अधार्मिकता के दमन के लिए चर्च ने धार्मिक न्यायालयों की स्थापना की। वास्तव में किसी-न-किसी रूप में इस प्रकार के न्यायालय सदैव रहे थे। मध्यकाल के प्रारम्भिक चरण में वे बिशपों के अधीन थे। 1483 ई० में यहूदियों और मूरों के दमन के लिए स्पेन में एक धार्मिक न्यायालय का संघटन हुआ। एक आज्ञा द्वारा पोप ने 1542 ई० में रोम में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना की। इसके अधिकार सार्वभौमिक थे। इटली के धार्मिक मामलों के अतिरिक्त यह दूसरे देशों से भेजी हुई अपीलें भी सुनता था। परन्तु व्यवहार में यह न्यायालय इटली में अधिक सक्रिय रहा। सभी कैथलिक देशों में ऐसे न्यायालय स्थापित हो गये थे।

कैथलिक धर्म के विरुद्ध काम करने वालों के मुकदमें इनमें सुने जाते थे। इनकी कार्य-पद्धति अत्याचारपूर्ण थी। अपराध स्वीकार कराने में यातनाओं का प्रयोग होता था। छोटे अपराधों के लिए या केवल सन्देह पर कठोर दण्ड दिये जाते थे। अपराध प्रमाणित होने पर अपराधी दण्डार्थ राज्य के सुपुर्द कर दिया जाता था। स्पेन आदि देशों में इन धार्मिक न्यायालयों ने बड़ी सख्ती से काम किया। इसमें सन्देह नहीं कि जेसुइट संघ और ट्रेट की कौंसिल से कैथलिक धर्म-सुधार में बड़ी सहायता मिली, परन्तु इन न्यायालयों की उपयोगिता सन्दिग्ध है। इनका प्रयोग केवल चर्च के हित में ही नहीं, निरंकुशतार्थ भी किया गया। फिलिप द्वितीय के हाथ में धार्मिक न्यायालय निरंकुशता का एक प्रधान अस्त्र बना। इनकी सख्ती से नेदरलैंड्स में गहरा असन्तोष हुआ और उसने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यह निर्विवाद है कि चर्च की प्रतिष्ठा गिराने में इनका बहुत बड़ा हाथ है। इनकी सक्रियता से एक ऐसा वातावरण उपस्थित हुआ जो स्वतंत्र चिन्तन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था।

कैथलिक धर्म-सुधार की सफलता—उपर्युक्त साधनों से कैथलिक चर्च प्रोटेस्टेंटो की उन्नति रोकने में ही समर्थ नहीं हुआ, बल्कि कुछ हद तक अपने खोये हुए स्थानों को प्राप्त कर सका। पोलैंड में कैल्विनवाद का प्रभाव समाप्त हो गया और कैथलिक धर्म पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया। ब़वेरिया, दक्षिणी नेदरलैंड्स, आयरलैंड् आदि देश कैथलिक बने रहे। जेसुइटों ने अनेक कष्ट सहकर इंग्लैंड में अपने सहधर्मियों की सहायता की। एलिजाबेथ के विरुद्ध आयोजित विद्रोहों का उद्देश्य कैथलिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करना था। कैथलिक मिशनरियों ने भारत, चीन, ब्राजील और पारागुए आदि सुदूर देशों में जाकर धर्म-प्रचार का कार्य किया। यदि कैथलिक सचेष्ट न हुए होते तो उन देशों में, जो उनके गढ़ समझे जाते थे, प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन की प्रगति रोकना बहुत कठिन था।

सफलता के कारण—कैथलिक धर्म-सुधार का आन्दोलन वैसे तो पूर्ण शक्ति के साथ 16वीं शताब्दी के मध्य में शुरू हुआ, परन्तु इसका प्रारम्भ स्पेन में फर्डिनैड (Ferdinand) और इजाबेला (Isabella) के अन्दर कुछ पहले हो गया था। इन शासकों ने चर्च के सुधार का कार्य कार्डिनल जीमेनीज (Ximenes) को दिया। इस महान् पुरुष के कार्यों के फलस्वरूप चर्च के पदाधिकारियों के नैतिक जीवन में काफी सुधार हुआ। वे अपने दायित्व के प्रति सचेष्ट हुए। शिक्षा की उचित व्यवस्था से उनका ज्ञान बढ़ा और वे अपने कर्तव्य का सुचारु रूप से पालन करने में समर्थ हुए। इस प्रकार स्पेन में कैथलिक चर्च की शक्ति अत्यन्त प्रबल हो गई। परन्तु इन सुधारों का प्रभाव सीमित रहा। 16वीं शताब्दी के मध्य में जाकर कैथलिक धर्म-सुधार का रूप अन्तर्राष्ट्रीय हो सका। विभिन्न प्रोटेस्टेण्ट संप्रदायों के मतभेदी, लूथा ऐसे योग्य नेता के अभाव और प्रारम्भिक उत्साह की कमी से उसकी उन्नति के लिए अनुकूल परिस्थिति मिली। ट्रेंट की कौंसिल और

जेसुइट संघ के कार्यों द्वारा उसमें एक नई शक्ति का संचार हुआ। पोप और कैथलिक चर्च के अंतर्राष्ट्रीय रूप से कैथलिक आन्दोलन का जोर अन्य देशों में बढ़ा। इस कार्य में फ्रांस और आस्ट्रिया आदि कैथलिक देशों के राजाओं ने पूरा सहयोग दिया। इन देशों में कैथलिक धर्म शासकों की निरंकुशता को संघटित करने में सहायक हुआ। जब पोप ने चर्च पर उनका अधिकार स्वीकार कर लिया तब वे कैथलिक आन्दोलन के पूरे समर्थक हो गये। स्पेन के फिलिप द्वितीय ने अपने राज्य के असीम साधनों का उपयोग प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के दबाने में किया। कुछ देशों ने आर्थिक लाभ से प्रेरित होकर कैथलिक धर्म-सुधार की सहायता की। पोप ने स्पेन और पुर्तगाल के बीच पश्चिमी और पूर्वी दुनियाँ का बँटवारा कर दिया था। उन्हें उपनिवेशों के विस्तार में इस निर्णय से बड़ा जोर मिला। इटली के लोगों को रोम में बाहर से आने वाले अतुल धन से काफी संतोष था। इस तरह कैथलिक धर्म-सुधार की सफलता अनेक कारणों से संभव हुई।

धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव

16वीं शताब्दी के आन्दोलनों के प्रभाव के सम्बन्ध में विद्वान् सर्वथा सहमत नहीं हैं। प्रभावों का क्षेत्र काफी विस्तृत था और रूप जटिल। अतः उनके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक मत स्थिर करना कठिन है। तब भी 100 वर्ष की घटनाओं पर दृष्टिपात करने से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

धार्मिक क्षेत्र में काफी समय तक कैथलिक और प्रोटेस्टेण्टों के सम्बन्ध कटु और असहिष्णु रहे। यह स्थिति तीस वर्षीय युद्ध में पराकाष्ठा को पहुँच गई। जर्मनी में अत्यन्त निर्दयता और नृशंसता के साथ युद्ध हुआ। जिन देशों में किसी मत के अनुयायियों की संख्या कम थी उनके साथ बड़ा कठोर व्यवहार हुआ। परन्तु तीसवर्षीय युद्ध के बाद धार्मिक दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन हुआ। धीरे-धीरे धर्म का रूप व्यक्तिगत होता गया। ईश्वर के प्रति भी विश्वास का रूप व्यक्तिगत होने लगा। प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के फलस्वरूप धर्माधिकारियों के अधिकार कम हुए। धर्म उनका एकाधिकार न रहकर सामान्य जनता का विषय हुआ। पूजा आदि के विषय में बाह्य साधनों की महत्ता कम हो गई।

इन आन्दोलनों के कारण नैतिक जीवन में काफी सुधार हुआ। विभिन्न संप्रदायों में अपने को दूसरों से श्रेष्ठ बनाने के लिए होड़ थी। कैथलिक धर्म-सुधार में चारित्रिक शुद्धता पर बड़ा जोर दिया गया, यहाँ तक कि पोप पाल चतुर्थ ने किताबों की ऐसी सूची प्रकाशित की जिन्हें पढ़ना निषिद्ध था। कैल्विनवाद में तो पवित्र और सादे जीवन का अत्यधिक महत्व था। साधारण गलतियों के लिए कठोर दण्ड दिए जाते थे। नैतिक दृष्टि से एक दूसरी प्रभाव भी उल्लेखनीय है। निवृत्तिमूलक नैतिकता का स्थान एक व्यावहारिक नैतिकता ने ले लिया। लूथर ने विश्वास की ही मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाया। फलतः साधारण वर्ग में सत्कर्मों (व्रत, प्रार्थना, दान इत्यादि) का महत्व घटने

लगा। व्यावहारिक नैतिकता पर जोर देने से ईसाई जीवन की ईकाई मठ की जगह कुटुम्ब हो गया।

आर्थिक क्षेत्र में कैल्विनवाद से पूँजीवाद की उन्नति में सहायता मिली। कैल्विन श्रम की महत्ता पर जोर देता था। वह कहता था कि इस जीवन की चीजों में मजदूर ईश्वर की तरह है। वह कामचोरों को भोजन आदि देने के पक्ष में नहीं था। कैल्विनवादी धन-संग्रह को अधार्मिक कार्य नहीं समझते थे और न निर्धनता को आध्यात्मिकता का आवश्यक अंग। व्यक्ति द्वारा धनोत्पादन के कार्य की गणना ईसाई सद्गुणों में की जाती थी। ऐसी विचारधारा से निःसंदेह पूँजीवाद को जोर मिला। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि कैथलिक पारलौकिक जीवन की महत्ता पर जोर देते थे और सूद की प्रथा को बुरा समझते थे। यह दृष्टिकोण पूँजीवाद के लिए उपयोगी न था। इस सम्बन्ध में लूथर का मत कैल्विन से भिन्न था। वह पूँजीवादी वाणिजय और महाजनी को बुरी चीज समझता था। उसके मत में आदर्श ईसाई का जीवन किसान का था।

चर्च की सम्पत्ति आर्थिक दृष्टि से उपयोगी नहीं थी। भिक्षु (Monk) लोग पुराने तरह के जमींदार थे। वे आवश्यकता से अधिक मजदूर रखते थे। परन्तु धर्म-सुधार के परिणामस्वरूप जब चर्च की सम्पत्ति नये जमींदारों के हाथ में आई तो उसकी उन्नति के लिए बहुत-से सुधार किये गए। किसानों की संख्या जमींदारों की घेराबंदी की नीति से बेकार हो गई। इससे घोर असंतोष हुआ। इंग्लैण्ड के नारिज (Norwich) आदि प्रदेशों में एडवर्ड षष्ठ के शासनकाल (1547-53 ई०) में इस असंतोष ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया। यूरोप के अन्य देशों में भी किसानों के विद्रोह हुए, परन्तु वे निर्दयतापूर्वक दबा दिए गये।

बहुत से देशों में जहाँ धर्म-सुधार हुआ, मठों की सम्पत्ति छीन ली गई। वहाँ के कैथलिक साधु, जिनका जीवन चर्च की सम्पत्ति पर निर्भर था, बेकार हो गये। उस युग में मठ जनकल्याण सम्बन्धी बहुत-से काम करते थे। शिक्षा की व्यवस्था और गरीबों की सहायता के कार्य वे ही करते थे। इस दिशा में उनका कार्य सचमुच प्रशंसनीय था। परन्तु उनके दमन के कारण एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या उपस्थित हुई। इस रिक्त स्थान की पूर्ति सरकार ही कर सकती थी। धीरे-धीरे राज्यों ने इन कार्यों का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। इंग्लैण्ड में रानी एलिजाबेथ के समय में दान सम्बन्धी कई नियम बनाये गये। परन्तु सभी प्रोटेस्टेण्ट देशों में राज्य ने इन कार्यों को अपने हाथ में नहीं लिया। कैथलिक देशों में तो काफी समय तक शिक्षा और गरीबों की सहायता के कार्य चर्च के हाथ में रहे।

धर्म-सुधार से सांस्कृतिक क्षेत्र में एक दृष्टि से स्वतंत्र विचारों की अभिव्यक्ति और विज्ञान आदि के अध्ययन के लिए उचित वातावरण उपस्थित होने लगा। कैथलिक चर्च नये विचारों का विरोधी था। कोपरनिकस (Copernicus) द्वारा प्रतिष्ठित इस सत्य का कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, चर्च ने विरोध किया था। परन्तु आश्चर्य की बात

तो यह है कि लूथरवादी भी अनुसंधान के पक्ष में न थे। कारण यह था कि सभी संप्रदायों ने अनुशासन के कुछ ऐसे नियम निर्धारित किये जो शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल नहीं खाते थे। तिस पर भी वे कैथलिकों से इस विषय में कम अनुदार थे। अतः कालान्तर में उन्हें वैज्ञानिक अनुसन्धानों को स्वीकार करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई।

सभी संप्रदायों ने शिक्षा के विकास पर बड़ा जोर दिया। इस सम्बन्ध में सुधारवादी पोप काफी सचेष्ट थे। ट्रेंट की कौंसिल ने स्कूलों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में सिफारिश की थी। जेसुइटों के कार्यक्रम में तो शिक्षा का ऊँचा स्थान था। सुधारकों ने भी इस सम्बन्ध में काफी जोर दिया। वे चाहते थे कि अधिक-से-अधिक लोग धर्म की बातें स्वयं पढ़ें। लूथर ने जर्मन-शासकों से प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करने की अपील की। कैल्विन का जिनेवा तो बौद्धिक केन्द्र ही बन गया था। परन्तु इन प्रयत्नों के बावजूद प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन से वास्तव में शिक्षा की उन्नति को धक्का पहुँचा। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं को जो आर्थिक सहायता मिलती थी वह बहुत-कुछ बन्द हो गई और उन्हें बाध्य होकर अपना कार्य बंद कर देना पड़ा। प्रोटेस्टेण्टों द्वारा स्थापित पाठशालाओं की संख्या बंद या अवनत दशा को प्राप्त पुराने स्कूलों से कम थी। फलतः शिक्षा उच्चवर्ग तक ही सीमित रही और साधारण वर्ग अविद्या के अन्धकार में पड़ा रहा। विश्वविद्यालयों की दशा और खराब हो गई। प्रोटेस्टेण्ट उन्हें कैथलिक धर्म का गढ़ समझते थे और उनके प्रति वे असहिष्णु रहे। आगे चलकर उच्च शिक्षा की जो उन्नति हुई उसका कारण आधुनिक लोकतंत्र है न कि धार्मिक आन्दोलन।

कला की उन्नति में कैथलिक चर्च ने काफी प्रशंसनीय कार्य किया था। मध्यकालीन कला, जो मुख्यतः धर्ममूलक थी, चर्च के प्रश्रय से विकसित हुई थी। परन्तु धार्मिक आन्दोलनों से कुछ समय तक उसके मार्ग में बाधा आई, क्योंकि वे सजावट, चित्र और मूर्तियों के पक्ष में न थे। कैल्विनवाद तो विशेष रूप से इन बातों का विरोधी था।

धर्म-सुधार के राजनीतिक प्रभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। 1517 और 1648 ई० के बीच शायद ही कोई शुद्ध राजनीतिक घटना हुई हो। वास्तव में इस काल में धर्म और राजनीति का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ था कि सभी प्रसिद्ध घटनायें धर्म से प्रभावित हुईं। प्रारम्भ में धर्म-सुधार से निरंकुशता की स्थापना में बड़ी सहायता मिली। हम कह चुके हैं कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म-सुधार कैथलिक चर्च की सार्वभौम सत्ता के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना की प्रतिक्रिया था। प्रोटेस्टेण्टों की दृष्टि में रोमन चर्च विदेशी था, अतः उन्होंने राष्ट्रीय चर्च की स्थापना की। बहुत से जर्मन राज्यों में लूथरवाद ने राष्ट्रीय ईसाई धर्म का रूप धारण किया। इंगलैण्ड में भी आंग्ल चर्च तथा स्काटलैण्ड और हालैण्ड में कैल्विनवाद का भी रूप इसी प्रकार का था। चर्च के राष्ट्रीयकरण द्वारा शासकों ने धार्मिक क्षेत्र में भी अपनी सत्ता स्थापित की। इससे उनकी निरंकुशता की स्थापना में काफी सहायता मिली।

प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के उस रूप को दृष्टिगत रखते हुए कुछ इतिहासकारों ने इसे धार्मिक से अधिक राजनीतिक आन्दोलन माना है।

कुछ विद्वानों के मत में आधुनिक लोकतन्त्र 16वीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों का परिणाम है। इस मत में आंशिक सत्य है, क्योंकि प्रसिद्ध प्रोटेस्टेण्ट संप्रदायों ने अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता की नीति नहीं अपनाई। तत्कालीन राजतन्त्रों की शक्ति धर्म-सुधार से कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ी। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक आन्दोलनों द्वारा जनतन्त्र के विकास में विशेष सहायता नहीं मिली। हम कह सकते हैं कि शुद्ध जनतांत्रिक विचारधारा का विकास धर्म-सुधार का परिणाम नहीं, (अपितु मानसिक और आर्थिक क्षेत्र में आगे होने वाले विकास का परिणाम है।) परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि धर्म-सुधार का इस क्षेत्र में कोई महत्त्व नहीं है। कैथलिक चर्च के असीमित अधिकारों का विरोध धार्मिक तथ्यों के निरुपण में व्यक्तिगत निर्णय के सिद्धान्त पर अवलम्बित था। विरोध का यह सैद्धान्तिक रूप निश्चय ही जनतन्त्र की आधारशिला है। दूसरी ध्यान में रखने योग्य बात है अल्पसंख्यक संप्रदायों द्वारा अपने धार्मिक विचारों की रक्षा के लिए प्रतिरोध। इन माँगों का आधारभूत सिद्धान्त जनतन्त्र पर निर्भर था। स्पेन के विरुद्ध हालैण्ड का सफल विद्रोह स्वतंत्रता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने में काफी सहायक हुआ। इस प्रकार एक साथ और एक ही समय धर्म-सुधार से राष्ट्रीयता और निरंकुशता को शक्ति मिली और परोक्ष रूप से कुछ अंशों में जनतन्त्र के विकास को प्रेरणा भी प्राप्त हुई।

अध्याय 4

स्पेन का चरमोत्कर्ष

चार्ल्स पञ्चम (1516-56 ई०)

स्पेन की महत्ता के कारण—सोलहवीं शताब्दी में यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली और वैभव-सम्पन्न राज्य स्पेन का था और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि से यूरोप के अन्य सभी राज्य भयभीत थे। स्पेन के इस आकस्मिक उत्कर्ष में मुख्यतः चार कारणों ने योग दिया। शताब्दियों तक स्पेन पर अरबों का अधिकार था, परन्तु अदम्य उत्साह, साहस एवं धैर्य के साथ ईसाइयों ने अपने स्वातन्त्र्य-संग्राम को अक्षुण्ण रखा और पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में स्पेन की पूर्ण स्वतंत्रता के साथ उनकी घोर तपस्या पूर्ण हुई। फर्डिनैण्ड और इजाबेला के विवाह ने स्पेन की राजनीतिक एकता के स्वप्न को भी साकार किया और इन दोनों के सबल शासन में देश में निरंकुश राजतंत्र का पूर्ण विकास हुआ। केन्द्रीय शासन सुदृढ़ था और देश में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था थी। वस्तुतः इन दोनों के सम्मिलित शासन-काल में ही स्पेन के भावी उत्कर्ष का बीजारोपण हो चुका था और देश अपने महत्वपूर्ण भावी कार्य-क्रम के लिये पूर्णतः प्रस्तुत था। स्पेन की दक्ष एवं कुशल सेना भी उसके विकास में सहायक हुई। मुसलमानों के विरुद्ध उसके दीर्घकीलीन संघर्ष एवं विजय ने स्पेनी सेना के गौरव में चारचाँद लगा दिये थे। और उसके सैनिक अपनी वीरता, शौर्य एवं पराक्रम के लिये यूरोप में विख्यात थे। उसी काल में दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में तुर्की के विरुद्ध ईसाइयों की पराजय से इन स्पेनी विजेताओं का दर्प और आत्माभिमान और अधिक बढ़ रहा था और वे यूरोप में ईसाई धर्म के रक्षक के रूप में सम्मानित हो रहे थे। स्पेन की समृद्धि और विकास का तीसरा कारण तत्कालीन राजनीति है जिसके द्वारा यूरोप का प्रत्येक राज्य सैनिक बल एवं कूटनीति या वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा अपनी सीमा और शक्ति के विस्तार के लिये तथा आन्तरिक मामलों में निरंकुश शासन स्थापित करने के लिये पूर्णतः सचेष्ट था। इस क्षेत्र में संयोगवश स्पेन के राज-परिवार को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई और सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक वह यूरोप का सबसे अधिक विस्तृत एवं शक्तिशाली राज्य बना। उसके आशातीत वैभव का चौथा कारण अमेरिका का अन्वेषण है यूरोपीय देशों में सर्वप्रथम स्पेन को को ही इस दिशा में सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि मुख्यतः कृषि-प्रधान होने तथा व्यापार-कुशल मुसलमानों एवं यहूदियों के देश से निष्कासन के कारण यह देश अपेक्षाकृत निर्धन था, परन्तु अमरीकी देशों की स्वर्ण और रजत-राशि ने स्पेन के लिये मानो कुबेर की अक्षय-निधि का द्वार ही उन्मुक्त कर दिया था। वह धन-राशि देश के वैभव को स्थायी तो न बना सकी, परन्तु सोलहवीं शताब्दी में इसने समस्त यूरोप को चकाचौंध में तो डाल ही

दियाथा। इसीलिये बाह्य रूप से स्पेन यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य प्रतीत हो रहा था,

चार्ल्स का उत्तराधिकार—सोलहवीं शताब्दी के यूरोपीय शासकों में आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग परिवार में उत्पन्न चार्ल्स सर्वाधिक भाग्यशाली सिद्ध हुआ। छह वर्ष की अवस्था में वह अपने पिता फिलिप की मृत्यु (1506 ई०) के पश्चात् नेदरलैंड्स का स्वामी हुआ था। उसी समय उसकी माता जोना के विक्षिप्त होने के कारण कैस्टील का राज्य भी उसके अधिकार में आया। सोलह वर्ष की अवस्था में अपने नाना फर्डिनैंड की मृत्यु (1516) के पश्चात् वह समस्त स्पेनी साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और चार्ल्स प्रथम के नाम से स्पेन की गद्दी पर बैठा। स्पेन के राजा के रूप में वह समस्त स्पेन, नेपुल्स, सिसिली और सार्डीनिया के राज्य, अमरीकी उपनिवेशों तथा उत्तरी अफ्रीका के समुद्र-तट के अधिकृत द्वीपों और नगरों का निरंकुश स्वामी था। उन्नीस वर्ष की अवस्था में अपने पितामह सम्राट मैक्सिमिलियन की मृत्यु (1519) के पश्चात् वह आस्ट्रिया की आर्चडची का स्वामी हुआ जिसमें आस्ट्रिया, स्टीरिया, कार्निओला, कैरिन्थिया तथा टिरोल आदि के भूप्रदेश सम्मिलित थे। चार्ल्स ने इन प्रदेशों का शासन अपने छोटे भाई फर्डिनैंड को सौंप दिया (1521) जिसने अपने विवाह एवं निर्वाचन द्वारा बोहेमिया तथा हंगेरी के राज्य को भी हैप्सबर्ग-राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया। अपने पितामह की मृत्यु के पश्चात् चार्ल्स जर्मन सम्राट् भी चुना गया और अब उसने सम्राट के रूप में चार्ल्स पञ्चम की उपाधि धारण की। चार्ल्स की यह पद-वृद्धि स्पेन के लिए प्रसन्नता का कारण न थी; क्योंकि अब उसके लिए स्पेन के शासन की ओर एकाग्र होना असम्भव था।

उन्नीस वर्षीय चार्ल्स पंचम उस समय तक का सबसे बड़ा ईसाई सम्राट् था और इसका उसे गर्व था। परन्तु यह विस्तृत साम्राज्य ही उसकी सबसे बड़ी समस्या थी। इतिहास के सन्धि-काल के सम्राट् चार्ल्स पंचम का उत्तरदायित्व और भी गम्भीर बन गया था। साम्राज्य के प्रत्येक प्रान्त और राज्य की अपनी विशेषतायें थीं जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं। इन प्रान्तों में राजनीतिक और शासन-सम्बन्धी एकता का भी सर्वथा अभाव था और प्रत्येक इकाई के लिए अलग और स्वतंत्र शासन-व्यवस्था की आवश्यकता थी। जर्मन सम्राट् के रूप में उसके अधिकारों में तो कोई वृद्धि न हुई, परन्तु उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया। जर्मनी में बढ़ते हुए प्रोटेस्टेंट धर्म और उसके प्रभाव को रोकने के लिए उसे उत्तरोत्तर अधिक धन, समय और शक्ति का व्यय करना पड़ा। उसे अपने विस्तृत राज्य के दूसरे भागों से भी धर्म-सुधार की प्रगति को रोकने तथा नित्य-प्रति उलझी हुई राजनीतिक एवं आर्थिक-नीति को सुलझाने का भार वहन करना पड़ा। बाह्य राजनीति की उलझनें भी उसका सिर-दर्द बनी थीं और उसका विस्तृत उत्तराधिकार यूरोपीय शासकों की आँखों की किरकिरी बना हुआ था। अपने प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस के राजा

फ्रांसिस प्रथम से उसे आजीवन संघर्ष करना पड़ा। इटली में उसके बढ़ते प्रभाव से चिन्तित पोप तथा इंग्लैण्ड के राजा हेनरी अष्टम की ईर्ष्या और द्वेषपूर्ण नीति भी प्रायः उग्र विरोध का रूप धारण कर उसकी समस्याओं को जटिल बना देती थी। डैन्यूब नदी की ओर तुर्कों का क्रमिक प्रसार एवं भूमध्यसागर में उनकी बढ़ती जलशक्ति तथा अफ्रीकी समुद्रतट से मूरों के सामुद्रिक आक्रमण से चार्ल्स पंचम के लिये भयावह और आतंकपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो रही थी। इस प्रकार चार्ल्स पंचम को विभिन्न प्रकार की अनेक समस्याओं का एक साथ सामना करना पड़ा और यदि उसे अपने अनेक कार्यों में सफलता न मिल सकी तो इसका कारण उसमें शासन-योग्यता का अभाव नहीं, अपितु अधीनस्थ प्रान्तों के परस्पर-विरोधी हितों की बहुलता ही है।

स्पेन का शासन—स्पेन में चार्ल्स का शासन जनप्रिय था। स्पेनियों को उसका विदेशीपन तो न खटकता था, परन्तु (उसके विदेशी दरबारियों से उन्हें अवश्य चिढ़ थी। वह स्पेन का निरंकुश शासक था, परन्तु) कैस्टील एवं अरागान दोनों ही में उसकी सहायता के लिए अलग-अलग पार्लियामेंट (Cortes) थीं जो अर्थ-विभाग का नियंत्रण तो करती ही थीं, साथ ही विधान-सम्बन्धी कार्यों में भी परामर्श देने का अधिकार चाहती थीं। फलतः चार्ल्स को अपने शासन के प्रारम्भ में ही कैस्टील में एक वैधानिक संघर्ष का सामना करना पड़ा। शहरों के प्रतिनिधियों ने राजा की स्वेच्छाचारी कार्य-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह (1522) कर दिया, परन्तु उनका संघर्ष असंगठित एवं दुर्बल सिद्ध हुआ सेना ने इस विद्रोह को पूर्ण सफलता के साथ कुचल डाला। दण्ड के रूप में विद्रोही नगर-प्रतिनिधित्व के अधिकार से वंचित कर दिये गये। प्रत्येक नगर के शासन में एक राजकीय प्रतिनिधि नियुक्त हुआ और उनके नगर-शासन सम्बन्धी अधिकार भी सीमित कर दिये गये। यद्यपि कैस्टील की पार्लियामेण्ट भंग न हुई और राजस्व की स्वीकृति के लिये उसकी बैठकें बुलाई जाती रहीं, परन्तु उसमें आत्म-निर्भरता एवं समारम्भिक गुण के अभाव ने देश के वैधानिक विकास की गति को सर्वथा अवरुद्ध कर दिया। परन्तु चार्ल्स ने अरागानी पार्लियामेंट के परम्परागत अधिकारों की रक्षा की और अपने शासन-काल में संघर्ष का कारण उपस्थित न होने दिया।

स्पेन का राजकोश ही चार्ल्स पंचम की साम्राज्यवादी नीति के सम्पादन का प्रधान आधार था। उसके शासन-काल में स्पेनियों का कर-भार तिगुना हो गया था, परन्तु इस धन का अल्पांश ही उनके देश के निमित्त व्यय होता था। इतना ही नहीं, चार्ल्स ने अपने शासन के अन्त में स्पेन के राजकोश पर प्रायः दो करोड़ पौण्ड का ऋण भी कर दिया था। आवश्यकता पर तत्काल धन के बदले व्यक्तियों को राजस्व-संग्रह-सम्बन्धी राजकीय स्वीकृति प्रदान करने की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई परम्परा स्पेन के आर्थिक विकास के लिये घातक बन रही थी। राजस्व का असमान वितरण राजकोष के संगठन में बाधक थी। व्यापारिक रुकावटों तथा उद्योग-धंधों के अभाव में राष्ट्रीय समृद्धि भी सम्भव न थी।

वस्तुतः चार्ल्स के शासन-काल में स्पेन के आर्थिक विकास की गति पूर्णतः अवरुद्ध थी और अमेरिकी धनराशि के बावजूद देश क्रमशः निर्धन होता जा रहा था। चार्ल्स पंचम के व्ययशील युद्धों के लिये स्पेनी राजकोष के अतिरिक्त वेस्ट इण्डीज से आनेवाली धनराशि का पंचमांश तथा नेदरलैड्स एवं इटली के राज्यों से भी पर्याप्त धन-संग्रह होता था। अरागान के वैलेंसिया प्रदेश के मूरों के प्रति उसकी असहिष्णु धार्मिक नीति ने उन्हें देश छोड़ने के लिये विवश किया। इस व्यापार-कुशल जाति का देश-निष्कासन राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिये घातक सिद्ध हुआ।

चार्ल्स पंचम के शासन-काल में स्पेन के अमरीकी उपनिवेशों में बहुत वृद्धि हुई। मेक्सिको, मध्य अमेरिका, वेनेजुला, न्यू ग्रेनाडा, पेरू, बोलिविया और पश्चिमी चिली पर स्पेन का शासन स्थापित हो गया था तथा अर्जण्टाइना एवं पैरागुए में उपनिवेश बसाने की और कैलिफोर्निया एवं फ्लोरिडा में अन्वेषण की क्रिया चल रही थी। यूरोपीय युद्धों की बहुलता के बीच अमेरिका में स्पेनी साम्राज्य का विस्तार चार्ल्स की सफल औपनिवेशिक नीति का परिचायक है। परन्तु यह सफलता सर्वथा हितकर न थी। अतुल स्वर्ण-राशि को ही धन समझकर स्पेनियों ने राष्ट्र के आर्थिक विकास के मौलिक साधनों को विस्मृत कर दिया। साथ ही इस धन-लोलुपता ने विलासिता एवं क्रूरता को प्रोत्साहन प्रदान कर राष्ट्र के नैतिक पतन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

नेदरलैंड्स—चार्ल्स का जन्म और लालन-पालन नेदरलैंड्स में हुआ था, यही कारण है कि उस देश के प्रति उसके हृदय में विशेष ममता थी और उसे देश के निवासी उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इस देश के प्रति उसकी नीति सफल थी। उसने नेदरलैंड्स के सत्रह प्रदेशों का एक संघ बनाया और केन्द्रीय शासन की सुविधा के लिये तीन परिषदों और स्टेट्स-जनरल की व्यवस्था की। चार्ल्स ने न तो वैधानिक क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया और न उद्योग-धन्धों और व्यापार में ही। फलतः देश की आशातीत आर्थिक उन्नति हुई। परन्तु वैधानिकता की रक्षा करते हुए भी उसने अपने निरंकुश शासन में शिथिलता न आने दी और गेंट नगर द्वारा युद्ध के लिये स्वीकृत कर देने से इन्कार करने पर चार्ल्स ने इस विद्रोही नगर को भीषण रूप से दण्डित किया। वस्तुतः इस देश के व्यापार को शान्ति की अपेक्षा थी और चार्ल्स की नीति उसे बरबस युद्ध की ओर आकृष्ट कर रही थी। परन्तु ये परस्पर- विरोधी दृष्टिकोण कभी बहुत तीव्र न हो सके जिससे देश में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकी।

चार्ल्स पंचम ने नेदरलैंड्स में असहिष्णु धार्मिक नीति का अवलम्बन लिया जो उसकी कीर्ति को लांछित करती है। वह देश में लूथर के विचारों को कुचलने के लिये कृत-संकल्प था। उसने अधार्मिकता को रोकने के लिये सभी प्रान्तों में धार्मिक न्यायालयों की स्थापना की। उसने स्पेन में मूरों के विरुद्ध इनका सफल प्रयोग किया था, परन्तु नेदरलैंड्सव [illegible]मियों की नवीन धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा और उत्साह के सम्मुख इन

न्यायालयों का दमनचक्र निष्फल सिद्ध हुआ। चार्ल्स पंचम के शासन-काल में प्रायः तीस हजार पुरुष और स्त्रियों ने धर्म के लिये अपनी जानें खोयीं जिनमें लूथरवादी, कैल्विनवादी और अनाबैप्टिस्ट आदि सभी थे। इस घोर दमनचक्र के बीच भी विरोधी धर्म बढ़ता ही गया और चार्ल्स के उत्तराधिकारी फिलिप के शासन-काल में उत्तरी नेदरलैंड्स में कैल्विन सम्प्रदाय ने इतना अधिक जोर पकड़ा कि वह अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करके भी इसे निर्मूल न कर सका और यह भू-भाग प्रोटेस्टेंट होकर ही रहा।

फ्रांस के साथ युद्ध—चार्ल्स पंचम ने अपने विस्तृत साम्राज्य की सुरक्षा के निमित्त यूरोपीय देशों के विरुद्ध रक्षात्मक-नीति अपनायी थी, परन्तु इस यूरोपीय साम्राज्य की रक्षा बिना युद्ध के सम्भव न थी। उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस का राजा फ्रांसिस प्रथम था जिसे हैप्सबर्ग परिवार द्वारा फ्रांस की सीमा का घिरना सर्वथा असह्य था। दोनों ही सम्राट्-पद के लिये प्रतिद्वन्द्वी थे, अतः युद्ध के लिये कारणों का ढूँढ़ना कठिन न था। फ्रांसिस ने नेपुल्स के सिंहासन पर अपना दावा पेश किया और उत्तरी इटली में मिलान के नगर को अधिकृत कर लिया। चार्ल्स पंचम मिलान को खोने के लिये प्रस्तुत न था, क्योंकि साम्राज्य और स्पेन के बीच यह प्रदेश अत्यधिक महत्व का था। फ्रांसिस नवार के दक्षिणी भाग को स्पेन से वापस लेने के लिए भी संकल्प कर चुका था। और नेदरलैंड्स में भी अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। दूसरी ओर चार्ल्स पंचम भी बर्गण्डी पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता थ। सम्राट्-पद के लिये निर्वाचन में फ्रांसिस की पराजय ने संघर्ष को तीव्र कर दिया। फलतः 1522 ई० में इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में युद्ध छिड़ गया जो बीच-बीच में बन्द रहकर दोनों के जीवन-पर्यन्त चलता रहा।

फ्रांस और स्पेन के संघर्ष में इटली के प्रदेश युद्ध-क्षेत्र बने। शाही सेना ने पोप की सहायता से फ्रांसीसियों को मिलान से मार भगाया और वहाँ पर स्फोर्जा परिवार को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने मार्सेय पर घेरा डाला; परन्तु फ्रांसिस ने उन्हें पराजित कर मार भगाया और उनका पीछा करता हुआ इटली की ओर बढ़ा। अब उसकी सेना ने पेविया का घेरा डाला। चार्ल्स पंचम ने इस स्थान पर फ्रांसीसी सेना को बुरी तरह पराजित किया (1525) और स्वयं फ्रांसिस को आत्म-समर्पण करना पड़ा। आठ हजार फ्रांसीसी सैनिक मारे गये और फ्रांसिस के ही शब्दों में जीवन और सम्मान को छोड़कर उसका कुछ भी शेष नहीं रह गया। कुछ दिनों तक उसे मेड्रिड में बन्दी-जीवन बिताना पड़ा और बर्गण्डी, नेदरलैंड्स और इटली में अपने समस्त अधिकारों को छोड़ने तथा सम्राट् की बहन से विवाह करने का आश्वासन देने पर ही वह मुक्त किया गया। फ्रांस वापस आने पर उसने इस सन्धि को अस्वीकार कर दिया और चार्ल्स के विरुद्ध पोप, वेनिस, फ्लोरेन्स तथा मिलान के साथ एक सैनिक संघ की रचना की। परन्तु पारस्परिक द्वेष के कारण इटली के राज्य अधिक सहायक न सिद्ध हो सके। सफल शाही सेना ने अब रोम

पर आक्रमण (1527) किया। पोप अपनी राजधानी की रक्षा में असफल रहा और शाही सेना के स्पेनी और जर्मन सिपाहियों ने नौ महीने तक नगर को बुरी तरह लूटा और बर्बाद किया। नगर के गिर्जाघर अस्तबल के रूप में परिणत हो गये और अनेक कलात्मक वस्तुयें नष्ट कर दी गयीं प्राय: चार हजार आदमी मारे गये। ईसाई सेना के हाथों रोम को यह अपमान कभी भी न सहन करना पड़ा था। पोप को बाध्य होकर सम्राट् से सन्धि करनी पड़ी। सम्राट् के विरुद्ध युद्ध के सफल संचालन में असमर्थ फ्रांसिस प्रथम को भी कैम्ब्रे की सन्धि (1529) स्वीकार करनी पड़ी जिसके द्वारा बर्गण्डी पर तो उसका अधिकार स्वीकार कर लिया गया, परन्तु निपुल्स, मिलान और नेदरलैंड्स पर उसे अपने अधिकार का परित्याग करना पड़ा। फ्रांसिस ने सम्राट् की बहन एलेनार के साथ विवाह करना भी स्वीकार कर लिया।

इस सन्धि के पश्चात् सम्राट् शक्ति और गौरव की चरम सीमा पर था। उसका सबसे बड़ा शत्रु पराजित हो चुका था, इट्ली पर उसका पूर्ण अधिकार था, पोप मित्र था और इंगलैण्ड यूरोपीय राजनीति में प्रभावहीन हो रहा था। जर्मनी और इटली में अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिये वह पूर्ण स्वतंत्र था। बोलोन्या में विजयी सम्राट् ने अपना राजतिलक कराया और पोप ने अपने हाथों से उसे सम्राट् का स्वर्ण-मुकुट पहनाया। इटली की भूमि पर पोप द्वारा पवित्र रोमन सम्राट् के राजतिलक का यह अन्तिम अवसर था। चार्ल्स पंचम ने अपने छोटे भाई फर्डिनैंड को सम्राट्-पद के लिये और पुत्र फिलिप को स्पेन के राज-पद के लिए अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

फ्रांसिस प्रथम के लिये कैम्ब्रे की सन्धि केवल विराम-सन्धि सिद्ध हुई। उसने चार्ल्स पंचम के विरुद्ध स्काटलैण्ड, स्वीडेन, डेनमार्क, जर्मनी के विद्रोही प्रोटेस्टेंट राजकुमारों तथा तुर्कों के साथ नवीन संघों का निर्माण किया। वह इटली-विजय के स्वप्न को विस्मृत न कर सका था और इसी की पूर्ति के लिये उसने इटली की राजकुमारी मेरी द मेडिची के साथ अपने बड़े पुत्र हेनरी का विवाह भी सम्पन्न कराया। मिलान के सम्बन्ध में चार्ल्स पंचम के साथ उसका युद्ध पुन: छिड़ गया जो दो वर्षों (1536-38)तक चलता रहा और नीस की सन्धि (1538) द्वारा उसका अन्त हुआ। चार वर्षों के पश्चात् (1542) इन दोनों के बीच अन्तिम बार युद्ध की ज्वाला प्रज्वलित हुई जिसका अन्त क्रिस्पी की सन्धि ।1544) द्वारा हुआ। इन दोनों युद्धों से स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। नेपुल्स और मिलान पर चार्ल्स पञ्चम की अधिकार पूर्ववत् बना रहा और बूलोन्य (Boulogne) नगर को छोड़कर, जो इंगलैण्ड के अधिकार में आ गया था फ्रांस की सीमा ज्यों-की-त्यों बनी रही। कूटनीतिक और सामरिक विजय में चार्ल्स पंचम पूर्णत: गौरवान्वित था।

चार्ल्स पंचम और फ्रांसिस प्रथम की व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता से होने वाले इन दीर्घकालीन युद्धों ने ईसाइयत की प्राचीन परम्परा को गहरा आघात पहुँचाया। जिस समय
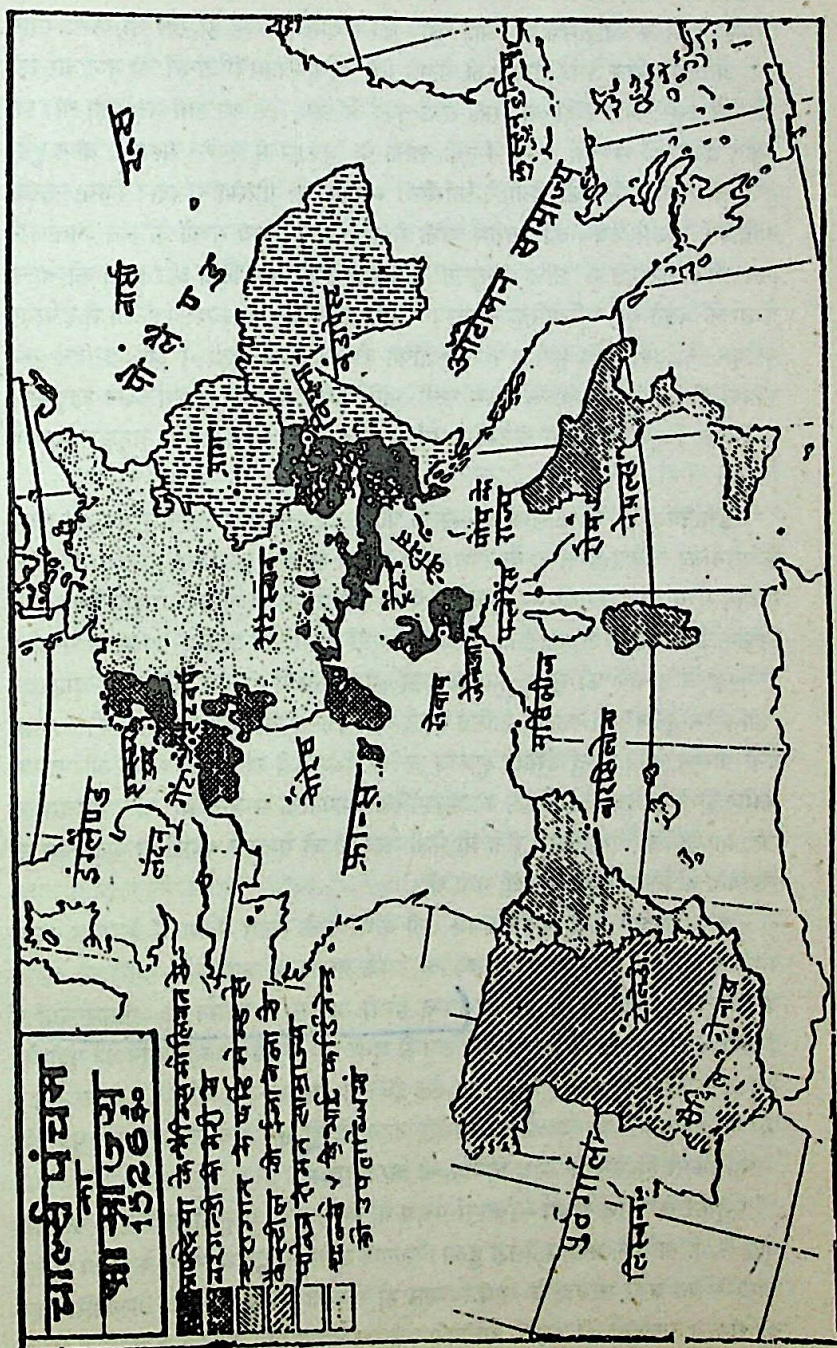
विधर्मी तुर्कों के आक्रमण से ईसाई यूरोप की स्थिति भयावह हो रही थी, उसी समय एक ओर तो पवित्र रोमन सम्राट् की सेनायें रोम के पवित्रतम गिर्जाघरों को नष्ट कर रही थीं और दूसरी ओर फ्रांस का ईसाई राजा तुर्कों के साथ मैत्री का हाथ बढ़ा रहा था। इस प्रकार इन युद्धों से पूर्वी यूरोप में तुर्क-शक्ति के विकास में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। तुर्कों के साथ फ्रांस की मैत्री ने फ्रांसीसी व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान किया। इनके अतिरिक्त चार्ल्स पंचम की असीम शक्ति से भयभीत यूरोपीय राज्यों के संघ-निर्माण ने तत्कालीन राजनीति में 'शक्ति-सन्तुलन' के सिद्धान्त को जन्म दिया और फ्रांस को चार्ल्स पंचम के बढ़ते हुए पारिवारिक साम्राज्य में सम्मिलित होने से बचाया। इटली में हैप्सबर्ग परिवार का आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। इन युद्धों में अधिक दिनों तक संलग्न होने के कारण चार्ल्स पंचम भली-भांति जर्मनी की ओर अपना ध्यान आकृष्ट न कर सका जिससे वहाँ पर प्रोटेस्टेंट धर्म के विकास के लिये सर्वथा अनुकूल अवसर मिला।

इंगलैण्ड के साथ सम्बन्ध—स्पेन की राजकुमारी और चार्ल्स पंचम की मौसी कैथरीन का विवाह हंगलैण्ड के राजा हेनरी अष्टम के साथ हुआ था, परन्तु इंगलैण्ड को निर्बल राज्य समझकर प्रारम्भ में चार्ल्स पंचम उसे उपेक्षा के भाव से देखता रहा। हेनरी अष्टम के प्रसिद्ध मंत्री कार्डिनल ऊल्जे ने चार्ल्स पंचम और फ्रांसिस प्रथम के संघर्ष में इंग्लैण्ड के उत्कर्ष का सुन्दर अवसर देखा और यूरोप में इंग्लैण्ड की गौरब-वृद्धि एवं 'शाक्ति-सन्तुलन' की रक्षा के निमित्त उसने कभी चार्ल्स और कभी फ्रांसिस को सहायता देनी प्रारम्भ की। परन्तु उसका झुकाव चार्ल्स पंचम की ओर अधिक था और इसका कारण इंग्लैंण्ड तथा नेदरलैंड्स का पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध था। चार्ल्स पंचम की सहायता के लिए एक अंग्रेज सेना भी भेजी गयी थी जो रोम की बर्बादी के बाद फ्रांस की सहायता के लिए नियुक्त कर दी गयी थी।

हेनरी अष्टम द्वारा अपनी प्रथम रानी कैथरीन के त्याग से चार्ल्स के साथ उसके सम्बन्ध में बहुत अन्तर आ गया, क्योंकि उसके प्रभाव के कारण पोप हेनरी को तलाक की अनुमति न प्रदान कर सका। परन्तु हेनरी अष्टम के शासन के अन्तिम वर्षों में इंग्लैण्ड और स्पेन के सम्बन्ध पर्याप्त रूप से सुधर गये थे और जब कैथरीन की पुत्री मेरी ट्यूडर इंग्लैंण्ड की रानी हुई (1553-58 ई०) तो यह सम्बन्ध घनिष्ठ मैत्री के रूप में परिणत हो गया। वह चार्ल्स की मौसेरी बहन तो थी ही, अब उसने उसके पुत्र और उत्तराधिकारी फिलिप के साथ विवाह भी कर लिया।

तुर्कों के साथ संघर्ष—चार्ल्स पंचम के लिए यूरोप में तुर्कों का बढ़ाव फ्रांसीसी युद्ध से भी अधिक भयावह सिद्ध हुआ। सुल्तान सुलेमान द्वितीय महान् के नेतृत्व में तुर्क साम्राज्य का बड़ी शीघ्रता के साथ विस्तार हो रहा था। मिस्र से लेकर अल्जीरिया तक का समस्त अफ्रीकी तट उसकी अधीनता स्वीकार करता था और भूमध्य सागर में उसकी

जल-सेना इटली और स्पेन के लिये भय का कारण बनी हुई थी। सुलेमान ने हंगेरी के विस्तृत भू-प्रदेश पर अधिकार कर लिया। (1526) और 1529 ई० में आस्ट्रिया की राजधानी वियना को भी आक्रान्त किया। बड़ी वीरता के साथ राजधानी की रक्षा हुई और सुल्तान को तीन सप्ताह के बाद नगर का घेरा उठा लेना पड़ा। बारह वर्षों के पश्चात् (1541) बूडापेस्ट के साथ हंगेरी का दूसरा बड़ा भाग सुल्तान के अधिकार में आ गया और 1547 ई० में चार्ल्स पंचम तथा उसके भाई फर्डिनैंड के हंगेरी पर तुर्कों का अधिकार स्वीकार करना पडा। फर्डिनैड ने, जो हंगेरी का राजा भी था, सुल्तान को वार्षिक कर के रूप में एक निश्चित् धन भी देना स्वीकार किया। तुर्कों को अपने अभियानों में फ्रांस से सहयता प्राप्त हो रही थी। इसी समय ट्यूनिस और एलजीयर्स पर तुर्क सरदार बारबरोसा का अधिकार हो गया था। उसे चार्ल्स पंचम के विरुद्ध सुल्तान की सहायता, फ्रांस की मित्रता तथा उसके जहाजों को फ्रांस के बन्दरगाह तूलों (Toulon) में ठहरने की सुविधा प्राप्त थी। उसने 1534 ई० में इटली के समुद्र तट को आक्रान्त किया। चार्ल्स पंचम ने दूसरे ही वर्ष (1535) अफ्रीका पर आक्रमण कर ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया और दूसरे सरदार हसन को वहाँ का शासक नियुक्त किया। चार्ल्स पंचम अपनी इस विजय से ईसाई धर्म के संरक्षक के रूप में यूरोप में गौरवान्वित हुआ।

जर्मन सम्राट् के रूप में—सम्राट् मैक्सिलियन की मृत्यु (1519) के पश्चात् उसका पौत्र चार्ल्स अपने दो प्रतिद्वन्द्वियों फ्रांसिस प्रथम और हेनरी अष्टम को चुनाव में पराजित कर पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर आसीन हुआ। इस पद से उसका और उसके हैप्सबर्ग परिवार का गौरव तो अवश्य बढ़ गया, परन्तु शाही सेना और शाही राजकोष के अभाव में उसकी शक्ति ओर अधिकारों में कोई वृद्धि न हो सकी। जिस् समय वह स्पेन, इटली और नेदरलैंड्स की रक्षा के लिए फ्रांस या तुर्कों के साथ युद्ध में संलग्न था, उसे जर्मन साम्राज्य की उलझनपूर्ण समस्याओं की ओर भी ध्यान देना पड़ा। जर्मनी में उसकी दो प्रमुख समस्यायें थीं एक तो जर्मनी को, जो छोटे-बड़े सैकड़ों अर्द्ध-स्वतंत्र राज्यों का असम्बद्ध समूह था, एक संगठित राष्ट्रीय राज्य का स्वरूप प्रदान करना और दूसरे, जर्मनी में बढ़ते हुए प्रोटेस्टेंट धर्म को दबाकर देश की धार्मिक एकता की रक्षा करना। यदि चार्ल्स पंचम को जर्मनी के आन्तरिक मामलों की देख-रेख का पूरा अवसर मिला होता तो इन दोनों ही समस्याओं के समाधान में उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई होती। परन्तु तत्कालीन यूरोप की हलचलपूर्ण राजनीतिक परिस्थितियों तथा अपने विस्तृत साम्राज्य की समस्याओं की विविधता के बीच उसे एकाग्रचित्त होकर जर्मन समस्याओं को हल करने का अवसर न मिल सका। जर्मन राजकुमारों की स्वार्थपूर्ण नीति तथा मार्टिन लूथर का असाधारण व्यक्तित्व भी उसके मार्ग में कम बाधक न थे। प्रोटेस्टेंट धर्म जर्मनी के राष्ट्रीय जीवन में अनैक्य का प्रधान कारण बन गया। जर्मन जनता और राजकुमारों में धार्मिक क्षेत्र में मतैक्य का घोर अभाव था और राजकुमारों ने कैथलिक

सम्राट् के विरोध एवं स्थानीय स्वतंत्रता की रक्षा तथा राष्ट्रीय एकता के प्रत्येक आन्दोलन को शक्तिहीन बनाने के निमित्त धर्म को ही प्रधान साधन बनाया। फलतः सम्राट् चार्ल्स पंचम न तो जर्मनी में राष्ट्रीय एकता ही स्थापित कर सका और न प्रोटेस्टेंट धर्म को दबाने में ही समर्थ हो सका।[1] उसकी युवावस्था के साहसपूर्ण और उत्साहवर्द्धक कार्य-क्रम उसके जीवन के सन्ध्याकाल की पराजय के फल-स्वरूप स्वप्न की भाँति अदृश्य में विलीन हो गये और अपने समय के यूरोप के सर्वशक्तिमान् सम्राट् ने सम्राट् और राजपद दोनों ही का परित्याग (1556) कर, क्लान्त पथिक की भाँति राजनीति की कोलाहलपूर्ण हलचलों से दूर मठ के शान्त और सुखद वातावरण मेंभगवद्भजन करते हुए अपने जीवन के शेष दो वर्ष व्यतीत किये। अन्त में उसने 1558 ई० में मृत्यु की चिर-शान्ति को वरण कर अपनी ऐहिक लीला समाप्त की।

चरित्र—चार्ल्स पंचम का व्यक्तित्व आकर्षण और सौन्दर्य से रहित था और उसमें मौलिकता, कल्पना-शक्ति एवं भावुकता का अभाव था। उसके चरित्र में प्रायः अस्थिरता और हठीलेपन की भी झलक मिलती है। उसमें उच्चकोटि की कर्त्तव्य-परायणता, विचारों की सत्यता और साधारण ज्ञान की बहुलता थी। यद्यपि वह उच्चकोटि का सैनिक न था, परन्तु उसमें साहस, अध्यवसाय एवं सीखने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में वर्तमान थी। अवस्था के साथ उसकी विवेकशीलता एवं कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की दृढ़ता तथा क्षमता भी विकसित होती गयी। उनका सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर ऊँचा था और उसे तत्कालीन बौद्धिक विचारधाराओं का प्रतीक समझा जा सकता है। वह मानववादी था और उसने ग्रीक और लैटिन भाषाओं का अध्ययन किया था। वह नवीन कलाओं का प्रेमी और संरक्षक था। संगीत में उसकी विशेष अभिरुचि थी और उसने चित्रों का सुन्दर संग्रह किया था। यद्यपि वह वैज्ञानिक विकास के प्रति उदासीन न था, परन्तु फलित ज्योतिष में उसका अधिक विश्वास था।

चार्ल्स पंचम कैथलिक धर्म का सच्चा अनुयायी और उसकी बुराइयों का निराकरण कर यूरोप में उसकी प्रधानता स्थिर रखने के लिये सतत् प्रयत्नशील था। उसने नास्तिकता या अधार्मिकता के दमन की भरपूर चेष्टा की और इसके लिये स्पेन तथा नेदरलैंड्स में धार्मिक न्यायालयों का पूर्ण उपयोग किया। उसने जर्मनी में भी लूथरवाद को कुचलने की चेष्टा की, परन्तु अपनी उलझनपूर्ण समस्याओं और जर्मन राजकुमारों के विरोध के कारण वह सफल-मनोरथ न हो सका। उसने जर्मनी की पूर्वी सीमा पर तथा भूमध्यसागर में तुर्कों के भयावह बढ़ाव को रोकने की पूरी कोशिश की और स्टब्स के शब्दों में "एकमात्र चार्ल्स पर ही ईसाई-जगत् की रक्षा का भार था, और यद्यपि उसकी

---

[1]सम्राट् चालर्स पञ्चम द्वारा जर्मनी में प्रोटेस्टेंटधर्म कोदबाने के प्रयत्नों के विस्तृत विवरण के लिए पृष्ठ 59-60 तथा जर्मनी में राष्ट्रीय एकता के अभाव के कारणों के लिये पृष्ठ 128-33 देखिये।

सफलतायें बहुत आकर्षक न थीं, परन्तु उसके रक्षात्मक कार्यों की सत्यता तथा योग्यता को बुरा कहने की अपेक्षा प्रंशसनीय ही बतलाया जा सकता है।"

वह अपने विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न भागों की राजनीतिक तथा शासन सम्बन्धी कठिनाइयों को सुलझाने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहा और उसने प्रत्येक भाग को पहले की अपेक्षा अधिक वैभव, शक्ति और साधन-सम्पन्न भी बनाया, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इन विभिन्न जातियों में ऐक्य या समानता स्थापित करने में वह पूर्ण असफल रहा। उसने जर्मन और नेदरलैंड्स में पूँजीवाद के विकास में पूरा योग दिया और स्पेन के द्वारा नवीन दुनिया में उपनिवेशों की स्थापना में हाथ बँटाया। इसी के आदेश से नई दुनिया में बसने वाले यूरोपीय औपनिवेशिकों के निमित्त प्रथम विधान प्रस्तुत किया गया था।

फिलिप द्वितीय (1556-1598 ई०)

उत्तराधिकार—फिलिप द्वितीय चार्ल्स पंचम का एकमात्र पुत्र था जिसका जन्म 1527 ई० में हुआ था। उसे उत्तराधिकार में अपने पिता का समस्त साम्राज्य न मिला। चार्ल्स पंचम ने अपने भाई फर्डिनैड और पुत्र फिलिप में बँटवारे की व्यवस्था 1530 ई० में ही कर दी थी जिसके अनुसार फर्डिनैंड को आस्ट्रिया की आर्चडची और उसके अधीनस्थ भू-भाग प्राप्त हुए और वही सम्राट्-पद का भी अधिकारी हुआ। इसके अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा वह बोहेमिया तथा हंगेरी के स्वतंत्र भू-भाग का राजा भी हो चुका था। पारिवारिक साम्राज्य का महत्वपूर्ण शेष भाग फिलिप को प्राप्त हुआ जिसके अन्तर्गत स्पेन, नेदरलैंड्स मिलान, नेपुलस और सिसिली तथा अमेरिका, वेस्ट इण्डीज एवं फिलिपाइन के स्पेनी उपनिवेश सम्मिलित थे। इस विस्तृत साम्राज्य का स्वामी फिलिप द्वितीय अपने समय में यूरोपीय जगत् का सबसे अधिक शक्ति और साधन-सम्पन्न राजा था। साथ ही वह स्पेन तथा आस्ट्रिया के पारिवारिक सम्बन्ध को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने के लिए भी प्रयत्नशील था जिसके परिणाम-स्वरूप फर्डिनैंड के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का विवाह फिलिप की बहन के साथ और फिलिप के पुत्र और उत्तराधिकारी का विवाह फर्डिनैंड की पोती के साथ सम्पन्न हुआ था।

नीति—सम्राट् न होने के कारण फिलिप द्वितीय को स्पेन में ही रहने का पूरा अवसर प्राप्त हुआ। स्पेन में ही उसका जन्म हुआ था और उसकी भाषा, वेशभूषा तथा रहन-सहन पूर्ण रूप से स्पेनी थी। उसके जीवन के समस्त कार्य राष्ट्र प्रेम एवं धर्म प्रेम इन्हीं दो आदर्शों से अनुप्राणित थे। वस्तुतः उसका राष्ट्र-प्रेम अपूर्व था और वह अपने देश को दुनिया की सबसे बड़ी शक्ति के रूप में परिणत करने के लिये जी-जान से प्रयत्नशील था। यही कारण है कि वह अपने पिता के विपरीत स्पेन में राष्ट्रीय राजा के रूप में सम्मानित था। उसके जीवन का दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण ध्येय धर्म-प्रेम अथवा कैथलिक धर्म के द्वारा ईसाई-जगत् की एकता की स्थापना का प्रयत्न था। इस प्रकार

उसकी एक नीति राष्ट्रीयता पर और दूसरी अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित थी। बाह्य रूप से विरोधी प्रतीत होने वाली इन दोनों ही नीतियों में फिलिप द्वितीय ने पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया था और स्पेन के स्वार्थों तथा चर्च के हितों में विरोध की सम्भावना उत्पन्न होने पर वह दूसरे के पक्ष में प्रथम का त्याग करने के लिए सदैव प्रस्तुत था। परन्तु उसकी राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय धर्मनीति में प्रारम्भ से ही सफलता की सम्भावना प्रायः नगण्य थी और इसका कारण उसके कार्यक्रमों की विविधता और समस्याओं की बहुलता थी। उसने एकनिष्ठ और एकाग्र होकर एक समय में एक काम करना सीखा ही न था और यही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी। विस्तृत साम्राज्य के जटिल शासन का सूक्ष्म निरीक्षण, पुर्तगाल के साम्राज्य को निश्चित रूप से, और यदि सम्भव हो तो इंग्लैण्ड और फ्रांस के राज्यों को भी, राज्य में सम्मिलित करने की अनवरत चेष्टा, नेदरलैंड्स के विद्रोह का दमन, इंग्लैण्ड और फ्रांस में कैथलिक धर्म की विजय का घोर प्रयत्न, तुर्क-आक्रमण से ईसाई-जगत् की रक्षा और सबल व्यापारिक तथा औपनिवेशिक नीति को राजकीय प्रश्रय आदि उसकी प्रधान समस्यायें थीं जिन्हें हल करने में वह प्राण-पण से संलग्न था। परन्तु एक साथ ही इन महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान का प्रयत्न उसकी शक्ति के बाहर था और इसलिये उसे अपने मनोरथ में विफल पड़ा।

स्पेन का शासन—स्थायी सेना स्पेन की शक्ति का आधार थी और फिलिप ने अपने शासन-काल में इसे दुर्बल न होने दिया। अनुशासन, युद्ध के अभ्यास और अनुभव में स्पेनी पैदल सेना (Tercios) समस्त यूरोप में बेजोड़ थी और फिलिप के सेनापति यूरोप में सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे। स्पने के सरदार वर्ग में सैनिक जीवन के प्रति विशेष रुचि थी और महान् सेनापति अल्वा इसी वर्ग का था। फिलिप के प्रश्रय में विदेशी सरदारों ने भी स्पेनी सेना में ख्याति प्राप्त की थी और इनमें 16वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ सेनापति परमा के ड्यूक फार्नेस का नामोल्लेख किया जा सकता है। परन्तु विपरीत फिलिप की जल-सेना अधिक सबल और रण-कुशल न थी और न फिलिप ने इसके नवीन संगठन या अपने विस्तृत औपनिवेशिक साम्राजय की रक्षा के निमित्त समुद्र पर अधिकार प्राप्त करने की विशेष चेष्टा ही की। जल-सेना का एक अंग, जो भूमध्यसागर में नियुक्त था, पुरानी प्रणाली पर संगठित होने के कारण समयानुकूल नहीं रह गया था। अटलांटिक में नियुक्त दूसरा अंग नवीन साधनों से सम्पन्न तो था, परन्तु उसकी उपयोगिता और सबल संगठन की ओर से राज्य उदासीन था। जल-सेना की यह दुर्बलता फिलिप के कार्य-क्रम की सफलता में, विशेषतः डंचों के विरुद्ध विशेष रूप से बाधक सिद्ध हुई।

स्पेन के दौर्बल्य का प्रधान कारण उसका असम्बद्ध और असमानता तथा अधिकार पर आधारित आर्थिक जीवन था। बहुमूल्य धातुओं से परिपूर्ण विस्तृत साम्राज्य में

अर्थाभाव के कारण शासन के साधारण कार्यों में भी बाधा उपस्थित हो रही थी। इसके कारण प्रधानतः बुद्धिहीन शासन-नीति, आर्थिक सिद्धान्तों की जानकारी का अभाव, राजस्व का असमान वितरण और अनियंत्रित अपव्ययिता आदि थे। धन-सम्पन्न पुजारी-वर्ग राजस्व-मुक्त था। प्रायः यही स्थिति सरदार वर्ग की भी थी। अतः राजस्व का मुख्य भार नगरों के ऊपर था और उन्हें सब प्रकार की व्यापारिक वस्तुओं पर दस प्रतिशत बिक्री-कर (Alcabala) देना पड़ता था। यह कर राष्ट्रीय व्यापार और उद्योग-धन्धों के लिये घातक सिद्ध हुआ और लोगों में इनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह गया। करों की बहुलता के कारण कृषि के क्षेत्र में भी कोई उन्नति न हो सकी। उपनिवेशों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों का विकास किया जा सकता था, परन्तु इस ओर भी सरकार ने ध्यान न दिया। उल्टे अनेक सरकारी नियमों और करों के कारण देश के रेशम और ऊन के व्यापार का गला भी घुटता जा रहा था। स्पेन एक ओर तो स्वंय इन उपनिवेशों की आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पा रहा था और दूसरी ओर उन्हें दूसरे देशों से व्यापार करने पर भी नियंत्रण लगा रखा था। इस नीति के दुष्परिणाम के रूप में एक ओर तो उपनिवेशों का भौतिक विकास अवरुद्ध हो रहा था और दूसरी ओर बहुत बड़े पैमाने पर महसूल-चोरी (Smuggling) का प्रयोग बढ़ रहा था। इस प्रकार देश में उत्पादन के अभाव तथा सरकार की व्ययशीलता के कारण राजा को अवैधानिक ढंग से धन-संग्रह के लिए बाध्य होना पड़ता था। अमेरिका से आने वाली स्वर्ण-राशि को धन समझकर उत्पादन और उद्योग-धन्धों की ओर से और भी उदासीनता प्रदर्शित हो रही थी और दैनिक आवश्यकता तथा विलास की वस्तुयें डचों और अंग्रेजों से क्रय की जा रही थी।

स्पेन के आर्थिक विघटन में धार्मिक न्यायालयों ने भी योग दिया। इन्होंने 'एक जाति, एक राजा ओर एक धर्म' के सिद्धान्त पर देश के मूरों और यहूदियों के विवाश या निष्कासन के द्वारा देश के उद्योग-धन्धों को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया था। इन्हीं के हाथों में देश का अधिकांश व्यापार था, अतः इनका सामूहिक विनाश देश के आर्थिक पतन का प्रधान कारण बन गया।

उपर्युक्त आर्थिक नीति के फलस्वरूप फिलिप को अपने युद्धों के सफल संचालन के लिए स्पेन से अधिक धन संग्रह करना कठिन हो गया। इटली और भी धनहीन था। अतः आय के प्रधान स्रोत नेदरलैंड्स के वैभवशाली नगर ही रह गये। परन्तु नेदरलैंड्स के विद्रोह के पश्चात् यह स्रोत भी समाप्त हो गया। फलतः फिलिप द्वितीय की आर्थिक कठिनाइयाँ दिन-प्रति-दिन बढ़ती गयीं और देश क्रमशः निर्धन होता गया।

फिलिप द्वितीय के शासनकाल में देश का वैधानिक जीवन पहले की ही भाँति क्रमशः शिथिल होता जा रहा था और निरंकुशता की प्रवृत्ति दृढ़ हो रही थी। कैस्टील की पार्लियामेंट को तो चार्ल्स पंचम ने पहले ही पंगु बना दिया था, अब अरागान की

बारी थी। फिलिप द्वितीय ने अरागान के प्रधान न्यायाधीश के व्यवहार से असंतुष्ट होकर सेना की सहायता से समस्त प्रदेश को रौंद डाला (1591) और पार्लियामेंट के प्रतिनिधियों को स्वयं मनोनीत करके उस पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया था। इस प्रकार देश में राजकीय स्वेच्छाचारिता का पूर्ण प्राधान्य स्थापित हो गया और जन-प्रिय शासन या प्रतिबन्धों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

उसके शासन-काल में धार्मिक न्यायालयों का प्रयोग धार्मिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टिकोण से हुआ। उसका विश्वास था कि देश में धार्मिक विभिन्नता राज्य के विनाश का कारण हो सकती है। अतः उसयने राजकीय स्वेच्छाचारिता एवं असहिष्णु धार्मिक नीति के प्रतिपादन के लिए इन न्यायालयों का भरपूर प्रयोग किया। वस्तुतः धार्मिक न्यायालयों कें व्यापक प्रयोग ने देश के सांस्कृतिक, वैधानिक तथा आर्थिक विकास की गति को अनेक अंशों में अवरुद्ध कर दिया जो अन्त में जाकर देश के पतन का कारण बन गया।

यूरोपीय धार्मिक नीति—फिलिप द्वितीय की कैथलिक धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा और श्रद्धा थी। वह प्रोटेस्टेंट धर्म को अधार्मिक आन्दोलन ही नहीं, अपितु ईसाई सभ्यता का घोर शत्रु समझता था। फलतः उसने कैथलिक धर्म की सार्वभौम विजय को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। उसका धर्म-प्रेम राष्ट्र-प्रेम से भी बढ़कर था और योजनाओं की विफलता उसे धार्मिक श्रद्धा या विश्वास से विमुख न कर सकती थी। उसके सभी कार्य इस विश्वास से अनुप्राणित थे कि वह जो कुछ करता है वह ईश्वर के गौरव के लिए है और सफलता या विफलता उसी की इच्छा पर अवलम्बित है, इसका उत्तरदायित्व स्वयं उस पर नहीं है। वह इसी अटल विश्वास को लेकर धर्म के सार्वभौम में कैथलिक धर्म के संरक्षक के रूप में यूरोपीय राजनीति के रंगमंच पर प्रकट हुआ। जिस समय वह सिंहासनारूढ़ हुआ, उसी समय कैथलिक धर्म-सुधार (Counter-Reformation) ने अपनी समस्त शक्तियों को संगठित कर प्रोटेस्टेंट धर्म के विरुद्ध मोर्चा लिया था। इस धर्म-सुधार का कार्यक्रम फिलिप द्वितीय के धार्मिक सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल था, अतः उसने कैथलिक धर्म-सुधार की सफलता के लिए समस्त साधनोां से युक्त अपनी और अपने देश की सेवायें अर्पित कर दी।

उसके इस निर्णय से उसकी व्यक्तिगत भावनायें तो सहायक हुई ही, साथ की तत्कालीन घटनाओं ने भी सहयोग दिया। कातो काँब्रेजी की सुलह (1559) के पश्चात् फिलिप द्वितीय तथा फ्रांस के राजा हेनरी द्वितीय दोनों ने ही अनुभव किया कि नेदरलैंड्स और फ्रांस में प्रोटेस्टेंट धर्म जोर पकड़ता जा रहा है। फलतः इन दोनों ही शासकों ने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता का परित्याग कर अपने-अपने देश में कैथलिक धर्म की रक्षा और अधार्मिकता के दमन का निश्चय किया। इस प्रकार इस सन्धि द्वारा फ्रांस और स्पेन के पचास वर्षों से ऊपर के राजनीतिक संघर्ष का अध्याय समाप्त और धार्मिक

युद्धों के नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ जो फिलिप के जीवन-पर्यन्त चलता रहा। नैदरलैंड्स के विद्रोह का प्रधान कारण उसकी यही धर्मिक नीति है। इस विद्रोह को कैथलिकों और प्रोटेस्टेंटों ने अपने परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों से देखा। पोप और कैथलिकों ने इस आन्तरिक विद्रोह को कैथलिक धर्म के रक्षात्मक युद्ध का स्वरूप प्रदान किया और फिलिप द्वितीय को यूरोप में कैथलिक धर्म के विजेता के रूप में सम्मानित किया। दूसरी ओर जर्मनी, फ्रांस तथा इंगलैण्ड आदि के प्रोटेस्टेंटो ने नेदरलैड्स के विद्रोहियों को अखिल यूरोपीय आदर्श की रक्षा में युद्ध करने वाले वीरों की श्रेणी में रखा और उन्हें हर प्रकार की सहायता देनी प्रारम्भ की। फलतः इस विद्रोह ने व्यापक स्वरूप धारण किया और बाध्य होकर फिलिप द्वितीय को भी फ्रांस और इंग्लैण्ड में कैथलिक धर्म की रक्षा और प्रोटेस्टेंट धर्म के दमन के लिए सभी साध्य उपायों का अवलम्बन लेना पड़ा। कालान्तर में तो उसका धर्मोत्साह इतना तीव्र हो गया कि वह इन दोनों की देशों को स्पेन के अधीन कर प्रोटेस्टेंट धर्म का समूल विनाश करने पर तुल गया।

परन्तु फिलिप द्वितीय की वह यूरोपीय धार्मिक नीति पूर्ण रूप से विफल सिद्ध हुई। न तो वह कैथलिक धर्म की सर्वभौमिकता रक्षा कर सका ओर न प्रोटेस्टेंट धर्म का विनाश ही। उसके समस्त प्रयत्नों के बावजूद प्रोटेस्टेंट धर्म इंगलैण्ड का राजधर्म बन गया और फ्रांस में भी उसे स्वीकृति प्राप्त हो गयी। वह स्वयं नेदरलैड्स में इसका अन्त न कर सका और उत्तर के सात प्रान्तों के निवासी प्रोटेस्टेंट होकर ही रहे। इस नीति का राजनीतिक परिणाम भी स्पेन के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। उसे हालैण्ड का प्रदेश खो देना पड़ा, फ्रांस में उसके घोर शत्रु हेनरी चतुर्थ की विजय हुई, इंगलैण्ड प्रथम कोटि का राज्य बन गया और स्पेन का सामुद्रिक आधिपत्य समाप्त हो गया। स्पेन ने अपार धन और जन तथा मर्यादा की क्षति उठायी और उसके हाथ एकमात्र घोर निराशा।

फ्रांस के साथ युद्ध—फिलिप द्वितीय सिहासनारूढ़ होने पर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि यूरोप में स्पेन का आधिपत्य स्थिर रखने के लिए चार्ल्स पंचम की भाँति फ्रांस पर कड़ी निगाह रखना ही उसका राजनीतिक कार्यक्रम होगा। दूसरी ओर उसका प्रतिद्वन्द्वी हेनरी द्वितीय इटली पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए प्रस्तुत था और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने पोप की सहायता प्राप्त कर स्पेन के विरुद्ध युद्ध (1557) छेड़ दिया। इस युद्ध के प्रारम्भ में फ्रांस को कुछ सफलता मिली और उसने इंग्लैण्ड से कैले का बन्दरगाह छीन लिया, परन्तु सैं काँतें (1559) तथा ग्रेवलिन (1558) की पराजयों के पश्चात् उसे स्पेन के साथ कातो कॉब्रेजी की सन्धि (1559) करनी पड़ी। इस सन्धि के द्वारा कैले पर फ्रांस का अधिकार स्वीकार कर लिया गया और फ्रांस ने पुनः इटली पर स्पेन का अधिकार मान लिया।

जब फ्रांस में कैथलिकों और ह्यूगेनों सम्प्रदाय के बीच गृहयुद्ध तो फिलिप द्वितीय ने कैथलिकों का साथ दिया और इस गृह-युद्ध में आदि से अन्त तक धन-जन द्वारा उनकी

भरपूर सहायता करता रहा। उधर फ्रांस के प्रोटेस्टेंट भी स्पेन के विरुद्ध नेदरलैंड्स के विद्रोहियों की यथासाध्य सहायता करते रहे। क्रमशः फ्रांस के आन्तरिक मामलों में फिलिप की यथासाध्य यसहायता करते रहे। क्रमशः फ्रांस के आन्तरिक आमलों में फिलिप की दिलचस्पी बढ़ती ही गयी और जब नवार के प्रोटेस्टेंट राजकुमार हेनरी के उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ तो फिलिप हर प्रकार से इसका विरोध करने पर तुल गया। फ्रांस का एक वर्ग उसे फ्रांस के राजा के रूप में भी स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत था और स्वयं फिलिप द्वितीय की आशायें भी प्रबल हो उठी थीं। परन्तु हेनरी चतुर्थ की युद्ध-कुशलता, कूटनीति-पटुता एवं दूरदर्शिता ने उसके सभी मनोरथ विफल कर दिये। जब फ्रांस के सिंहासन पर उसकी स्थिति दृढ़ हो गयी तो उसने स्पेन के विरुद्ध स्वयं युद्ध छेड़ दिया। और उसके शत्रु अंग्रेजों और डचों को सहायता देनी प्रारम्भ कर दी। परिस्थितियों से विवश होकर फिलिप द्वितीय को फ्रांस के साथ वरवैं की संधि (1598) करनी पड़ी जिसमें उसने हेनरी चुतुर्थ को फ्रांस का राजा स्वीकार किया। अन्य शर्तें कातो काँब्रेजी की संधि (1559) के अनुकूल थी।

इंग्लैण्ड के साथ सम्बन्ध—फिलिप के इंग्लैण्ड की ओर आकृष्ट होने के प्रधानतः दो कारण थे—कैथलिक धर्म की रक्षा और फ्रांस के विरुद्ध उसकी मित्रता, और अपने शासन के प्रारम्भ में उसे पूरी सफलता भी प्राप्त हुई। ट्यूडर महारानी मेरी (1553-58) ने फिलिप द्वितीय के साथ विवाह कर लिया और अपने पति के इच्छानुसार ही उसने इंग्लैण्ड की बाह्य और गृह-नीति का संचालन किया। परन्तु महारानी एलिजाबेथ के शासन-काल (1558-1603) में स्थिति में परिवर्तन हो गया। बहुत दिनों तक तो वह फिलिप के विवाह के प्रस्ताव पर टालमटोल करती रही जिससे इंग्लैण्ड को स्पेन में सम्मिलित करने और उसे कैथलिक देश बनाने के फिलिप के प्रारम्भिक प्रयत्न निष्फल रहे। इंग्लैण्ड की प्रोटेस्टेंट महारानी भी पश्चिमी यूरोप में स्पेन के प्रभुत्व को भय और आशंका की दृष्टि से देख रही थी। परन्तु इस समय इंग्लैण्ड को संगठित और सबल बनाने के लिए शान्ति की आवश्यकता थी, इसलिए वह फिलिप के विरुद्ध युद्ध नहीं चाहती थी। उधर फिलिप भी यही चाहता था कि नेदरलैंड्स के विद्रोह में यदि इंग्लैण्ड उसकी सहायता नहीं करता तो कम-से कम तटस्थ बना रहे। परन्तु युद्ध की स्थिति बचाते हुए दोनों अन्य उपायों द्वारा एक-दूसरे का विरोध कर कर रहे थे। एलिजाबेथ नेदरलैंड्स के विद्राहियों की आर्थिक सहायता कर रही थी और उसके नाविक स्पेन के जहाजों को लूट रहे थे, दूसरी ओर फिलिपएलिजाबेथ के विरुद्ध इंग्लैण्ड में स्कॉटों की रानी मेरी की तथा कैथलिक व्रिदोहियों की हर प्रकार से सहायता कर रहा था। इस घोर कटुतापूर्ण और अशान्त वातावरण में अधिक दिनों तक युद्ध का रोकना कठिन था। अतः जब महत्वकांक्षी फिलिप द्वितीय के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए तो उसने बाध्य होकर सैनिक बल का आश्रय लिया और धार्मिक आर्थिक एवं

राजनीतिक तीनों ही दृष्टियों से इंग्लैण्ड को स्पेन के अधीन करने का निश्चय कर लिया। वस्तुतः उसका यह निर्णय उसकी यूरोपीय धार्मिक नीति तथा स्पेन के उत्कर्ष सम्बन्धी विचारों से प्रभावित था। इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए स्पेन में अजेय आर्मेडा तथा नेदरलैंड्स में विशाल सेना का संग्रह हुआ और दोनों के सहयोग से इंग्लैण्ड पर आक्रमण की योजना प्रस्तुत हुई। परन्तु इस अजेय आर्मेडा को नेदरलैंड्स पहुँचने के पूर्व इंगलिश चैनल में ही अंग्रेज नाविकों की युद्ध कुशलता तथा साहस ने नष्ट-भष्ट कर दिया (1588) और उसका शेष अंश प्रकृति का कोपभाजन बन गया। इस आक्रमण की विफलता फिलिप द्वितीय की यूरोपीय धार्मिक नीति के लिए घातक सिद्ध हुई। समुद्रों पर से स्पेन का अल्पकालीन अधिकार उठ गया और उसका स्थान इंग्लैण्ड ने ग्रहण किया। नेदरलैंड्स के विद्रोहियों का साहस बढ़ गया और वे अपनी विजय के लिए अधिकाधिक आशान्वित हो उठे। उन्हें अब इंग्लैण्ड से भरपूर सहायता मिलनी प्रारम्भ हो गयी।

इस महान् पराजय से भी फिलिप द्वितीय ने आशा न खोई। वह आयरलैण्ड के कैथलिकों को विद्रोह के लिए बराबर भड़काता रहा और दो बार उसने स्पेनी जलसेनायें भी भेजीं, प्ररन्तु उन्हें पराजित होकर इंग्लैण्ड से वापस लौटना पड़ा। दूसरी ओर अंग्रेज नाविकों ने स्पेनी जहाजों के लूटने का काम और अधिक बढ़ा दिया और 1596 ई० में अंग्रेजी जलसेना ने स्पेन के प्रसिद्ध नगर केडीज़ को बुरी तरह लुटा। वस्तुतः फिलिप द्वितीय को इस संघर्ष में घोर निराशा और अपमान का सामना करना पड़ा और स्पेन के यूरोपीय आधिपत्य तथा कैथलिक धर्म की विजय का उसका मधुर स्वप्न भंग हो गया।

पुर्तगाल—फिलिप द्वितीय के जीवन की सबसे शानदार विजय पुर्तगाल पर उसका अधिकार था जिसके द्वारा यह प्रायद्वीप एक राजनीतिक इकाई बन गया। स्पेन की यह पुरानी अभिलाषा थी। पुर्तगाल और स्पेन के राज-परिवारों में विवाहों के द्वारा पहले से ही घनिष्ठ सम्बन्ध चला आ रहा था। अतः जब 1580 ई० में पुर्तगाल के निःसन्तान राजा की मृत्यु हो गयी तो फिलिप ने भी इन वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर राज्य के लिए अपना दावा पेश किया और जब तक दूसरे दावेदार तैयारी में थे, फिलिप ने अपनी सेना के बल पर पुर्तगाल के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार पुर्तगाल के साथ उसके उपनिवेशों पर भी स्पेन का अधिकार हो गया, जिससे स्पेन की स्थिति और अधिक दृढ़ हो गयी। परन्तु इस एकता से पुर्तगाल में घोर असन्तोष और क्षोभ था। उन्हें अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीयता तथा अन्वेषण-काल की महत्वपूर्ण सफलताओं पर गर्व था। निःसन्देह उन्होंने फिलिप के काल में संगठित विद्रोह द्वारा इस एकता का विरोध न किया, परन्तु उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की मधुर स्मृति को विस्मृत भी न होने दिया और साठ वर्षों की पराधीनता के पश्चात् (1640) फिलिप चतुर्थ के शासन-काल में उन्होंने संगठित विद्रोह द्वारा ब्रगेजा परिवार के नेतृत्व में अपनी स्वतंत्रता पुनः स्थापित कर ली।

तुर्कों के साथ युद्ध—सुल्तान सुलेमान महान की मृत्यु (1566) के बाद भी हंगेरी और भूमध्यसागर में तुर्कों का आतंक कम न हुआ। सिसिली और दक्षिणी इटली पर उनके आक्रमण बराबर होते रहे और उन्होंने वेनिस से साइप्रस भी छीन लिया। अब इटली की रक्षा के लिए पोप के नेतृत्व में एक संघ की स्थापना हुई जिसमें वेनिस, जेनोआ और स्पेन शामिल थे। संघ की जलसेना फिलिप के सौतेले भाई डान जॉन के नेतृत्व में ग्रीस की ओर चल पड़ी ओर लेपाण्टो की खाड़ी में तुर्क जलसेना के साथ उसकी मुठभेड़ (1571) हुई। साहसी और रणकुशल राजकुमार डान जॉन ने भीषण आक्रमण किया। तुर्क जलसेना बुरी तरह पराजित हुई ओर अल्पांश को छोड़कर उसके शेष जहाज या तो डुबो दिये गये या पकड़े गये। इस विजय से समस्त यूरोप में प्रसन्नता की लहर छा गयी। स्पेनियों की प्रसन्नता और अधिक थी क्योंकि इस विजय में उनका योगदान सर्वाधिक था। वस्तुतः अजेय तर्कु जलसेना के विरुद्ध ईसाइयों की यह सबसे बड़ी विजय थी।

इस विजय का राजनीतिक महत्व ओर अधिक है। इस विजय ने तुर्क जलसेना को इतना गहरा आघात पहुँचाया कि वे उससे सँभल न सके और भूमध्यसागर में उनका आक्रामक युद्ध समाप्त हो गया। वह युद्ध भी फिलिप द्वितीय की यूरोपीय धार्मिक नीति का एक अंग था और उसने ईसाई धर्म और उसके प्रधान पोप की रक्षा में मध्यकालीन धर्मयुद्धों के उत्साह से इसमें भाग लिया था। स्पेन और इटली में शायद ही कोई सरदार परिवार था जिसने इसमें भाग न लिया हो और प्रत्येक यूरोपीय राज्य के सैनिक इस युद्ध में शामिल थे। परन्तु पारस्परिक द्वेष ओर ईर्ष्या के कारण यूरोपीय राज्य इस विजय से अधिक लाभ न उठा सके। इस विजय के परिणामस्वरूप अफ्रीकी समुद्री-तट के मुसलमान सामुद्रिक डाकुओं को तुर्कों से मिलने वाली सहायता बन्द हो गयी जिससे स्पेन और इटली के समुद्र-तट उनकी लूटपाट बहुत-कुछ बन्द हो गयी।

चरित्र—(फिलिप द्वितीय सच्चा ओर धर्म-परायण कैथलिक था। अपने राज्य से अधार्मिकता का दमन और यूरोप में कैथलिक धर्म की रक्षा तथा प्रचार उसके जीवन के प्रधान उद्देश्य थे और इन्हीं की सेवा में उसने अपनी समस्त शक्ति एवं अपने विस्तृत साम्राज्य के अतुल साधनों को अर्पित कर दिया था। उसकी सम्पूर्ण शासन-नीति इसी धार्मिकता से प्रभावित थी। उसका यह विश्वास था कि धर्म की सेवा के लिए ही उत्पन्न हुआ है और उसे ईमानदारी के साथ अपने इस कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। उसके समस्त कार्य इसी पवित्र भावना से अनुप्राणित थे कि वह जो कुछ जो कुछ करता है वह ईश्वर के गौरव के निमित्त है और इसमें सफलता या विफलता उसी की इच्छा पर अवलम्बित है, इसका उत्तरदायित्व स्वयं उस पर नहीं है। यही कारण है कि भीषण विपत्तियों और विनाशकारी असफलताओं में भी उसने धैर्य या साहस न खोया और न धर्म-पथ से विचलित ही हुआ। इसी विश्वास को लेकर उसने मृत्युजन्य असह्य

पारिवारिक संकटों तथा अपनी अन्तिम बीमारी की घोर व्यथा को भी शान्तिपूर्वक सहन किया था। धार्मिक न्यायालयों के दमन-चक्र को लेकर तत्कालीन प्रोटेस्टेण्टों ने फिलिप द्वितीय की घोर निन्दा की है, परन्तु स्वयं फिलिप इनके प्रयोग से अपने को सर्वाधिक गौरवान्वित समझता था; क्योंकि इनके द्वारा वह ईश्वर की इच्छा का पालन और पवित्र कैथलिक धर्म की सेवा कर रहा था। वस्तुतः अपने पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे सभी प्रकार के साधन ग्राह्य और मान्य थे। जहाँ सम्भव था वहाँ धार्मिक न्यायालयों द्वारा और जहाँ यह सम्भव न था वहाँ युद्ध द्वारा वह कैथलिक धर्म की रक्षा और अधार्मिकता के दमन के लिए कृत-संकल्प था।

उसमें कार्य करने की अपूर्व क्षमता और दुर्दमनीय इच्छा-शक्ति थी। अपने विस्तृत साम्राज्य का संचालन वह स्वयं करता था और उसे इस बात पर गर्व था कि थोड़े से कागजों की सहायता से वह दोनों गोलार्द्धों पर शासन करता है। सुबह से रात के देर तक बहुसंख्यक राजकीय पत्रों को पढ़ना, लिखना और उन पर आवश्यक आदेश देना उसका दैनिक कार्यक्रम था। छोटे-बड़े कामों के अपेक्षाकृत महत्व को समझने में असमर्थ, बाह्य नीति के महत्वपूर्ण प्रश्न ओर वृषभ-युद्धों के व्यय-सम्बन्धी सभी आदेश उसके ही हस्ताक्षर से निकलते थे। स्वभाव से अत्यधिक संदिग्ध और अविश्वसनीय, वह शासन की छोटी-से-छोटी बात को स्वयं देखता और करता था, इन्हीं में पूर्णतया लिप्त, वह राजनीति की महत्वपूर्ण बातों को समझने में अपने को असमर्थ पाता था। वस्तुतः उसका यह अत्यधिक अध्यवसाय ही उसकी असफलता का प्रधान कारण था। राज्य और चर्च में उसे किसी प्रकार का विरोध इतना असह्य था कि अतीव असहिष्णुता के युग में भी वह सर्वाधिक असहिष्णु के रूप में विख्यात था। विस्तृत साम्राज्य की नित्यप्रति बढ़ने वाली शासन सम्बन्धी समस्याओं का व्यक्तिगत निरीक्षण, समय पर कार्य को टालने की प्रवृत्ति, प्रत्येक नये कार्य के लिए उसकी पूर्व-स्वीकृति की आवश्यकता, अविश्वासी एवं असहनशील स्वभाव तथा धर्मान्धता आदि उसकी महान् असफलता में सहायक सिद्ध हुई।

आचरण की पवित्रता, संयम, सौहार्द और भक्ति उसके व्यक्तिगत जीवन की विशेषताएँ थीं। पारिवारिक जीवन में वह स्नेहशील पिता और आसक्त पति था। अपने चरित्रहीन पुत्र डान कारलोस के साथ भी, जिसकी बन्धनागार में रहस्यमय मृत्यु का उत्तरदायित्व उसी के ऊपर डाला जाता है, उसने संयम और धैर्यपूर्ण व्यवहार किया था। परन्तु विश्वास खो देने पर उससे रंचमात्र दया की आशा करना व्यर्थ था। बाह्य प्रदर्शन में वह सजावट और गौरव का विशेष ध्यान रखता था। वह स्वभाव से गम्भीर एवं अल्पभाषी था और उसके जीवन में हास्य या मृदु मुस्कान के लिए स्थान न था। उसके हृदय में अपने देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था और उसकी स्पेनी प्रजा जीवन-काल में उसकी प्रशंसक तथा मृत्युपरान्त पूजक बन गयी थी।

नेदरलैण्ड्स का विद्रोह

फिलिप द्वितीय ने नेदरलैंड्स का धनी तथा उद्योगशील प्रदेश अपने पिता चार्ल्स पंचम से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था। फ्रांस, जर्मनी तथा उत्तर सागर से घिरा यह भाग स्पेन से दूर और उससे सर्वथा भिन्न था इसका कुछ भाग तो समुद्र की सतह से भी नीचा होने के कारण निचले प्रदेश (Low Lands) के नाम से विख्यात था और बड़े-बड़े बाँधों द्वारा समुद्र के जल-प्लावन से इसकी रक्षा होती थी। समस्त प्रदेश सत्रह प्रान्तों मे विभक्त था। उत्तर के सात प्रदेशों में, जिनमें हालैण्ड और जीलैण्ड के प्रान्त प्रधान थे, तथा मध्य के ब्राबैंट एवं फ्लैंडर्स इन दो प्रदेशों में मुख्यत: ट्यूटानिक जाति के लोग बसते थे। उत्तरी सात प्रान्तों के लोग डच और मध्य के उपर्युक्त दो प्रान्तों के निवासी फ्लेमिंग्स कहलाते थे और इनकी भाषायें भी इन्हीं नामों से विख्यात थीं। डच और फ्लेमिंग्स लोगों की भाषा, रहन-सहन और रीति-रिवाजों का अन्तर प्रायः नगण्य था। इनके विपरीत दक्षिण के प्रदेशों में, जिनमें नामूर, हेनो, आर्त्वा आदि प्रधान थे, केल्ट जाति के फ्रेंच भाषा- भाषी वैलून लोग बसते हैं। इनकी भाषा उत्तर और मध्य की भाषाओं से सर्वथा भिन्न थी। इन सभी प्रान्तों को आन्तरिक शासन के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। प्रत्येक प्रान्त का शासन स्थानीय शासकों और 'प्रान्तीय परिषदें (Provincial Estates) द्वारा होता था। इनके अतिरिक्त मुख्य व्यापारिक नगरों ने अपनी 'मान्य स्वतंत्रताओं' की रक्षा के लिए प्रायः अर्द्ध-स्वतंत्र नगर-पालिकाओं की स्थापना कर रखी थी। इनकी एकता का आधार संघीय शासन था जिसे सुदृढ़ करने के लिए चार्ल्स पंचम ने तीन केन्द्रीय परिषदों की स्थापना की थी। इनमें 'राज्य परिषद' सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। देश के मध्य में स्थित ब्रूसेल्स नगर केन्द्रीय राजधानी बनाया गया। प्रान्तों के राजस्व आदि सामान्य हितों की रक्षा के लिए एक केन्द्रीय पार्लियामेंट की स्थापना हुई जिसे 'स्टेट्स-जनरल' कहते थे और जिसमें 'प्रान्तीय परिषदों के प्रतिनिधि लिये जाते थे। इस प्रकार चार्ल्स पंचम ने नेदरलैंड्स के शासन को संगठित करने की चेष्टा की थी। उसका शासन साधारणत: जन-प्रिय था और फ्लैंडर्स में उसका जन्म होने के कारण वह राष्ट्रीय शासक के रूप में देश में मान्य था। उसके शासन-काल में देश में प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। जिसका दमन करने के लिए उसने धार्मिक न्यायालयों का पूर्ण प्रयोग किया था। देश को यह धार्मिक दमन-क्रम अमान्य अवश्य था; परन्तु उसके शासनकाल में इसका सामूहिक विरोध सम्भव नहीं हुआ। उसके पुत्र फिलिप द्वितीय ने शासनारूढ़ होने पर स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो गया। वह पूर्णत: स्पेनी और विदेशी था जिसके हृदय में नेदरलैंड्स वासियों की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं के प्रति कोई सहानुभूति न थी। फलत: शासन की जन-प्रियता तो प्रारम्भ से ही लुप्त हो गयी। इसके अतिरिक्त उसकी अराष्ट्रीय नीति और अहितकर कार्यों से अत्यन्त क्षुब्ध नेदरलैंड्स वासियों के लिए पहले तो विरोध और आगे चलकर विद्रोह के सिवाय अपनी स्वतंत्रता, धन-जन और धर्म की रक्षा का और कोई मार्ग शेष न रह गया और उन्हें बाध्य होकर इसी का अवलम्बन भी लेना पड़ा।

विद्रोह के कारण—स्पेन के विरुद्ध नेदरलैंड्स के विद्रोह का प्रमुख कारण आर्थिक था। देश का प्रधान उद्यम व्यापार और उद्योग-धन्धे थे और यही देश के वैभव और समृद्धि के आधार थे। चार्ल्स पंचम के समय में ही देश पर करों का भार बढ़ गया था, परन्तु स्टेट्स-जनरल की स्वीकृति प्राप्त होने के कारण उसके शासन-काल में कर-संग्रह का संगठित विरोध नहीं हुआ था। दूसरे, उसने देश की धन-वृद्धि के लिए राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों और व्यापार को उन्नतिशील बनाने की पूर्ण चेष्टा की थी जिससे उनके शासन की जन-प्रियता कभी नष्ट न होने पायी थी। परन्तु फिलिप द्वितीय ने स्पेन की सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अवैधानिक रूप से देश पर करों का भार और भी बढ़ा दिया। स्टेट्स-जनरल उन युद्धों के निमित्त धन स्वीकृत करने के लिए प्रस्तुत न थी जिनका नेदरलैंड्स से कोई भी सम्बन्ध न था। इसके अतिरिक्त लोगों को स्पेन के व्यापारकि हितों की रक्षा के लिए डच, व्यापार पर लगे अनेक प्रतिबन्ध भी असह्य थे, क्योंकि इनसे देश के आर्थिक विकास को आघात पहुँच रहा था। नेदरलैंड्स जैसे व्यापारशील देश के लिए फिलिप द्वितीय का यह अराष्ट्रीय कार्य सर्वथा अमान्य था और वे इसका अन्त करने के लिए कृत-सकल्प थे।

विद्रोह का दूसरा कारण धार्मिक था। कैथलिक धर्म की रक्षा और विरोधी धार्मिक विचारों को रोकने के लिए चार्ल्स के समय से ही धार्मिक न्यायालयों का दमन-चक्र चल रहा था। परन्तु मृत्यु का यह ताण्डव नृत्य भी प्रोटेस्टेण्टों, और विशेषत: कैल्विनवादियों के अदम्य धार्मिक उत्साह को शिथिल न कर सका और उत्तरी प्रान्तों की रक्त-रंजित भूमि पर कैल्विनवादी सम्प्रदाय शीघ्रतापूर्वक फैलने लगा। कैथलिक धर्म के यूरोपीय संरक्षक और समर्थक फिलिप द्वितीय के लिए उसके ही राज्य में प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रचार असह्य था और वह इसके सर्वनाश के लिए कृत-संकल्प था। उसने देश के धार्मिक नियन्त्रण को सबल बनाने के लिए मनोनीत बिशपों ओर आर्चबिशपों की संख्या और उनके अधिकारों में पर्याप्त वृद्धि की और धार्मिक समानता के नियमों को कार्यान्वित किया। अपनी कैथलिक-नीति की सफलता के लिए उसने रक्त-रजित धार्मिक न्यायालयों का भीषण प्रयोग जारी रखा। इन न्यायालयों के प्रयोग के विरोध में देश के कैथलिक और प्रोटेस्टेंट सभी एकमत थे, परन्तु इन्हें बन्द करने की बात तो दूर थी, वह इनकी भीषणता में कमी भी करने को प्रस्तुत न था। दूसरी ओर समस्त देश में चारों ओर से मानवोचित उपायों द्वारा ही अधार्मिकता को रोकने की माँग की जाने लगी, परन्तु फिलिप ने इन सभी प्रकार की माँगों के प्रति अपने कान मूँद लिये थे। परिणामस्वरूप देश के सभी वर्गों और संम्प्रदायों ने इन धार्मिक न्यायालयों और उनके रक्त-रंजित कार्यों का विरोध क्रमश: उग्र से उग्रतर रूप धारण करने लगा।

विद्रोह का राजनीतिक कारण भी पर्याप्त प्रबल था। फिलिप द्वितीय ने शासन के केन्द्रीकरण की नीति अपनायी और इसके लिए उसने सरदारों और नगरों के अनेक

परम्परागत अधिकार समाप्त कर दिये। उसने समय-समय पर करों और आवश्यक धन की स्वीकृति के लिए स्टेट्स-जनरल की बैठकें बुलाना बन्द कर दिया। सन् 1559 ई० के पश्चात् वह स्वयं कभी नेदरलैंड्स न जा सका। और देश के शासन का भार स्पेनियों या अन्य देशी सरदारों के हाथों में रखा। नेदरलैंड्स के सरदारों में इस नीति से असंतोष था, और जब वे दूसरे अनेक सम्मान लाभ-पूर्ण पदों से वंचित किये जाने लगे तो यह असन्तोष घोर क्षोभ के रूप में परिणत होने लगा। फिलिप ने राज्य-परिषद् को भी अपने अनियंत्रित और निरंकुश शासन का साधन बना रखा था। इसमें उसने विशेश अधिकारों से युक्त ग्रेनविल जैसे अपने विश्वासपात्र स्पेनियों को नियुक्त करना प्रारम्भ किया जो देशवासियों के विरोध की उपेक्षा करके स्पेन से प्राप्त आदेशों का अक्षरशः पालन करते और राज्यादेशों का विरोध करने वालों को हर प्रकार से दण्डित करते थे।

नेदरलैंड्स के विरोध का कारण देश में नियुक्त स्पेनी सेना भी थी। फ्रांस के साथ होने वाले युद्ध (1557-59 ई०) में स्पेनी सेनायें नेदरलैंड्स आई थीं, परन्तु युद्ध के समाप्त होने पर भी वे वापस न गयीं। वे विभिन्न नगरों में ठहरा दी गयी थीं जिनका व्यय नगर-निवासियों को वहन करना पड़ता था। नगर-निवासियों को अपनी चिर-सम्मनित स्वतंत्रता के अपहरण का यह घोर अवैधानिक कार्य कदापि स्वीकार न था और इसका उन्होंने उग्र विरोध किया। कुछ समय बाद यह सेना वापस बुली ली गयी।

मार्गरेट का शासन—(1559-67 ई०) फिलिप द्वितीय ने फ्रांस से सन्धि (1559) हो जाने के पश्चात् अपनी सौतेली बहन परमा की मार्गरेट के हाथ में नेदरलैण्ड्स का शासन-भार सौंप दिया और स्वयं सदैव के लिए उस देश से बिदा ली। इस प्रकार उसने मार्गरेट के स्थान पर किसी नेदरलैण्ड्स वासी को ही अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर उस देश को संतुष्ट करने का अच्छा अवसर खो दिया। मार्गरेट के व्यवहार से लोगों में कोई असन्तोष न था, परन्तु धार्मिक न्यायालयों और स्पेनी सैनिकों का विरोध चारों ओर से होने लगा। इसके अतिरिक्त फिलिप ने राज्य-परिषद् के प्रधान के रूप में स्पेनी कार्डिनल ग्रेनविल की नियुक्ति कर शासन का वास्तविक अधिकार उसके ही हाथों में सौंप दिया था। नेदरलैण्ड्स के सरदारों ने व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों ही दृष्टियों से इस नियुक्ति का विरोध किया। मार्गरेट ने स्पेनी सेना वापस भेजकर तथा दूसरी साधारण माँगों की पूर्ति कर शासन को जनप्रिय बनाने की चेष्टा की, परन्तु इससे धार्मिक न्यायालयों और ग्रेनविल के राष्ट्र-विरोधी कार्यों का विरोध कम न हो सका। सर्वप्रथम इस विरोध का नेतृत्व आरेंज के राजकुमार विलियम, काउंट इग्मंट तथा हूर्न आदि प्रभावशाली सरदारों ने प्रारम्भ किया। इस प्रकार देश का मूक विरोध मुखरित हो उठा। छोटे सरदारों और नगर-निवासियों की शिकायतें भी प्रतिदिन बढ़ती ही गयीं। अनेक बार फिलिप के पास शासन की शिकायतें भेजी गयीं। ग्रेनविल तो अवश्य वापस बुला लिया गया परन्तु जनता और सरदारों की दूसरी माँगे पूरी न हो सकीं। विशेषतः फिलिप

धार्मिक न्यायालयों को बन्द करने के लिये कदापि प्रस्तुत न था। दूसरी ओर 'ईश्वर का नाम बदनाम और देश का सर्वनाश' करने वाले ये न्यायालय देश में घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। फलतः 1566 ई० में छोटे सरदारों के एक दल ने मार्गरेट के पास एक आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया जिसके द्वारा घोर असन्तोष-जन्य विद्रोह की आशंका प्रकट कर देश-व्यापी शिकायतों को दूर करने की प्रार्थना की गयी थी। मार्गरेट के दरबारियों में एक ने इन प्रार्थी सरदारों को 'भिखारी' (Ces gueux) की संज्ञा प्रदान की। तभी से फिलिप की शासन-नीति के विरोधियों ने अपने दल को 'भिखारी' कहना प्रारम्भ किया और भिखारियों की झोली तथा पात्र को अपने दल के सम्मानित बिल्ले के रूप में ग्रहण किया।

भिखारी दल के प्रदर्शनों ने देश में विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित कर दी। लोगों ने बलपूर्वक धार्मिक न्यायालयों को बन्द और उनके द्वारा दण्डित बन्दियों को मुक्त करना प्रारम्भ कर दिया। क्षुब्ध प्रोटेस्टेंट जनता ने सामूहिक रूप से कैथलिक गिर्जाघरों पर आक्रमण कर मूर्तियों और चित्रों तथा दूसरी धार्मिक वस्तुओं को नष्ट-भष्ट करना प्रारम्भ किया। ऐंटवर्प के सुप्रसिद्ध गिर्जाघर को इन्होंने अपूरणीय क्षति पहुँचायी। प्रोटेस्टेंट का यह 'प्रतिमा भंजक रोष' (Iconoclastic Fury-1566 ई०) सप्ताहों तक चलता रहा और बड़ी कठिनाई से इसे दबाया जा सका। इसके पूर्व फिलिप द्वितीय धार्मिक न्यायालयों को बन्द करने का निश्चय कर चुका था, परन्तु इस 'प्रतिमा-भंजक रोष,' से क्षुब्ध होकर उसने अपना विचार बदलकर विद्रोहियों को घोर दण्ड देने का संकल्प किया। इस कार्य के लिये उसने अपने विश्वासपात्र और प्रसिद्ध स्पेनी सेनापति अल्वा के ड्यूक को मार्गरेट के स्थान पर नेदरलैंड्स का शासक नियुक्त किया।

अल्वा का क्रूर शासन—(1567-73) अल्वा का ड्यूक दस हजार स्पेनी सैनिकों के साथ नेदरलैड्स पहुँचा (1567)। उसका आना आक्रमण का सूचक था जिससे देश में सब जगह घोर आतंक छा गया। आरेंज का विलियम तथा अन्य दूसरे नेता देश छोड़कर भाग निकले। अल्वा ने आने के साथ 'प्रतिमा-भंजक रोष' में भाग लेने वालों को दण्ड के लिए एक अशान्ति परिषद् (Council of Troubles) की स्थापना की। इस अवैधानिक परिषद् ने अत्यधिक भीषणता और निर्दयता के साथ दमन-चक्र का कार्य प्रारम्भ किया। सैकड़ो को मृत्यु-दण्ड मिला और हजारों देश छोड़कर भाग निकले। देश में यह परिषद् 'शरक्त-परिषद्' के नाम से कुख्यात हुई। काउंट इग्मंट तथा हूर्न जैसे शक्तिशाली कैथलिक सरदार भी 'रक्त-परिषद्' से अपनी रक्षा न कर सके। अल्वा ने देश को चेतावनी के रूप में ही इन सरदारों को मृत्यु दण्ड दिया था। उसके छह वर्षों के शासन-काल में आठ हजार व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड मिला, तीस हजार को अपनी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा और एक लाख आदमी देश छोड़कर भाग गये।

अल्वा ने दशमांश (Alcabala) नामक स्पेनी कर नेदरलैंड्स में भी लागू किया और कपड़े आदि कुछ वस्तुओं पर तो यह कर दस के स्थान पर सत्तर प्रतिशत तक हो गया था। इसके अतिरिक्त देश में सर्वत्र घोर अशान्ति और अराजकता छा गयी। जिससे देश के व्यापार और उद्योग-धन्धों को गहरा आघात पहुँचा। यह स्थिति समस्त देश के लिये असह्य हो उठी। अब सभी नगर-निवासियों, सरदारों, कैथलिकों तथा प्रोटेस्टेंटों ने मिलकर स्पेनी शासन की क्रूर निरंकुशता का विरोध करने का निश्चय किया। वस्तुतः समस्त देश में सशस्त्र-विद्रोह की ज्वाला फूट निकली।

आरेंज का राजकुमार विलियम—राजकुमार विलियम जर्मनी के नासो (Nassau) प्रदेश का राजकुमार था और वह नासो के विलियम, आरेंज के विलयम तथा शान्त विलियम तीनों नामों से विख्यात था। हालैण्ड और ब्रैवांट के प्रान्तों में इसकी विस्तृत जागीर थी। चार्ल्स पंचम के समय में उसने अपनी सैनिक सेवाओं से देश में पर्याप्त की थी और देश के गण्य-मान्य सरदारों में इसकी गिनती होती थी। अल्वा के आने के पूर्व वह हालैण्ड और न्यूजीलैण्ड के प्रदेशों का गवर्नर था। फिलिप की नीति के प्रति यह प्रारम्भ से ही संदेह-शील था, जिसका इसने सर्व प्रथम प्रच्छन्न और पुनः खुला प्रतिरोध प्रारम्भ किया था। अतः जब अल्वा का दमन-चक्र असह्य हो गया तो इसने जर्मनी से लौटकर देश के स्वातंत्र्य-संग्राम का नेतृत्व ग्रहण किया। कैथलिक के रूप में इसका लालन-पालन हुआ था। परन्तु राजनीतिक कारणों यह क्रमशः पोटेस्टेंट धर्म की ओर आकृष्ट होने लगा और अन्त में कैल्विनवाद को स्वीकार कर लिया। यह उस युग के कुछ इने-गिने व्यक्तियों में था जो धार्मिक सहिष्णुता की नीति के पोषक थे। उसकी ख्याति का आधार उसका अपूर्व देश-प्रेम है। अपने देश की संत्रस्त और असहाय जनता की रक्षा के लिये उसने अपने सुख, वैभव और जीवन को उत्सर्ग कर दिया। यद्यपि यह बहुत कुशल सेनापति न था, परन्तु इसकी दृढ़ता और साहस अप्रतिम थे। प्रायः अकेले और यदा-कदा अपने कुछ देश-वासियों की सहायता से इसने यूरोप के सर्वाधिक शक्तिमान् राज्य स्पेन से लोहा लिया, और यद्यपि उसे एक के पश्चात् दूसरी पराजय का ही उपहार प्राप्त होता रहा, परन्तु इस वीर देश-भक्त ने अपने उद्देश्य की महत्ता में अटूट विश्वास रखकर धैर्यपूर्वक आजीवन स्वातंत्र्य-संग्राम का संचालन किया। अपनी राजनीति-कुशलता से इसे पर्याप्त शक्ति मिली और इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों से धन और जन की सहायता प्राप्त कर इसने अपने देश के पवित्र उद्देश्य को कभी अदृश्य न होने दिया।

अल्वा के नेदरलैंड्स आने के पूर्व यह जर्मनी भाग गया था, परन्तु देश में प्रज्वलित विद्रोह की ज्वाला ने आन्दोलन के संचालनार्थ उसे पुनः अपने देश में वापस आने के लिये विवश किया। उसने अपनी समस्त सम्पत्ति बेंचकर उस धन से एक सेना का संगठन किया जिसमें देश के निष्कासित व्यक्ति भी पर्याप्त संख्या में सम्मिलित थे। इस

सेना ने नेदरलैड्स पर आक्रमण किया, परन्तु अल्वा ने उसे पराजित कर (1568) तितर-बितर कर दिया। विलियम की हार तो हो गयी, परन्तु उसके साहसपूर्ण आक्रमण ने उसके देश-वासियों के हृदय में अदम्य उत्साह का भाव उत्पन्न किया। स्थल पर तो स्पेनी सेना का पूर्ण अधिकार था, परन्तु समुद्र पर उसका नियंत्रण सम्भव न था। विलियम के युद्ध-आहवान को सुनकर साहसी डच नाविकों ने 'सामुद्रिक भिखारियों' का दल संगठित किया और स्पेन के जहाजों को लूटना शुरू किया। सफलता के साथ उनका साहस भी बढ़ता गया और उन्होंने ब्रिल के बन्दरगाह पर अधिकार (1572) कर लिया। इस सफलता से उत्तरी प्रान्तों में नवीन उत्साह का संचार हुआ और उन्होंने प्रायः प्रत्येक नगर से स्पेनियों को मार भगाया। फल-स्वरूप अल्वा का अधिकार ब्रसेल्ज के दक्षिण तक ही सीमित रह गया। हालैण्ड-वासियों ने विलियम को अपना गवर्नर (Stadholder) नियुक्त किया और इस समय से हालैण्ड और न्यूजीलैंड के प्रदेश संघर्ष के केन्द्र बन गये। अल्वा ने उत्तरी प्रान्तों को अधिकृत करने की जोरदार कोशिश की। विजय के उपरान्त अनेक धनी नगरों को स्पेनी सैनिकों ने बुरी तरह लूटा और बर्बाद किया। हार्लेम नगर का संघर्ष भीषणतम सिद्ध हुआ। आठ महीने के घेरे के पश्चात् अल्वा ने शोणित-प्रवाह के बीच इस नगर में प्रवेश किया। अब स्पेन और नेदरलैंड्स का युद्ध इस स्थिति में पहुँच चुका था जब दोनों एक-दूसरे के लिए रक्त-पिपासु बन रहे थे। अल्वा की असफलता पर फिलिप का विश्वास उठ गया और वह वापस (1573) बुला लिया गया।

अल्वा के उत्तराधिकारी रेकेसेन्स (1573-76 ई०) के शासन-काल में संघर्ष पूर्ववत् जारी रहा। इसने लीडेन के नगर पर घेरा डाला (1574)। विलियम ने बड़ी वीरता से इस नगर की रक्षा का प्रयत्न किया, परन्तु जब सभी प्रयत्न विफल सिद्ध हुए तो उसने समुद्र का बाँध कटवा डाला। समुद्र की उत्ताल तरंगें भयंकर गर्जन करती हुई नगर और आस-पास की भूमि को आप्लावित करने लगीं और उनके साथ 'सामुद्रिक भिखारी' स्पेनियों पर टूट पड़े। डूबती हुई स्पेनी सेना भाग खड़ी हुई। इस प्रकार लीडेन शहर ने महान् त्याग के द्वारा अपनी अमूल्य स्वतंत्रता की रक्षा की। 1576 ई० में रेकेसेन्स की मृत्यु हो गयी। अतः नेता और वेतन के अभाव में स्पेनी सेना ने भयंकर लूटपाट और हत्याकांड प्रारम्भ किया जिसे 'स्पेनियों को रोष' (Spanish Fury, 1566) कहा जाता है। अकेले ऐंटवर्प के नगर में सात हजार आदमी मारे गये और अपार धनराशि लुटेरे सेनिकों के हाथ लगी।

अब तक तो उत्तरी प्रान्त ही विद्रोह के केन्द्र थे, परन्तु 'स्पेनी रोष' के कारण समस्त नेदरलैंड्स में गहरा क्षोभ छा गया। फलतः सभी सत्रह प्रान्तों के प्रतिनिधि गेण्ट के नगर में एकत्र हुए और उन्होंने एक साथ मिलकर यह घोषणा की कि जब तक धार्मिक न्यायालयों को बन्द नहीं कर दिया जाता, स्पेनी सेनायें वापस नहीं बुला ली जातीं और

उनकी पुरानी स्वतंत्रतायें पुनः प्रदान नहीं कर दी जातीं तब तक वे शान्त न होंगे ओर सामूहिक रूप से संघर्ष जारी रखेंगे। नेदरलैंड्स की यह घोषणा 'गेण्ट के सन्धिकरण' (Pacification of Ghent, 1576) के नाम से विख्यात है।

रेकेसेन्स के स्थान पर फिलिप का सौतेला भाई आस्ट्रिया का डान जॉन शासक बनकर (1576-78) आया। फिलिप ने नेदरलैंड्स को कुछ सुविधायें प्रदान करनी चाहीं, परन्तु 'गेण्ट के सन्धिकरण' से देश में नवीन उत्साह छा गया था जिससे उसने इन सुविधाओं को अस्वीकार कर दिया। विलियम भी स्पेन की ओर से पूर्ण सचेत था और उसके जाल में नहीं आना चाहता था। इसी बीच डान जॉन की मृत्यु (1578) हो गयी।

परमा का शासन—(1578-92 ई०) परमा का ड्यूक अलेक्जाडर फार्नेस मार्गरिट का पुत्र और फिलिप का भांजा था। यह सोलहवीं शताब्दी का योग्यतम सेनापति होने के अतिरिक्त कुशल कूटनीतिज्ञ भी था। नेदरलैंड्स आने पर उसके सामने सर्वप्रथम समस्या 'गेण्ट का सन्धिकरण' समाप्त करके देश की एकता भंग करनी थी। अतः उसने 'विभाजन और शासन' की नीति अपनायी। यह कार्य कठिन न था। उत्तर के प्रान्त कैल्विनवादी और व्यापारी थे, दक्षिण के कैथलिक और उद्योगशील थे। दक्षिण के इन दस प्रान्तों को कैथलिक स्पेन की अपेक्षा कैल्विनवादी उत्तर से अधिक भय की आशंका हो सकती थी। परमा की कूटनीति सफल हुई और दक्षिण के दस प्रान्त कैथलिक धर्म की रक्षा के लिए तैयार हो गये। इन प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने 'आराम के संघ' (1579) की स्थापना की जिसका उद्देश्य कैथलिक धर्म की रक्षा के अतिरिक्त फिलिप से सन्धि का प्रयत्न भी था। इसके बदले में परमा ने उसके पुराने राजनीतिक अधिकारों की स्वीकृति का आश्वासन दिया। इस संघ की स्थापना के बाद ही विलियम ने उत्तर प्रोटेस्टेंट प्रान्तों का दूसरा संघ बनाया जिसे 'यूट्रेक्ट का संघ' (1579) कहते हैं। स्पेन के विरुद्ध अपने अधिकारों ओर स्वतंत्रता की रक्षा तथा समस्त संघ में धार्मिक स्वतंत्रता की स्थापना इस संघ के मुख्य उद्देश्य थे। दो वर्षों बाद इस संघ ने पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा की। प्रारम्भ में तो यह संघ 'सात संयुक्त प्रान्तों' के नाम से विख्यात हुआ, परन्तु अन्त में जाकर इसका नाम डच-प्रजातंत्र पड़ा। इस प्रकार आरास और युट्रेक्ट के संघों ने नेदरलैण्ड्स का बँटवारा कर दिया अब दोनों ही भागों ने दो स्वतंत्र दिशाओं में अपना विकास और संगठन प्रारम्भ किया।

परमा ने संघर्ष जारी रखा। उसने कूटनीति से दक्षिण पर विजय प्राप्त कर ली थी, अब वह सैनिक बल से उत्तर को अधिकृत करने के लिए कृतसंकल्प था। उसकी सैनिक शक्ति को देखते हुए यह कार्य कठिन नहीं प्रतीत होता था, परन्तु डचों ने उसे सफल न होने दिया। इसके अनेक कारण थे। एक तो देश की भूमि आक्रामक युद्ध के लिये अनुकूल नहीं थी उसमें एक ओर तो नहरों के द्वारा आक्रामक सेनाओं का तीव्र बढ़ाव रोका जा सकता था और दूसरी ओर समुद्र का बाँध काटकर उसकी स्थिति भयावह की

जा सकती थी। इसके अतिरिक्त हालैण्ड के कुशल नाविक स्पेन के व्यापारी जहाजों को लूटकर उसे अपूरणीय क्षति पहुँचाया करते थे। इस देश के वैभवशाली नगर धन की सहायता से सरलता-पूर्वक विदेशी सैनिकों की सेनायें संगठित करके अपनी रक्षा भी करते थे और साथ ही अपने व्यापार का काम भी देखते थे। फलतः अर्थाभाव की समस्या का सामना उन्हें नहीं करना पड़ा। विलियम की युद्ध-नीति भी पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई। जहाँ तक सम्भव था, वह खुला युद्ध बचाया करता था। उसने अपनी कूटनीति से इंगलैण्ड, जर्मनी और फ्रांस से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त की। इसके विपरीत स्पेन को एक साथ ही डचों के अतिरिक्त इंग्लैण्ड और फ्रांस से भी युद्ध करना पड़ा। इन परिस्थितियों में परमा को संयुक्त प्रान्तों के विपरीत अधिक सफलता प्राप्त कर न हो सकी।

फिलिप द्वितीय का विश्वास था कि जब तक विलियम जीवित है, उसे सफलता नहीं मिल सकती। अतः उसका अन्त करने के लिये उसने 1580 ई० में यह घोषणा की कि जो कोई विद्रोही विलियम कोजीवित या मृत ला सकेगा, उसे सरदार-पद के अतिरिक्त भरपूर पारितोषित प्रदान किया जायगा। विलियम ने भी इसके जवाब मे यूरोपीय दरबारों में फिलिप के दुष्कृत्यों का भण्डाफोड़ किया और 1581 ई० में संयुक्त प्रान्तों की स्वतंत्रता की घोषणा की। पहले भी उसके जीवन का अन्त करने के अनेक प्रयत्न हो चुके थे, परन्तु अन्तिम प्रयत्न सफल हुआ और 1584 ई० में विलियम एक स्पेनी हत्यारे की गोली का लक्ष्य बन गया।

विलियम की मृत्यु से भी डचों के युद्ध का अन्त न हो सका। डचों ने इंग्लैण्ड की रानी एलिजाबेथ से सहायता की याचना की। धन की सहायता तो उन्हें पहले से ही मिल रही थी, अब अंग्रेजी सेना भी सहायता के लिये आ गयी। फिलिप ने कुछ समय के लिये डच-युद्ध को स्थगित करके इंग्लैण्ड से निबटने का निश्चय किया और परमा के विरोध पर भी वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। इससे एक ओर तो डचों को सँभलने और संगठन का अवसर मिला, दूसरी ओर इंग्लैण्ड के विरुद्ध स्पेन के अजेय अर्मेडा की पराजय (1588) ने स्पेन की शक्ति और कम कर दी। उधर फ्रांस की गद्दी पर फिलिप का घोर शत्रु हेनरी चतुर्थ आसीन हुआ (1580)। अब डचों को इंग्लैण्ड तथा फ्रांस से अधिकाधिक सहायता मिलने लगी। हालैण्ड में विलियम का स्थान ओल्डेन वार्नेवेल्ट तथा विलियम के पुत्र नासो के मारिस ने ग्रहण किया। यदि वह एक कुशल राजनीतिज्ञ था तो दूसरा सफल सेनापति सिद्ध हुआ। मारिस ने स्पेन की दुर्बलता से लाभ उठाकर आक्रामक नीति अपनायी। इसी समय परमा की भी मृत्यु (1592) हो गयी जिससे उसका कार्य और सरल हो गया। उसने समस्त संयुक्त प्रान्तों से स्पेनियों को मार भगाया और खुले युद्ध में भी उसने मोर्चा लेना प्रारम्भ किया। अब स्पेनियों के लिये रक्षात्मक

नेदरलैंड्स १६०८ ई० में
स्पेनी नेदरलैंड्स
संयुक्त प्रान्त
लीडेन
हेग
यूट्रेच
संयुक्त प्रान्त
नाइमजेन
मेउज
माल्पलाके
काटो कांब्रे
एक्स ला शापेल
फ्रांस

युद्ध की बारी आई। चारों ओर से असफलता का सामना होने पर वृद्ध फिलिप द्वितीय ने विद्रोहियों से वार्ता प्रारम्भ की। परन्तु इस दिशा में भी उसे कोई सफलता न मिल सकी क्योंकि उसका अभिमानी हृदय पराजय स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत न था। उनकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र फिलिप तृतीय ने संघर्ष जारी रखा। परन्तु धन-जन के क्षय के अतिरिक्त उसे भी सफलता न प्राप्त हो सकी। फलतः परिस्थितियों से बाध्य होकर उसने 1609 ई० में बारह वर्षों के लिये डचों से विराम-सन्धि कर ली। स्पेन और डचों के युद्ध का अन्त हो गया। अन्त में वेस्टफैलिया की सन्धि (1648) के समय स्पेन और समस्त यूरोप ने स्वतंत्र डच-प्रजातंत्र को स्वीकार कर लिया। परन्तु दक्षिण के कैथलिक प्रदेश स्पेन के ही अधीन रहे और स्पेनी नेदरलैंड्स के नाम से विख्यात हुए।

अध्याय 5

फ्रांस और धर्म-सुधार

पुनर्जागरण :

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ही इटली के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रसार फ्रांस में आरम्भ हो गया था। इटली में चार्ल्स अष्टम तथा लुई द्वादश के सैनिक अभियानों ने इस प्रसार की गति को तीव्र कर दिया, और अब फ्रांसिस प्रथम (1515-47 ई०) फ्रांस का राजा हुआ तो उसके सहयोग से अत्यधिक शीघ्रता के साथ देश का सांस्कृतिक पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। फ्रांसिस में अनेक राजोचित गुणों का अभाव अवश्य था, परन्तु उसकी सांस्कृतिक चेतना विकसित एवं समुन्नत थी और 'नवीन विद्या' तथा कला के प्रति उसके हृदय में विशेष अनुराग था। उसने अपने इटली के सैनिक अभियान में वहाँ के विद्वानों और कलाकारों के साथ सम्पर्क स्थापित किया, जिनमें लिओनार्डो द विंची और टीशियन मुख्य थे। लिओनार्डो को तो वह अपने साथ पेरिस लाया जहाँ पर राजकीय संरक्षण में इस बहुमुखी प्रतिभा-सम्पंन्न कलाकार ने फ्रांस के कलाकारों को उचित शिक्षा प्रदान की। फ्रांसिस के प्रोत्साहन और संरक्षण में पेरिस के तथा अन्य विश्वविद्यालयों में 'नवीन विद्या' का प्रचार बढ़ा। उसने 'फ्रांस के कालेज' (College de France) की स्थापना की, जिसमें 'नवीन विद्या' की शिक्षा को प्रधानता प्रदान हुई। इस प्रयत्न में उसे फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् बूदे से पर्याप्त सहायता मिली जो यूनानी और लैटिन भाषा का प्रकाण्ड पण्डित था। कुछ दिनों तक इरैसमस भी इस विद्यालय का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। इटली के अन्य विद्वानों और कलाकारों को भी फ्रांसिस ने अपने देश में राजाश्रय एवं सरंक्षण प्रदान किया। इटली और फ्रांस के इस प्रत्यक्ष सम्पर्क ने फ्रांस के सांस्कृतिक क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी और स्थापत्य, शिल्प एवं चित्रकला ने अपने पूर्व रूप का परित्याग कर सर्वथा नवीन परिधान धारण किया। भवन-निर्माण में मध्यकालीन गाथिक शैली परित्यक्त हो गयी और इटली की प्रचलित नवीन शैली का प्रयोग बढ़ा। पेरिस में लूबर-प्रासाद तथा अन्य भवन इस शैली के सुन्दर प्रतीक हैं। फ्रांस के इस पुनर्जागरण में इस देश के तत्कालीन वातावरण ने भी पर्याप्त सहयोग प्रदान किया और फ्रांसिस की कला एवं साहित्य-प्रियता ने इस देश के सांस्कृतिक गौरव में चार चाँद लगा दिये।

धर्म-सुधार :

फ्रांसिस प्रथम (1515-47 ई०)—फ्रांस में धर्म-सुधार का कार्य अत्यन्त साधारण रूप से प्रारम्भ हुआ। 'नवीन विद्या' के सम्पर्क ने राज्य और चर्च दोनों में आवश्यक सुधार की भावना उत्पन्न की थी। फ्रांसिस जिस समय सम्राट् चार्ल्स पंचम के

विरुद्ध जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट राज्यों की सहायता कर रहा था, सुधारवादी विचारधारायें स्वयं उसके देश में क्रमशः शक्ति-संचय कर रही थीं। जाक लफव्र (Lacques Lefevre) को फ्रांस में धर्म-सुधार का जन्मदाता कहा जा सकता है। उसने लूथर के द्वारा क्षमा-पत्रों के विरोध के पाँच वर्ष पूर्व 1512 ई० में ही अपने एक भाष्य में श्रद्धा-जन्य परिमार्जन (Justification by Faith) के सिद्धान्त का पोषण किया था। शीघ्र ही अनेक व्यक्ति उसके अनुयायी बन गये, जिन्होंने मो (Meaux) नामक स्थान पर अपना केन्द्र बनाया। सुधारवादी विचारधारा के क्रमिक विकास ने पेरिस विश्वविद्यालय के धर्म-विभाग तथा वहाँ की 'पार्लिमेंट' के कान खड़े किये। परन्तु इन दोनों ही संस्थाओं के प्रति फ्रांसिस के हृदय में प्रेम नहीं था, साथ ही उसे भिक्षुओं और साधुओं से भी चिढ़ थी। इसके विपरीत 'नवीन विद्या' और कला के प्रति अपने सहज आकर्षण के कारण उसने सुधारवादी विचारों पर कोई प्रतिबन्ध भी नहीं लगाया। उसने वर्क नामक एक धर्म-सुधारक को पार्लिमेंट का कोपभाजन होने से बचाया था और यदि वह चार्ल्स के विरुद्ध पेविया के युद्ध (1525) में विजयी हुआ होता तो सम्भवतः उसकी सहिष्णुता की नीति अपरिवर्तित बनी रहती। परन्तु उसकी पराजय एवं बन्धन के काल में उसी की माँ ने इस नीति का परित्याग कर दिया। लेक्लर्क (Leclerc) नामक सुधारक जीवित जला दिया गया और मो के संघ को भंग करने का आदेश दिया गया। स्पेन से लौटने पर नवीन परिस्थितियों में फ्रांसिस को भी अपने आदर्शों में परिवर्तन करना पड़ा। उसे चार्ल्स पंचम के विरुद्ध संघ-निर्माण में पोप का साथ देने के लिए प्रस्तुत होना पड़ा और युद्ध संचालन के निमित्त धन प्राप्त करने के लिए पादरियों के साथ सहयोग करना पड़ा। वस्तुतः सुधारकों के धार्मिक विचारों के प्रति उसके हृदय में कोई सहानुभूति न थी, वह एकमात्र इसके साहित्यिक अंग से प्रभावित था। परन्तु जब उग्रवादी सुधारकों ने लूटपाट और दाहक क्रियाओं का आश्रय लिया तो इन सुधारों के राजनीतिक स्वरूप से उसे चिन्ता अवश्य हुई। परन्तु उसके शासन काल में समयानुकूल धार्मिक दण्ड और सहिष्णुता की अस्थिर नीति का ही प्रयोग होता रहा। सन् 1534 ई० में अश्लील भाषा में 'मास' या प्रार्थना की बुराइयों के विज्ञापन ने उसे क्षुब्ध कर दिया, दूसरे वर्ष मस्टर मे अनावैप्टिस्टों के विद्रोह ने उसे भयभीत बनाया और सन् 1545 ई० में यह सुनकर कि वाल्डेसियन सम्प्रदाय के लोग प्रोवॉस में स्वतंत्र प्रजातंत्र की स्थापना के लिए सचेष्ट हैं, उसने बिना सोचे-विचारे उनकी सामूहिक हत्या के आदेश पर हस्ताक्षर कर दिया। परिणामस्वरूप प्रायः तीन हजार व्यक्ति मारे गये, बीस से अधिक नगर और गाँव नष्ट हो गये और सैकड़ों व्यक्ति घर छोड़ कर भाग गये।

हेनरी द्वितीय—फ्रांसिस के पुत्र एवं उत्तराधिकारी हेनरी द्वितीय (1547-49 ई०) के शासन-काल में धार्मिक आन्दोलन उत्तरोत्तर बल पकड़ता गया। वस्तुतः अपने प्रारम्भिक काल में इस आन्दोलन ने फ्रांस में विशेष अव्यवस्था उत्पन्न न की। परन्तु

क्रमशः फ्रांसीसियों के मस्तिष्क में हलचल प्रारम्भ होती गयी और इसका प्रधान कारण देश में कैल्बिन का बढ़ता हुआ प्रभाव था। कैल्विन फ्रांसीसी था और फ्रेंच भाषा में ही उसने अपने ग्रंथों की रचना की थी। उसने फ्रांसिस को विश्वास दिलाने की आशा से कि उसके सिद्धान्त भयावह नहीं हैं, अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'इन्टीट्यूटस' को उसी के नाम समर्पित किया था। शीघ्र ही उसका मधुर स्वप्न साकार हो उठा और अधिकाधिक संख्या में फ्रांसीसियों ने उसकी शिक्षा को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। कैल्विनवाद ने शीघ्र ही समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अपना घर कर लिया, परन्तु नगर-निवासियों और अभिजात वर्ग में इसका विशेष प्रवेश था। सरदारों के इसके ओर आकृष्ट होने के दो प्रधान कारण थे। एक ओर तो वे नवीन चर्च द्वारा राजा के अधिकारों को नियंत्रित करना चाहते थे और दूसरी ओर उनकी दृष्टि चर्च की सम्पत्ति पर लगी थी। इसके अतिरिक्त नवीन चर्च का प्रजातांत्रिक संगठन और जिनेवा से उसका नियंत्रण ये दोनों ही बातें उसके राजनीतिक स्वरूप का संकेत कर रही थीं। इस वातावरण में राज्य द्वारा इस धार्मिक आन्दोलन का दबाया जाना अवश्यम्भावी हो गया। फलतः दण्ड की कठोरता तीव्र हो उठी। परन्तु फ्रांसिस तथा हेनरी द्वितीय के दृष्टिकोण में अन्तर था। यदि एक ने राजनीतिक कारणों से कैल्विनवाद को दबाने की चेष्टा की तो दूसरे की नीति उसके धार्मिक विश्वासों पर अवलम्बित थी। उसने अपने राज्याभिषेक के समय समस्त धर्म-विरोधियों को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

हेनरी द्वितीय ने दमन चक्र की नीति अपनायी। उसने इस कार्य के लिए धार्मिक न्यायालय (Inquisition) स्थापित करना चाहा, परन्तु पार्लिमेंट ने अपने न्याय-सम्बन्धी अधिकारों में हस्तक्षेप समझकर इसका विरोध किया। फलतः अधार्मिकता के दमन के लिए पार्लिमेंट के ही एक विशेष न्यायालय की स्थापना हुई जिसने अधिकाधिक संख्या में मृत्यु दण्ड एवं सम्पत्ति हरण के घोर दमन-कार्यों द्वारा शीघ्र ही 'दाहक न्यायालय' (La Chambre Ardente) की संज्ञा प्राप्त की। इस नीति में फ्रांसीसी चर्च का पूर्ण सहयोग और पोप का समर्थन प्राप्त था। परन्तु दमन-चक्र की पूर्णता या घोर निर्दयता कैल्विनवाद को दबा न सकी और इसके अनुयायियों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती गयी। इस समय तक फ्रांस के कैल्विनवादियों का ह्यूगेनो (Hugenot) नाम पड़ चुका था जिसकी व्युत्पत्ति का सन्तोषजनक उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। अब ह्यूगेनो लोगों ने अपने चर्च का संगठन करने का निश्चय किया और इसी उद्देश्य से सन् 1549 ई० में एक धार्मिक संगीति का समारोह हुआ जिसमें कैल्विन द्वारा प्रस्तुत किये गये धर्म के सिद्धान्त स्वीकृत हुए। इस प्रकार ह्यूगेनो लोगों की धर्मनिष्ठा, निःस्पृह कर्तव्यपरायणता, त्याग एवं उत्साह ने शासन की सतर्कता तथा विधान की कठोरता को निष्फल कर दिया। फलतः इनके विरुद्ध धार्मिक मोर्चे को और अधिक तीव्र तथा सफल बनाने के विचार से हेनरी द्वितीय ने स्पेन के साथ सन्धि (1549) कर

ली, परन्तु इसी वर्ष उसकी आकस्मिक मृत्यु से विरोधी ह्यूगेनो सम्प्रदाय दबने की अपेक्षा और अधिक सबल और सशक्त हो उठा।

गृह युद्ध :

हेनरी द्वितीय की असामयिक मृत्यु ने देश की धार्मिक समस्या को जटिल कर दिया। यदि उसके उत्तराधिकारी सबल होते और फ्रांस में संगठित शासन होता तो या तो दोनों दलों में समझौते के रूप में एक मध्यम मार्ग निकल आया होता या घोर दमन-चक्र द्वारा समस्त विरोधों का अन्त ही हो गया होता। परन्तु दुर्भाग्यवश दुर्बल राजाओं की अदूरदर्शी और संकुचित नीति तथा स्पेन के साथ चलने वाले दीर्घकालीन युद्ध के कारण इस समय फ्रांस स्वतः शक्तिहीन और जर्जर हो रहा था। आर्थिक कठिनाइयों और करों के भार से शासन के प्रति निम्नवर्ग में घोर क्षोभ और असन्तोष था, शासन-यंत्र शिथिल और दूषित था, अधर्मपरायण कुलीनों के पदाधिकार से चर्च श्रीहीन हो रहा था, स्टेट्स जनरल के अभाव में देश का वैधानिक जीवन निष्प्राण था, अधिकार-वंचित नगरों में तटस्थता की भावना प्रधान थी, आत्म-प्रिय एवं स्वार्थी उच्च सरदार-वर्ग शक्ति संचय के लिए प्रयत्नशील था और विद्रोह-प्रिय साधारण सरदारों को युद्ध तथा कलह में ही अपना व्यक्तिगत हित दिखाई दे रहा था। बाह्य रूप से फ्रांस में केन्द्रीय शासन अवश्य था, परन्तु अव्यवस्थित नौकरशाही ने समस्त देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी और सबके ऊपर तो हेनरी के चरित्रहीन तथा दुर्बल उत्तराधिकारी थे जो दरबार के षड्यंत्रों के शिकार और महत्त्वाकांक्षी सरदारों के हाथ की कठपुतली बने थे।

कैथेरीन द मेडिची—हेनरी द्वितीय के पुत्रों में से किसी में भी शासन भार संभालने की क्षमता न थी। फ्रांसिस द्वितीय स्वास्थ्यहीन, चार्ल्स नवम विक्षिप्त एवं ओजहीन तथा हेनरी तृतीय चरित्रहीन था और राजमाता कैथेरीन द मेडिची की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि वह स्त्री थी और थी विदेशी। उसके दुर्बल स्कन्ध संकट-काल में शासन का गुरुतर उत्तरदायित्व सम्भालने में सर्वथा असमर्थ थे। राज्य और राज-दरबार दोनों ही भयंकर ईर्ष्या और द्वेष से जर्जर थे। फलतः कैथरीन द्वारा सशक्त शासन-नीति सम्भव न थी और आकर्षक एवं उत्साहवर्द्धक धार्मिक नीति उसके स्वभाव के विपरीत थी। परन्तु साथ ही माता का हृदय अपने पुत्रों के हाथ में राज्याधिकार स्थिर रखने तथा पति द्वारा उपेक्षिता राजमाता का हृदय मादक अधिकार-सुख भोगने के लिए अत्यधिक लालायित एवं व्यग्र था। उसकी दृष्टि में समझौते पर आधारित धार्मिक शान्ति इस समस्या के समाधान का संकेत थी। परन्तु धर्म नहीं, अपितु राजनीति उसके जीवन का अंग थी। उसके सम्बन्ध में इतिहासकारों में विभिन्न मत हैं। यदि एक के मत में उसका पुत्र-स्नेह प्रशंसनीय था तो दूसरों के मत में वह दुष्टता की साक्षात् देवी थी। परन्तु उसके चरित्र का सही विश्लेषण उसके प्रतिद्वन्द्वी हेनरी चतुर्थ के शब्दों में प्राप्त होता

है—"वह बेचारी स्त्री और अधिक क्या कर सकती थी जिसका पति मर चुका था, जिसके ऊपर पाँच छोटे बच्चों की देख-रेख का भार था और राजसिंहासन छीनने के लिए मेरे और गीज-परिवार में संघर्ष चल रहा था। मुझे तो इसी में आश्चर्य है कि उसने इससे भी बुरा नहीं किया।" वह चरित्रहीन थी, परन्तु अध्यवसायी और परिश्रमी थी। वह कैथलिक थी, परन्तु सहिष्णु भी थी और उसके कार्य धर्म से प्रभावित न थे। देश की स्वतंत्रता और शान्ति की रक्षा उसकी हार्दिक अभिलाषा थी। परन्तु अधिकार-विहीन एवं अस्तित्व की भयपूर्ण स्थिति में दुर्बलों का एकमात्र आश्रय षड्यंत्र ही उसका सहायक था। शासन के क्षेत्र में उसने संतुलन की नीति अपनायी, जिसकी असफलता ही उसके लिए घातक बन गयी।

दल संगठन—कैथरीन ने अपने पति की मृत्यु के पश्चात शासन के रिक्त स्थान की पूर्ति करनी चाही। परन्तु उसे ऐसे स्वार्थी सरदारों का सामना करना पड़ा जो व्यक्तिगत शक्ति-संचय के साथ ही तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन से भी प्रभावित थे। एक ओर तो बूरबों (Bourbons) परिवार था जिसके प्रतिनिधि नवार का दुर्बल राजा ऐन्थनी और उसका तेजस्वी बन्धु कोंदे का राजकुमार लुई, ये दोनों थे। ये राज-परिवार के निकटतम सम्बन्धी थे। इन्हें कोलीन्यी (Gaspard de Coligny) और उसके दो भाइयों का भी सहयोग प्राप्त था जो स्वयं अत्यधिक प्रभावशाली और साधन-सम्पन्न थे। इस दल ने कैल्विनवाद का समर्थन किया परन्तु इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि उनकी राजनीतिक आकांक्षओं के निमित्त धर्म केवल वाह्य आवरण मात्र था। दूसरा कैथलिक दल था जिसका नेतृत्व गीज के ड्यूक (Duke of Guise) फ्रांसिस के हाथों में था, जो अपने समय में देश का सर्वश्रेष्ठ सैनिक था और जिसने मेत्ज (Metz) की रक्षा तथा कैले की विजय द्वारा अभूतपूर्व कीर्ति प्राप्त की थी। उससे भी अधिक प्रतिभाशाली उसका छोटा भाई चार्ल्स था जो रांस का कार्डिनल आर्चबिशप और धार्मिक क्षेत्र में अद्वितीय सम्मान का अधिकारी था। गीज परिवार पूर्णतः फ्रांसीसी न था और राज-परिवार से उनका दूर का सम्बन्ध था। उनकी तत्कालीन नीति का यही रहस्य है। अपनी इस कमी को पूरा करने के लिए ही इन्होंने कैथलिक धर्म का समर्थन किया था। तीसरे दल का कैथलिकों से राजनीतिक और प्रोटेस्टेण्टों से धार्मिक सिद्धान्तों में मतभेद था। यह दल राजनीतिक (Politiques) कहलाता था और इसका नेतृत्व मांतमोरेंसी के ड्यूक के हाथों में था जो रोमन कैथलिक और कुशल सेनानी था। वह स्पेन के साथ सन्धि और अधार्मिकता के दमन का समर्थक था, परन्तु राजमाता एवं गीज-परिवार के प्रति द्वेष की भावना से उसने प्रारम्भ में बूरबों परिवार का ही साथ दिया। इसका भतीजा कौलीन्यी तो पहले से ही इस दल के साथ था।

फ्रांसिस द्वितीय—राजनीति और धर्म के इस क्षुब्ध वातावरण में सोलह वर्ष का, परन्तु अस्वस्थ एवं दुर्बल, फ्रांसिस द्वितीय फ्रांस का राजा (1559-60 ई०) हुआ। नियमत: नवार के राजा ऐन्थनी को शासन में उसका सहायक होना चाहिए था, पर यह पद प्राप्त हुआ गीज से ड्यूक को जो फ्रांसिस की रानी मेरी का मामा था। परिस्थितिवश कैथरीन ने भी गीज का साथ दिया। शीघ्र ही गीज के ड्यूक ने भी सभी विरोधियों को महत्त्वपूर्ण पदों से पृथक् कर दिया और स्वयं सेना का और उसका छोटा भाई कार्डिनल शासन का प्रधान बन बैठे। इस पर उनके राजनीतिक एवं धार्मिक विरोधियो ने एक सशक्त और संयुक्त मोर्चा खड़ा किया जिसमें सभी असंतुष्ट राजकुमार सम्मिलित थे। इस दल ने राजा को गीज-परिवार के हाथ से मुक्त करने और कोंदे को शासन का प्रधान बनाने के लिए एक षड्यंत्र की रचना की, परन्तु विपक्षियों की सतर्कता से यह प्रयत्न पूर्णत: असफ़ल रहा। षड्यंत्र में सम्मिलित अनेक व्यक्ति पकड़े गये और उन्हें कठोर दण्ड दिया गया। राज्यसत्ता हस्तान्तरित करने के निमित्त सचेष्ट प्रोटेस्टेंट दल ने इस समय से शुद्ध राजनीतिक और आक्रामक स्वरूप धारण किया और उनके विरुद्ध गीज परिवार ने राजा और कैथलिक धर्म की रक्षा का स्वर ऊँचा किया। षड्यंत्र के दमन ने गीज-परिवार के गौरव को इतना अधिक बढ़ा दिया कि उन्होंने प्रोटेस्टेण्ट दल के प्राण कोंदे को भी पकड़ लिया और उसे मृत्यु की सजा सुनायी। परिस्थिति पूर्णरूप से गीज-परिवार के अनुकूल थी और उनकी सफलता निश्चित प्रतीत हो रही थी कि इसी समय सहसा फ्रांसिस की मृत्यु (1560) हो गयी। कोंदे बन्धन से मुक्त हो गया और शासनाधिकार से वंचित एवं श्रीहीन गीज-परिवार की रक्षा के निमित्त अपने महलों में शरण लेनी पड़ी। कुछ समय के लिए इस परिवार का राजनीतिक प्रभाव अत्यन्त मन्द हो गया।

चार्ल्स नवम—फ्रांसिस का छोटा भाई चार्ल्स नवम (1560-74 ई०) गद्दी पर बैठा। इस दसवर्षीय और तेजहीन बालक के शासन में राजमाता कैथरीन संरक्षिका नियुक्त हुई और उसे शासन संचालन का चिर-अभिलषित अवसर प्राप्त हुआ। शासनारूढ़ रहने के लिए गीज और बूरबों परिवारों में शक्ति संतुलन बनाये रखना उसने आवश्यक समझा। फलत: दोनों ही दलों के प्रतिनिधि उसके परामर्शदाता और सहायक नियुक्त हुए। धार्मिक झगड़ों का भी अन्त करने के निमित्त प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। उसने बूरबों दल को प्रसन्न करने के लिए पार्लिमेंट को धार्मिक दमन बन्द करने का आदेश दिया और सन् 1562 ई० में दूसरे अध्यादेश द्वारा प्रोटेस्टेंटों को पूजा के सीमित अधिकार भी प्रदान किये। कैथेरीन का यह कार्य फ्रांस में धार्मिक स्वतंत्रता का प्रथम प्रयास था। परन्तु उसके प्रयत्नों की असफलता पहले से ही निश्चित थी, क्योंकि प्रोटेस्टेंटो को दिये गये अधिकारों से कैथलिक दल में क्षोभ था और दूसरी ओर अपने सीमित अधिकारों से प्रोटेस्टेंट दल घोर असंतुष्ट था। पूर्ण सफलता के इच्छुक दोनों ही दल समझौता के लिए प्रस्तुत न थे। फलत: तनातनी बढ़ रही थी। मार्च सन् 1562 में एक दिन गीज का ड्यूक अपने सिपाहियों के

साथ वासी (Vassy) नामक स्थान से जा रहा था। उसी समय प्रोटेस्टेंटों की प्रार्थना चल रही थी। बातों बात में बिगाड़ हो गया और तलवारें निकल पड़ीं। ह्यूगेनो दल के तीस आदमी मारे गये और दो सौ घायल हुए। पेरिस नगर में विजेता की भाँति ड्यूक का अभिनन्दन हुआ और कैथरीन उसे दण्ड देने में असमर्थ सिद्ध हुई। प्रोटेस्टेंटों के क्रोध की सीमा न रही। फलतः उनका नेता कौंदे अपने दल को युद्ध का सन्देश देकर समर में कूद पड़ा। इस प्रकार यदि शान्ति भंग करने का आरोप कैथलिकों पर है तो फ्रांस में गृह-युद्ध के आह्वान का उत्तरदायित्व उनके प्रतिद्वन्दी ह्यूगेनो दल पर है।

फ्रांस में युद्ध और शान्ति, शान्ति और युद्ध, इनका क्रम तीस वर्षों से ऊपर तक चलता रहा। समस्त काल को प्रायः आठ विभिन्न युद्धों में विभाजित किया जा सकता है जिनमें से अधिकांश में विजय श्री कैथलिकों को ही प्राप्त हुई। यदि शासनाधिकार दृढ़ हाथों में होता तो संघर्ष में कैथलिक धर्म की सफलता निश्चित थी। परन्तु कैथलीन द मेडिची को उसकी सफलता अभिप्रेत न थी, क्योंकि इससे उसके अधिकारों में बाधा पड़ने की सम्भावना थी। दूसरी ओर उभयपक्ष में सन्तुलन के सिद्धान्त से देश-हित साधन भी सम्भव न था। परन्तु अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजमाता कैथेरीन ने देश के हितों की ओर ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप देश में स्थायी शान्ति स्थापित न हो सकी। उसका वैभव विनष्ट हो गया और यूरोपीय राज्यों में उसका गौरव बहुत नीचे गिर गया। दोनों दलों ने बाहरी देशों से सहायता की याचना की। स्पेन ने क़ैथलिकों की धन और जन दोनों से पूरी सहायता की, परन्तु इंगलैंड ह्यूगेनो दल की अधिक सहायता न कर सका। उभय पक्ष ने भृतक सेनाओं का प्रयोग किया जिनमें से अधिकांश जर्मनी और स्विटजरलैण्ड के सैनिक थे। इन सैनिकों में धर्म के प्रति कोई ममता न थी, इन्हें तो एकमात्र धन का लोभ युद्ध की ओर आकृष्ट कर रहा था।

सैंजमैं की सन्धि—प्रारंभ के तीन युद्धों का फल कैथलिकों के अनुकूल था। इस बीच नवार के राजा की मृत्यु और गीज के ड्यूक की हत्या हो चुकी थी। कौंदे की मृत्यु के पश्चात् ह्यूगेनो दल का पक्ष और भी निर्बल पड़ गया, परन्तु कोलीन्यी को अपने अंतिम प्रयास में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। वह सीधे पेरिस पर चढ़ दौड़ा। चार्ल्स नवम भी सन्धि के लिए प्रस्तुत हो गया। फलतः सन् 1570 ई० में सेंट जर्मन (सैंजमै) की सन्धि हो गयी। फ्रांस की शासन-नीति का नियंत्रण और संचालन कोलीन्यी के हाथों में आया और ह्यूगेनो सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त हुई। साथ ही ह्यूगेनो सरदारों का अपने दुर्गों में तथा प्रत्येक जिले के दो नगरों में इस सम्प्रदाय को पूजा और प्रार्थना की सुविधा प्रदान हुई। इसके अतिरिक्त जिन नगरों में उनकी पूजा प्रचलित थी उसे भी कायम रखा गया। उन्हें न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्रदान किये गये। सन्धि की शर्तों की पूर्ति के अर्थ चार प्रसिद्ध दुर्ग को दो वर्ष के लिए ह्यूगेनो वर्ग के अधिकार में दे दिया गया।

इस सन्धि के बाद दो वर्षों तक कोलीन्यी फ्रांस का भाग्यविधाता बना रहा। यह सफल सैनिक और अत्युच्च चरित्र का व्यक्ति तो था ही, शासनाधिकार के हाथ में आते ही कुशल और दूरदर्शी शासक तथा दृढ़ राजभक्त भी सिद्ध हुआ। उधर राजमाता के नियंत्रण से मुक्त चार्ल्स नवम ने भी अपने गुरुतर उत्तरदायित्व को संभाला। दोनों के सहयोग से फ्रांसके लिए सर्वथा नवीन नीति निर्धारित हुई। दोनों के धर्मों के पारस्परिक झगड़ों का अन्त करके देश के पुराने शत्रु स्पेन के साथ युद्ध छेड़ने का निश्चय किया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त इंगलैंड के साथ मित्रता स्थापित हुई और नवार के मृत राजा ऐन्थनी के पुत्र हेनरी के साथ चार्ल्स की बहन मार्गरेट का विवाह भी सम्पन्न हुआ।

सेंट बार्थोलोम्यू दिवस का हत्याकांड—अपने पुत्र पर कोलीन्यी के बढ़ते हुए प्रभाव से राजमाता कैथरीन क्षुब्ध थी। उसे अधिकार सुख का चस्का लग चुका था, परन्तु अब वह उससे वंचित हो रही थी। वह स्थिति उसे असह्य थी। उसे यह विदित था कि फ्रांस की बहुसंख्यक कैथलिक जनता प्रोटेस्टेंटों के बढ़ते हुए प्रभाव की विरोधी है। फलतः उसने निश्चित कर लिया कि मार्ग निष्कटंक करने के लिए कोलीन्यी का निधन आवश्यक है। कैथलिकों के नेता गीज के ड्यूक का सहयोग और समर्थन भी उसे प्राप्त था। इनके संकेत पर एक कैथलिक ने कोलीन्यी को गोली मार दी जिससे वह बुरी तरह घायल हो गया। प्रोटेस्टेंटो ने पूरी जाँच की माँग की जिससे राजमाता की स्थिति भयावह हो गयी। अतः इस अपराध को छिपाने के लिए बड़े अपराध की आवश्यकता हुई। उस समय हेनरी और मार्गरेट के विवाह में सम्मिलित होने के लिए प्रोटेस्टेंट नेता बहुत बड़ी संख्या में पेरिस में विद्यमान थे। कैथेरीन ने रात्रि के गहन अन्धकार में इन सबको यमलोक भेजने का निश्चय कर लिया। उसने समझा-बुझाकर चार्ल्स से भी इस हत्याकांड की अनुमति ले ली। पेरिस के कैथलिक यह नृशंस कार्य करने के लिए प्रस्तुत थे, जिनके सहयोग से सेंट बार्थोलोम्यू दिवस पर इस भीषण नर-काण्ड का सम्पादन निश्चित हुआ। फलतः 24 अगस्त, 1572 के प्रातःकाल, जब गिर्जाघरों के घण्टे घहराने प्रारम्भ हुए, रक्त-पिपासु कैथेलिक पेरिस-स्थित ह्यूगेनो लोगों पर टूट पड़े। इस नर-संहार का पहला शिकार घायल कोलीन्यी था जिसकी हत्या के समय गीज का ड्यूक हेनरी स्वयं उपस्थित था। नवार के राजा हेनरी ने तो तुरंत कैथलिक धर्म स्वीकार कर अपनी रक्षा की। पेरिस तथा अन्य नगरों में बहुत बड़ा हत्याकाण्ड हुआ जिसमें प्रायः दस हजार ह्यूगेनो लोग मारे गये। इस हत्याकाण्ड के समाचार से कैथलिक जगत में बड़ी प्रसन्नता छा गयी। पोप ने विशेष उत्सव मनाया और हर्षभिभूत स्पेन का राजा फिलिप द्वितीय तो अपने जीवन की प्रथम और अन्तिम हंसी हँसा। इस सांघातिक प्रहार ने ह्यूगेनो सम्प्रदाय को निर्बल तो अवश्य कर दिया, परन्तु अब अपने अधिकारों और अस्तित्व की रक्षा के लिए उसने दृढ़तर तैयारी प्रारम्भ की। एक वर्ष के पश्चात पुनः सन्धि हो गयी जिसमें सैंजमै (St. Germain) की अनेक शर्तों को स्वीकार किया गया।

हेनरी तृतीय—1574 में चार्ल्स नवम की मृत्यु के पश्चात उसका छोटा भाई हेनरी तृतीय (1574-89 ई०) गद्दी पर बैठा। युद्धाग्नि फिर भड़क उठी, परन्तु एक सामान्य युद्ध के पश्चात सन्धि हो गयी। फ्रांस के 'राजनीतिक दल' के लोगों के सामने यह प्रश्न अपने जटिल रूप में वर्तमान था कि आखिर इन युद्धों का अन्त भी होगा या नहीं। वे भली-भाँति समझ रहे थे कि इनसे देश का सर्वनाश निश्चित है। उन्होंने व्यक्तिगत धर्म और स्वार्थ की अपेक्षा देश-हित को प्रधानता दी और धार्मिक सहिष्णुता पर आधारित शासन को अपना लक्ष्य बनाया। इन लोगों ने अधिकाधिक संख्या में कैथलिक धर्म का परित्याग कर नवार के राजा हेनरी का साथ देना प्रारम्भ किया जो उपर्युक्त हत्याकाण्ड से अपनी रक्षा के पश्चात पुनः ह्मेगेनो दल में मिल गया था। हेनरी के प्रति इस आकर्षण के दो और कारण थे। हेनरी तृतीय या उसके भाइयों की कोई सन्तान न थी और उत्तराधिकार के नियमानुसार निकटतम रक्त-सम्बन्धी नवार का बूरबों राजा हेनरी ही हेनरी तृतीय का उत्तराधिकारी हो सकता था। दूसरे, उसके धार्मिक विचार उदार थे और उसमें ह्यूगेनो और कैथलिकों की कट्टरता न थी। इस प्रकार ह्यूगेनो दल के साथ 'राजनितिकों' के सम्मेलन से हेनरी का पक्ष पर्याप्त सबल हो गया।

दूसरी ओर कैथलिक दल भी संगठित हो रहा था। दुर्बल हेनरी तृतीय से उचित नेतृत्व की आशा खोकर कट्टरपंथी कैथलिक गीज के युवक ड्यूक हेनरी की ओर आँख लगाये थे। अतः ड्यूक हेनरी के नेत्व में 'कैथलिक-संघ' की स्थापना हुई जिसका प्रधान उद्देश्य फ्रांस में प्रोटेस्टेंट धर्मानुयायी हेनरी के उत्तराधिकार को रोकना था। 'ह्यूगेनो राजा की अपेक्षा प्रजातंत्र ही उत्तम है' यही इस दल का नारा था। इस दल का प्रधान गढ़ पेरिस था और इसे पोप तथा स्पेन से सहायता प्राप्त हो रही थी। कुछ लोग तो स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय को ही फ्रांस का राजा बनाने के लिए प्रस्तुत थे। परन्तु यह विचार देश की राष्ट्रीय मर्यादा के विपरीत था, अत: अधिक सबल न बन सका। हेनरी तृतीय स्वयं शान्ति और समझौते की नीति कार्यान्वित करना चाहता था, परंतु प्रतिकूल परिस्थितियों से बाध्य था। धीरे-धीरे कुछ थोड़े से समर्थकों को छोड़कर सबने उसका साथ छोड़ दिया। फलतः उसकी दशा और अधिक असहाय और दयनीय होने लगी।

तीन हेनरियों का युद्ध—शीघ्र ही गृह कलह ने एक दूसरा स्वरूप धारण किया, जिसका लक्ष्य फ्रांस के उत्तराधिकार का निर्णय था। इस युद्ध में उपर्युक्त तीनों दलों ने भाग लिया। इनमें से प्रत्येक दल के नेता का नाम हेनरी था, अतः इसे 'तीन हेनरियों का युद्ध' भी कहते हैं। देश में घोर अराजकता उत्पन्न हो गयी। हेनरी तृतीय नाममात्र के लिए राजा था। शासन की बागडोर गीज के ड्यूक हेनरी के हाथों में थी। देश तो दूर पेरिस नगर पर भी उसका नियंत्रण नहीं रह गया था। उसने इस स्थिति से त्राण पाने के निमित्त स्टेट्स जनरल की बैठक बुलायी, परन्तु उसके बहुसंख्यक प्रतिनिधियों को भी

प्रतिकूल ही पाया। वह भली भाँति समझ रहा था कि ड्यूक हेनरी उसका सबसे बड़ा शत्रु है और उसके समस्त अपमानों का कारण है। अतः राजा ने हत्या का आश्रय लिया और एक दिन जब ड्यूक मिलने के लिए राजमहल में आया तो राजा ने उसका वध करा दिया और शीघ्र ही उसका भाई लोरेन का कार्डिनल भी मार डाला गया। हेनरी तृतीय ने बड़ी प्रसन्नता से अपनी मरणासन्न माता कैथरीन को यह संदेश सुनाया कि "मैंने पेरिस के राजा का वध कर डाला है और अब मैं फ्रांस का वास्तविक राजा हूँ।" राजमाता ने उत्तर दिया—"ईश्वर करे ऐसा ही हो, परन्तु क्या तुम दूसरे नगरों से निश्चिन्त हो?"

ड्यूक हेनरी, जो 'संघ' के राजा के नाम से पुकारा जाता था, मर चुका था, परन्तु संघ जीवित था। इसने हेनरी तृतीय का आदेश मानने से इन्कार कर दिया। बाध्य होकर राजा को नवार के हेनरी की शरण लेनी पड़ी और दो शत्रु और प्रतिद्वन्द्वी पुनः एक-दूसरे के मित्र और सहायक बन गये। इनकी सम्मिलित सेनाओं के सामने योग्य नेता के अभाव में संघ की सेनायें न टिक सकीं। दोनों ही राजधानी पर अधिकार करने के लिए पेरिस की ओर बढ़े। नगर पर घेरा डाल दिया। इसी समय एक कट्टर कैथलिक साधु राजा के पास आया और छुरा भोंकर उसे मार डाला (1589)। इस प्रकार 'निकृष्टतम राजवंश के निकृष्टतम राजा' का निर्मम अन्त हुआ और उसके साथ ही वाल्वा (Valova) के राजवंश का भी अन्त हो गया। नवार के शासक हेनरी ने फ्रांस के राजा और हेनरी चतुर्थ की उपाधि धारण की और अब वास्तविक अधिकार का निर्णय उसके और कैथलिक संघ के बीच रह गया।

अध्याय 6

सोलहवीं शताब्दी के अन्य राज्य

जर्मनी :

राजनीति विघटन—सोलहवीं शताब्दी में जर्मनी में राजनीतिक विघटन और धार्मिक विभाजन की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। जिस समय स्पेन, फ्रांस और इंग्लैण्ड में सुदृढ़ राष्ट्रीय राजतंत्रों की स्थापना का सफल प्रयास चल रहा था, जर्मन साम्राज्य में, जो सैकड़ों छोटे-बड़े असम्बद्ध राज्यों का ढीला-ढाला संघटन-मात्र था, विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति की प्रधानता थी। अन्य देशों में शक्तिमान राजाओं ने महत्त्वाकांक्षी सामन्तों और सरदारों का दमन तथा नगरों की स्वतंत्रता का अपहरण कर और प्रतिनिधि संस्थाओं को शक्तिहीन या आज्ञाकारी बनाकर देश में राजनीतिक एकता, शान्ति और सुरक्षा की स्थापना की थी। उन्हें राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन, संगठन और विकास के प्रयत्न में देश की जनप्रिय संस्थाओं का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। तत्कालीन जर्मनों में भी राष्ट्रीयता और राष्ट्र-प्रेम का अभाव न था। उन्हें भी अपनी भाषा, जाति और परम्परा की एकता पर गर्व था। उन्होंने भी अपनी राजनीतिक संस्थाओं में समयानुकूल सुधार करने और जर्मनी को सुदृढ़ राज्य बनाने की चेष्टा की थी। परन्तु उनके सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। इस असफलता के तीन प्रधान कारण थे। सम्राट की ओर से राष्ट्रीय संगठन के लिए उचित नेतृत्व का अभाव, विभिन्न दलों के स्वार्थों और राजनीतिक संघटन के लिए प्रयुक्त साधनों में पार्थक्य तथा देश में धार्मिक एकता का अभाव।

यद्यपि जर्मनी के अन्य वर्गों की अपेक्षा जर्मन सम्राट सबल केन्द्रीय शासन के अधिक समर्थक थे परन्तु उनमें अपेक्षाकृत राष्ट्र-प्रेम का अभाव था। जिस समय चार्ल्स पंचम सम्राट हुआ (1519), उस समय साम्राज्य की सीमा जर्मन भाषा-भाषी प्रान्तों तक ही सीमित थी। यदि उसने अपनी समस्त शक्ति और प्रतिभा का प्रयोग जर्मनी के आन्तरिक विकास के लिए ही किया होता तो सम्भवतः देश के संघटन में उसे अधिक सफलता प्राप्त हुई होती। परन्तु वह केवल एक राष्ट्र को ही सुदृढ़ राजतंत्र के रूप में परिवर्तित करने के निमित्त अपने विस्तृत पारिवारिक साम्राज्य के हितों का परित्याग करने के लिये प्रस्तुत न था। उसने अपने शासन के प्रारम्भ में ही अपने विचारों को स्पष्ट कर दिया था कि रोमन साम्राज्य की तुलना में अन्य राज्य नगण्य हैं। यद्यपि वह अपने व्यक्तिगत अधिकारों को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील था, परन्तु राष्ट्रीयता के आधार पर जर्मनी में सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना का आदर्श उसके साम्राज्यवादी विचारों के सर्वथा विपरीत और इसीलिये अमान्य था।

दूसरी ओर जर्मनी के सबल राजकुमार जो स्वयं जर्मनी के राजनीतिक विघटन के लिये उत्तरदायी थे, सम्राट पर देश-प्रेम के अभाव का दोषारोपण कर अपने पक्ष में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने का प्रयास कर रहे थे। चार्ल्स पंचम के चुनाव के समय उन्होंने अपने इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर अपनी माँगें उपस्थित की थीं। वे चाहते थे कि जर्मन या लैटिन साम्राज्य की राजभाषा स्वीकृत हो, सरकार पदों पर केवल जर्मनों की ही नियुक्ति हो, जर्मन राजकुमार बाहरी राजनीतिक शक्ति के नियंत्रण से मुक्त रहें, जर्मन पार्लियामेंट की स्वीकृति के बिना साम्राज्य-सम्बन्धी युद्धों में विदेशी सेनायें भाग न लें, सभी राजकुमारों की प्रभुसत्ता सम्राट द्वारा स्वीकृत हो और शाही शासन में भाग लेने के लिए एक राज्य परिषद (Reichsregiment) की स्थापना हो जिसके सदस्यों की नियुक्ति उनमें से ही की जाय। फलतः वर्म्स की सभा (1521) द्वारा एक राज्य परिषद की स्थापना तथा स्वतंत्र शाही कोष के लिये चुंगी और आयात की वस्तुओं पर कर की व्यवस्था की गयी। ये दोनों ही प्रयत्न देश की राजनीतिक एकता का संकेत कर रहे थे। परन्तु नगरों के व्यापारियों ने इसका उग्र विरोध किया। उन्हें भय था कि उनके व्यापार पर इन करों का बुरा प्रभाव होगा। इस विरोध के परिणाम स्वरूप राजकुमारों का सारा कार्यक्रम निष्फल हो गया।

जर्मन योद्धाओं (Knights) का वर्ग राजकुमारों की अपेक्षा अधिक देश-प्रेमी था। यद्यपि यह वर्ग राजकुमारों और नगरों के साहूकारों को द्वेष की दृष्टि से देखता था और देश में युद्ध और रक्तपात के लिये अधिक उत्तरदायी था, परन्तु साथ ही इसे अपनी जर्मन राष्ट्रीयता पर अत्यधिक गर्व था। इनके तात्कालिक नेता उलरिक फान हटन (Ulrich von Hutten) और फ्रांज फान जिकिंगेन (Franz von Sickingen) ने चार्ल्स पंचम के सम्राट पद के चुनाव में इसलिये अधिक योग दिया था कि वह जर्मन हैप्सवर्ग परिवार का था और उसके प्रतिद्वन्द्वी विदेशी थे। स्वयं सम्राट भी प्रारम्भ में राजकुमारों और व्यापारियों के साथ अपने संघर्ष के कारण इस वर्ग की ओर विशेष रूप से आकृष्ट था और प्रतीत यह हो रहा था कि जर्मनी में राजकुमारों की शक्ति को नियंत्रित कर सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना करने में यह वर्ग अधिक सफल होगा। परन्तु ठीक इसी समय जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट धर्म का प्रादुर्भाव हुआ जिसने योद्धाओं के नेता और सम्राट को दो विरोधी दलों में विभक्त कर दिया। हटन और जिकिंगेन ने मार्टिन लूथर के विचारों का सहर्ष स्वागत किया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि विदेशी पोप के नियंत्रण से सर्वथा मुक्त एक स्वतंत्र जर्मन चर्च की सहायता से देश में वास्तविक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना की जा सकती है। इसके विपरीत सम्राट रोमन कैथलिक था और उसका विश्वास था कि बहुत-कुछ अंशों से उस सार्वभौम धर्म की सहायता से ही जर्मनी में उसके बचे खुचे राजनीतिक अधिकारों की रक्षा सम्भव है। साथ ही उसे पोप की सहायता भी आवश्यक थी। यही कारण है कि एक ओर तो शाही नियंत्रण से मुक्त होने

के लिये जर्मन राजकुमारों ने लूथरवाद को स्वीकार किया और दूसरी ओर शाही अधिकारों की रक्षा के लिये सम्राट ने इस नवीन सम्प्रदाय को अस्वीकार कर दिया।

जर्मनी में सम्राट की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर नवीन धर्म के समर्थक योद्धा-वर्ग ने ट्रीयर (Trier) के बिशप-राजकुमार के विरुद्ध युद्ध (1522) छेड़ दिया जिसे 'योद्धाओं का युद्ध' (KnightsWar) कहते हैं। इस समय जर्मनी के राजकुमारों ने धर्म का ख्याल छोड़कर ट्रीयर के कैथलिक बिशप-राजकुमारों की रक्षा के लिए अपने प्रतिद्वन्द्वी योद्धा वर्ग के विरुद्ध सामूहिक मोर्चा लिया। फलतः जिकिंगेन युद्ध करता हुआ मारा गया (1523), हटन ने भागकर अपनी रक्षा की और राजकुमारों को पूर्ण विजय की प्राप्ति हुई। योद्धा वर्ग की पराजय के साथ सोलहवीं शताब्दी में जर्मन एकता तथा राष्ट्रीय जर्मन राज्य की स्थापना का प्रयत्न सर्वथा असफल हो गया।

दूसरी ओर प्रोटेस्टेण्ट धर्म भी जर्मनी के राष्ट्रीय अनैक्य का प्रधान कारण बन गया। इस धर्म ने जर्मनी में राष्ट्रीय चेतना तो अवश्य उत्पन्न की, परन्तु साथ ही देश का विभाजन भी कर दिया। यदि इसे सम्राट के साथ समस्त राजकुमारों ने स्वीकार या अस्वीकार कर दिया होता तो प्रत्येक स्थिति में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय धर्म की रक्षा सम्भव हुई होती। परन्तु इस नवीन धर्म के विकास के साथ समस्त जर्मन जनता और राजकुमारों दो परस्पर-विरोधी धार्मिक दलों में विभक्त हो गये और स्वार्थी एवं सबल राजकुमारों ने अपने व्यक्तिगत और स्थानीय अधिकारों की रक्षा, सम्राट के विरोध तथा राष्ट्रीय एकता के प्रयत्नों को निष्फल बनाने में धर्म को ही प्रधान साधन बनाया। आग्सबर्ग की सन्धि (1555) ने कैथलिक धर्म के साथ प्रोटेस्टेण्ट धर्म को स्वीकृति प्रदान कर राष्ट्रीय विभाजन की प्रक्रिया को और भी सम्पुष्ट कर दिया।

सम्राट फर्डिनैंड प्रथम (1556-64 ई०) और मैक्सिमिलियन द्वितीय (1564-76 ई०) के शासन काल में सैक्सोनी के ड्यूक तथा दूसरे राजकुमारों से राष्ट्रीय एकता के लिये कुछ सहायता अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु विकेन्द्रीकरण की बलवती प्रवृत्तियों के कारण सफलता न प्राप्त हो सकी। स्थानीय न्यायालयों और परिषदों (Estates) के विकास के कारण राजकुमारों के राजनीतिक अधिकारों में वृद्धि, पार्लियामेंट (Diet) के अधिवेशनों में उनकी अनुपस्थिति, तुर्कों के आक्रमण से आस्ट्रिया और हंगेरी की रक्षा की समस्या, निर्वाचनों के समय प्रत्येक सम्राट द्वारा अधिकारों का समर्पण आदि से जर्मन एकता पर आघात पहुँच रहा था और साथ ही साम्राज्य का दौर्बल्य क्रमशः बढ़ता जा रहा था। फलतः इस विपरीत स्थिति में जर्मनी में सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना एवं राष्ट्रीय एकता की आशा प्रायः लुप्त हो गयी थी।

धार्मिक विभाजन—आग्सबर्ग की संधि (1555) के पश्चात् प्रोटेस्टेंटों ने अपनी शक्ति बढ़ाने की चेष्टा प्रारम्भ की। इसमें उन्हें सम्राट फर्डिनैंड की संयत नीति से

भी सहायता मिली। मैक्सिमिलियन द्वितीय की प्रारंभिक नीति तो इतनी सहानुभूतिपूर्ण थी कि बहुत से लोग उससे प्रोटेस्टेण्ट होने की आशा करने लगे थे। उपर्युक्त संधि के 'धार्मिक रक्षण' के नियम द्वारा निश्चित किया गया था कि कोई भी बिशप कबाट प्रोटेस्टेण्ट होने पर अपने पद और सम्पत्ति का स्वामी न रह सकेगा। इस विषय में प्रोटेस्टेण्ट का कहना था कि यह नियम उन सेवा-क्षेत्रों पर लागू नहीं होता जहाँ के निवासियों ने प्रोटेस्टेण्ट धर्म स्वीकार करके प्रोटेस्टेण्ट बिशप या अबाट का चुनाव कर लिया है। प्रोटेस्टेण्ट राजकुमारों ने प्रायः अपने पुत्रों को बिशप नियुक्त कर अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। लूथरवादी प्रोटेस्टेंटों का नेता सैक्सोनी का ड्यूक आगस्टस था जो कैथलिक धर्म और कैल्विनवाद दोनों का विरोधी था।

आग्सबर्ग की सन्धि ने केवल लूथरवाद को ही मान्यता प्रदान की थी। परन्तु कैल्विनवासियों की संख्या और प्रभाव दोनों में शीघ्रता से वृद्धि हो रही थी और पैलेटिनेट का शासक फेडरिक तृतीय उनका नेता था। सन् 1561 ई० में दोनों संप्रदायों में एकता स्थापित करने का प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। फ्रेडरिक की विदेशी प्रोटेस्टेंटो के प्रति सहानुभूति थी। उसने नेदरलैंड्स के शरणागत विद्रोहियों को स्थान और उनके नेता ओरेंज के राजकुमार विलियम को आर्थिक सहायता भी दी। फ्रांस के प्रोटेस्टेण्ट राजकुमार कोंदे के साथ भी उसका सम्बन्ध था। उसने 1569 ई० में जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट तथा इंगलैण्ड और स्वीडेन के बीच एक प्रोटेस्टेण्ट संघ बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया था। वस्तुतः इस बाहरी संघ की सहायता से वह जर्मनी में प्रोटेस्टेण्ट धर्म को सुदृढ़ बनाना चाहता था। परन्तु लूथरवादी ब्रैडेनबर्ग के विरोध के कारण उसका यह प्रयत्न निष्फल हो गया। बात यह थी कि देश में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के नेतृत्व के लिये लूथरवादियों और कैल्बिनवादियो में होड़ थी और इसी कारण कैल्विनवादी सम्राट का विरोध और लूथरवादी इसका समर्थन कर रहे थे। वास्तव में कैल्विनवाद की बढ़ती हुई सामरिक प्रवृत्ति और अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति से लूथरवादी सशंक हो रहे थे और स्वयं जर्मनी में उनके द्वारा प्रोटेस्टेण्ट धर्म का नेतृत्व खतरे में पड़ गया था। इन दोनों सम्प्रदायों की पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष का यही प्रधान कारण था।

जर्मनी में अभी भी कैथलिकों की संख्या अधिक थी। सम्राटों ने कैथलिक-धर्म-सुधार का साथ दिया था। बवेरिया का शासक अलबर्ट (1550- 79 ई0) इस धर्म का प्रबल समर्थक था । उसने चार वर्षो में दस हजार प्रोटेस्टेंटों को कैथलिक बनाया था। कैथलिक राज्यों से प्रोटेस्टेंटों का निष्कासन और उनकी सम्पत्ति का अपहरण हो रहा था। लेंसूइटों को अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफलता प्राप्त हो रही थी और उन्होंने अनेक स्थानों पर अपने स्कूल और कालेजों की स्थापना कर ली थी । मैक्सिमिलियन की मृत्यु (1576) तक कैथलिक धर्म को बड़ी सफलता मिल चुकी थी और प्रोटेस्टेंटों का

पराभव प्रारम्भ हो गया था । प्रोटेस्टेंटों के पारस्परिक मतभेद, ईर्ष्या और द्वेष कैथलिकों के शक्ति-संचय में सहायक हो रहे थे। सम्राट्रुडौल्फ द्वितीय के शासन-काल (1576-1612ई0) में कैथलिक-धर्म सुधार ने जेसूइटों की सहायता से आस्ट्रिया, स्टीरिया और बोहेमिया आदि में अधिक सफलता प्राप्त की। यदि वह स्वयं प्रोटेस्टेंटों की शक्ति कम करने में अधिक प्रयत्न न कर सका तो इसका कारण उसमें आवश्यक उत्साह का अभाव नहीं, अपितु तुर्कों के प्रबल आक्रमण (1596) से देश की रक्षा के लिए प्रोटेस्टेंटों की सहायता की घोर आवश्यकता थी। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी कैथलिक धर्म का सबसे प्रबल केन्द्र बवेरिया का प्रदेश था और वहाँ का शासक विलियम (1579-97 ई0) और उसका पुत्र मैक्सिमिलियस इस धर्म के सबल समर्थक थे । परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि जर्मनी में कैथलिक और प्रोटेस्टेंटों का द्वेष अधिकाधिक बढ़ रहा था, परन्तु सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उनमें युद्ध की नौबत न आ सकी । इसका प्रधान श्रेय सम्राटों की संयत और अपेक्षाकृत शान्तिप्रिय नीति है, और इस नीति में उन्हें परोक्ष रूप से लूथरवादियों से भी सहायता मिली जो कैल्विनवादियों की सामरिक प्रवृत्ति तथा देश में उनकी बढ़ती हुई शक्ति से सशंक हो रहे थे।

इंग्लैण्ड

सुदृढ़ राजतंत्र—हेनरी सप्तम ने इंग्लैण्ड में सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना की थी जो यद्यपि निरंकुश था परन्तु साथ ही जनप्रिय भी था। उसने गृह युद्धों का अन्त करके देश में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था की थी और देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। इसी कारण जनता ने उसके दृढ़ शासन का स्वागत किया था। हेनरी अष्टम (1509-47 ई०) के घटना-बहुल शासन में लोगों को एक विशेष प्रकार का आकर्षण प्रतीत हुआ। उसकी सबल वाह्य-नीति द्वारा राष्ट्रीय गौरव का उत्थान तथा धार्मिक नीति द्वारा राजतंत्र के अधिक सुदृढ़ होने की संभावना थी और यह संभावना सत्य भी निकली। एडवर्ड षष्ठ (1547-53 ई०) और मेरी ट्यूडर (1553-58 ई०) का शासन काल राजतंत्र के गौरव की दृष्टि से ह्रास का काल है। इन दोनों ही शासकों के काल में देश राजनीतिक या धार्मिक दलबन्दियों का अखाड़ा बन गया और गृह युद्धों की स्थिति उत्पन्न हो गयी और प्रथम दो शासकों द्वारा स्थापित शान्ति और सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। महारानी एलिजाबेथ (1558-1603 ई०) ने इस स्थिति से देश का उद्धार किया और उसने पुनः सबल, राष्ट्रीय एवं जनप्रिय शासन की स्थापना की। उसे अपनी शासन नीति में देश की बहुसंख्यक जनता का समर्थन और सहयोग प्राप्त था, क्योंकि उसका शासन सैन्य बल पर नहीं, अपितु जनता की राजभक्ति और देशभक्ति पर आधारित था। इस प्रकार प्रायः एक दशक के अशान्ति-काल को छोड़कर समकालीन यूरोप के

अन्य देशों की अपेक्षा ट्यूडर-कालीन इंगलैण्ड में अधिक शान्ति थी। वस्तुतः एक ओर तो यह सुदृढ़ राजतंत्र की देन थी और दूसरी ओर यही शान्ति और व्यवस्था देश में सुदृढ़ राजतन्त्र की जन प्रियता का कारण थी। ट्यूडर राजाओं के शासन काल में देश के वैधानिक या स्थानीय शासन के विकास में विशेष प्रगति न हो सकी, परन्तु इससे देश में किसी प्रकार का असन्तोष नहीं प्रकट हुआ, क्योंकि सुदृढ़ शासन देश की माँग के अनुकूल था और एक मात्र इसी के द्वारा देश के आन्तरिक विकास और अन्तर्राष्ट्रीय गौरव का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता था।

वाह्य नीति—हेनरी सप्तम के विषय में हम पहले देख चुके हैं कि वह अपने राजपद की रक्षा, देश में शान्ति और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था और आर्थिक विकास के कार्यों में विशेष रूप से लगा रहा। शान्तिमय शासन का निर्वाह ही उसका प्रधान उद्देश्य था। वह युद्धों की सम्भावना से युक्त सबल बाह्य नीति का समर्थक नहीं, अपितु वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा युद्धों से बचे रहने की नीति का पोषक था। उसने फ्रांस के भय और आक्रमण की आशंका का निवारण स्पेन और स्काटलैंड के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके किया। परन्तु हेनरी अष्टम को अपने पिता की नीति पसन्द न थी। इसके विपरीत यूरोपीय राजनीति में अपने और देश दोनों के महत्त्व की वृद्धि उसका प्रधान उद्देश्य था। स्पेन और फ्रांस के दीर्घकालीन युद्ध में उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का सुन्दर अवसर देखा। यद्यपि इसके पूर्व यूरोपीय राजनीति में इंगलैण्ड प्राय. नगण्य समझा जाता था, परन्तु इस युद्ध में 'शान्ति-संतुलन' की रक्षा करते हुए कभी फ्रांस और कभी स्पेन की सहायता के द्वारा देश और शासक दोनों का गौरव बढ़ाया जा सकता था। हेनरी अष्टम और उसका दूरदर्शी मंत्री कार्डिनल ऊल्जे दोनों इस नीति के सम्बन्ध में एकमत थे। इस प्रकार प्रत्येक दशा में देश का लाभ और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने सम्मान की वृद्धि ही उसका लक्ष्य था। उसकी यह नीति पर्याप्त आकर्षक और साहसपूर्ण थी और अपने शासन के पूर्वार्द्ध में उसने यूरोपीय राजनीति में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप भी किया। स्पेन और फ्रांस दोनों ही उसकी मित्रता के इच्छुक बन गये थे। परन्तु इस नीति में 1529 ई० के पश्चात् महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ जिसका कारण हेनरी का व्यक्तिगत चरित्र और उसकी धार्मिक नीति है। अपनी रानी कैथेरीन का त्याग, पोप से सम्बन्ध विच्छेद तथा राष्ट्रीय चर्च का संगठन इन समस्याओं के सुलझाने में वह इतना अधिक व्यस्त हो गया कि यूरोपीय राजनीति की ओर ध्यान देने का अवसर ही न रहा। पोप से सम्बन्ध विच्छेद होने पर भी उसने यूरोप के प्रोटेस्टेंटो की कोई सहायता न की।

एडवर्ड षष्ठ और मेरी ट्यूडर के काल में इंगलैण्ड की आन्तरिक स्थिति तो चंचल हो ही गयी थी, उसका अन्तर्राष्ट्रीय गौरव भी कम हो गया। यदि एडवर्ड काल में इंगलैण्ड प्रोटेस्टेण्ट राज्यों के साथ मैत्री की ओर आकृष्ट हुआ तो मेरी ने देश का भाग्य कैथलिक राष्ट्र स्पेन के साथ संलग्न कर दिया। उसने फिलिप द्वितीय के साथ विवाह

कर लिया और धार्मिक क्षेत्र में इंगलिश चर्च को पुनः पोप के अधीन कर उसने क्षमा-याचना की। उसी के शासन काल में फ्रांस के समुद्र तट पर स्थित कैले का बन्दरगाह भी इंगलैण्ड के हाथ से जाता रहा।

महारानी एलिजाबेथ के शासन से इंगलैण्ड गौरवपूर्ण बाह्य नीति का प्रारम्भ होता है। शासन के प्रारम्भ में वह अवश्य स्पेन के साथ और फ्रांस के विरुद्ध थी, परन्तु शीघ्र ही उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के अनेक कारण थे। फिलिप द्वितीय यूरोप में कैथलिक धर्म की पुनः स्थापना का घोर समर्थक था और उसकी आक्रामक कैथलिक नीति से एलिजाबेथ पूर्णतः सशंक थी। वह नहीं चाहती थी कि कैथलिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा देश में पोप और फिलिप द्वितीय का प्राधान्य स्थापित हो। परन्तु वह स्पेन के साथ संघर्ष के भी पक्ष में न थी और इसीलिये फिलिप के विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकृत न करके सदा टालती रही। स्पेन और इंगलैण्ड के वैमनस्य का दूसरा कारण हाकिंस, ड्रेक आदि अंग्रेज नाविकों का स्पेनी व्यापार को हानि पहुंचाना और उसके माल से लदे जहाजों का लूटना था। एलिजाबेथ ने इस पर न तो कोई नियंत्रण ही लगाया और न लगाना ही चाहती थी। अंग्रेज नाविकों के कार्य स्पेन के लिये असह्य थे और यदि फिलिप द्वितीय नेदरलैंड्स के विद्रोह तथा फ्रांस के आन्तरिक मामलों में उलझा न होता तो बहुत पहले ही स्पेन और इंगलैण्ड के बीच युद्ध छिड़ गया होता। तीसरे, एलिजाबेथ नेदरलैंड्स के विद्रोहियों की भी सहायता कर रही थी। युद्ध को बचाते हुए एलिज़ाबेथ के विरुद्ध फिलिप के प्रयत्न भी शिथिल न थे। वह इंगलैण्ड के कैथलिकों और स्काटों की रानी मेरी की भरपूर सहायता कर रहा था। इस प्रकार यदि एक देश की शक्ति, संगठन और समृद्धि के लिए, तो दूसरा अपनी उलझनपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से बाध्य होकर, युद्ध से बचना चाहता था। परन्तु जब स्थिति असह्य हो उठी और इंगलैण्ड को कैथलिक बनाने का कोई उपाय शेष न रह गया तो फिलिप ने अन्त में सैन्य-बल का आश्रंय लिया। शीघ्र ही इंगलैण्ड पर आक्रमण करने के लिये स्पेन का अजेय ओर्मडा नेदरलैण्ड्स स्थित स्पेनी सेना की सहायता के लिये चल पड़ा। परन्तु अंग्रेज नाविकों के साहसपूर्ण युद्ध-कौशल तथा स्वयं अपनी विशालता के कारण स्पेनी ओर्मडा इंगलिश चैनेल में बुरी तरह पराजित हुआ। इंगलैण्ड एक महान् आपत्ति से बच गया और यहीं से इंगलैण्ड के उत्थान का गौरवपूर्ण पृष्ठ आरम्भ हुआ। अब एलिजाबेथ ने फिलिप का खुला विरोध प्रारम्भ किया। उधर अंग्रेज नाविकों की लूट और भी बढ़ गयी और उन्होंने स्पेनी बन्दरगाह केडिज तक को लूट लिया।

एलिजाबेथ ने एक ओर तो एक कैथलिक राज्य का विरोध किया, परन्तु दूसरी ओर दूसरे कैथलिक राज्य फ्रांस के साथ उसका मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। इस मित्रता का

कारण दोनों देशों की स्पेन से शत्रुता थी। फ्रांस के धार्मिक युद्धों का भी इस सम्बन्ध पर कोई असर न पड़ सका और जब हेनरी चतुर्थ फ्रांस की गद्दी पर बैठा तो यह सम्बन्ध और घनिष्ठ हो गया। क्योंकि वह भी एलिजाबेथ की भाँति फिलिप का कट्टर शत्रु था।

स्काटलैंड के साथ सम्बन्ध—ट्यूडर काल के प्रारम्भ में स्काटलैण्ड इंगलैण्ड का सबसे बड़ा शत्रु था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह इंगलैण्ड के लिये बहुत भयावह सिद्ध हो सकता था और जब तक वह शत्रु शिविर में था, इंगलैण्ड सुख की नींद नहीं सो सकता था। प्रारंभ में दोनों देशों की मित्रता के लक्षण भी नहीं दिखाई दे रहे थे। हेनरी सप्तम ने स्काटलैंड से अच्छा सम्बन्ध और फ्रांस से सुरक्षा का ध्यान रखकर ही अपनी पुत्री मार्गरेट का विवाह जेम्स चतुर्थ के साथ किया था, परन्तु इसका परिणाम चार पीढ़ियों बाद ही पूर्ण रूप से फलित हुआ जब उसका प्रपौत्र जेम्स प्रथम इंगलैण्ड की गद्दी पर आसीन हुआ। हेनरी अष्टम को अपने शासन के प्राय: अन्त तक स्काटलैंड से संघर्ष करना पड़ा और 1542 ई० में स्काटलैंड के राजा जेम्स पञ्चम की मृत्यु के बाद ही स्थिति में परिवर्तन हुआ। उसकी एकमात्र पुत्री और उत्तराधिकारिणी मेरी के विवाह की बात एडवर्ड षष्ठ के साथ चल रही थी और यदि यह विवाह सम्पन्न हो गया होता तो इंगलैण्ड और स्काटलैंड की एकता सत्य बन गयी होती। परन्तु संरक्षक सामसेंट के कार्यों से विघ्न उपस्थित हो गया और मेरी का विवाह फ्रांस के राजकुमार के साथ सम्पादित हो गया। फ्रांस और स्काटलैंड के इस मेल से इंगलैण्ड की स्थिति सर्वथा भयावह हो गयी और दोनों देशों की शत्रुता और भी तीव्र हो गयी।

कुछ वर्षों के पश्चात् जब स्काटलैंड में धर्म-सुधार का आन्दोलन छिड़ा तो दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध में बहुत बड़ा अन्तर उपस्थित हुआ। स्काटलैंड के प्रोटेस्टेंटो ने नाक्स के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया और उनकी विजय में एलिजाबेथ ने पूर्ण सहायता पहुँचायी। विजयी जान नाक्स ने स्काटलैंड में प्रेस्विटीरियन सम्प्रदाय की स्थापना की। यद्यपि इसमें तथा आंग्ल चर्च में अन्तर था, परन्तु यूरोप की कैथलिक शक्तियों से दोनों का विरोध था और यही विरोध दोनों देशों की मित्रता का कारण बन गया। वस्तुत: एलिजाबेथ की यह बहुत बड़ी राजनीतिक सफलता थी। स्काटों की अपेक्षा मेरी के समय में अवश्य इस सम्बन्ध में अन्तर आ गया था, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों से विवश होकर उसे 1567 ई० में अपने पुत्र जेम्स षष्ठ के पक्ष में स्काटलैंड के सिंहासन का परित्याग करना पड़ा। इधर एलिजाबेथ ने आजीवन विवाह न किया जिसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु के बाद मेरी का पुत्र और स्काटलैंड का राजा जेम्स षष्ठ, जो इंगलैण्ड के राजवंश का निकटतम सम्बन्धी था, जेम्स प्रथम के नाम से इंगलैण्ड के राज्य का स्वामी हुआ। इस प्रकार दोनों देशों की दीर्घकालीन शत्रुता का मधुर अन्त हुआ।

आयरलैंड से सम्बन्ध—ट्यूडर वंश के पूर्व आयरलैंड पर इंगलैण्ड का अधिकार बहुत क्षीण हो गया था परन्तु जब ट्यूडर राजाओं ने सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना प्रारम्भ की तो इसका प्रभाव आयरलैंड पर भी पड़ा। सरदारों की स्वतंत्रता छिन गयी, उनके दुर्ग धराशायी हो गये और देश में अंग्रेजी पार्लियामेंट का नियंत्रण स्थापित हो गया। हेनरी अष्टम के समय में धर्म सुधार और दमन के बावजूद आयरलैंड का विरोध अधिक तीव्र न हो सका। परन्तु एलिजाबेथ के समय तक आयरलैंड में पर्याप्त चेतना आ गयी थी, जो रानी की नीति के कारण और उग्र हो गयी। वस्तुतः एलिजाबेथ की आयरलैंड सम्बन्धी नीति 'अज्ञान, दुर्बलता, निर्दयता और असफलता की कहानी' है। वह आयरलैंड को अपने दृढ़ शासन के अन्तर्गत लाना चाहती थी। साथ ही राजनीतिक एकता में बाधक स्थानीय विभिन्नताओं और प्रान्तीय रीति-रिवाजों का अन्त तथा देश में आंग्ल-चर्च की स्थापना भी उसके ध्येय थे। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने आयरलैंड्स के विस्तृत भूभागों को जब्त कर उन पर अंग्रेजों को बसाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार आयरलैंड के प्रति उनकी नीति फिलिप द्वितीय की नेदरलैंड्स की नीति से अधिक कठोर सिद्ध हुई और यही कठोरता उसकी असफलता का कारण बन गयी। आयरलैंड का विरोध उग्रतर हो उठा, जिसके फलस्वरूप वहाँ न तो आंग्ल चर्च सफल हुआ और न अंग्रेज निवासी ही टिक सके। सारा देश रानी के खिलाफ विद्रोह का आखाड़ा बन गया और विद्रोहियों को स्पेन और पोप से पर्याप्त सहायता भी प्राप्त हुई। दूसरी ओर एलिजाबेथ की नीति और भी कठोर होती गयी जिसके फलस्वरूप सारा देश तहस-नहस हो गया। इन सबका परिणाम यह हुआ की आयरलैंड-वासियों में राष्ट्रीयता और उत्कट देश-प्रेम की भावना जागृत हुई, कैथलिक धर्म के प्रति उनका विश्वास और दृढ़ हो गया और इंगलैण्ड के प्रति उनकी कटुता बढ़ गयी। वस्तुतः आयरिश जनता के साथ किया हुआ दुर्व्यवहार एलिजाबेथ के चरित्र पर बहुत बड़ा धब्बा है।

देश का बहुमुखी उत्कर्ष—ट्यूडर शासन-काल में इंगलैण्ड के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए जो राष्ट्र की शक्ति, वैभव और विकास के प्रतीक थे। लोगों की राष्ट्र और देश-प्रेम की भावना समुन्नत थी जिसने देश में राजनीतिक एकता का बीजारोपण किया। अजेय ओर्मडा का सामना प्रोटेस्टेण्ट और कैथलिक दोनों ने मिलकर किया। वस्तुतः देश की एकता ही एलिजबेथ की शक्ति थी और इसी के आधार पर स्पेन के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई थी। हाकिंब्स और ड्रेक आदि अंग्रेज नाविकों ने इस काल में अतीव साहस और आत्मविश्वास का परिचय दिया। उन्हें इस बात की अनुभूति हुई कि समुद्र ही देश की भावी उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इसी के आधार पर विश्वव्यापी व्यापार और औपनिवेशिक साम्राज्य का विस्तार सम्भव है। अतः उनमें चेतना और स्फूर्ति का संचार हुआ और उन्होंने मार्ग में सबसे बड़ी बाधा स्पेन के सामुद्रिक आधिपत्य का प्रायः अन्त कर दिया। देश की शान्ति ने उद्योग

और व्यापार को प्रोत्साहन दिया, जिसके फलस्वरूप धन-वैभव की पर्याप्त वृद्धि हुई और लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठा।

सोलहवीं शताब्दी में देश का सांस्कृतिक विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। बौद्धिक उत्कर्ष के प्रत्येक क्षेत्र में इंगलैण्ड यूरोप के किसी भी राष्ट्र के समकक्ष था और कुछ क्षेत्रों में तो वह आगे बढ़ चुका था। धार्मिक क्षेत्र में सर टामस मूर, क्रैनमर, लेटिमर और पारकर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बेकन साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में अति उच्च स्थान का अधिकारी है। साहित्य के क्षेत्र में शेक्सपियर ने इंगलैण्ड में ही नहीं, अपितु समस्त यूरोप में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। दूसरे साहित्यकारों में मालों और बेंन जानसन (Jonson) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः आधुनिक साहित्य तत्कालीन साहित्य का बहुत ऋणी है। इसने मनुष्य और प्रकृति का नवीन स्वरूप उपस्थित किया, जिसका अध्ययन साहित्यकारों को नित-नूतन प्रेरणा प्रदान करता गया।

स्वीडेन :

वासा राजवंश—सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में डेनमार्क का राजा क्रिश्चियन द्वितीय (1513-23 ई०) नार्वे और स्वीडेन का भी स्वामी था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इन तीनों बाल्टिक तटीय राज्यों की एकता के फलस्वरूप उत्तरी यूरोप में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना सम्भव हो सकेगी। परन्तु शीघ्र ही धर्म-सुधार के आन्दोलन ने इस आशा पर तुषार-पात कर दिया और क्रिश्चियन द्वितीय तथा उसके उत्तराधिकारियों को नार्वे पर अधिकार से ही सन्तोष करना पड़ा। स्वीडेन में उसका शासन और धार्मिक नीति का गस्टवस वासा नामक सरदार ने उग्र और सफल प्रतिरोध किया, जिसके फलस्वरूप स्वीडेन डेनमार्क से अलग हो गया और गस्टवस वासा देश का राजा चुना गया। इस प्रकार स्वीडेन में वासा राजवंश की स्थापना (1523) हुई जिसने दो शताब्दियों तक स्वीडेन और बाल्टिक-तट के दूसरे भूभागों पर शासन किया। यद्यपि देश निर्धन था और जनसंख्या कम थी, परन्तु वासा वंश के प्रतिभाशाली शासकों ने अपनी योग्यता और सैनिक कुशलता से तत्कालीन यूरोपीय राजनीति में पर्याप्त योग दिया।

गस्टवस वासा के शासन (1523-60 ई०) की महत्वपूर्ण घटना उसके द्वारा देश में प्रोटेस्टेण्ट-धर्म की स्थापना है। उसने लूथरवाद को स्वीकार किया और चर्च पर राज शक्ति का नियंत्रण स्थापित किया। उसने अन्य शक्तिमान सरदारों को भी दबाया। देश के व्यापार और उद्योग धन्धों में पर्याप्त उन्नति हुई। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी एरिक (Eric XIV, 1560-69 ई०) ने बाल्टिक के क्षेत्र में राज्य-विस्तार की नीति अपनायी जो अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक इस वंश के राजाओं की बाह्य नीति का प्रमुख अंग बनी रही। उसने अपने भाइयों को, जिन्हें गस्टवस के अलग-अलग भू-भाग सौंप

दिया था, अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। उसने कैल्विनवाद को स्वीकार कर लूथरवादियों को अप्रसन्न कर दिया। उसके भाई और उत्तराधिकारी जॉन तृतीय (1569-92 ई०) के शासन-काल में स्वीडेन में कैथलिक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई, लूथरवादी पूजा-पद्धति बन्द कर दी गयी और देश में जेसूइटों का प्रभाव पड़ा। उसका पुत्र सिगिसमंड वासा पोलैण्ड का राजा (1587) चुना गया और अपने पिता की मृत्यु पर वही स्वीडेन का भी राजा (1592-1604 ई०) बना। सिगिसमंड पक्का कैथलिक था और उसका उत्थान चाहता था, परन्तु उसके स्वीडेन आने के पूर्व ही देश की पार्लियामेंट ने लूथरवादी धर्म की मान्यता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और सिगिसमंड को भी बाध्य होकर इसे स्वीकार करना पड़ा। शीघ्र ही वह पोलैंड लौट गया और उसके स्थान पर शासन का कार्य उसके चाचा चार्ल्स ने सँभाला जो आगे चलकर चार्ल्स नवम के नाम से स्वीडेन का राजा (1604-11 ई०) हुआ। इसके शासन-काल में स्वीडेन में लूथरवाद का पूर्ण प्रचार हुआ और राजधर्म के रूप में उसकी स्थिति पर्याप्त दृढ़ हो गयी। उसने व्यापार और उद्योग-धन्धों को पूर्ण प्रोत्सान प्रदान किया, अनेक नगरों की स्थापना की और खानों की उन्नति में योग दिया।

तुर्क-साम्राज्य :

तुर्कों की यूरोपीय विजय—उस्मानी (Ottoman) तुर्कों ने चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक प्रायः समूचे बाल्कन प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया था और केवल कुस्तुनतुनिया (Constantinople) का प्रसिद्ध नगर उसके हाथ में न था। सुल्तान मुहम्मद द्वितीय (1451-1481 ई०) के समय में 1453 ई० में इस इस नगर पर उनका आखिरी घेरा पड़ा और यद्यपि ईसाइयों ने अत्यधिक साहस, वीरता और धैर्य के साथ दो महीनों तक तुर्कों का सामना किया, परन्तु वे नगर को न बचा सके। सम्राट् कांस्टेटाइन एकादश के साथ सभी दुर्ग-रक्षक मारे गये और तुर्कों का नगर पर अधिकार हो गया। इस घटना से समस्त ईसाई-जगत में घोर निराशा छा गयी और उसी मात्रा में तुर्कों को प्रसन्नता भी प्राप्त हुई। यह नगर दुनिया के सबसे बड़े नगरों और दुर्गों में समझा जाता था और इस पर अधिकार, शक्ति एवं गौरव का सूचक था। ईसाई-साम्राज्य के साथ इसकी एक हजार वर्षों से अधिक लम्बी परम्परा थी, अतः इस पर तुर्कों का अधिकार स्वभावतः एक महत्वपूर्ण घटना समझी जाने लगी। अब तुर्कों ने इसे अपने निकट-पूर्व (Near East) में स्थापित साम्राज्य की राजधानी बनाया। सुल्तान मुहम्मद द्वितीय ने समस्त एशिया माइनर और बाल्कन में एकता स्थापित की और डैन्यूब के मुहाने पर स्थित रूमानिया के भू-भाग तथा कृष्णसागर पर स्थित रूसी और मंगोली प्रदेश भी उसके अधिकार में आ गये।

सुल्तान मुहम्मद के बाद प्राय: एक शताब्दी का समय तुर्कों के गौरव और शक्ति का काल था। इसमें उन्होंने दूसरे इस्लामी राज्यों पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। उन्होंने फारस के शाह से दजला और फरात की विस्तृत घाटी छीनी और बगदाद को अधिकृत किया। सुल्तान सलीम (1512-20) ने सीरिया और मिस्र को जीता और प्राचीन अरब साम्राज्य के दुर्बल उत्तराधिकारियों से खलीफा की उपाधि प्राप्त की। अब वे अपने को केवल पूर्वी रोमन साम्राज्य के सम्राटों के उत्तराधिकारी ही नहीं, अपितु खलीफाओं के भी उत्तराधिकारी समझने लगे। इससे उनकी मर्यादा और गौरव में पर्याप्त वृद्धि हुई। जेरूसलम, मक्का, मदीना तथा अन्य अरब नगर भी उनके अधिकार में आ गये। साथ ही उन्होंने मिस्र से मोरक्को तक समस्त अफ्रीकी समुद्र-तट पर कब्जा कर लिया और ट्रिपोली, ट्यूनिस तथा अल्जीरिया के प्रदेश उनके बढ़ते हुए साम्राज्य के अंग बन गये।

सुल्तान सुलेमान द्वितीय (1520-66 ई०) के समय में तुर्क-साम्राज्य में प्राय: वह समस्त विस्तृत भूभाग था जो रोमन सम्राट जस्टीनयन के अधिकार में रह चुका था। अब उसने ईसाई-जगत् की ओर ध्यान दिया। उसने 1521 ई० में बेल्ग्रेड पर अधिकार कर डैन्यूब को पार किया और 1526 ई० में मोहाक (Mohacs) के प्रसिद्ध युद्ध में हंगेरी पर विजय प्राप्त की और उसकी राजधानी बूडपेस्ट को भी अधिकृत किया। सन् 1529 ई० में उसने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर घेरा डाला और यद्यपि इस नगर पर इसका कब्जा न हो सका, परन्तु उसने सम्राट चार्ल्स पंचम और इसके भाई फर्डिनैंड को हंगेरी के विभाजन के लिये बाध्य किया जिससे इस देश का बड़ा अंश सुल्तान के अधिकार में आ गया। उसके पश्चात् सम्राट और पोलैड के राजा ने तुर्कों के पीछे ढकेलने की अनेक कोशिशें की परन्तु उनके सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए औरयूरोप पर सुलेमान के आक्रमण का भय बराबर बना रहा। पवित्र रोमन साम्राज्य तुर्कों से यूरोप की रक्षा करने में अपने को पूर्णतः असमर्थ पा रहा था। इसी बीच सुलेमान ने काकेसस को जीतकर कृष्णसागर के चारों ओर की भूमि को अपने साम्राज्य में मिलाया और भूमध्यसागर में उसके जलपोतों और सामुद्रिक डाकुओं ने उपद्रव मचाना प्रारम्भ किया जिससे समस्त भूमध्य-सागरीय तट के ईसाई और विशेषतः वेनिस और जिनेवा के व्यापारियों में घोर आतंक छा गया। इस प्रकार एक ओर तो ईसाई-जगत सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में धर्म-सुधार के कारण स्वयं दो परस्पर-विरोधी शिविरों में बँट गया था, दूसरी ओर तुर्कों के आक्रमण और आतंक से उसकी स्थिति और भी दयनीय हो गयी और सुल्तान सुलेमान के भय से समस्त यूरोपीय जगत भयभीत रहने लगा।

भूमध्य सागर में बढ़ते हुए तुर्क-उत्पात से भयभीत होकर उनका प्रतिरोध करने के लिये पोप ने एक संघ की स्थापना की जिसमें वेनिस और स्पेन भी शामिल थे। पोप ने

स्वयं धन और युद्धपोतों से इस संघ की सहायता की और फिलिप द्वितीय ने अपनी विशाल भूमध्यसागरीय जल-सेना का संगठन किया। उसका सौतेला भाई आस्ट्रिया का डान जॉन, जो अपनी वीरता और शौर्य के लिए विख्यात था, इस जल-सेना का सेनापति बनाया गया। उसने यूनान के किनारे लेपैंटों की खाड़ी में तुर्क-जल-सेना पर भीषण प्रहार किया (1571)। डान जॉन ने युद्ध क्षेत्र में धर्म युद्ध का नारा लगाया कि यह फ्रांस का युद्ध है और क्राइस्ट हमारे नेता हैं। उसकी असीम वीरता, दृढ़ता और शौर्य के कारण ईसाई जल सेना को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। तुर्क जल सेना नष्ट हो गई और उसके केवल थोड़े से जहाज भागकर अपनी रक्षा कर सके। इस विजय से समस्त ईसाई जगत में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। यद्यपि इस विजय से अधिक लाभ तो न उठाया जा सका जिसका प्रधान कारण ईसाई राज्यों की पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष आदि थे, परन्तु तुर्क इस पराजय के पश्चात अपनी शक्ति का पूर्ण संगठन न कर सके। भूमध्यसागर में उनका आतंक प्राय: समाप्त हो गया। साथ ही इसी घटना के बाद से तुर्कों का पतन भी प्रारम्भ हो गया जिससे यूरोप के लिये उनका आतंक बहुत कम हो गया।

शासन व्यवस्था—सोलहवीं शताब्दी तुर्कों के परम उत्कर्ष का काल है। इस शताब्दी में उनका साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। इसकी शासन-व्यवस्था सैनिक शासनतंत्र के सिद्धान्त पर आधारित थी। एशिया माइनर में तुर्कों की जनसंख्या पर्याप्त थी, परन्तु साम्राज्य के दूसरे भागों में ये लोग केवल शासक या सैनिक के रूप में ही वर्तमान थे। विस्तृत साम्राज्य विभिन्न जातियों का समूह था जिनकी एकता का प्रतीक एकमात्र सुल्तान था। साम्राज्य में ईसाइयों की दशा दासों की भाँति थी जो अधिकार हीन वर्ग के अन्तर्गत थे। सभी अधिकारों से युक्त विजेता तुर्क उच्चवर्ग के समझे जाते थे। सुल्तान इस्लामी जगत के प्रधान और विजित जातियों के स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित था। उसके आदेश ही विधान थे। वही प्रान्तीय शासकों और सेनापतियों की नियुक्ति करता और युद्ध एवं सन्धि का एकमात्र उसे ही अधिकार था। साम्राज्य में ईसाइयों के ऊपर करों का बहुत बड़ा भार था, परन्तु तुर्क अनेक करों से मुक्त थे। ईसाइयों को शस्त्र-धारण या सेना में भर्ती का अधिकार न था। परन्तु प्रत्येक वर्ष कुछ ईसाई बालकों को मुसलमान बना लिया जाता और उन्हें विशेष प्रकार की सैनिक शिक्षा दी जाती थी। इसके बाद वे सुल्तान की अंगरक्षक सेना में भर्ती किये जाते थे। यह अंगरक्षक सेना 'जैनिसरी' (Janissary या Janizary) के नाम से विख्यात थी। यह शब्द 'जाँनिसार' से बना है क्योंकि अंगरक्षक-सेना के सैनिक सुल्तान की रक्षा में अपनी जान को सदा न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत रहते थे। बहुत दिनों तक यह सेना सुल्तानों की शक्ति का प्रधान आधार थी और उनकी दुर्बलता के समय में यही उत्तराधिकारों का भी निर्णय करने लगी थी।

यद्यपि थोड़े से ईसाइयों ने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था, परन्तु अधिकांश अपने धर्म को छोड़ने के लिये प्रस्तुत न थे और न तो तुर्कों ने ही उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। मुहम्मद द्वितीय ने कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद ही एक घोषणा की थी जिसके द्वारा उसने यूनानी ईसाइयों को धार्मिक स्वतंत्रता के साथ अपने प्रधानों के अधीन अपने नियमों और कानूनों को मानने का अधिकार भी प्रदान किया था। दूसरे सुल्तानों ने भी इसी प्रकार की सुविधायें अन्य दूसरी जातियों को दी। ये सभी जातियाँ 'मिल्लत' के नाम से विख्यात थीं। इन मिल्लतों के अधिकारों ने उनमें जातीयता का भाव जागृत रखा। इसके अतिरिक्त सुल्तान सुलेमान द्वितीय के समय से यूरोप के ईसाई राज्यों के साथ व्यापारिक सन्धियाँ भी होने लगीं जिनमें ईसाइयों को पवित्र स्थानों की तीर्थ यात्रा के लिए आज्ञा तथा व्यापार के लिये सुविधायें और जब तक वे तुर्क-साम्राज्य की सीमा के अन्दर रहें तब तक अपने नियम और कानून बर्तने के अधिकार प्रदान किये गये। इस प्रकार की सर्वप्रथम सन्धि फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम और सुल्तान सुलेमान के बीच 1535 ई० में हुई थी। इस सन्धि का प्रधान कारण फ्रांसिस प्रथम तथा सम्राट चार्ल्स पंचम की पारस्परिक शत्रुता तथा द्वेष थे। उसने चार्ल्स के विरुद्ध अपना मोर्चा दृढ़ करने के लिये ही यह सन्धि की थी। परन्तु ईसाई मिल्लतों के ये विशेषाधिकार तुर्क-साम्राज्य के लिये आगे चलकर घातक सिद्ध हुए और जब सुल्तानों की शक्ति दुर्बल पड़ गयी तो इन विभिन्न यूरोपीय जातियों ने अपनी-अपनी स्वतंत्रता की प्राप्ति का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

अध्याय 7

फ्रांस उत्कर्ष की ओर

हेंनरी चतुर्थ (1589-1610 ई०)

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—हेनरी चतुर्थ ने फ्रांस के राजा की उपाधि तो धारण कर ली थी, परन्तु वास्तविक अधिकारों से वह अभी बहुत दूर था। नियमतः राज्य का अधिकारी वही था और यही उसकी शक्ति का मुख्य आधार था। परन्तु वह ह्यूगेनो सम्प्रदाय का था जिसे कैथलिक फ्रांस राजा के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न था। फ्रांस की एकता और अपने अधिकारों की दृढ़ता के लिए कैथलिक धर्म स्वीकार करने में उसे व्यक्तिगत रूप से तो कोई आपत्ति न थी, परन्तु इस भय से कि उसके धर्म परिवर्तन से उसके ह्यूगेनो मित्र और सहायक तो अप्रसन्न हो जायेंगे और सभी कैथलिकों का सहयोग भी न मिल सकेगा, वह प्रारम्भ में कैथलिक धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार न हो सका। यद्यपि कैथलिक धर्म को मान्यता प्रदान करने और ह्यूगेनो लोगों के अधिकारों को भी सीमित रखने के लिए वह प्रस्तुत था, लेकिन इतने से ही उसके लक्ष्य की पूर्ति सम्भव न थी। फलतः युद्ध अनिवार्य था और विवश होकर उसे इसके लिए प्रस्तुत होना पड़ा। उसके विरोधी कैथलिक संघ को जो स्वतः शक्तिशाली था, स्पेन से सहायता प्राप्त हो रही थी, यद्यपि इसी कारण अनेक देश भक्त कैथलिकों ने संघ का परित्याग कर हेनरी का साथ देना ही उचित समझा। प्रोटेस्टेंटों के अतिरिक्त 'राजनीतिक' दल के सदस्य भी उसके समर्थक थे, क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि फ्रांस में हेनरी चतुर्थ का दृढ़ शासन ही समस्त यूरोप में धार्मिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। संयोगवश परिस्थितियों ने भी उसका साथ दिया। स्पेन की मित्रता से संघ की जनप्रियता नष्ट होने लगी और संघ के प्रभावशाली सदस्यों में मतैक्य का अभाव और कलह प्रारम्भ हो गया। दूसरी ओर हेनरी को भी इंगलैण्ड, नेदरलैण्ड्स तथा अन्य प्रोटेस्टेंट राज्यों से सहायता मिलनी प्रारम्भ हुई। इस प्रकार उसकी स्थिति क्रमशः दृढ़ होने लगी।

प्रारम्भ में हेनरी चतुर्थ ने पेरिस का घेरा तो उठा लिया, परन्तु ईव्री (Ivry) तथा अन्य युद्ध क्षेत्रों में उसे पूर्ण सफलता मिली। उसकी वीरता और औदार्य का चारों ओर गुणगान होने लगा। उसने पेरिस पर पुनः घेरा डाला और शीघ्र ही नगर में भूख का आतंक व्याप्त हो गया। राजधानी के सामने आत्म-समर्पण के अतिरिक्त और कोई चारा शेष न था, पर स्पेनी सेनापति परमा ने उसकी रक्षा की और विवश होकर हेनरी को घेरा उठा लेना पड़ा। उसके पश्चात् हेनरी ने रूआँ (Rouen) पर घेरा डाला परन्तु परमा के आक्रमण के कारण यहाँ भी उसे विफल मनोरथ होना पड़ा। इस बीच व्यक्तिगत

महत्वाकांक्षाओं और स्वार्थ तथा फ्रांस के आन्तरिक मामलों में स्पेन के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण संघ के नेताओं में आपस में ही झगड़े प्रारम्भ हो गये। परन्तु इस स्थिति में भी हेनरी की कठिनाइयों तथा गृह-युद्ध का अन्त नहीं दिखायी पड़ रहा था और सफलता अभी भी बहुत दूर थी।

धर्म-परिवर्तन—इस विषम परिस्थिति में हेनरी के सामने धर्म-परिवर्तन का प्रश्न पुनः उपस्थित हुआ। उसके हृदय में किसी भी धर्म के प्रति विशेष रुचि न थी। एक बार धर्म-परिवर्तन द्वारा उसने अपने प्राणों की रक्षा की थी और दूसरी बार देश की रक्षा के लिए वह पुनः इस कार्य के लिए प्रस्तुत हो गया। देश का घोर सत्यानाश उसके हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न कर रहा था। दूसरी ओर संघ और स्पेन की सहायता से किसी कैथलिक का सिंहासनारोहण उसके लिए असह्य था। वस्तुतः शिथिल और असम्बद्ध धार्मिक विचारों के प्रति श्रद्धा की अपेक्षा देश की शान्ति, समृद्धि एवं एकता उसे अधिक प्यारी थी। साथ ही कैथलिक धर्म स्वीकार करने के उपरान्त प्रोटेस्टेंटों को धार्मिक स्वतन्त्रता भी प्रदान की जा सकती थी। फलतः जुए का दाँव खेलने के लिए वह प्रस्तुत हो गया। जुलाई सन् 1593 ई० में चार वर्षों के संघर्ष और प्रतीक्षा के पश्चात् उसने कैथलिक धर्म में दीक्षा ली। इस धर्म-परिवर्तन का तात्कालिक प्रभाव पड़ा और अनेक नगरों एवं प्रान्तों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। फरवरी सन् 1594 ई० में उसने अपना राजतिलक कराया और दूसरे ही महीने वह पेरिस पर चढ़ दौड़ा। राजधानी की रक्षा स्पेनी सेना के अधीन थी, परन्तु अधिकांश नागरिक उसके स्वागत के लिए तैयार थे। फलतः इस बार उसे अधिक श्रम न करना पड़ा और शीघ्र ही उसने दुर्ग का द्वार उन्मुक्त पाया। विजयोल्लासपूर्वक हेनरी ने राजधानी में प्रवेश किया और राजा को अपने बीच पाकर नगर-निवासियों की प्रसन्नता की सीमा न रही। फ्रांस में धार्मिक संघर्ष का अन्त हो गया और कुछ ही समय के उपरान्त जब पोप ने भी इस धर्म परिवर्तन को स्वीकार कर लिया तो फ्रांस के कैथलिक चर्च के प्रधान के रूप में उसकी स्थिति और भी अधिक दृढ़ हो गयी।

अब हेनरी ने स्पेन की ओर ध्यान दिया। उसने स्पेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना अधिक उपयुक्त समझा; क्योंकि इससे शत्रु के विरुद्ध देश में राष्ट्रीय उत्साह का संचार किया जा सकता था और विरोधियों पर देश-द्रोह का आरोप। फलतः सन् 1595 ई० में युद्ध की घोषणा हो गयी। प्रारम्भ में फ्रांसीसी सेनायें पराजित हुई, परन्तु जब हेनरी ने अपनी समस्त शक्ति और साहस के साथ संघर्ष में प्रवेश किया तो फिलिप द्वितीय को, जिसका हालैंड और इंग्लैण्ड के साथ पहले से ही संघर्ष चल रहा था, हेनरी के साथ सन्धि-वार्ता के लिए प्रस्तुत होना पड़ा। अतएव तीन वर्षों के युद्ध के पश्चात वरवैं (1598) की सन्धि हो गयी जिसके द्वारा फिलिप ने हेनरी को फ्रांस का राजा स्वीकार कर लिया। दोनों देशों ने कातो काँब्रेजी की सन्धि की शर्तों को पुनः मान्यता प्रदान की।

नाँत का अध्यादेश (Edict of Nantes)—फ्रांस पर पूर्ण रूप से अधिकार स्थापित कर लेने और स्पेन से युद्ध का अन्त हो जाने पर हेनरी ने पुराने ह्यूगेनो मित्रों की ओर ध्यान दिया। वह देश की धार्मिक समस्या का समाधान करने के लिए कृत-संकल्प था। कैथलिक धर्मानुयायी तो प्राय: सन्तुष्ट हो चुके थे, परन्तु उसके पुराने प्रोटेस्टेंट समर्थकों और मित्रों में घोर असन्तोष था। उसने पेरिस में प्रवेश करने के पश्चात् ही इस समस्या को हल करने की चेष्टा की थी, पर ह्यूगेनो लोग सन्तुष्ट न हो सके थे। वे अपने स्वत्वों की रक्षा के लिए व्यापक अधिकार चाहते थे, क्योंकि उनके विचार में जो व्यक्ति इच्छानुसार धर्म-परिवर्तन कर सकता था उससे दूसरों के धर्म की रक्षा की आशा नहीं की जा सकती थी। यही कारण था कि दुर्दिन के सहायक मित्र भी उसका साथ छोड़ते जा रहे थे। परन्तु जब तक कैथलिक लोग पूर्णत: आश्वस्त न हो लें और देश में उसकी स्थिति दृढ़ न हो जाय, हेनरी इनकी माँगे पूरी करने के लिए प्रस्तुत न था। अब परिस्थिति अनुकूल थी और हेनरी इस कार्य में विलम्ब करना अवांछनीय समझता था। फलत: 15 अप्रैल सन् 1598 ई० को उसने नाँत का अध्यादेश जारी किया जिससे उनकी बहुत-सी माँगें पूरी हो गयीं।

इस अध्यादेश से फ्रांस में ह्यूगेनो सम्प्रदाय को धार्मिक स्वतन्त्रता का तथा प्राय: दो सौ परिगणित नगरों एवं पैंतीस सौ दुर्गों में स्वतन्त्र प्रार्थना-अधिकार प्राप्त हुआ। उन्हें इन नगरों में सरकारी सहायता-प्राप्त स्कूल और कालेजों के खोलने और अपनी पुस्तकें प्रकाशित करने की सुविधा मिली। केवल पन्द्रह मील की परिधि में पेरिस के चारों ओर का भू-भाग इस अधिकार से वंचित था। युद्ध काल में जिन नगरों मे कैथलिक प्रार्थना बन्द हो गयी थी उनमें वह पुन: प्रारम्भ हो गयी। साथ ही एक ओर तो ह्यूगेनो धर्माधिकारी सैनिक-सेवा से मुक्त कर दिये गये और उनके व्यय के लिए, राजकोष से निश्चित धन दिया जाने लगा और दूसरी ओर प्रोटेस्टेंटों से राजकोष के लिए दशमांश (Tithe) कर लेना स्वीकार किया गया।

ह्यूगेनो वर्ग को इस अध्यादेश से नागरिकता के व्यापक अधिकार प्राप्त हुए। प्रत्येक सरकारी नौकरी में उनकी नियुक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया और प्रत्येक स्कूल या कालेज में उनके लड़कों को भर्ती का अधिकार मिला। परन्तु कैथलिक चर्च की छुट्टियाँ उनके लिये भी मान्य की गयी। पार्लियामेंटो में, जो फ्रांस की सर्वोच्च न्यायालय थीं, प्रोटेस्टेंट न्यायाधीशों की नियुक्ति की व्यवस्था हुई और साथ ही उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी सभायें करने तथा कुछ निर्धारित अभियोगों में स्वयं निर्णय करने के अधिकार भी मिले।

ह्येगेनों लोगों को अपने इन धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा के निमित्त पचहत्तर दुर्ग और सैनिक नगर प्रदान किये गये जिनमें नियुक्त सैनिकों का वेतन तो राजकोष से दिया जाता था, परन्तु सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति प्रोटेस्टेंटों के हाथ में

थी। प्रारम्भ में इस अधिकार की अवधि 1607 ई० तक ही थी जो बाद में बढ़ाकर 1612 ई० तक कर दी गयी।

नाँत का यह अध्यदेश अनेक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। समस्त यूरोप में धार्मिक सहिष्णुता की नीति का यह प्रथम प्रयोग था जिसका आधार धार्मिक नहीं, अपितु राजनीतिक आवश्यकतायें थीं। प्राय: तीस वर्षों के भयंकर गृह-युद्ध ने यह निश्चित कर दिया कि देश में कैथलिक या प्रोटेस्टेंट धर्म का मूलोच्छेद असम्भव है। अत: हेनरी चतुर्थ ने राजनीतिक दृष्टिकोण से इस धार्मिक समस्या को हल करने का निश्चय किया उसका यह विश्वास था कि यूरोपीय राजनीति में गौरवपूर्ण पद प्राप्त करने के लिए फ्रांस में पारस्परिक धर्म-युद्धों का अन्त अत्यावश्यक है। वस्तुत: धार्मिक शान्ति का यह सफल प्रयास देश के निमित्त वरदान बन गया और जब तक इसकी शर्तों का पालन होता रहा तब तक फ्रांस आर्थिक और राजनीति में अभूतपूर्व उन्नति की। साथ ही युद्धों से अवकाश मिलने पर उसे भी देश के संगठन और बहुमुखी विकास की ओर ध्यान देने का अधिकाधिक अवसर प्राप्त हुआ।

परन्तु अध्यादेश का आधार सर्वदा दोष रहित न था। इसके द्वारा केवल कैल्विनवादियों को ही धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जो देश की समस्त जनसंख्या के दशमांश भी कम थे, अन्य सम्प्रदाय इस अधिकार से वंचित थे। दूसरी ओर धार्मिक सहिष्णुता की यह नीति तत्कालीन विचारधारा के अनुकूल न थी और कैथलिक या प्रोटेस्टेंटो में से कोई भी इसे सिद्धान्त-रूप से स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न था। जन-साधारण की दृष्टि में कैथलिक धर्म स्वीकार कर हेनरी चतुर्थ ने बुरा प्रोटेस्टेंट और प्रोटेस्टेटों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर बुरा कैथलिक होने का ही प्रमाण दिया, क्योंकि एक ओर तो अपने प्राप्त अधिकारों से ह्यूगेनो वर्ग को पूर्ण सन्तोष न था और दूसरी ओर उसे क्षुब्ध कैथलिक हत्यारे का शिकार होना पड़ा। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र पूजा के अधिकार ने सरदार वर्ग में स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न की जिसने देश में विकेन्द्रीकरण की नीति को प्रोत्साहन प्रदान किया। कालान्तर में ह्यूगेनो सम्प्रदाय ने आत्मरक्षा एवं अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति निमित्त इन सभी नगरों तथा दुर्गों का अर्द्धस्वतन्त्र संघ बनाना प्रारम्भ कर दिया जो वस्तुत: राज्य भीतर राज्य के रूप में परिणत हो गया। यह प्रवृत्ति निरंकुश शासन के विकास में बाधक सिद्ध होने लगी जिससे शीघ्र ही उसका अन्त नितान्त आवश्यक बन गया।

दृढ़ राजतंत्र की स्थापना—फ्रांस के दीर्घकालीन गृह-युद्ध ने दलबन्दी की प्रवृत्ति को सबल बनाकर राजशक्ति का प्राय: मूलोच्छेद कर दिया था। फलत: हेनरी चतुर्थ को फ्रांस के सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित करने के प्रयत्न में शक्तिशाली सरदारों को उत्कोच तथा भू-सम्बन्धी व्यापक अधिकार प्रदान करने पड़े थे। जिससे दृढ़

राजतन्त्र की स्थापना का मार्ग सर्वथा कंटकाकीर्ण बन गया। दूसरी ओर 'राजनीति दल' के नेता अपने को उपेक्षित समझकर शासन के क्षेत्र में उदासीनता का भाव प्रदर्शित कर रहे थे। नॉंत के अध्यादेश की सभी शर्तें तत्काल रूप में परिणत नहीं हो पायी थीं जिससे उसके पुराने मित्र ह्यूगेनो सरदार भी असन्तुष्ट थे। स्पेन के साथ सन्धि अवश्य हो गयी थी, परन्तु इससे दोनों देशों के चिरकालीन द्वेष का अन्त न हो सका था और स्पेन हेनरी चतुर्थ के विरुद्ध हर प्रकार का आन्तरिक षड्यन्त्र में सहयोग प्रदान करने के लिए प्रस्तुत था।

हेनरी चतुर्थ ने इस विषम परिस्थिति में अतीव धैर्य, साहस एवं दूरदर्शिता से काम लिया। प्रारम्भ में उसने बिरों (Brion) नामक शक्तिमान् सरदार को मार्शल, ड्यूक और बर्गण्डी का गवर्नर बनाकर अपना विश्वासपात्र एवं सहायक बनाने की चेष्टा की, परन्तु इससे बिरों का मिथ्या-अहंकार पूर्ण न हो सका। वह सवाय के ड्यूक तथा राज्यों से मिलकर राजा के विरुद्ध देश के विभाजन का षड्यन्त्र बराबर करता रहा। पहले तो हेनरी ने सवाय के ड्यूक को पराजित कर बिरोंको उसकी सहायता से वंचित किया, परन्तु इससे भी उसके राज-विरोधी षड्यन्त्र समाप्त न हो सके। फलतः पार्लियामेंट ने उसे देश-द्रोही ठहराकर मृत्यु दण्ड दिया। दक्षिणी फ्रांस के भी अनेक विद्रोही और उपद्रवकारी सरदारों को दबाने और राज्याधीन करने का सफल प्रयास हुआ। उनके दुर्ग नष्ट कर दिये गये और कुछ विद्रोही नेताओं को मृत्युदण्ड मिला। हेनरी ने सबल ह्यूगेनो सरदार बूयों (Bouillon) को भी जो उसके विरुद्ध ह्यूगेनो वर्ग और जर्मन प्रोटेस्टेंटों को उभाड़ने की दुश्चेष्टा कर रहा था, धर दबाया और उसकी राजधानी सेदां को अपने अधिकार में ले लिया। इसके अतिरिक्त विद्रोही-प्रवृत्ति के प्रदर्शन पर अन्य दूसरे सरदारों का भी सफलतापूर्वक दमन किया गया। ह्यूगेनो वर्ग में भी नॉंत के अध्यादेशानुसार उसकी सभाओं पर लगे कुछ नियन्त्रण तथा हेनरी द्वारा पोप के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के प्रयत्न से क्षोभ था। अतः जिन नगरों एवं दुर्गों पर एक निश्चित अवधि तक उनका अधिकार स्वीकार किया गया था, उसे पाँच वर्ष और बढ़ाकर हेनरी के मन्त्री सली (Sully) ने उन्हें भी प्रसन्न कर लिया। इस प्रकार सन् 1606 ई० तक प्रायः समस्त विरोधियों का अन्त हो गया और हेनरी चतुर्थ की शक्ति और सत्ता समस्त देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी।

सुधार कार्य—हेनरी ने विद्रोही और स्वार्थी सरदारों को पूर्णतः अपने अधीन और धार्मिक झगड़ों का अन्त कर लेने के पश्चात् देश की तीसरी प्रमुख समस्या आर्थिक और शासन सुधारों की ओर ध्यान दिया। शासन संगठन का कार्य कठिनाइयों से पूर्ण था और उसके सुधार के लिए अत्यधिक लगन, साहस, शक्ति, प्रतिभा और दूरदर्शिता की आवश्यकता थी। दीर्घकालीन गृह-युद्ध के कारण देश का आर्थिक, राजनीतिक और

सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हो चुका था, कृषि और व्यापार नष्ट हो चुके थे, नगर और गाँव जंगली जानवरों के क्रीड़ा क्षेत्र बन रहे थे और साधारण जन-समुदाय के आचार-विचार और जीवन का स्तर नीचे गिर चुका था। परन्तु अपने इस गुरुतर उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिये हेनरी चतुर्थ कृतसंकल्प था। उसने अपने पुराने ह्यूगेनो मित्र बैरन रोनी (Rosny) को जिसे उसने सन् 1606 ई० में सली के ड्यूक की उपाधि प्रदान की, अर्थ विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। इन दोनों ने परस्पर मिलकर पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। सली अथक परिश्रमी, कृपण और सच्चरित्र था और उसने निष्ठा, लगन और सचाई के साथ बुराइयों के निराकरण का कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य में उसे हेनरी से पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। सौभाग्यवश यदि राजा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था तो सली कुशल शासक सिद्ध हुआ। वस्तुतः दोनों एक-दूसरे के पूरक थे और फ्रांस को दोनों की सेवायें अपेक्षित थीं। संयोगवश दोनों में एक-दूसरे पर पूर्ण विश्वास था। हेनरी और सली की सफलता का यही रहस्य था।

सर्वप्रथम सली का ध्यान कृषि की ओर आकृष्ट हुआ। फ्रांस प्रधानतः कृषि प्रधान देश था और उसका विश्वास था कि राज पद की प्रतिष्ठा के लिये कृषक जनता अधिक उपयुक्त होगी। उसने दलदल और वन भूमि को भी कृषि के योग्य बनाया जिससे अधिकाधिक मात्रा में अन्न उत्पन्न होने लगा। अन्न पर सभी निर्यात-कर उठा दिये गये जिससे देश की आवश्यकता से अधिक अन्न दूसरे देशों को भेजना सम्भव हो सका। उस काल में अन्न के क्षेत्र में किसी देश का आत्म-निर्भर होना सैनिक दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था। परन्तु देश के उद्योग-धन्धों और व्यापारिक वस्तुओं के उत्पादन के प्रति सली की नीति उत्साहवर्द्धक न थी। उसकी इस कमी को हेनरी की सूक्ष्मदर्शी बुद्धि ने पूरा किया। उसने कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति राष्ट्र के उत्पादन में सहायक व्यापार और उद्योगों के महत्व का अनुभव किया। फलतः राजाश्रय पाकर शीघ्र रेशम के उद्योग ने राष्ट्रीय उद्योग का स्वरूप धारण किया और लियों (Lyons) तथानीम (Nimes) उसके प्रधान केन्द्र बन गये। पेरिस और नेवर (Nevers) के शीशे और मिट्टी के बर्तनों के उद्योग में भी आशातीत उन्नति हुई और देश के लोहे और ऊन के व्यापार को प्रभूत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। व्यापार की उन्नति के लिये यातायात के साथ में अनेक आवश्यक और उपयोगी सुधार हुए। सड़कों तथा पुलों का नव-निर्माण तथा जीर्णोद्धार प्रारम्भ हुआ और कई नहरें खुदवायीं गयी जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण ल्वार और सेन की विख्यांत नहर हैं। टर्की, इंगलैण्ड तथा हालैण्ड के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गयीं और व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात के लिए मार्सेय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह एवं उद्योग का केन्द्र बन गया।

शासन के क्षेत्र में सली का सुधार-कार्य देश के लिये अधिक हितकर सिद्ध हुआ। भ्रष्टाचार का दमन तथा अशान्ति को दूर कर शान्तिपूर्ण व्यवस्था एवं न्यायपूर्ण शासन की स्थापना उसके उद्देश्य थे। उसने एक मात्र पोलेत (Paulette) नामक नवीन कर लगाया जिसे देकर न्याय और अर्थ-विभाग के कर्मचारियों को अपना पद वंशानुगत बनाने की सुविधा प्रदान की गयी। इसके अतिरिक्त राज्यपालों पर नियंत्रण रखने के निमित्त उसने प्रत्येक प्रान्त में एक नवीन राजकर्मचारी की नियुक्ति की। राजाश्रय-प्राप्त अधिकारियों का यह दोनों ही वर्ग देश में निरंकुश राजतंत्र के समर्थ सिद्ध हुए और इनकी सहायता से राजा के अधिकारों में वृद्धि के साथ पर्याप्त दृढ़ता भी आई।

फ्रांस की समस्त राजस्व-व्यवस्था असमानता एवं अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित थीं। सली ने इस परम्परागत सिद्धान्त में तो किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया, परन्तु असाधारण योग्यता, सतर्कता एवं सच्चाई के साथ उसने राजस्व-संग्रह में अव्यवस्था और व्यभिचार को दूर कर राजकोष की वृद्धि की। उसका यह कार्य दो सिद्धान्तों से प्रभावित था। सर्वप्रथम सभी प्रकार के कर सरकार द्वारा स्वीकृत होने चाहिये और दूसरे अर्थ विभाग के हिसाब की पूर्ण रूप से जाँच होनी चाहिये। इस प्रकार उसने स्थानीय सेना के वेतन के निमित्त सैनिक शासकों के प्रजा से स्वयं धन संग्रह करने के अधिकार को समाप्त कर दिया, अब वे केवल राजकोष से ही आवश्यक धन प्राप्त कर सकते थे। राजस्व संग्रह के कार्य में नियुक्त सभी अनावश्यक कर्मचारी अपने पदों से हटा दिये गये और उन्हें अवैधानिक ढ़ंग से प्राप्त धन भी राजकोष को लौटाना पड़ा। उसने बड़े परिश्रम के साथ इस विभाग के सभी लेखों को शुद्ध कराया और राजस्व में छूट के लिये अंकित सभी अप्रमाणित बातों का निराकरण किया गया। इस प्रकार सली ने अर्थ विभाग का पुनसंगठन तथा राष्ट्रीय ऋण का भुगतान कर एक संचित निधि की स्थापना की जिसके द्वारा ही विशाल सैन्य संगठन एवं व्ययशील राज-दरबार की सजावट सम्भव हो सकी। वस्तुतः फ्रांस के राष्ट्रीय गौरव के संस्थापकद्वय रूप में हेनरी चतुर्थ के साथ सली का नाम चिरस्मरणीय बना रहेगा।

बाह्य नीति—आस्ट्रिया एवं स्पेन के हैप्सबर्ग परिवार की यूरोपीय प्रधानता को नष्ट कर फ्रांस के गौरवपूर्ण पद की स्थापना हेनरी चतुर्थ की बाह्य नीति का प्राथमिक उद्देश्य था। दोनों ही परिवारों ने फ्रांस को चारों ओर से घेर रखा था। अतः उन्हें निर्बल किये बिना फ्रांस का उत्थान सम्भव न था। बरवैं की सन्धि के बाद भी फ्रांस और स्पेन की आन्तरिक शत्रुता का अन्त न हो सका था। फलतः हेनरी चतुर्थ ने सभी पड़ोसी छोटे राज्यों के साथ, जिन्हें स्पेन या आस्ट्रिया से भय था, मित्र-भाव स्थापित करना प्रारम्भ किया। उसने स्पेन के विरुद्ध डचों को धन और जन की सहायता प्रदान की। इटली में अपने प्रभाव की वृद्धि के प्रयास में सर्वप्रथम उसने टस्केनी की राजकुमारी मेरी द

मेडिची के साथ विवाह (1600) किया। उसने सवाय के साथ पुराने झगड़ों का अन्त कर पुनः सन्धि कर ली, वाल्टेलाइन (Valtelline) की घाटी पर अपना प्रभाव स्थापित किया और वेनिस के साथ सन्धि (1607) की। इस प्रकार मिलान को छोड़कर जो स्पेन के अधीन था, हेनरी चतुर्थ ने समस्त उत्तरी इटली में अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित कर हैप्सवर्ग परिवार के प्रभाव को नष्ट कर दिया। जर्मन-सम्राट से संत्रस्त जर्मनी के अनेक प्रोटेस्टेंट राजकुमार तथा स्विस-संघ भी फ्रांस की मित्र-श्रेणी में सम्मिलित हो गये। साथ ही उसने स्पेन और आस्ट्रिया पर आक्रमण के निमित्त टर्की को भी उत्साहित किया। इस प्रकार फ्रांस की सीमा पर सुदृढ़ राजनीतिक मोर्चाबन्दी कर लेने के पश्चात् हेनरी चतुर्थ ने हैप्सबर्ग परिवार से युद्ध की तैयारी प्रारम्भ की। जर्मनी के एक छोटे राज्य क्लीब्ज-जूलिक के उत्तराधिकार (1609) को लेकर युद्ध का कारण भी उपस्थित हो गया। इस प्रकार जब हेनरी चतुर्थ स्पेन और आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग विरुद्ध सैनिक तैयारी में संलग्न था उसी समय एक कैथलिक हत्यारे रावयाक (Ravaillac) ने 14 मई, सन् 1610 ई० में उसकी हत्या कर दी। उसकी हत्या से फ्रांस और उसके मित्रों की आशाओं पर तो तुषार पात हो ही गया, हैप्सवर्ग परिवार भी विनाश से बच गया।

चरित्र—हेनरी चतुर्थ का व्यक्तिगत चरित्र बहुत ऊँचा न था और उसके अनैतिक चारित्रिक कार्यों से उसका व्यक्तित्व वांछित भी है। परन्तु उसकी महत्ता का आधार देश के प्रति उसकी अमूल्य सेवायें हैं। उसमें असीम साहस, वीरता एवं धैर्य था और उसकी हत्या के निमित्त सत्रह विफल प्रयत्नों उसकी जन-प्रियता को और बढ़ा दिया था। उसके लिये धर्म केवल राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र था। यही कारण है कि उसने स्वयं दो बार धर्म परिवर्तन किया और कैथलिक होते हुए भी कैथलिक राज्यों के विरुद्ध प्रोटेस्टेंटों की भरपूर सहायता की। उसका राष्ट्र-प्रेम अपूर्व था। नाँत का अध्यादेश एवं शासन सुधार सम्बन्धी कार्य उसकी इसी भावना के प्रतीक हैं। वह सूक्ष्मदर्शी शासक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। उसमें उच्चकोटि के सैनिक एवं सफल सेनानायक के गुण वर्तमान थे और युद्ध में तोपखाने के बढ़ते हुए महत्व को समझकर उसने उसका पूर्ण संगठन किया था। सैनिकों को निश्चित वेतन देकर तथा सेना में अनुशासन स्थापित कर उसने फ्रांसीसी सेना को पूर्ण शक्तिशाली बनाया। यही सेना उसकी व्यक्तिगत शक्ति और देश की प्रतिष्ठा एवं गौरव का आधार थी। उसने राज्यारोहण के समय फ्रांस को पददलित और दुर्बल पाया था, परन्तु अपने अथक परिश्रम से उसे इतना शक्तिशाली बना दिया कि उसके पौत्र लुई चतुर्दश के काल में फ्रांस यूरोप का भाग्यविधाता बन गया। हेनरी के शासन-काल में निरंकुश शासन का पूर्ण विकास हुआ, क्योंकि उसका विश्वास था कि एक मात्र निरंकुश शासन ही फ्रांस की रक्षा और उसके गौरव की वृद्धि कर सकता है।

लुई त्रयोदश—हेनरी चतुर्थ का उत्तराधिकारी उसका नौवर्षीय पुत्र लुई त्रयोदश (1610-43) था। हेनरी की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् विभिन्न दलों के स्वार्थपूर्ण संघर्ष को रोकने के लिए राजमाता मेरी द मेडिची संरक्षिका नियुक्त की गयी और शासन का समस्त अधिकार उसके ही हाथों में सौंप दिया गया। यह इटैलियन राजकुमारी थी। इसमें महत्वाकांक्षा तो थी, परन्तु योग्यता का सर्वथा अभाव था। अधिकारारूढ़ होने के साथ ही इसने सली को पदच्युत किया। अधिकांश इटैलियन ही उसके परामर्शदाता बने। फलतः सभी फ्रांसीसी सरदार इसे अपने अधिकारों का अपहरण समझकर राजमाता से द्वेष करने लगे। उसकी कैथलिक धर्म प्रियता ह्यूगेनो सरदारों की चिढ़ का कारण बन गयी। संरक्षिका ने तुरंत अपने पति की गृह एवं बाह्य दोनों नीतियों का त्याग कर दिया। वह फ्रांस के पुराने शत्रु स्पेन की मित्रता की समर्थक थी। वस्तुतः वह स्पेन की बाह्यशक्ति से प्रभावित थी और इसी कारण देश के ओर विरोध पर भी उसने अपने पुत्र लुई त्रयोदश का विवाह (1615) फिलिप तृतीय की पुत्री 'आर्स्टिया की एन' के साथ कर दिया और फ्रेंच राजकुमारी एलिजाबेथ का विवाह स्पेन के युवराज के साथ सम्पन्न हुआ। इन विवाहों के कारण देश का विरोध और भी तीव्र हो उठा।

उसकी गृह-नीति भी देश की शान्ति के लिए बाधक सिद्ध हुई। सली द्वारा संचित कोष अपव्यय के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गया, जिससे देश में पुनः घोर आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया। इस बाधा को दूर करने के निमित्त स्टेटस-जनरल की बैठक (1614) बुलाई गयी, परन्तु परिस्थिति सुलझ न सकी। पुजारी और सरदार वर्ग न तो अपने चिर-संचित अधिकारों को छोड़ने के लिए और न तृतीय वर्ग के साथ सहयोग करने के लिए प्रस्तुत थे। तृतीय वर्ग के साथ भी देश के बहुसंख्यक किसानों की सहानुभूति न थी फलतः तीनों ही वर्गों में झगड़े प्रारम्भ हो गये जिससे तीन ही सप्ताह के भीतर स्टेट्स जनरल का अधिवेशन समाप्त कर दिया गया और राजमाता ने नृत्य के लिए कमरों की आवश्यकता दिखलाकर सभा-भवन पर ताले चढ़वा दिये। इसके बाद पौने दो सौ वर्षों तक स्टेट्स जनरल की बैठक न हो सकी। अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात सरदारों में घोर-संघर्ष प्रारम्भ हो गया और देश में गृह-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस संघर्ष में ह्यूगेनो सरदार अधिक भयावह सिद्ध हुए, क्योंकि उनके पास अपनी सेनायें और सुदृढ़ दुर्ग थे।

इस विषम परिस्थिति में लुई त्रयोदश ने राजमाता को हटाकर शासन की बागडोर अपने हाथों में ली। परन्तु संगीत एवं मृगया-प्रेमी राजा में शासन की क्षमता का अभाव था। सौभाग्यवश उसने शासन का सारा उत्तरदायित्व अपने असाधारण प्रतिभा सम्पन्न मन्त्री कार्डिनल रीशलू पर छोड़ दिया जिसने इस गुरुतर भार का बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया और अठारह वर्षों (1624-42 ई०) तक फ्रांस का भाग्य-विधाता बना रहा।

कार्डिनल रीशलू

रीशलू (Armand de Richelieu) प्वायतू के अमीर परिवार में उत्पन्न हुआ था। इक्कीस वर्ष की आयु में धार्मिक शिक्षा समाप्त होने पर वह ल्यूसों का बिशप नियुक्त हुआ। स्टेट्स-जनरल की 1614 ई० की बैठक में पुजारी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में उसने अपनी प्रतिभा एवं वाक्पटुता से राजमाता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मेरी द मेडिची ने शीघ्र ही उसे अपनी परामर्शदात्री समिति का सदस्य नियुक्त किया और उसे कार्डिनल भी बनवा दिया। इस क्षीणकाय, चाणाक्ष एवं सूक्ष्मदर्शी कार्डिनल ने यह भली-भाँति समझ लिया कि उसमें देश की ओर अराजकता के दमन की पर्याप्त क्षमता है। इसीलिए उसने राजमाता को छोड़कर लुई त्रयोदश का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा प्रारम्भ की और राजा ने भी उसकी अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित होकर 1624 ई० में उसे अपना प्रमुख परामर्शदाता एवं मन्त्री नियुक्त किया।

अपने नवीन पद पर आसीन होते समय रीशलू ने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि ह्यूगेनो वर्ग का विनाश तथा शक्ति-सम्पन्न सरदारों दर्प चूर्ण करने और देश की समस्त प्रजा को कर्तव्यपालन के लिए विवश तथा बाह्य देशों में आपके गौरवपूर्ण पद की प्रा०ठा करने में ही मैं अपनी समस्त शक्ति एवं आपसे प्राप्त समस्त अधिकारों का उपयोग करूँगा।" रीशलू अथक परिश्रम, घोर अध्यवसाय, असाधारण देश भक्ति तथा अटल विश्वास के साथ अपने इस प्रतिज्ञा-पालन में संलग्न हो गया। राज-दरबार के षड्यन्त्र या मार्ग की कठिनाइयाँ उसे पथ-भ्रष्ट न कर सकीं। राजमाता द्वारा उसकी नीति का विरोध उसके ही देश निष्कासन का कारण बन गया। स्वयं राजा भी उससे भयभीत रहता। राजा और देश के प्रति उसकी असाधारण श्रद्धा एवं भक्ति ही उसकी शक्ति का प्रधान साधन थीं और यही उसकी सफलता का रहस्य था। वस्तुतः अठारह वर्षों तक (1624-42 ई०) फ्रांस का वास्तविक शासक लुई त्रयोदश नहीं, अपितु कार्डिनल रीशलू था।

रीशलू की नीति—रीशलू ने राजा के सामने की गयी अपनी प्रतिज्ञा में अपने उद्देश्यों की स्पष्ट व्याख्या की है। जिस समय वह शासनारूढ़ हुआ उस समय यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था और इस युद्ध में स्पेन एवं साम्राज्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कठिनाइयों और उलझनें फ्रांस के भावी अभ्युत्थान की ओर संकेत कर रही थीं। दूरदर्शी कार्डिनल को इसे समझने में देर न लगी कि फ्रांस की गौरव-वृद्धि का अनुकूल अवसर उपस्थित है और इसके उपयोग में ही देश का हित सन्निहित है। उसकी दृष्टि में राष्ट्रीय एकता, राजा के हाथों में शासन का केन्द्रीकरण तथा देश की सीमा का विस्तार एवं उसकी सुरक्षा इन तीन साधनों से ही यूरोप में फ्रांस का प्रभाव स्थापित किया जा सकता है। अपने इन्हीं तीनों उद्देश्यों की पूर्ति में उसने अपनी समस्त शक्ति लगा दी।

उसका दृढ़ विचार था कि सफल बाह्य-नीति उसकी आन्तरिक सफलता में सहायक हो सकती है। अगर कूटनीति या सैनिक विजय द्वारा राइन नदी और पिरेनीज की पहाड़ियों तक फ्रांस की सीमा का विस्तार हो सके तो आन्तरिक शत्रुओं के भय की सम्भावना बहुत कम हो जायगी। फलतः उसने हेनरी चतुर्थ की नीति अपनायी, अन्तर केवल यही था कि जहाँ हेनरी चतुर्थ हैप्सबर्ग-परिवार के विनाश द्वारा यूरोप में शान्ति और सुरक्षा का स्वप्न देखता था, वहाँ कार्डिनल रीशलू को यूरोप में फ्रांस का प्रभुत्व-मात्र अभिप्रेत था। संक्षेप में यह महान राजनीतिज्ञ अपने प्रथम दो उद्देश्यों द्वारा फ्रांस में राजा को सर्वशक्तिशाली बनाना और तृतीय द्वारा यूरोप में हैप्सबर्ग-परिवार के स्थान पर फ्रांस के गौरव की स्थापना करना चाहता था। उसके कार्य एकमात्र राष्ट्रीय स्वार्थ एवं हित की भावना से अनुप्राणित थे और नैतिक आदर्श या मार्मिक विचार उसे अपने सिद्धान्तों से विचलित न कर सकते थे। वह जहाँ एक ओर राइन तक अपने देश की सीमा के विस्तार के लिए जर्मनों को अपनी मातृभूमि और भाषा से वंचित करने के लिये प्रस्तुत था वहाँ दूसरी ओर कैथलिक कार्डिनल होते हुए भी कैथलिकों के विरुद्ध प्रोटेस्टेंटों की सहायता से चूकने वाला भी न था।

राष्ट्र की एकता—रीशलू का ध्यान सर्वप्रथम राष्ट्रीय एकता की ओर आकृष्ट हुआ। इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा ह्यूगेनो वर्ग उपस्थित कर रहा था। फ्रांस में प्रोटेस्टेंट धर्म केवल धर्ममात्र ही नहीं, अपितु शक्तिशाली राजनीतिक दल के रूप में भी संगठित था। नाँत के अध्यादेश द्वारा इन्हें अपनी राजनीतिक सभायें करने, न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा दुर्गों में अपनी सेनायें रखने के विशेषाधिकार प्राप्त थे जिससे वे 'राज्य के भीतर राज्य' के रूप में बने हुए थे। रोमन कैथलिक कार्डिनल रीशलू धर्मान्धता के उस युग में भी धार्मिक विचारों से नहीं, अपितु राजनीतिक आदर्शों से ही प्रभावित था। वह ह्यूगेनो सम्प्रदाय की धार्मिक स्वतन्त्रता का विरोधी न था, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में वे राजाज्ञा का पालन अवश्य करें, इसके लिए वह कृत संकल्प था। अतः जब उन्होंने 1625 ई० में विद्रोह किया तो वह उनकी सैनिक शक्ति को नष्ट करने पर तुल गया। प्रारम्भ में रीशलू ने बड़ी सावधानी से काम लिया और जहाँ तक वार्ता सम्भव थी उसने उनके साथ कठोरता का व्यवहार नहीं किया। परन्तु अनुकूल अवसर प्राप्त होने पर वह उनके प्रमुख नगर ला रोशेल पर ससैन्य टूट पड़ा और दुर्ग पर घेरा डाल दिया। पन्द्रह महीनों तक नगर-निवासियों ने बड़ी वीरता के साथ इस घेरे का सामना किया जिसका संचालन स्वयं कार्डिनल रीशलू कर रहा था। यद्यपि ह्यूगेनो दल को अंग्रेजी जल–सेना की भी सहायता प्राप्त हुई, परन्तु रीशलू के अथक परिश्रम, साहस एवं शौर्य के सम्मुख नगर को 16,000 आदमी खोकर अन्त में आत्मसमर्पण (1628) करना पड़ा। दूसरे वर्ष उसने दक्षिणी फ्रांस में भी ह्यूगेनो दल को पराजित किया जिसके परिणाम-स्वरूप इस युद्ध का अन्त हो गया। इस विजय के उपरान्त रीशलू ने अद्‌भुत धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया जो

तत्कालीन राजाओं या राजनीतिज्ञों में असम्भव थी। उसने नाँत के अध्यादेश द्वारा प्राप्त ह्यूगेनो वर्ग के धार्मिक एवं नागरिकता के अधिकारों को तो ज्यों का त्यों रहने दिया, परन्तु वे सेना और दुर्ग तथा राजनीतिक सभाओं के अधिकार से वंचित कर दिये गये। रीशलू ने इस प्रकार प्रोटेस्टेंटों के उपद्रवकारी दल को नष्ट कर दिया और साथ ही 'राज्य के भीतर राज्य' के अस्तित्व का भी अन्त हो गया।

बड़े सरदारों का दमन अपेक्षाकृत कठिन था और इसमें उसे अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ा। फ्रांस में सरदारों को प्रान्तीय शासक बनाने की पुरानी प्रथा चली आ रही थी और वे ही स्थानीय शासन के भी प्रधान हुआ करते थे। परन्तु धीरे-धीरे वे शासक की अपेक्षा स्वामी बन बैठे थे। प्रान्तीय सेनायें भी उन्हीं के अधीन रहती थी जिनके द्वारा वे प्रायः राजाज्ञा का विरोध या उपद्रव किया करते थे। उनकी इस विद्रोही प्रवृत्ति को उनके किलों से सहायता मिल रही थी। उनमें द्वन्द्व-युद्ध की भी प्राचीन प्रणाली थी जो प्रायः व्यक्तिगत युद्धों का कारण बन जाती थीं। राजदरबार में अमीरों का षडयन्त्र भी उसके लिए असह्य हो रहा था और वे असन्तुष्ट राजमाता तथा ओलेंआँ के ड्यूक से प्रोत्साहन प्राप्त कर कार्डिनल के मार्ग में पग-पग पर कठिनाइयाँ उपस्थित कर रहे थे। अतः रीशलू ने एक विशिष्ट अध्यादेश (1626) द्वारा सरदारों की शक्ति के आधार उन सभी दुर्गों के विध्वंस की आज्ञा दी जो बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा के लिए अनावश्यक थे। इस नीति में उसे किसानों तथा नगर निवासियों से भी पर्याप्त सहायता मिली जो सरदारों की सैनिक प्रवृत्ति तथा लूटपाट से संत्रस्त थे। इस अध्यादेश के अनुसार उनके बहुत से किले धराशायी हो गये जिनके अवशेष फ्रांस में आज भी वर्तमान हैं। उसने द्वन्द्व-युद्धों पर भी प्रतिबन्ध लगाया जिसके विपरीत आचरण निश्चित मृत्यु का आवाहन था। इस आज्ञा के उल्लंघन पर अनेक प्रभावशाली सरदारों को मृत्यु-दण्ड दिया गया। राजदरबार के सरदारों के प्रति भी उसने कठोर नीति का अवलम्बन लिया और गुप्तचरों तथा अन्य उपायों द्वारा हृदय में आतंक और भय उत्पन्न कर दिया। षड्यंत्र या विद्रोह के लिए तो उसने निर्भीकता के साथ बड़े-से-बड़े सरदार को भी कठोरतम दण्ड दिया और उनके षड्यंत्रों या धमकियों की ओर उपेक्षा करते हुए वह अपनी दमन-नीति पर अडिग रहा। फलतः सरदारों को निर्बल बनाकर उन्हें राज्याधीन करने में उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

शासन का केन्द्रीकरण—रीशलू का दूसरा उद्देश्य शासन का केन्द्रीकरण था जिस पर उसकी सफलता की स्पष्ट छाप है। प्रान्तीय शासक के रूप में सरदारों के उद्धत एवं दर्पपूर्ण व्यवहार का अन्त करने के लिये वह कृत संकल्प था। शासन के केन्द्रीकरण में सरदारों की शक्ति पर प्रहार अनिवार्य हो गया। उसकी यह नीति सर्वथा नवीन तो न थी, क्योंकि इसके पूर्व अनेक राजाओं ने इनकी शक्ति को नियंत्रित करने की चेष्टा की थी,

परन्तु रीशलू का प्रयत्न अधिक प्रभावशाली एवं सफल सिद्ध हुआ। उसने उन्हें अपने पदों से हटाने की अपेक्षा उनके अधिकारों को नियंत्रित करने की चेष्टा की। इसके लिये उसने प्रत्येक जिले में एक नवीन राजकर्मचारी की नियुक्ति की जो इण्टेडेंट (Intendant) कहलाता था और जिसे रक्षा, न्याय तथा अर्थ-विभाग के समस्त अधिकार प्रदान किये गये थे। फलतः प्रान्तीय शासक स्थानीय सैन्य संगठन, न्याय एवं राजस्व संग्रह के कार्य भार से मुक्त हो गये। इन नवीन अधिकारियों का पद एकमात्र राज-कृपा पर अवलम्बित था और वे मध्यम वर्ग के लोगों में से ही चुने जाते थे। फलतः उनकी राज-भक्ति असन्दिग्ध थी। ये कर्मचारी अपने क्षेत्र का पूर्ण विवरण रीशलू के पास भेजते रहते थे और उसके आज्ञानुसार शासन कार्य का संचालन करते थे। इस प्रकार सतर्क राजमंत्री राजधानी में बैठा हुआ उनके द्वारा समस्त शासन पर नियंत्रण रखता था। क्रमशः इन इण्टेडेंटों की शक्ति और अधिकारों में वृद्धि तथा उसी अनुपात में सरदार वर्ग के प्रान्तीय शासकों की शक्ति क्षीण होती चली गयी और शीघ्र ही अधिकार वंचित उनका पद केवल श्रृंगार मात्र रह गया। कालान्तर में अपनी संख्या के आधार पर ये राजकर्मचारी 'तीस निरंकुश शासक' (Thirty Tyrants) के नाम से विख्यात हुए।

रीशलू ने इन इण्टेंडेंटों को छोड़कर केन्द्रीय सरकार के संगठन में किसी अन्य संस्था की व्यवस्था न की। वस्तुतः वह स्वतः समस्त शासन का केन्द्र था जिसके आदेशानुसार शासन का प्रत्येक अंग संचालित होता था। देश की परम्परागत संस्थायें, जैसे प्रांत, नगर-सभायें, ग्राम, पार्लियामेंट, बिशप्रिक आदि ज्यों-के-त्यों थे, अन्तर केवल यही था कि इनका नियंत्रण और संचालन इण्टेडेंटों के माध्यम से केन्द्रीय सरकार द्वारा होता था। उसने निरंकुश राजतंत्र में बाधक विभिन्न संस्थाओं को निर्बल बनाकर या अपने नियंत्रण में लेकर उन्हें ही राज पद के उत्थान का साधन बनाया। देश में स्टेटस जनरल और पार्लियामेंट नाम की दो ऐसी ही संस्थायें थीं जो मध्य काल से ही राजशक्ति को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती आ रही थीं। रीशलू के कार्यक्रम में इन प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं के स्वतंत्र अस्तित्व के लिए स्थान न था और वह उन्हें शक्तिहीन बनाने के लिए कृत संकल्प था। स्टेट्स जनरल कुछ अंशों में देश की प्रतिनिधि संस्था थी। रीशलू ने 1614 ई० में उसके कोलाहलपूर्ण अधिवेशन में भाग लिया था और अब वह उसकी पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहता था समकालीन इंगलैण्ड में राजा और पार्लियामेंट का संघर्ष उसकी आँखों के सामने ही चल रहा था। इस स्थिति में इस सभा का अधिवेशन न बुलाना ही उसने वांछनीय समझा और अपने शासन काल में उसकी एक भी बैठक ना बुलायी। देश की प्रतिनिधि सभा के सहयोग से वंचित शासन प्रणाली राजतंत्र को सुदृढ़ करने में सहायक अवश्य हुई, परन्तु इसका परिणाम देश के लिए भयावह सिद्ध हुआ।

देश की दूसरी ओर न्याय-विभाग की सर्वोच्च संस्था पार्लियामेंट थी जिन्हें स्थगित करना न तो सम्भव ही था और न रीशलू ऐसा करना ही चाहता था। परन्तु राजपद को सुदृढ़ बनाने के लिए उन पर नियन्त्रण आवश्यक था । परन्तु राजपद द्वारा प्रकाशित अध्यादेश कानून के रूप में तब तक कार्यान्वित न हो सकते थे जब तक पेरिस की पार्लियामेंट उन पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर उन्हें पंजीबद्ध न कर ले। पार्लियामेंट को अध्यादेशों को अस्वीकार करने का भी अधिकार था। रीशलू ने दृढ़तापूर्वक इस अधिकार को अस्वीकार करके पार्लियामेंट को समस्त अध्यादेशों को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।

इस प्रकार कार्डिनल रीशलू ने देश की समस्त विरोधी शक्तियों का दमन या विनाश कर अथवा उन्हें अपने अधीन कर राजपद की मर्यादा स्थापित की। अब शक्तिहीन सामन्त वर्ग में विरोध की शक्ति शेष न रह गयी, राष्ट्र की एकता पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी राष्ट्रीय एवं स्थानीय संस्थाएँ राजा के आदेशानुसार कार्य करने लगीं और शासन के समस्त क्षेत्र में घोर केन्द्रीय नियन्त्रण स्थापित हो गया। देश में निरंकुश शासन के सभी प्रतिबन्ध समाप्त हो गये। राजशक्ति के स्तम्भ सेना और कोष एकमात्र केन्द्र के अधीन थे और राजा शासन-कार्यों में स्वयं को छोड़कर और किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था के प्रति उत्तरदायी न रह गया। वस्तुतः रीशलू की केन्द्रीकरण की नीति इतनी अधिक सफल सिद्ध हुई कि अब राजा ही देश में समस्त शासन सत्ता का एकमात्र स्रोत बन गया और उसकी शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी।

बाह्य-नीति—रीशलू की बाह्य-नीति का आधार उसकी अपूर्व देशभक्ति और बूरबों परिवार के प्रति अटल राजभक्ति थी। वह अपने जीवन में सर्वप्रथम फ्रांसीसी देशभक्त था और उसके जीवन का लक्ष्य समस्त यूरोप में फ्रांस के लिए सर्वोच्च स्थान प्राप्त करना था। दूसरी ओर राजभक्त के रूप में वह प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हैप्सबर्ग परिवार को अपने गौरवपूर्ण पद से पदच्युत कर बूरबों परिवार की प्रतिष्ठा की स्थापना करना चाहता था। इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति में सर्वाधिक बाधा स्पेन और आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग परिवार और उसके विस्तृत साम्राज्य से उपस्थित हो रही थी। तीन ओर फ्रांस की स्थल सीमा ही उसकी दुर्बलता का साधन बनी हुई थी। पिरेनीज के उत्तर में रूसियों (Roussillon) और सर्डान्य (Cerdagne) के फ्रांसीसी प्रदेश स्पेन के अधिकार में थे जहाँ से स्पेनी सेनायें सरलतापूर्वक दक्षिणी फ्रांस में प्रवेश कर सकती थीं। इटली की ओर भी फ्रांसीसी सीमा निरापद न थी, क्योंकि सवाय की स्वतन्त्र डची पर किसी प्रकार का विश्वास नहीं किया जा सकता था। पूर्व और उत्तर-पूर्व में फ्रांस की सीमा और भी असुरक्षित थी। इस दिशा से स्पेन और जर्मन सम्राट् दोनों ही युद्धकाल से फ्रांस और उसकी राजधानी पेरिस को खतरे में डाल सकते थे। अवश्य ही जर्मन सीमा पर स्थित

मेत्ज, तूल और वर्दून पर फ्रांस का अधिकार था, परन्तु वे अभी तक फ्रांस के राज्य में सम्मिलित नहीं किये जा सके थे। अतः फ्रांस के अस्तित्व, विकास और गौरव के अस्तित्व, विकास और गौरव के लिए उसकी सीमा का विस्तार नितान्त आवश्यक था, क्योंकि इस नीति से हानि की अपेक्षा लाभ की ही अधिक सम्भावना थी। यही कारण है कि पिरेनीज, राइन नदी तथा नेदरलैंड्स की ओर फ्रांसीसी सीमा का संगठन और विस्तार रीशलू की बाह्य-नीति का मुख्य उद्देश्य बन गया और वह इसकी ही पूर्ति में जी-जान से जुट गया।

रीशलू ने इस बात को भली भाँति समझ लिया था कि स्पेन फ्रांस का प्रथम शत्रु है जिसकी ओर से उदासीनता देश के लिये घातक है और जिस पर आक्रमण करना सबसे अधिक सरल है। मिलान का प्रदेश तो स्पेन के अधिकार में था ही, उसने जर्मन साम्राज्य से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के लिये एकमात्र मार्ग वाल्टेलाइन की घाटी पर भी अधिकार (1622) कर लिया था और कूर के प्रसिद्ध दुर्ग में जर्मन सेना नियुक्त कर दी गयी थी। स्पेन की इस आक्रामक नीति ने रीशलू को उस पर घातक प्रहार करने का सुन्दर अवसर प्रदान किया। वाल्टेलाइन की घाटी ग्रीजों के संघ (League of the Grisons) के अधीन और पहले से ही फ्रांस के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थीं। अतः शत्रु के संगठन को दुर्बल करने के लिए इस प्रभाव की रक्षा आवश्यक थी। रीशलू ने एक ओर तो फ्रांस और इंगलैण्ड के बीच वैवाहिक सम्बन्ध (1624) स्थापित कर उससे स्पेन के विरुद्ध नेदरलैंडस के तथा सामुद्रिक युद्धों में सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया और दूसरी ओर फ्रेंच सैनिकों ने स्पेनियों को भगाकर वाल्टेलाइन पर अधिकार कर लिया। फ्रांसीसी सेनायें जिनोआ के विरुद्ध सवाय की सहायता के लिये भी आगे बढ़ीं, परन्तु इसी बीच ला रोशेल के संघर्ष के कारण रीशलू को अपना कार्यक्रम बदल देना पड़ा। वह एक साथ आन्तरिक एवं बाह्य युद्धों के लिए प्रस्तुत न था, फलतः उसने स्पेन के साथ मोंजो (Monzon) की सन्धि (1626) कर ली जिसके द्वारा वाल्टेलाइन पर ग्रीजों के संघ का अधिकार स्वीकृत हो गया।

ह्यूगेनो-विद्रोह के दमन के पश्चात रीशलू के पुनः इटली की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। मैंचुआ के ड्यूक की मृत्यु (1627) के बाद उसका उत्तराधिकारी नवेर का ड्यूक थाा जो फ्रांसीसी था। परन्तु शीघ्र ही साम्राज्य तथा स्पेन की सेनाओं ने मैंजुआ पर अधिकार कर लिया और ड्यूक को काजाल के दुर्ग में घेर लिया। फ्रांस ने पोप तथा वेनिस की सहायता से इस क्षेत्र में भी विजय प्राप्त की, परन्तु आन्तरिक विद्रोह के कारण फ्रांसीसी सेना को पुनः वापस लौट आना पड़ा। उनका दूसरा प्रयत्न यद्यपि अधिक सफल न था, परन्तु जर्मनी की सामरिक आवश्यकताओं से बाध्य होकर सम्राट् को सन्धि करनी पड़ी जिसके द्वारा मैंजुआ पर नवेर के ड्यूक का उत्तराधिकार स्वीकृत हो गया।

अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिये ही रीशलू ने रोमन कैथलिक कार्डिनल होते हुए भी तीसवर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेंटो की ओर से भाग लिया। हैप्सबर्ग-परिवार को नीचा दिखाने और फ्रांस की सीमा के विस्तार का यह स्वर्ण अवसर था जिससे अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए वह कृतसंकल्प था। प्रारम्भ में फ्रांस की आन्तरिक कठिनाइयों तथा विद्रोह के कारण वह इस युद्ध में अधिक भाग न ले सका और हैप्सबर्ग-परिवार के विरुद्ध जर्मन राजकुमारों, डेनमार्क, स्वीडेन तथा डचों को केवल परामर्श एवं आर्थिक सहायता देकर ही उसे संतोष करना पड़ा। परन्तु जब 1635 ई० में अप्रत्यक्ष सहायता से काम न चल सका तो बाध्य होकर रीशलू को इस संघर्ष में कूदना ही पड़ा। फ्रांस के प्रवेश से तीसवर्षीय युद्ध का स्वरूप सर्वथा परिवर्तित हो गया। अब इस युद्ध का उद्देश्य न तो कैथलिक धर्म की रक्षा या प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रसार रह गया और न तो सम्राट् और जर्मन राजकुमारों के व्यक्तिगत अधिकारों का संघर्ष या जर्मन हितों की रक्षा का प्रश्न ही सम्मुख रह गया। वस्तुतः अब इस युद्ध ने बूरबों और हैप्सबर्ग परिवार के विकट संघर्ष का स्वरूप धारण किया जिसमें स्पेन की पराजय द्वारा फ्रांस का उत्कर्ष तथा जर्मन प्रान्त अल्सेस और लोरेन पर फ्रांस का अधिकार कार्डिनल रीशलू का लक्ष्य था। इस समय से उसने एक के बाद दूसरी सेना साम्राज्य और स्पेन के विरुद्ध भेजनी आरम्भ की और साथ ही डचों जर्मन प्रोटेस्टेंटो तथा स्वीडेन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित भी करता रहा। अवश्य ही प्रारम्भ में अनुभव के अभाव में फ्रांसीसी सैनिकों को विशेष सफलता न मिल सकी, परन्तु इससे रीशलू के उत्साह तथा संकल्प और दृढ़ ही होते गये और उसके अनवरत प्रयत्नों के कारण शीघ्र ही पराजय विजय के रूप में परिणत होने लगीं। यद्यपि उसके जीवन काल में इस युद्ध का अन्त न हो सका क्योंकि 1642 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी परन्तु युद्ध का निर्णय फ्रांस के अनुकूल होना प्रारम्भ हो गया था। एक ओर अल्सेस पर और दूसरी ओर रूसियों पर फ्रांस की विजयी सेना अधिकार कर रही थी और यह निश्चित सा हो गया कि इस युद्ध का अन्त रीशलू द्वारा निर्धारित फ्रांस और बूरबों परिवार के हितों के अनुकूल ही होगा। छह वर्षों के पश्चात वेस्टफैलिया की सन्धि द्वारा जर्मन-युद्ध का और सत्रह वर्षों के उपरान्त पिरेनीज की सन्धि द्वारा स्पेन के युद्ध का अन्त हुआ। इन दोनों ही सन्धियों में फ्रांस की सफलता का प्रधान श्रेय कार्डिनल रीशलू को ही दिया जा सकता है।

चरित्र—कार्डिनल रीशलू का शरीर क्षीण और दुर्बल था, परन्तु उसके मुख मण्डल पर दृढ़संकल्प और विश्वास की झलक थी और उसके पीत वस्त्रों से उच्च व्यक्तित्व की आभा टपकती थी। अदम्य उत्साह, अनुपम साहस, निश्चयात्मक बुद्धि एवं दूरदर्शिता उसके स्वाभाविक गुण थे। उसने फ्रांस को राष्ट्रीय एकता तथा धार्मिक शान्ति प्रदान की और राजा को पूर्णतः संगठित शासन का प्रधान एवं देश का निरंकुश शासक बनाया। उसने इसके लिए विद्रोही सरदारों का दमन किया, ह्यूगेनो दल के राजनीतिक

अधिकारों का अन्त किया और पार्लियामेंट के स्वत्वों को सीमित किया। उसके समस्त कार्य अनुपम देश-प्रेम की भावना से अनुप्राणित थे और स्वदेश के गौरव एवं सम्मान के लिये उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु उसने फ्रांसीसी जनता की भलाई के लिए कुछ भी न किया, सर्वसाधारण की सम्पत्ति तथा जीवन की सुरक्षा की कोई समुचित व्यवस्था न की और न तो सरदारों या पुजारियों के विशेषाधिकारों को ही कम करने की कोशिश की। उसके शासनकाल में राष्ट्रीय ऋण भी कई गुना बढ़ गया, परन्तु उसने देश की सामाजिक या आर्थिक दुर्बलता को दूर करने की कोई चेष्टा न की। देश के भीतर एकमात्र सुदृढ़ राजतंत्र की स्थापना की ओर ही उसका ध्यान आकृष्ट था और एक सूक्ष्मदर्शी की भाँति उसने यह भली-भाँति समझ लिया था कि सबल और वेतनभोगी सेना, राजभक्ति की भावना तथा राष्ट्रीय एकता की सहायता से ही इस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है। उसने देश की वैधानिक संस्थाओं के विशेषाधिकारों का अन्त करके उन्हें राजा का सहायक एवं समर्थक बनाया।

उसकी राजनीतिक-कुशलता एवं दूरदर्शिता ने यूरोप में फ्रांस के गौरव को बहुत ऊंचा उठा दिया। उसके उद्देश्य की पूर्ति में स्पेन और आस्ट्रिया बाधक थे, फलतः दोनों को ही उसके सामने नीचा देखना पड़ा। एक ओर तो अपनी सफल कूटनीति से उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध स्वीडेन की सैनिक शक्ति का पूरा उपयोग किया और सवाय, मैंचुआ तथा परमा के सहयोग से इटली में उसकी शक्ति को नियंत्रित किया, दूसरी ओर स्पेन के विरुद्ध नेदरलैंड्स पुर्तगाल और केटेलान के विद्रोहों को उत्साहित कर उनसे फ्रांस का भरपूर हित-साधन किया। वस्तुतः हैप्सबर्ग-परिवार के विरुद्ध उसकी आक्रामक नीति फ्रांस के लिए, बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। यह निर्विवाद है कि फ्रांसीसी जनता उसके शासन काल में सुखी न हो सकी, परन्तु फ्रांस एक सबल और शक्तिमान राज्य बन गया। यदि 16वीं शताब्दी में यूरोपीय राजनीति में स्पेन का प्रभुत्व और आतंक व्याप्त था तो रीशलू की सफल बाह्य नीति के फलस्वरूप 17वीं शताब्दी में फ्रांस इस गौरवपूर्ण पद का अधिकारी हुआ।

कार्डिनल मेजारिन

रीशलू के कार्यों के फलस्वरूप फ्रांसीसी राजतंत्र का रूप असीमित हो गया और यूरोपीय राज्यों में फ्रांस की धाक जम गई। दिसंबर, 1642 ई० में उसकी मृत्यु के बाद लुई त्रयोदश ने मेजारिन[१] (Mazarin) को अपना मुख्य मंत्री (1642-61) नियुक्त किया। उसकी नियुक्ति के लिये रीशलू ने लुई से सिफारिश की थी। मई 1643 ई० में

१. यद्यपि इसका फ्रांसीसी उच्चारण मज़ैरै है, परन्तु यहाँ पर अंग्रेजी उच्चारण मेजारिन ही स्वीकार किया गया है।

लुई की भी मृत्यु हो गई । उसका लड़का चतुर्दश केवल पाँच साल का था। अतः उसकी माँ आस्ट्रिया की एन रीजेट नियुक्त हुई। मेजारिन ने रीशलू की ही री परराष्ट्र-नीति का अनुसरण किया और इसमें सफल भी रहा।

मेजारिन इटली के एक साधारण परिवार में 1602 ई० में पैदा हुआ था। उसकी शिक्षा रोम और मेड्रिड में हुई थी। प्रारंभ में वह चर्च का एक उच्च पदाधिकारी बनना चाहता था। पोप ने उसे पेरिस में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया और वहाँ रीशलू की दृष्टि उस पर पड़ी। उससे प्रभावित होकर रीशलू ने उसको फ्रांस की नौकरी में भर्ती कर लिया और 1639 ई० में उसे वहाँ की नागरिकता भी प्राप्त हो गई। मेजारिन को शासन प्रबन्ध की शिक्षा रीशलू के अंदर मिली। वह रानी एन का कृपा-पात्र बन गया और कहा जाता है कि उसने गुप्त ढंग से एन से विवाह भी कर लिया। मेजारिन में मौलिकता और साहस का अभाव था। वह रीशलू की तरह दबंग नहीं था और उसने उसके शक्तिपूर्ण साधनों के स्थान पर कूटनीति, धूर्तता और घूस का प्रयोग किया। वास्तव में कूटनीति उसका प्रमुख क्षेत्र था। उसके कार्यों का महत्त्व मौलिकता में नहीं, बल्कि रीशलू द्वारा प्रारम्भ किये हुए काम को पूरा करने में है। वेस्टफैलिया और पीरेनीज की संधियों से फ्रांस को अपनी सीमा के विस्तार का अवसर मिला और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई।

मेजारिन फ्रांस में जनप्रिय न हो सका। वह विदेशी था और उसने अपने संबंधियों को ऊँचे पदों पर नियुक्त किया था। अपने कार्यकाल में उसने अपार संपत्ति एकत्र कर ली थी। इन कारणों से फ्रांस के प्रभावशाली लोगों ने उसका विरोध किया। किसी का कहना था कि फ्रांस के सभी ईमानदार आदमी उसके विरुद्ध थे और सभी बदमाश उसके पक्ष में थे। इस कथन में निस्संदेह अत्युक्ति है, किन्तु इससे इसकी अप्रियता और चरित्र पर अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है। मेजारिन की विदेशी उत्पत्ति, साधारण कुल में जन्म, रानी एन से गुप्त सम्बन्ध, धन-लिप्सा और अपने संबंधियों का पक्षपात अवश्य खटकने वाली बातें थी, परन्तु तिस पर भी वह अपने विरोधियों की अपेक्षा फ्रांस का हित अधिक चाहता था। वह सुदृढ़ राजतंत्र और रीशलू की परराष्ट्र-नीति को बनाये रखने में तत्पर रहा, परन्तु उसके विपक्षी इन दो बातों में किसी की परवाह नहीं करते थे।

फ्रोंद (The Fornde)—मेजारिन के समय में एक गृह-युद्ध हुआ जो करीब पाँच साल (जनंवरी 1648 ई० से अक्टूबर 1652 ई०) तक चला। यह फ्रोंद के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः यह शब्द पेरिस के लड़कों के सड़क के एक खेल के नाम पर पड़ा, जिसे पुलिस रोका करती थी। मूल में फ्रोंदेर (Frondeur) शब्द का प्रयोग ऐसे गुण्डों के लिये होता था जो सड़कों पर गाड़ियों में बैठे हुए लोगों के ऊपर कीचड़ उछालने में मजा लेते थे। परन्तु इस समय इसका प्रयोग उन सभी लोगों के लिये होने लगा जो सरकार के

विरोधी थे। इस विद्रोह के कई कारण थे। फ्रांस की सरकार ने युद्धों के खर्च के लिये कई कर लगाये। इससे बड़ा असंतोष था। पेरिसवासी नगर के प्रान्त भाग के मकानों पर लगाये हुए कर से और भी असन्तुष्ट थे, क्योंकि वे अपनी इस पूँजी पर किसी प्रकार का ऐसा हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। इसके अतिरिक्त आर्थिक प्रबन्ध में भी अनेक दोष थे। अधिक खर्च और कुप्रबंन्ध से असन्तोष बढ़ रहा था। दूसरे, रीशलू के सुधारों से उच्च वर्ग के लोग असन्तुष्ट थे। वे अपने खोये हुए अधिकारों को पुनः प्राप्त करना चाहते थे और उन्हें धन-लोलुप विदेशी मेजारिन की अप्रियता में अपने उद्देश्य की प्राप्ति का सुअवसर मिला। इसी समय इंगलैण्ड में पार्लियामेंट और राजा का संघर्ष चल रहा था। नेपुल्स, कैटेलोनिया और पुर्तगाल में भी विद्रोह की हवा बह रही थी। ऐसी दशा में पेरिस कब शान्त रह सकता था? विद्रोह का प्रारम्भ पेरिस की पार्लियामेंट (Parlement) से प्रारम्भ हुआ। इसका स्वरूप इंगलैण्ड की पार्लियामेंट से भिन्न था। यह एक पुश्तैनी आधार पर निर्मित सर्वोच्च न्यायालय था, जिसके सदस्य उच्च मध्यमवर्ग के वकील होते थे। वैसे तो फ्रांस में बहुत सी पार्लिमेंट थीं, परन्तु पेरिस की पार्लिमेंट अधिक शक्तिशाली थी। इसको राजाज्ञाओं के पंजीकरण का एक विशेष अधिकार प्राप्त था। रीशलू ने अपने मंत्रित्व-काल में इसके अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया था। बिना बहस या आपत्ति के इसे नियमों का पंजीकरण करना पड़ता था। परन्तु मेजारिन की अप्रियता से लाभ उठाकर इसने 1644 ई० में कई वित्तीय आज्ञप्तियों के पंजीयन करने से इनकार कर दिया। अन्त में छह वर्ष का बालक लुई पार्लिमेंट के सामने लाया गया और उसने पंजीयन की आज्ञा दी। एक बालक राजा द्वारा विद्वान् और वृद्ध जनों को आज्ञा देने का दृश्य बड़ा आकर्षक रहा होगा। चार वर्ष के बाद फिर पार्लिमेंट ने कुछ वित्तीय नियमों को पंजीबद्ध करने से इन्कार किया, लुई फिर उसके सामने लाया गया। पार्लियामेंट को झुकना पड़ा, किन्तु कुछ माह के बाद उसने वैधानिक सुधारों पर विचार करने के लिये एक समिति नियुक्ति की जो सेंट लुई के चैम्बर के नाम से प्रसिद्ध है। इस समिति ने सुधार सम्बन्धी 27 माँगें पेश कीं। इनमें पार्लिमेंट की अनुमति से कर, बिना अभियोग सिद्ध हुए बन्दी न बनाये जाना, रीशलू द्वारा स्थापित इण्टेण्डेंट पद की समाप्ति और करों में कमी की मांगे अत्यन्त महत्व की थी और यदि वे स्वीकृत हो जातीं तो फ्रांस का राजतन्त्र ब्रिटेन की तरह सीमित हो जाता। परन्तु जिस संस्था द्वारा ये माँगें रखी गईं वह किसी भी रूप में फ्रांस की जनता की प्रतिनिधि नहीं थी। अतः आन्दोलन की कमजोरी माँगों के रूप में नहीं, अपितु पार्लिमेंट के रूप में थी।

विरोध की उग्रता देखकर मेजारिन ने प्रारंम्भ में कुछ माँगे स्वीकार कर लीं। कई इण्टेण्डेट हटा दिये गये, करों में भी कमी की गई और आर्थिक दोषों की जाँच का प्रबन्ध किया गया। परन्तु जब स्पेन के विरुद्ध कोंदे द्वारा लाँस की विजय का समाचार मिला तो मेजारिन ने दिये हुए अधिकारों को छीनने का प्रयत्न किया। वह सोचना था कि लोग

विजय के उल्लास में उसकी अप्रियता को भूल जायेंगे। उसने ब्रूसेल (Broussel) नामक एक व्यक्ति को जो पार्लिमेंट का प्रधान नेता था और जिसने उक्त आन्दोलन में काफी भाग लिया था और अन्य दो प्रसिद्ध नेताओं के पकड़ने की आज्ञा निकाली। मेजारिन के इस कार्य से घोर असन्तोष हुआ। पेरिस की जनता ने विद्रोह कर दिया। उसका साथ उच्च वर्ग के कुछ लोगों ने भी दिया। अन्त में बाध्य होकर ब्रूसेल को मुक्त करना पड़ा और पार्लिमेंट की माँगे भी स्वीकृत हो गई। परन्तु अभी भी शान्ति स्थापित नहीं हुई, क्योंकि मेजारिन ने ओर्लों (Orleans) और कोंदे की सहायता से पार्लिमेंट पर प्रहार करने का निश्चय किया। पेरिस की क्रान्तिकारी भीड़ पोल द गोंदी (Paul de Gondi) के प्रभाव में उत्तेजित थी। गोंदी स्वयं कार्डिनल बनना चाहता था और उसके उच्च वर्ग के सहायक अपने अधिकारों को प्राप्त करना चाहते थे। उन्हें जनता के अधिकारों में कोई रुचि नहीं थी। केवल मेजारिन की अप्रियता ने इन विभिन्न वर्गों के लोगों में कुछ समय के लिये एकता ला दी थी। विरोध की उग्रता से राजदरबार सैं जमैं (Saint Germain) चला गया और पेरिस पर अधिकार स्थापित करने के लिये कोंदे भेजा गया। उसने घेरा डाला, परन्तु उस समय कोई भी दल गृह युद्ध नहीं चाहता था। अंत में मार्च, 1649 ई० में र्‌यूयेल की संधि (Treaty of Rueil) हुई। उसमें पहले के स्वीकृत अधिकारों का पुष्टीकरण हुआ और पेरिस की पार्लिमेंट ने उसका पंजीयन किया।

इस प्रकार प्रथम फ्रोंद का अन्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पहले फ्रोंद में वैधानिक महत्व के प्रश्न रखे गये थे, परन्तु दूसरा फ्रोंद (1650 ई०–52 ई०) तो एकमात्र उच्चवर्ग के द्वारा अपने अधिकारों को पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न था। एक इतिहासकार ने इसे राजकुमारों का फ्रोंद (Fronde of The Princes) कहा है। इसका प्रारम्भ कोंदे और राजपरिवार के कई सामन्तों के बन्दी बनाने पर हुआ। मेजारिन उन्हें राज्य के लिये खतरनाक और विशेषकर कोंदे को फ्रांस के राजा का प्रतिद्वन्द्वी समझता था। विद्रोह की आग पेरिस और अन्य प्रांतों में फैली। फरवरी, 1651 ई० में मेजारिन को फ्रांस छोड़कर ब्रूल (Bruhl) जाना पड़ा। कोंदे और उसके साथी छोड़ दिये गये। पेरिस ने उनकी मुक्ति पर बड़ा आनन्द मनाया। परन्तु कोंदे के उग्र और अहंकारी व्यवहार से गोंदी अप्रसन्न हो गया। उसने कार्डिनल का पद पाकर दरबार का साथ दिया। कोंदे ने फ्रांस के दक्षिण में विद्रोह कर दिया। मेजारिन ने त्यूरेन की सहायता से उसे हराया और उसने पेरिस में शरण ली। यद्यपि कुछ समय के लिये कोंदे के हाथ में शक्ति आ गई, परन्तु पहले की तरह वह जन-प्रिय न रहा। दूसरी ओर यद्यपि सामान्य लोग शान्ति चाहते थे, परन्तु अभी भी मेजारिन के प्रति घृणा थी और पेरिस में उसके रहने से शीघ्र शान्ति स्थापित होने में बाधा जान पड़ी। अत: मेजारिन दरबार छोड़कर सेदाँ चला गया। उसने सोचा कि उसके हटने पर सामन्तों और साधारण नागरिकों का मेल कायम न रह सकेगा।

बात ऐसी ही हुई। कोंदे की सरकार सामान्य वर्ग की शान्ति की इच्छा के विरुद्ध न टिक सकी। स्थिति गंभीर देखकर उसने अक्टूबर, 1652 ई० में पेरिस छोड़ दिया और स्पेन में शरण ली। कई साल तक वह अपने देश के विरुद्ध स्पेन की ओर लड़ा। उसके पेरिस छोड़ते ही राजशक्ति पूर्णतः स्थापित हो गयी। लुई चतुर्दश ने पेरिस में प्रवेश किया और इस तरह द्वितीय फ्रोंद का अन्त हुआ। केन्द्रीय निरंकुशता के मार्ग से अन्तिम बाधा हट गई।

फ्रोंद की असफलता पार्लिमेंट के स्वरूप, सामन्तों के स्वार्थ और सफल नेतृत्व के अभाव के कारण निश्चित थी। पार्लिमेंट किसी भी अंश में जनता की प्रतिनिधि नहीं थी। यह ब्रिटिश पार्लियामेंट से सर्वथा भिन्न थी। जिन सामन्तों ने उसका साथ दिया वे अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करने में सचेष्ट थे। उन्हें जनता के अधिकार में कोई विश्वास नहीं था। दूसरे फ्रोंद का युद्ध वास्तव में इसी उद्देश्य से हुआ। फ्रोंद के नेता स्वार्थपूर्ति में संलग्न थे। पेरिस का नेता गोंदी कार्डिनल का पद प्राप्त करना चाहता था। कोंदे अपनी शक्ति की वृद्धि में तत्पर था।पार्लियामेंटभी एक विशिष्ट वर्ग की संस्था थी। इसके अतिरिक्त सुधार चाहने वाले विभिन्न वर्गों के समक्ष मेजारिन के प्रति घृणा के सिवा एक साथ मिलकर काम करने के लिए कोई आदर्श या कार्यक्रम नहीं था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का मेल कभी भी स्थायी नहीं हो सकता था। यही कारण था कि जब दूसरे फ्रोंद में संघर्ष का स्वरूप उच्च वर्ग द्वारा अपने अधिकारों की प्राप्ति हो गयी तो सामान्य नागरिकों को राजा और सामंतवर्ग के बीच निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। वे राजतन्त्र को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाने के पक्ष में हो गये। फ्रोंद की असफलता के सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी क्रान्ति का स्थायी प्रभाव तभी संभव होता है जब उसके लिए कुछ हद तक बौद्धिक तैयारी की गई हो। परन्तु फ्रांस में वैधानिक आधार पर राजतन्त्र के निर्णय के सम्बन्ध में कोई इस प्रकार का आन्दोलन नहीं हुआ था।

फ्रोंद के युद्धों के परिणामस्वरूप उच्च वर्ग की शक्ति कमजोर हो गई और निरंकुश राजतन्त्र के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित हो गया। बालक लुई के चरित्र पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। राजदरबार और अपनी माता के प्रति किये गये तिरस्कार को वह कभी भूल नहीं सका। अपने अधिकारों की प्रतिष्ठा के कारण पार्लिमेंट को और अस्वामिभक्ति के कारण पेरिस-निवासियों को वह क्षमा नहीं कर सकता था। युद्ध के पश्चात पार्लिमेंट का राजनीतिक और आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप जाता रहा। म्युनिसिपल कर्मचारियों के नियुक्त करने का अधिकार पेरिस-निवासियों से छीन लिया गया। वयस्क होने पर लुई ने राज्य की सारी शक्ति का केन्द्रीकरण अपने हाथों से किया। वह हरेक प्रकार की स्वतंत्रता का शत्रु हो गया। इस प्रकार फ्रोंद से राजशक्ति कम नहीं, अपितु और

अधिक हुई। अंत में विजय मेजारिन की हुई। 1653 ई० में वह पेरिस लौटा और मृत्यु तक फ्रांस की नीति का संचालन करता रहा।

परराष्ट्र-नीति—मेजारिन की परराष्ट्र नीति के उद्देश्य वे ही थे जिन्हें रीशलू ने स्थिर किया था। यद्यपि वह अपनी गृहनीति में असफल रहा, परन्तु इस क्षेत्र में उसे काफी सफलता मिली। उसके मंत्रित्व के प्रारम्भिक चरण में त्यूरेन और कोंदे ने स्पेन को कई स्थानों पर हराया। डंकर्क, रूसियों (Roussillon) और कुछ समय तक कैटेलोनिया के प्रांत पर फ्रांस का अधिकार हो गया। टस्केनी के तट पर समुद्री युद्ध में भी स्पेन की पराजय हुई। 1648 ई० में तीस वर्षीय युद्ध का अंत तो हुआ, परन्तु फ्रांस और स्पेन का संघर्ष चलता रहा। जब फ्रांस में फ्रोंद का युद्ध चल रहा था, तब स्पेन को अपने खोये हुए कुछ स्थानों को पुनः प्राप्त करने का सुअवसर मिला। कैटेलोनिया और डंकर्क पर फिर उसका अधिकार हो गया। परन्तु 1653 ई० के बाद स्पेन को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। फ्रांस ने क्रामवेल से संधि कर इंगलैण्ड से सहायता प्राप्त की और ड्यून्स (Dunes) के युद्ध में, जिसमें 6000 अंग्रेजी सैनिकों ने भाग लिया, स्पेन की हार हुई। अब तक आते-आते फ्रांस और स्पेन का युद्ध दो थके घोड़ों की दौड़ की तरह हो गया था। दोनों पक्ष शांति चाहते थे। अंत में 1659 ई० में पिरेनीज की सन्धि (Treaty of Pyrenees) द्वारा दोनों देशों ने युद्ध को समाप्त किया। फ्रांस को रूसियों, बेलजियन, नेदरलैंड्स में आर्त्वा (Artois) का प्रांत और कई शहर मिले। संधि की एक शर्त द्वारा फ्रांस के राजा लुई चतुर्दश का विवाह स्पेन की राजकुमारी मेरिया थेरेसा (Maria Theresa) के साथ हुआ। एक बड़े दहेज (करीब 5 लाख क्राउन) के उपलक्ष्य में यह निश्चित हुआ कि मेरिया थेरेसा और उसकी संतति का कोई अधिकार स्पेन की गद्दी पर न होगा। परन्तु स्पेन दहेज की रकम न दे सका और कालान्तर में लुई को अपने राज्य-विस्तार के लिए एक अच्छा बहाना मिला।

मेजारिन के मंत्रि-काल की इन दो संधियों—वेस्टफैलिया और पिरेनीज— ने फ्रांस की प्रधानता का मार्ग प्रशस्त कर दिया, परन्तु इसकाल में फ्रांस के व्यापार, कृषि और उपनिवेश की स्थापना में कोई उन्नति नहीं हुई। कोल्बैर का कथन है कि मेजारिन परराष्ट्र-नीति में दक्ष था, किन्तु गृहनीति के विषयों में अज्ञान बना रहा। इस कथन में बहुत सत्य है। मेजारिन ने श्रेष्ठ सरकार का मूल्य और अर्थ नहीं समझा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसके देश-प्रेम, हेनरी चतुर्थ और रीशलू नीति के अनुसरण और स्वामिभक्ति के कारण उसका स्थान फ्रांस के इतिहास में सुरक्षित है।

अध्याय 8

तीसवर्षीय युद्ध

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोप का अन्तिम और सबसे भीषण धार्मिक युद्ध हुआ, जो तीसवर्षीय युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। युद्ध का ढंग इतना अमानुषिक और निर्दयतापूर्ण था कि इतिहास में शायद ही ऐसा कोई उदाहरण हो। मानवोचित गुण प्रायः लुप्त हो गये थे और दानवता का राज्य पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया था। युद्ध का ध्वंसात्मक रूप भी इतना भीषण था कि 1914 ई० के पूर्व कुछ ही युद्ध इसके समकक्ष रखे जा सकते हैं। यूरोप के बहुत से राज्यों—स्पेन, आस्ट्रिया, फ्रांस, स्वीडेन, डेनमार्क, इंगलैंड, सवाया और नेदरलैंड्स ने इसमें भाग लिया, लेकिन सबसे अधिक क्षति जर्मनी और बोहेमिया इन दो देशों को हुई। वास्तव में इस दुःखान्त नाटक के रंगमंच मुख्यतः ये ही दोनों देश रहे। जो जर्मनी 16वीं शताब्दी के यूरोपीय राज्यों में सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत आगे था और जो इटली को छोड़कर विद्या के पुनर्जागरण से बसे अधिक प्रभावित हुआ था वह इसके परिणाम-स्वरूप सभ्यता और संस्कृति की दौड़ में बहुत पीछे हो गया। दुर्भिक्ष, हत्या, महामारी और उत्प्रवास से वहाँ की आबादी करीब एक-तिहाई रह गई। शहर के शहर और सैकड़ों गाँव निर्जन हो गये। यदि इतने पर भी ज़र्मनी आगे उठे तो यह जर्मन जाति की असाधारण शक्ति के ही कारण संभव हुआ। बोहेमिया की भी ऐसी ही दुर्दशा हुई। वहाँ की जनसंख्या 40 लाख से घटकर 10 लाख हो गई। उसके 35 हजार गाँवों में केवल 6 हजार गाँव बच सके। इस प्रकार आज से तीन सौ वर्ष पूर्व धर्म के नाम पर यूरोप ऐसे सभ्य भूंखंड में ऐसा दानवीय अभिनय हुआ, यह हमें आश्चर्यचकित कर देता है। परन्तु इससे आश्चर्य की बात तो यह है कि आज के सभ्य युग में भी भारत और पाकिस्तान में, स्वतंत्रता के पश्चात कुछ अंशों में धर्म के नाम पर ऐसी ही घटनायें हुई। यद्यपि तीसवर्षीय युद्ध मूलतः धार्मिक युद्ध था, किन्तु प्रारम्भ से ही राजनीतिक, आर्थिक और अन्य प्रकार के स्वार्थों ने इसे प्रभावित किया और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, धर्मेतर हितों का प्रभाव बढ़ता गया। अन्तिम चरण में इसका रूप एकमात्र राजनीतिक हो गया। फ्रांस के प्रधान मंत्री रीशलू ने इस संघर्ष में अपने देश की प्रधानता स्थापित करने का सुअवसर देखा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तीसवर्षीय युद्ध की चार प्रधान बातें हैं—इसकी दीर्घकालीनता, विदेशी राज्यों का एक ऐसे युद्ध में भाग लेना जिसका संबंध केवल जर्मनी से था, जर्मनों का वर्णनातीत कष्ट और क्षति, और अत्यन्त निर्दयतापूर्वक इसका संचालन।

युद्ध के कारण—तीसवर्षीय युद्ध का संबंध 1555 ई० की आगसबर्ग की धार्मिक संधि से है। इस समझौते ने धार्मिक समस्या का वास्तविक और स्थायी हल

प्रस्तुत नहीं किया। इसमे केवल लूथरवादियों को ही स्वीकृति मिली थी, परन्तु कालान्तर में जब कैल्विनवादियों की संख्या बढ़ने लगी तब इसका दोष और भी स्पष्ट हो गया। वैधानिक स्वीकृति के अभाव के कारण उनका सशंकित रहना स्वाभाविक था। कैथलिक धर्म सुधार के कारण ये स्थिति और जटिल हो गई। 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कैथलिकों में एक नई स्फूर्ति आ गई थी। वे अपने खोये हुए स्थान को पुनः प्राप्त करने में प्रयत्नशील थे। 17वीं शताब्दी के प्रारम्भतक आते-आते उन्होंने आक्रमणात्मक रुख धारण कर दिया था। अतः एक ओर तो कैल्विनवादियों की शक्ति में वृद्धि हो रही थी, दूसरी ओर उनके शत्रु कैथलिक शक्तिशाली हो रहे थे। दोनों के पारस्परिक संबंधों में भय और वैमनस्य ने घर कर लिया था। संघर्ष बहुत कुछ निश्चित सा जान पड़ता था। आग्सबर्ग की व्यवस्था दूसरा दोष कैथलिक चर्च की संपत्ति से संबंधित था। संधि की एक शर्त के अनुसार 1552 ई० के बाद संपत्ति का लौकिकीकरण अवैधानिक था, परन्तु इस शर्त के बावजूद भी कैथलिक चर्च की काफी संपत्ति प्रोटेस्टेंटों के हाथ में आ गई। इसके अतिरिक्त अनेक धार्मिक राजकुमारों ने प्रोटेस्टेंट धर्म को स्वीकार कर बिशप्रिकों को कैथलिक चर्च से पृथक कर लिया था। जब तक प्रोटेस्टेंट मतावलंबियों में शक्ति रही, इस प्रकार का परिवर्तन होता रहा, परन्तु ज्यों ही कैथलिक शक्तिशाली हुए उन्होंने लौकिकीकरण का विरोध किया और हस्तान्तरित संपत्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगें।

युद्ध का प्रधान कारण धार्मिक अवश्य था, किन्तु यही एकमात्र कारण न था। प्रारंभ से ही राजनीतिक परिस्थिति से इसको प्रेरणा मिलती रही। हैप्सबर्ग वंश जर्मनी में निरंकुश सत्ता स्थापित करना चाहता था, जबकि वहाँ के शासक अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखना चाहते थे। इसी समय फ्रांस, स्वीडेन आदि देश अपने राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए ऐसे ही अवसर की ताक में थे। फ्रांस राइन की ओर अपनी सीमा का विस्तार करना चाहता था, स्वीडेन बाल्टिक सागेर को अपनी झील के रूप में परिवर्तित करने में प्रयत्नशील था और डेनमार्क उत्तरी सागर में अपनी प्रधानता स्थापित करना चाहता था। तीसवर्षीय युद्ध ने उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का अवसर दिया। ऐसी मनोवृत्ति शांति के वातावरण के लिए निसंदेह घातक थीं।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दोनों धार्मिक दलों के पारस्परिक संबंध काफी कटु हो गये थे और प्रत्येक घटना उनके संघर्ष को निकट लाने में सहायक हो रहीं थी। डोनावर्त (Donauworth) की घटना से स्पष्ट हो जाता है कि जर्मनी में कैसी हवा बह रही थी। यह डैन्यूब के तट पर स्थित एक नगर था। यहाँ के निवासियों ने प्रोटेस्टेंट मत स्वीकार कर लिया था। परंतु कैथलिकों को पूजा संबंधी अधिकार प्राप्त थे, यद्यपि उन्हें सार्वजनिक प्रदर्शन की मनाही थीं। 1606 ई० में इस आज्ञा के विरुद्ध कैथलिकों ने

एक धार्मिक जुलूस निकाला, किन्तु एक बलवे के कारण वह भंग हो गया। इस प्रकार सम्राट रुडाल्फ ने बवेरिया के ड्यूक मैक्सिमिलियन को डोनावत के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने की आज्ञा दी। इस निश्चय का बहाना यह था कि वहाँ कैथलिकों के अधिकार पर प्रोटेस्टेंटो ने आघात किया था। मैक्सिमिलियन ने शस्त्र के बल से वहाँ के लोगों को कैथलिक मत स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। इस कार्य से प्रोटेस्टेंट बहुत भयभीत हुए और ऐसी घटना की पुनरावृत्ति रोकने के लिये उन्होंने पैलेटिनेट के शासक फ्रेडरिक के नेतृत्व में 1608 ई० में एक प्रोटेस्टेंट संघ (Evangelical Union) की स्थापना की। उसमें हेस, बेडेन, वुर्टेमवर्ग आदि राज्य सम्मिलित थे। यह यूनियन प्रधानतः एक कैल्विनवादी लीग था। जब फ्रांस के राजा हेनरी चतुर्थ ने लूथरवादियों के सहयोग पर जोर दिया तो उन्होंने यह कहकर, कि ऐसी यूनियन न तो ईश्वर को पसंद होगी और न तो चर्च के लिये श्रेयस्कर ही, इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। वे राजनीतिक पृथकता के सिद्धान्त के प्रति इतने स्वामिभक्त रहे कि उन्होंने अपनी रक्षा के लिये कोई संघ नहीं बनाया। इससे यह भी स्पष्ट था कि वे कैल्विनवादियों के लिये त्याग करने को तैयार नहीं थे। एक वर्ष के पश्चात 1609 ई० में कैथलिकों ने इस यूनियन के विरुद्ध मैक्सिमिलियन के नेतृत्व में एक लीग की स्थापना की। इसमें हैप्सबर्ग सम्राट नहीं सम्मिलित था, क्योंकि लीग के सदस्य नहीं चाहते थे कि हैप्सबर्ग-वंश का अधिकार जर्मनी में बढ़े और स्वयं उनकी सत्ता कम हो, यद्यपि वे प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध उसके साथ संगठित सैनिक कार्रवाई करने के लिए तैयार थे। अब दोनों दल एक दूसरे के विरुद्ध सशस्त्र मोर्चा लेने की तैयारी करने लगे।

विद्रोह बोहेमिया में आरम्भ हुआ। वहाँ के लोग प्रोटेस्टेंट मत के अनुयायी थे। रुडाल्फ द्वितीय (1576-1612) और मैथियास (Matthias, 1612-19) ऐसे कमजोर सम्राटों के राज्यकाल में उन्हें कुछ धार्मिक अधिकार प्राप्त हो गये थे। 1609 ई० के 'सहिष्णुता के पत्र' (Charter of Toleration) द्वारा रुडाल्फ ने उन्हें प्रोटेस्टेंट पद्धति पर पूजा करने और मन्दिर बनाने का अधिकार दिया था। परन्तु वह और मैथियास दोनों ही इन अधिकारों को कम करने में प्रयत्नशील रहे। सरकारी कर्मचारियों ने कुछ अंशों में स्वतंत्रता की सीमा कम भी कर दी थी। 1617 ई० में जब निस्संतान मैथियास ने कट्टर कैथलिक फर्डिनैड (Ferdinand of Styria) को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया तो बोहेमिया के प्रोटेस्टेंट बड़े चिन्तित और भयभीत हुए। उन्हें आशंका हुई कि यदि मैथियास के राज्यकाल में उनके धार्मिक अधिकार बहुत सुरक्षित नहीं थे तो फर्डिनेंड तो निश्चय ही उन पर आघात करेगा। मैथियास द्वारा फर्डिनेंड के पक्ष में घोषणा नियम के प्रतिकूल थी। बोहेमिया के राजतन्त्र का रूप निर्वाचित था। 1609 ई० में सम्राट ने उसके इस अधिकार को स्वीकार कर लिया था, परन्तु 1617 ई० में मैथियास ने इसके विरुद्ध बोहेमियन सभा (Diet) को वंशगत

राजतंत्र स्वीकार करने और फर्डिनेंड को राजा मानने के लिए बाध्य किया। जोहेमिया में बड़ा असन्तोष हुआ। इस निर्णय से उसकी धार्मिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता खतरे में जान पड़ी। फर्डिनैंड प्रोटेस्टेंटो का घोर शत्रु था। उसकी शिक्षा जेसूइटों द्वारा हुई थी। फिलिप द्वितीय की तरह वह भी कैथलिक चर्च का रक्षक बनना चाहता था। उसने प्राग (Prague) के ऊपर कैथलिक धर्म लादने की चेष्टा की और प्रोटेस्टेंट मन्दिरों को ढहवा दिया। उसकी धार्मिक नीति के कारण बोहेमिया की सरकार का रूप कैथलिक और अत्याचारी होता गया।

बोहेमिया का विद्रोह—फर्डिनैंड की इस धार्मिक नीति से बोहेमिया में गहरा असन्तोष था। जब उसकी धार्मिक आज्ञा के विरुद्ध वहाँ के लोगों ने अपना विरोध प्रकट करने के लिए सभा की तो उसने उसको भंग करने की आज्ञा दी। 1618 ई० में कुछ लोगों ने प्राग के किले में प्रवेश कर मार्टिनेत्स (Martinitz) और स्लावटा (Slawata) को जो सम्राट के कैथलिक प्रतिनिधि थे—एक खिड़की से 60 फीट नीचे फेंक दिया। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे दोनों जीवित बचे रहे। इस घटना को प्राग का डिफेनेस्ट्रेशन (Difenestration) कहते हैं। बोहेमिया का विद्रोह फर्डिनैंड को चुनौती थी। वहाँ के सामन्तों ने सैनिक संगठन किया और फर्डिनेंड ने भी युद्ध की तैयारी की। इस प्रकार बोहेमिया में युद्ध की जो ज्वाला प्रज्वलित हुई उसने शीघ्र ही समस्त जर्मनी को आक्रान्त कर यूरोपीय युद्ध का स्वरूप धारण किया। यह युद्ध तीस वर्षों (1818–48) तक चलता रहा, इसी से इसे 'तीस वर्षीय' (Thirty Years War) युद्ध के नाम से पुकारते हैं।

सुविधा के लिए तीसवर्षीय युद्ध को चार कालों में विभाजित किया जा सकता है। 1616 से 1624 ई० तक को बोहेमियन और पलेटाइन काल कह सकते हैं, क्योंकि इसमें युद्ध के प्रधान क्षेत्र ये दोनों राज्य रहे। दूसरा काल 1625 से 1629 ई० तक है। इसमें प्रोटेस्टेंटो की सहायता डेनमार्क ने की, इसलिए इसे डेनिश काल कहते हैं। तीसरे काल (1630-35) में अपने प्रोटेस्टेंट सहधर्मियों की सहायता स्वीडेन ने की अत. इसे स्वीडिश काल कहते हैं। युद्ध का अन्तिम चरण (1635–48) फ्रेंचकाल कहा गया है, क्योंकि अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए फ्रांस ने युद्ध में भाग लिया। इस काल में युद्ध का रूप धार्मिक न रहकर राजनीतिक हो गया था।

बोहेमिया और पैलेटिनेट के युद्ध—बोहेमिया के विद्रोह का रूप केवल प्रांतीय ही न था। बोहेमिया के राजतन्त्र को सम्राट के निर्वाचन का भी अधिकार प्राप्त था। ऐसी परिस्थिति में जब 6 निर्वाचकों में तीन प्रोटेस्टेंट और तीन कैथलिक थे, इस निर्वाचन क्षेत्र का बड़ा महत्व था। यदि वहाँ का शासक प्रोटेस्टेंट हो जाता तो निर्वाचन में प्रोटेस्टेंटो का बहुमत हो जाता। फर्डिनेंड को आशंका थी कि कहीं ऐसी परिस्थिति में

उसका निर्वाचन न हो। यदि किसी प्रोटेस्टेंट को सम्राट होने का अवसर मिलता तो आस्ट्रिया की प्रधानता और प्रतिष्ठा पर गहरा धक्का पहुंचता। ऐसी परिस्थिति मे जब सम्राट के निर्वाचन का प्रश्न सबके सामने था, प्रोटेस्टेंट यूनियन और सैक्सोनी के शासक बोहेमिया की धार्मिक समस्या को हल करने में योगदान दे सकते थे। यदि वे निर्वाचन के पहले, जर्मन राजकुमारों की ओर से फर्डिनेड के सामने सहिष्णुता पत्र को मानने की शर्त रखते तो संभवतः युद्ध न होता, परन्तु प्रोटेस्टेंट यूनियन ने न तो बोहेमिया के विद्रोहियों को रोकने का प्रयत्न किया और न उनकी सहायता की।

मार्च, 1619 ई० में मैथियास की मृत्यु हो गई। 26 अगस्त को बोहेमिया की सभा ने पैलेटिनेट के निर्वाचक फ्रेडेरिक को राजा निर्वाचित किया और फर्डिनैंड को राजच्युत कर दिया। फ्रेडेरिक ने अपनी स्वीकृति भी दे दी। निर्वाचकों को आशा थी कि उसके ससुर, इंग्लैड के राजा जेम्स प्रथम, से सहायता प्राप्त होगी। परन्तु जेम्स उस समय स्पेन की राजकुमारी के साथ अपने पुत्र चार्ल्स के विवाह की बातचीत कर रहा था, अतः सलाह के सिवा उसने फ्रेडेरिक की कोई सहायता नहीं की। जेम्स का अपने दामाद के ऊपर काफी प्रभाव था और यदि वह उसे इस खतरनाक निर्णय को लेने से रोकता तो संभवतः बोहेमिया का दुखद काण्ड न होता। ऐसा न करने से युद्ध के आंशिक दायित्व से जेम्स मुक्त नहीं किया जा सकता। 28 अगस्त, 1619 ई० को फर्डिनैंड ने बोहेमिया के राजा की हैसियत से अपना वोट अपने पक्ष में किया और सम्राट निर्वाचित हुआ। प्रोटेस्टेंटों ने भी उसी को वोट दिया। निर्वाचन के बाद तुरन्त उसने विद्रोहियों को दण्ड देने का निश्चय किया। बोहेमिया को लूथरवादी राजकुमारों से कोई सहायता न प्राप्त हुई। ऐसी दशा में उनकी सफलता की कोई आशा न थी। नवम्बर, 1620 में बबेरिया के ड्यूक मैक्सिमिलियन के सेनापति (Tilly) ने ह्वाइट हिल (White Hill) के युद्ध में विद्रोहियों को बुरी तरह से परास्त किया। फ्रेडेरिक को देश छोड़ना पड़ा। इस विजय के उपरान्त फर्डिनैंड ने प्रोटेस्टेंट मत को निर्मूल करने का निश्चय किया। अनेक विद्रोही नेताओं को मृत्यु दण्ड दिया गया। प्रोटेस्टेंटो की भूमि जब्त कर ली गई और उनके धार्मिक और नागरिक सभी अधिकार छीन लिए गए। कैथलिक धर्म स्वीकार करने या देश छोड़ने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प न था। 1627 ई० के संविधान का एक शर्त द्वारा बोहेमिया का राजतन्त्र हैप्सबर्गों के पक्ष में वंशगत बना दिया गया।

बोहेमिया की सफलता ने कैथलिकों को पैलेटिनेट पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। अप्रैल, 1621 ई० में प्रोटेस्टेंट यूनियन भी भंग हो गई। प्रोटेस्टेंट देशों में पैलेटिनेट को कोई सहायता न मिली। फलतः स्पेन और बवेरिया की सेनाओं ने वहाँ वैसा ही दृश्य उपस्थित किया जैसा कि बोहेमिया में हुआ था। 1622 ई० में हाइडेलबर्ग (Heidelberg) पर कैथलिकों का अधिकार हो गया। राज्य और धनविहींन फ्रेडरिक

को अपना देश भी छोड़ना पड़ा। उसकी जगह पर मैक्सिमिलयिन को निर्वाचक की उपाधि मिली और 1623 ई० में वह आजीवन निर्वाचक नियुक्त हुआ। उसको अपर पैलेटिनेट भी मिला। मैक्सिमिलियन को ये पुरस्कार प्रोटेस्टेंटो के विरुद्ध हुई सैनिक सेवा के उपलक्ष्य में मिले। अब सम्राट् के सात निर्वाचकों में कैथलिकों का बहुमत हो गया। इस प्रकार युद्ध के पहले चरण में कैथलिकों को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। सफल नेतृत्व और संघटन के अभाव से प्रोटेस्टेंट पराजित हुए। ऐसी दशा में बिना बाह्य सहायता के उनकी रक्षा संभव न थी।

डेनिश हस्तक्षेप (1625-1629 ई०)—अभी तक जेम्स प्रथम फ्रेडरिक को सलाह देता रहा, परन्तु उसकी ऐसी दुर्दशा देखकर वह शांत नहीं रह सकता था। पहले तो उसने स्पेन की राजकुमारी से चार्ल्स की शादी के प्रस्ताव द्वारा यूरोप में शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु बोहेमिया और पैलेटिनेट में कैथलिक की सफलता के बाद स्पेन ने इस प्रस्ताव कोअस्वीकारकर दिया। जेम्स बड़ा क्रोधित हुआ। उसने डेनमार्क को आर्थिक सहायता देकर कार्य सिद्ध करना चाहा, परन्तु पार्लियामेंट से झगड़ा होने के कारण वह कोई सहायता न दे सका। 1625 ई० में डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ ने युद्ध में भाग लिया। इसी साल जेम्स की मृत्यु हो गई और चार्ल्स प्रथम गद्दी पर बैठा। अब इंगलैंड ने धन से क्रिश्चिन की सहायता की। क्रिश्चियन हाल्स्टाइन (Holstein) ड्यूक की हैसियत से पवित्र रोमन साम्राज्य का एक सदस्य था और हैप्सबर्ग प्रभुत्व का विरोधी था। डेनमार्क और नार्वे का शासक होने से वह उत्तरी सागर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। स्वयं लूथरवादी होने से वह अपने सहधर्मियों की दुर्दशा से प्रभावित होकर उनकी सहायता करने के लिए प्रेरित हुआ। इस तरह क्रिश्चियन के उद्देश्य धार्मिक और राजनीतिक दोनों थे। इसके अतिरिक्त वह उस संपत्ति की रक्षा करना चाहता था जो उसके कुटुम्ब को कैथलिकों से छीन कर मिली थी। उसका पुत्र वर्डेन (Verden) बिशप्रिक का स्वामी था। क्रिश्चियन कैथलिक संपत्ति को लौटाने के पक्ष में नहीं था। इन उद्देश्यों को सामने रखकर उसने युद्ध में भाग लिया। 1625 ई० में उसकी सेनायें उत्तरी जर्मन में प्रविष्ट हुई।

वालेन्टस्टाइन—इस समय फर्डिनेंड ने एक कुशल और साहसी सैनकि वालेन्स्टाइनं (Wallenstein) से सहायता माँगी। अभी तक वह कैथलिक लीग की सेना पर निर्भर था, परन्तु वालेन्स्टाइन ने उसे अपनी सेना के संघटन परं जोर दिया। जब सम्राट ने सेना के खर्च का प्रश्न छेड़ा तब उसने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जिससे सेना आत्मनिर्भर हो सकती थी। तय हुआ कि लड़ाई में जीते हुए तोपखाने और सैनिक सामग्री सम्राट को सुपुर्द होगी और विजित प्रांतों के प्रशासक सेना के खर्च और रसद का प्रबन्ध करेंगे। यद्यपि वालेन्स्टाइन ने सैनिकों को लूटने की आज्ञा नहीं दी, किन्तु सेना

रखने का यह तरीका एक तरह की विनियमित लूट थी। प्रारम्भ में जनरल ने अपने सैनिकों पर नियंत्रण रखा, परन्तु जब देश निर्धन होने लगे तो बिना आज्ञा के वह आवश्यकतानुसार विजित राज्यों का धन छीनने लगा। वालेन्स्टाइन ने अपनी योग्यता और कुशल नेतृत्व से एक बड़ी सेना का संगठन किया और सफलतापूर्वक उसका प्रयोग प्रोटेस्टेंटो के विरुद्ध किया।

वालेन्स्टाइन का चरित्र कई दृष्टियों से बड़ा मनोरंजक है। 1583 ई० में वह बोहेमिया के एक कुलीन परिवार में पैदा हुआ था। जन्म से वह प्रोटेस्टेंट था, परन्तु बाद में उसने कैथलिक मत स्वीकार कर लिया। इस धार्मिक परिवर्तन का व्यक्तिगत विश्वास की दृष्टि से उसके जीवन में कोई महत्व नहीं था, क्योंकि धर्म में उसकी कोई रुचि नहीं थी। उसकी शिक्षा जर्मनी और इटली में हुई थी। प्राग के विशाल प्रासाद के चित्र, कपड़ों पर के काम, इटालियन मूर्तियां और अनेक दर्शनीय चीजें उसकी रुचि का परिचय देती हैं। वालेन्स्टाइन को अपनी एक स्त्री के द्वारा मोराविया (Moravia) में जागीरें मिलीं और दूसरी के द्वारा सम्राट के दरबार में उसका प्रभाव स्थापित हो गया। अपनी योग्यता से उसने काफी संपत्ति और शक्ति प्राप्त कर ली थी। 1618 ई० के बोहेमियन विद्रोह में उसने प्रोटेस्टेंटो से छीनी हुई जागीरें खरीदीं और लाभ पर बेचकर विपुल धन-राशि एकत्रित कर ली। कुछ ही समय में वह एक बहुत बड़ा जागीरदार हो गया। सम्राट के आमन्त्रण पर उसने एक बड़ी सेना संगठित की जिसमें जर्मन, डच, हंगेरियन, चेक, स्पेनिश, फ्रैंच और स्काच सभी सम्मिलित थे। इस सेना में कैथलिक और प्रोटेस्टेंट सभी मतों के अनुयायी थे। वालेन्स्टाइन की सैनिक योग्यता और अच्छे वेतन के आकर्षण से वे भर्ती हो गये। सैनिकों की संख्या 50 हजार से ऊपर थीं। वालेन्स्टाइन ने अपने देश और राष्ट्रधर्म के विरुद्ध कैथलिकों की क्यों सहायता की, यह विचारणीय प्रश्न है, परन्तु इसका उत्तर निश्चयपूर्वक नहीं दिया जा सकता। निस्संदेह वह महत्वाकांक्षी था। उसके उद्देश्यों में उसके जीवन का यह अंग सदैव प्रस्तुत रहा। जब सम्राट ने उसे आमन्त्रित किया तो वह हैप्सबर्ग वंश की निरंकुशता के अन्तर्गत संपूर्ण जर्मनी की एकता स्थापित करना चाहता था। वह निर्वाचन द्वारा सम्रट की नियुक्ति के पक्ष में नहीं थी। जैसे फ्रांस और स्पेन के राजाओं का स्थान था, उसी प्रकार वह जर्मनी में सम्राट को प्रतिष्ठित करना चाहता था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि वालेन्स्टाइन का उद्देश्य जर्मनी में सम्राट की प्रधानता और सम्राट के ऊपर अपनी प्रधानता स्थापित करना था। यद्यपि वह फर्डिनेंड की धार्मिक नीति का विरोधी था, किन्तु उसकी राजनीति से वह सहमत था।

सेना संगठन के बाद वालेन्स्टाइन क्रिश्चियन का मुकाबिला करने के लिए उत्तर की ओर बढ़ा। उसकी और टिली की सेनाओं का सामना करने में डेनमार्क असमर्थ था। 1626 ई० में लूटर 'Lutter) की लड़ाई में क्रिश्चियन की हार हुई और उत्तरी जर्मनी

में कैथलिकों का प्रभाव स्थापित हो गया। फलतः प्रोटेस्टेंट राज्य कैथलिक लीग की दया पर निर्भर हो गये। ब्रैण्डेनबर्ग ने डेनमार्क के विरुद्ध फर्डिनेंड की सहायता की। अंत में 1629 ई० में डेनमार्क ने कैथलिकों से ल्युबेक (Lubeck) की संधि कर ली। इस संधि के अनुसार क्रिश्चियन का अधिकार श्लेसविग (Schleswig) और जट्लैंड पर बना रहा, परन्तु उसे अनेक जर्मन बिशप्रिकें, जिन पर उसके परिवार का अधिकार था, लौटानी पड़ीं।

सफलता के उल्लास में कैथलिक लीग ने चर्च की उस सारी सम्पत्ति का, जिसका लौकिकीकरण 1552 ई० के बाद हुआ था, वापस लेने का प्रयत्न किया। फर्डिनेंड को उनकी माँग स्वीकार करनी पड़ी। 1629 ई० में उसने कैथलिक संपत्ति की वापसी की एक आज्ञा (Edict of Restitution) प्रकाशित की। इस आज्ञा के पूर्णतः कार्यान्वित करने का अर्थ प्रोटेस्टेंटो से 2 आर्चबिशप्रिक, 12 बिशप्रिक्त और 100 से अधिक मठों का छीना जाना था। कैथलिकों ने इस सम्बन्ध में इतनी तत्परता से काम लिया कि तीन वर्ष में उन्होंने 5 बिशप्रिक, 30 नगर और बहुत से मठों पर पुनः अधिकार कर लिया। इस आज्ञा से तटस्थ प्रोटेस्टेंट राज्य भी बहुत आतंकित हुए। अभी तक युद्ध का भार मुख्यतः कैल्विनवादी शासकों के ऊपर था, परन्तु अब लीग का खतरा सबके सामने समान रूप से उपस्थित हो गया। वालेन्स्टाइन वापसी की नीति के पक्ष में न था। कैथलिक लीग के सदस्य उसकी धार्मिक नीति और महत्वाकांक्षी योजनाओं से सशंक हो गये। 1630 ई० में जब निर्वाचकों की सभा रैटिसबन (Ratisbon) में हुई तो उन्होंने उसकी महत्वाकांक्षी और क्रांतिकारी योजनाओं के विरुद्ध ऐसे जोर की आवाज उठाई कि अंत में फर्डिनेंड को उसे हटाना पड़ा।

तीसवर्षीय युद्ध के प्रथम दस वर्षों में कैथलिकों को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। बोहेमिया ध्वंस से नष्टप्राय हो गया था, पैलेटिनेट पर कैथलिकों का अधिकार हो गया था, चर्च की संपत्ति का काफी भाग प्रोटेस्टेंटो से छीन लिया गया था और जर्मनी पर हैप्सबर्ग की प्रधानता स्थापित हो गई थी। स्थिति बड़ी गम्भीर थी। इस समय स्वीडेन के राजा गस्टवस एडाल्फस (Gustavus Adolphus) ने प्रोटेस्टेंटो की ओर से युद्ध में हस्तक्षेप किया।

गस्टवर्स एडाल्फस (1611-1632 ई०)—17वीं शताब्दी के यूरोपीय शासकों में गस्टबस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किसी भी मापदंड से वह एक अद्भुत व्यक्ति था। उसमें एक कुशल सैनिक और राजनीतिज्ञ के सभी गुण थे। उसमें आदर्श और व्यावहारिकता का एक अजीब सम्मिश्रण था। वह न्यायप्रिय, साहसी और धर्मपरायण था। राष्ट्र और धर्म के हित को अपने सामने रखकर उसने अपनी नीति निर्धारित की। सैनिक बातों से सूक्ष्म ज्ञान, कष्ट-सहन की असाधारण शक्ति, असीम

साहस एवं निर्भीकता तथा प्रत्येक अवसर के सदुपयोग करने की योग्यता से उसने अपने सैनिकों में आज्ञापालन और कष्ट सहने के गुणों की वृद्धि की। उसे अनेक यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान था। जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, डच और लैटिन भाषायें वह बोल सकता था और अंग्रेजी, रूसी और स्पेनिश भाषायें समझ लेता था। संगीत और काव्य में भी उसकी रुचि थी। वह एक श्रद्धालु प्रोटेस्टेंट था और जर्मनी में अपने सहधर्मियों की दयनीय दशा देखकर उसने उनकी सहायत करने का निश्चय किया।

गस्टबस 1611 ई० में 17 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। तीसवर्षीय युद्ध में भाग लेने के पूर्व उसे डेनमार्क (1611-13), रूस (1614-17) और पोलैण्ड (1617-29) से युद्ध करना पड़ा था। 1617 ई० में रूस को विवश होकर उसे इंग्रिया (Ingria) का प्रांत देना पड़ा और फिनलैंड और इस्टोनिया (Estonia) पर स्वीडेन का अधिकार स्वीकार करना पड़ा। पोलैण्ड को भी गस्टवस के सामने सिर झुकाना पड़ा और उसे स्वीडेन को लिवोनिया (Livonia) देना पड़ा। इन विजयों के फलस्वरूप रूस और पोलैण्ड के अधिकृत प्रायः संपूर्ण बाल्टिक तट पर गस्टवस का अधिकार स्थापित हो गया। जब कैथलिकों ने संपत्ति की वापसी की आज्ञा प्रकाशित की तब उसने युद्ध में भाग लेने का निश्चय किया। प्रोटेस्टेंट होने के कारण उसे अपने सहधर्मियों के प्रति सहानुभूति थी। इसके अतिरिक्त अपनी गद्दी को सुरक्षित रखने और राज्य-विस्तार के लिए उसने कैथलिकों के विरुद्ध युद्ध करना आवश्यक समझा। यदि कैथलिक पूर्ण रूप से विजयी हो जाते तो उसे आशंका थी कि वे पोलैण्ड के कैथलिक राजा को उसके विरुद्ध उत्तेजित करते और इस तरह उसके लिए एक नया खतरा उपस्थित हो जाता। हमें स्मरण रखना चाहिए कि स्वीडेन और पोलैण्ड दोनों के राजा वासा परिवार के थे, परंतु उनमें एक प्रोटेस्टेंट था और दूसरा कैथलिक। सम्राट फर्डिनेंड पोलैण्ड के राजा का मित्र था। संभव था कि प्रोटेस्टेंटो पर विजय पाकर वह स्वीडेन पर कैथलिक राजा को प्रतिष्ठित करता। गस्टवस अच्छी तरह समझता था कि उत्तरी जर्मनी प्रोटेस्टेंटो की शक्ति कायम रहने से ही पोलैण्ड को स्वीडेन की गद्दी पर अधिकार करने से रोका जा सकता था। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त गस्टवस बाल्टिक समुद्र को स्वीडिश झील के रूप में परिवर्तित करना चाहता था। इसके लिए उत्तरी जर्मनी के समुद्र-तट पर अधिकार स्थापित करना आवश्यक था। युद्ध की घोषणा करते समय उसने कहा था—"यह युद्ध हमारी पितृभूमि की रक्षा का युद्ध है। डेनमार्क समाप्त हो गया है और कैथलिक वाल्टिक पर प्रभुत्व कायम कर चुके हैं। उनका उद्देश्य हमारे वाणिज्य को नष्ट करना और शीघ्र ही हमारी पितृभूमि के दक्षिणी समुद्र-तट पर अधिकार स्थापित करना है।" गस्टवस ने जर्मनी की स्वतन्त्रता की रक्षा और प्रोटेस्टेंटों से छीनी हुई संपत्ति को फिर वापस लेना युद्ध के उद्देश्य बताये। सारांश यह कि फर्डिनेंड तीन बातों में उसका शत्रु था—वह पोलैंड का मित्र था, कैथलिकों का कट्टर समर्थक था, और बाल्टिक क्षेत्र में उसका प्रतिद्वन्द्वी था।

गस्टवस एक योग्य राजनीतिज्ञ ही नहीं, एक कुशल सैनिक भी था। सैनिक विज्ञान के प्रति उसकी अमूल्य देन है और निःसंदेह इस दृष्टि से इतिहास में कुछ ही लोग उसकी बराबरी कर सकते हैं। यद्यपि उसकी सेना में करीब आधे जर्मन और स्कांच थे, परंतु उसने अपने सैनिकों में एक नई भावना का संचार किया। उसने समकालीन सेनापति लूट का प्रलोभन देकर सेना का संगठन करते थे। सैनिकों की स्वामिभक्ति राष्ट्र के प्रति नहीं, सेनापतियों के प्रति होती थी। लेकिन गस्टवस की सेना राष्ट्रीय और धार्मिक भावनाओं से प्रभावित थी। अभियान के समय प्रातः काल और संख्या समय जो प्रार्थना होती थी उससे इसकी प्रगति में बड़ी सहायता मिलती थी। गस्टवस ने अनुशासन में काफी कड़ाई रखी। सैनिकों को लूटने की आज्ञा नहीं थी। मदिरापान और द्यूत पर बहुत नियंत्रण था। घायलों की दवा और इलाज का प्रबन्ध क्षेत्रीय अस्पतालों द्वारा किया जाता था। गस्टवस के पहले तोपखाने का प्रयोग अधिक नहीं होता था, किन्तु उसने इसके शीघ्र और सरलतापूर्वक प्रयोग पर जोर दिया। समकालीन सेना में गतिशीलता का अभाव था। उसने इस कमी को पूरा किया। अभी तक सैनिक वर्दी भी प्रयोग में नहीं आयी थी। गस्टवस ने अपने सैनिकों के लिए एक प्रकार की वर्दी पर जोर दिया।

स्वीडिश काल (1630-35)—जुलाई, 1630 ई० में गस्टवस ने युद्ध में भाग लिया। उस समय उसकी सेना यूरोप में कार्य क्षमता और प्रशिक्षण में सर्वश्रेष्ठ थी। फ्रांस के प्रधानमंत्री रीशलू ने उसकी आर्थिक सहायता की, क्योंकि वह हैप्सबर्ग शक्ति को अपने राष्ट्रहित के मार्ग में बाधक समझता था। गस्टवस का मन्त्री आक्सेनस्टीर्न (Oxenstiern) रक्षणात्मक युद्ध के पक्ष में था, परन्तु वह उसके मत से सहमत नहीं था। उसका कहना था कि यदि हम सम्राट का मुकाबिला स्ट्रालजुंड में जाकर नहीं करते तो वह काल्मार (Kalmar) में आकर हमें पकड़ सकेगा। जब गस्टवस ने कैथलिकों के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा की तब जर्मनी के प्रोटेस्टेंट शासको की युद्ध नीति स्वार्थ और अनिश्चयता से प्रभावित थीं। उन्होंने प्रारम्भ में उसकी कोई सहायता नहीं की, परन्तु जब कैथलिकों ने मैग्डेबर्ग (Magdeburg) को बुरी तरह लूटा और 20 हजार लोगों को मृत्यु के घाट उतारा, तब उनकी आंखें खुलीं। टिली के आक्रमण के भय से सैक्सोनी के शासक ने गस्टवस की सहायता की। परन्तु ब्रेण्डेनबर्ग के शासक जार्ज विलयिम को अपने पक्ष में लाने के लिए उनको सैनिक कार्रवाई करना पड़ी और तब वह सहायता देने के लिए तैयार हुआ। 1631 ई० में ब्राइटेनफेल्ड (Breitenfeld) के युद्ध में उसने टिली को हराया। इस विजय से निराश और हतोत्साह प्रोटेस्टेंटों की स्थिति बिल्कुल बदल गई। कैथलिकों का प्रभुत्व उत्तरी जर्मनी से जाता रहा। इसके पश्चात गस्टवस ने राइन प्रदेश पर आक्रमण किया और यदि फ्रांस उसका विरोध न करता तो कोलोन, ट्रीयर (Trier) और मेन्ज़ (Mainz) पर स्वीडेन का अधिकार स्थापित हो गया होता। रीशलू नहीं चाहता था कि गस्टवस राइन क्षेत्र और बवेरिया पर आक्रमण

करे, परन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध गस्टवस ने अपनी सेना बवेरिया में भेजी। वहाँ टिली से उसका मुकाबला हुआ। लेक (Lech) के युद्ध में बवेरियन जनरल मारा गया। कैथलिकों की पराजय से फर्डिनेंड वालेन्स्टाइन को पुनः आमन्त्रित करने के लिए बाध्य हुआ। राजनीतिक और सैनिक विषयों में इस बार पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर वालेन्स्टाइन के सम्राट की ओर से सैन्य-संचालन का कार्य-भार लिया। अब वह साम्राज्य के एजेंट के रूप में नहीं था और न तो कैथलिक लीग की इच्छा पर निर्भर था। नवम्बर, 1632 ई० में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ ल्युत्सेन (Lutxen) के स्थान पर हुई। प्रोटेस्टेंट विजयी रहे, परन्तु यह विजय हार से भी बुरी थी, क्योंकि गोली लगने से गस्टवस की मृत्यु हो गई। इस तरह 'उत्तर का केशरी' (Lion of the North), जिसने निराश प्रोटेस्टेंटों में आशा का संचार कर पराजय को विजय के रूप में परिवर्तित कर दिया था, अपना कार्य समाप्त न कर सका। उसकी मृत्यु के साथ जर्मनी में प्रोटेस्टेंट अपने नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरुद्ध जर्मन प्रोटेस्टेंट राज्यों का एक संघ स्थापित करना था। परन्तु अपनी इस राजनीतिक योजना में वह अव्यावहारिक था क्योंकि जर्मन राज्य विदेशी सहायता तो चाहते थे, परन्तु विदेशी हस्तक्षेप नहीं और गस्टवस विदेशी था। यद्यपि उसके उद्देश्य स्वार्थ से मुक्त नहीं थे, परन्तु निस्संदेह उसमें धर्म के प्रति श्रद्धा थी और अन्य उद्देश्यों के समकक्ष धर्म-सेवा श्रेष्ठतर थी। अपनी कार्यकुशलता से उसने स्वीडेन को महान् शक्तिशाली बनाया और उसके प्रतिद्वन्द्वियों को हराकर बाल्टिक पर उसका प्रभुत्व स्थापित किया।

वालेन्स्टाइन फिर सम्राट और कैथलिक लीग के लिये एक समस्या बन गया। महत्त्वाकांक्षी तो था ही, अब वह सम्राट की निरंकुशता का विरोधी हो गया। वह जर्मनी की एकता और धार्मिक सहिष्णुता का समर्थक था। धार्मिक समझौता करके वह जर्मनी को सभी विदेशियों के हस्तक्षेप से मुक्त करना चाहता था। साथ-ही-साथ वह अपने लिये भी एक राज्य का निर्माण करना चाहता था। उसने सम्राट की आज्ञा की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। वह कैथलिक सम्पत्ति की वापसी की राजाज्ञा को रद्द करने के पक्ष में था। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने फ्रांस और सैक्सोनी से सन्धि की बातचीत शुरू की। कैथलिक शक्तियां उसके सन्धि के प्रस्ताव और धार्मिक नीति के विरुद्ध थीं। स्पेन भी उसके खिलाफ हो गया था। वियना में उसके विरुद्ध एक शक्तिशाली दल बना। 1634 ई० में एक षड्यंत्र हुआ और उसके सैनिकों ने शयनागार में ही उसकी हत्या कर डाली। वालेन्स्टाइन की योग्यता उच्च कोटि की थी, यद्यपि उसके उद्देश्यों के संबंध में निश्चयपूर्वक कहना बहुत कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि उसके दो उद्देश्य जर्मनी की एकता और धार्मिक सहिष्णुता जो दो महत्वपूर्ण प्रश्नों के स्थायी हल थे, अत्यंत प्रशंसनीय हैं।

गस्टस की मृत्यु के पश्चात् स्वीडिश सेना में अनुशासन और नेतृत्व का अभाव हो गया। उसकी विजय का क्रम अधिक समय तक न चल सका और कैथलिकों की स्थिति में काफी सुधार हुआ। सैक्सोनी के प्रोटेस्टेंट शासक ने अपने सहधर्मियों का साथ छोड़कर स्वतंत्र रूप से युद्ध जारी रखा। जुलाई, 1634 ई० में सम्राट की सेना स्वीडिश सेना को नर्डलिंगेन (Nordlingen) की लड़ाई में हराकर उसे दक्षिणी जर्मनी छोड़ने के लिये बाध्य किया। इस विजय से कैथलिकों की स्थिति बड़ी दृढ़ हो गई। अब सम्राट के लिए संधि करना काफी आसान था। युद्ध करते-करते दोनों दल थक भी गये थे। 1635 ई० में प्राग की संधि हुई। इसमें तय हुआ कि 1627 ई० तक जो कैथलिक संपत्ति प्रोटेस्टेंटों के हाथ में आ गई थी उसमें 40 वर्ष तक या इस अवधि के भीतर जब तक हरेक संपत्ति के संबंध में कोई संतोषजनक समझौता न हो जाय, कोई परिवर्तन न किया जाय। दोनों ने एक दूसरे के जीते हुए राज्यों को लौटाने का वचन दिया। संधि की एक शर्त के अनुसार साम्राज्य के भीतर राजकुमारों के लीग को भंग करने की व्यवस्था की गई। परंतु प्राग की संधि का दोष यह था कि अभी भी कैल्विनवादियों को वैधानिक स्वीकृति न प्राप्त हुई, और न तो इससे हैप्सबर्ग वंश के विरुद्ध फ्रांस को युद्ध घोषित करने के निश्चय से रोका जा सकता था। इन दोनों के बावजूद भी शांति के पक्ष में जर्मन शासकों की इतनी प्रबल इच्छा थी कि उन्होंने शीघ्र ही इसको स्वीकार कर लिया। संधि की असफलता का दायित्व प्रोटेस्टेंट राजकुमारों पर उतना नहीं है जितना रीशलू पर। वह फ्रांस के हित में युद्ध को जारी रखना आवश्यक समझता था।

फ्रेंच काल (1635-48)—इस चरण में युद्ध का रूप फ्रांस और हैप्सबर्ग वंश की प्रतिद्वंद्विता के रूप में परिवर्तित हो गया। फ्रांस ऐसे कैथलिक देश का कैथलिक आस्ट्रिया और स्पेन के विरुद्ध युद्ध इस बात को स्पष्ट करता है कि तीसवर्षीय युद्ध धार्मिक न रहकर राजनीतिक हो गया था। युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के पहले रीशलू ने गस्टवस की आर्थिक सहायता की थी। उसका उद्देश्य हैप्सबर्ग वंश को कमजोर बनाकर फ्रांस की प्रधानता स्थापित करना था और इसी अभिप्राय से उसने स्वीडेन की सहायता भी की, परंतु वह नहीं चाहता था कि स्वीडेन की शक्ति असीमित हो जाय। जब गस्टस ने राइन प्रदेश और ववेरिया पर आक्रमण किया तब उसे काफी चिन्ता हुई। अत: 1632 ई० में गस्टवस की मृत्यु उसके लिये सुखद घटना थी। रीशलू की दृष्टि में विषनाशक औषधि के रूप में स्वीडेन की शक्ति उपयोगी थी, किन्तु अधिक परिमाण में उसका प्रयोग घातक सिद्ध हो सकता था। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गस्टवस ऐसा योग्य और शक्तिशाली व्यक्ति रीशलू के एजेण्ट के रूप में काम नहीं कर सकता था, अत: वह फ्रांस का असुविधाजनक मित्र हो गया था। जब तक जर्मनी के राजकुमार, डेनमार्क और स्वीडेन हैप्सबर्गों से युद्ध करते रहे, फ्रांस शांत रह सकता था,

परन्तु 1635 ई० के बाद उसे प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में भाग लेना आवश्यक हो गया, क्योंकि अभी तक उसके प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति पूर्णतः कमजोर नहीं हुई थी।

युद्ध घोषित करने के पहले रीशलू ने स्वीडेन, हालैंड और सवाय (Savoy) से संधि की। वह चाहता था कि हालैंड स्पेनिश नेदरलैंड्स पर आक्रमण करे। युद्ध 13 वर्ष तक चलता रहा। प्रारम्भ में फ्रांस को कोई सफलता न प्राप्त हुई। 1636 ई० में स्पेन की एक बड़ी सेना ने उत्तरी फ्रांस पर और 1637 ई० में उसकी दूसरी सेना ने पिरेनीज को पार कर दक्षिणी भाग पर आक्रमण किया। पेरिस करीब-करीब स्पेन के अधिकार में आ गया। परन्तु कुछ समय के बाद अधिक अनुभव और कुशलता-प्राप्त फ्रांसीसी सेना अपनी सैनिक योग्यता का परिचय देने में समर्थ हुई। 1637 और 1642 ई० के बीच उसने उत्तर में आर्त्वा (Artois) और दक्षिण में रूसियों (Roussillon) पर अधिकार कर लिया। रीशलू की मृत्यु के समय युद्ध स्थिति फ्रांस के पक्ष में हो गई थी और उससे वह संतोष प्राप्त कर सकता था। 1643 ई० में कोंदे (Conde) ने स्पेन को राक्वां (Rocroi) के युद्ध में हराया। रीशलू के उत्तराधिकारी मेजारिन ने उसी की नीति का अनुसरण किया। मई, 1648 ई० में स्वीडेन और फ्रांस की सेनाओं ने सम्राट और बवेरिया को बुरी तरह परास्त किया और वियना के ऊपर खतरा उपस्थित हो गया। अगस्त, 1648 ई० में लॉस (Lens) के मैदान में कोंदे ने स्पेन को हराया। स्वीडिश सेना की एक टुकड़ी ने बोहेमिया पर आक्रमण किया। अब तक आते-आते दोनों दल थक गये थे और युद्ध का अंत चाहते थे। संधि की वार्ता दो स्थानों पर हुई—स्वीडेन और आस्ट्रिया की आस्नेब्रुक (Osnabruck) में तथा फ्रांस और आस्ट्रिया की मस्टर (Muster) में। इसका कारण यह था कि स्वीडेन हैप्सबर्ग सम्राट को छोड़कर किसी दूसरे देश की श्रेष्ठता स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। इन वार्ताओं के फलस्वरूप 1648 ई० में वेस्टफैलिया (Westphalia) की संधि हुई और तीस वर्षीय युद्ध का अंत हुआ। परंतु स्पेन और फ्रांस का युद्ध 11 वर्ष तक और चला।

वेस्टफैलिया की संधि (The Peace of Westphalia)—इस संधि द्वारा कई महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। स्ट्रांसबर्ग को छोड़कर अल्सेस (Alsace) का प्रांत फ्रांस को मिला। इसके अतिरिक्त मेत्स, तूल और वर्दून पर उसके अधिकारों की पुष्टि हुई। स्वीडेन को पश्चिमी पोमरेनिया (Pomerania) तथा ब्रेमेन (Bremen) और वर्डेन (Verden) की बिशप्रिकें मिलीं। इस प्रकार एल्ब, वेसर और ओडर नदियों के मुहाने पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। पवित्र जर्मन-साम्राज्य की सीमा के भीतर इन भूभागों पर अधिकार के फलस्वरूप फ्रांस और स्वीडेन को जर्मन पार्लियामेंट में अपने प्रतिनिधि भेजने और भविष्य में जर्मन मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार प्राप्त हुए। ब्रैण्डेनवर्ग को पूर्वी पोमरेनिया, मिण्डेन, कैमिन (Camin) और हाल्बरस्टार्ट

(Halberstadt) तथा मैग्डेबर्ग की बिशप्रिक का अधिकांश मिला। सैक्सोनी को लूसेशिया (Lusatia) का प्रांत और मैग्डेबर्ग का शेष भाग मिला। पैलेटिनेट के दो भाग कर दिये गये—अपर पेलेटिनेट बवेरिया के मैक्सिमिलियन को और लोअर पैलेटिनेट फ्रेडरिक के पुत्र चार्ल्स लेविस (Charles Lewis) को दिये गये। चार्ल्स लेविस आठवाँ निर्वाचक स्वीकृत हुआ। आस्ट्रिया, हंगरी और बोहेमिया पर हैप्सबर्ग वंश के अधिकार सुरक्षित रखे गये, परन्तु जर्मनी पर उसका अधिकार बहुत कुछ जाता रहा। जर्मनी के हरेक राज्य को युद्ध और संधि का पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ, बशर्ते कि वे सम्राट् और साम्राज्य के विरुद्ध न हों। यूरोपीय राज्यों ने स्विटजरलैंड और हालैंड की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली, अभी तक उन पर कानूनी सत्ता क्रमशः आस्ट्रिया और स्पेन की थी।

इस संधि के द्वारा धार्मिक क्षेत्र में कई निर्णय हुए। कैल्विनवादियों को प्रथम बार वैधानिक स्वीकृति प्राप्त हुई। अब उनका स्थान उसी प्रकार का हो गया जैसा लूथरवादियों का आगसबर्ग की संधि में था। चर्च की संपत्ति के संबंध में यह निर्णय हुआ कि 1624 ई० की पहली जनवरी तक जो संपत्ति प्रोटेस्टेंटों के अधिकार में भी उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय। इस संबंध में निष्पक्ष न्याय के लिये साम्राज्य के न्यायालय में कैथलिक और प्रोटेस्टेंट जजों की संख्या समान रखने की व्यवस्था की गई।

सन्धि का महत्व—वेस्टफैलिया की सन्धि से धर्म-सुधार के युग का अन्त और एक ऐसे युग का प्रारम्भ होता है जिसमें राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं ने शासकों की नीति प्रभावित की। यद्यपि तीसवर्षीय युद्ध में फ्रांस ने केवल राजनीतिक और स्वीडेन ने राजनीतिक और धार्मिक दोनों उद्देश्यों को समक्ष रखकर भाग लिया था, परन्तु यह निर्विवाद है कि 1648 ई० तक राजनीति में धर्म की ही प्रधानता बनी रही। प्रारम्भिक चरण में युद्ध का रूप धार्मिक था और इसके कारण भी मुख्यतः धर्म से सम्बन्ध रखते थे। सन्धि द्वारा धार्मिक प्रश्नों का हल युद्ध के इस रूप पर प्रकाश डालता है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इस सन्धि में धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त स्वीकृत नहीं हुआ। दूसरे धर्मावलंबियों के विरुद्ध अत्याचार करने से कोई शासक रोका नहीं जा सकता था। किन्तु व्यवहार में धार्मिक अत्याचार का क्षेत्र संकुचित होता गया और धीरे-धीरे सहिष्णुता का सिद्धान्त स्वीकृत हो गया।

इस सन्धि से स्वीडेन की शक्ति अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गई, परंतु अनेक कारणों से वह स्थायी न हो सकी। इससे फ्रांस की शक्ति में भी वृद्धि हुई और उसने राइन की ओर विस्तार में एक लम्बा कदम उठाया। उन महान शक्तियों में, जिन्होंने तीसवर्षीय युद्ध में भाग लिया था, स्पेन को गहरी क्षति हुई। 16वीं और 17वीं शताब्दी के युद्धों में फसने के कारण उसके धन और जन की बहुत हानि हुई और कालान्तर में वह साधारण राज्यों की श्रेणी में आ गया। आस्ट्रिया की शक्ति के ऊपर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा

जर्मन राज्यों की स्वतन्त्रता स्वीकृत होने से जर्मनी में उसका अधिकार बहुत कम हो गया। यद्यपि सम्राट, साम्राज्य की सभा और निर्वाचक अभी भी थे, परन्तु सम्राट की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई। इस युद्ध में सबसे बड़ी हानि जर्मनी की हुई। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी दृष्टियों से जर्मन का ह्रास अपनी चरम सीमा को पहुँच गया। कहते हैं कि 1618 और 1648 ई० के बीच उसकी जनसंख्या-एक तिहाई हो गई और उसका काफी बड़ा भू-भाग वीरान हो गया। 300 से ऊपर राज्यों की स्वतन्त्रता से वह विश्रृंखलित हो गया और इस राजनीतिक विघटन के प्रभाव का अन्त 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही सम्भव हो सका।

वेस्टफैलिया की सन्धि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का प्रारम्भ समझना चाहिए। जब तक साम्राज्य की शक्ति दृढ़ थी और अन्य राज्यों से श्रेष्ठ समझी जाती थी, जब तक यूरोपीय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में समानता का सिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो सकता था। परन्तु अब उसका रूप बहुत-कुछ उसी प्रकार का हो गया जैसा फ्रांस , इंगलैंड और स्वीडेन आदि देशों का था। समानता का सिद्धान्त स्वीकृत होने पर अब महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के लिये ऐसी कांग्रेस बुलाई जाने लगीं जिनका आधार बड़े और छोटे राज्यों की कानूनी समानता थी।

इस सन्धि द्वारा कुछ अंशों में शक्ति-संतुलन स्थापित करने की चेष्टा की गई। 16वीं शताब्दी में आस्ट्रिया और स्पेन की सम्मिलित शक्ति से फ्रांस ऐसे देश के समक्ष घेराबन्दी का खतरा उपस्थित हो गया था, परन्तु उन दोनों देशों की कमजोरी और फ्रांस एवं स्वीडेन की शक्ति की वृद्धि से यह डर जाता रहा। वस्तुतः लुई चतुर्दश के समय में तो राजनीतिक आकर्षण का केन्द्र फ्रांस हो गया था, जिसके फलस्वरूप यूरोपीय राज्यों को यूट्रेक्ट की सन्धि (1713 ई०) द्वारा फ्रांस के विरुद्ध आस्ट्रिया के पक्ष में सन्तुलन लाने का प्रयत्न करना पड़ा।

इस युद्ध के भयंकर ध्वंस ने कुछ विद्वानों को युद्ध और शान्ति ऐसे प्रश्नों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया। ऐसे नियमों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी जिनसे निर्दोष स्त्री और बच्चे तथा युद्ध में भाग न लेने वाले पुरुष उसकी विभीषिका से रक्षा पा सकें। मानवता का यह दृष्टिकोण ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) की प्रसिद्ध पुस्तक "युद्ध और शान्ति के नियम" (On the Law of War and Peace) में, जो युद्धकाल में लिखी गई थी, मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधान पर यह अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें उसने न्यायोचित और न्याय विरुद्ध युद्धों में अन्तर बताया है। उसके मतानुसार यदि युद्ध अनिवार्य हो जाय तो युद्ध ग्रस्त देशों को अनावश्यक बर्बर साधनों का प्रयोग— जैसे, घायल व्यक्तियों को हत्या निषिद्ध घोषित करनी चाहिये। उसने शान्ति के महत्व पर जोर दिया और उसे युद्ध से अधिक मानव-स्वभाव और बुद्धि के अनुकूल

जर्मनी १६४८ ई० में
पोलैंड
स्विटज़रलैंड
स्पेनी हेप्सबर्ग के अन्तर्गत
ब्रैडेनबर्ग का राज्य
फ्रांस को प्राप्त राज्य
स्वीडन को प्राप्त प्रदेश
ऑस्ट्रिया के हेप्सबर्ग के अन्तर्गत
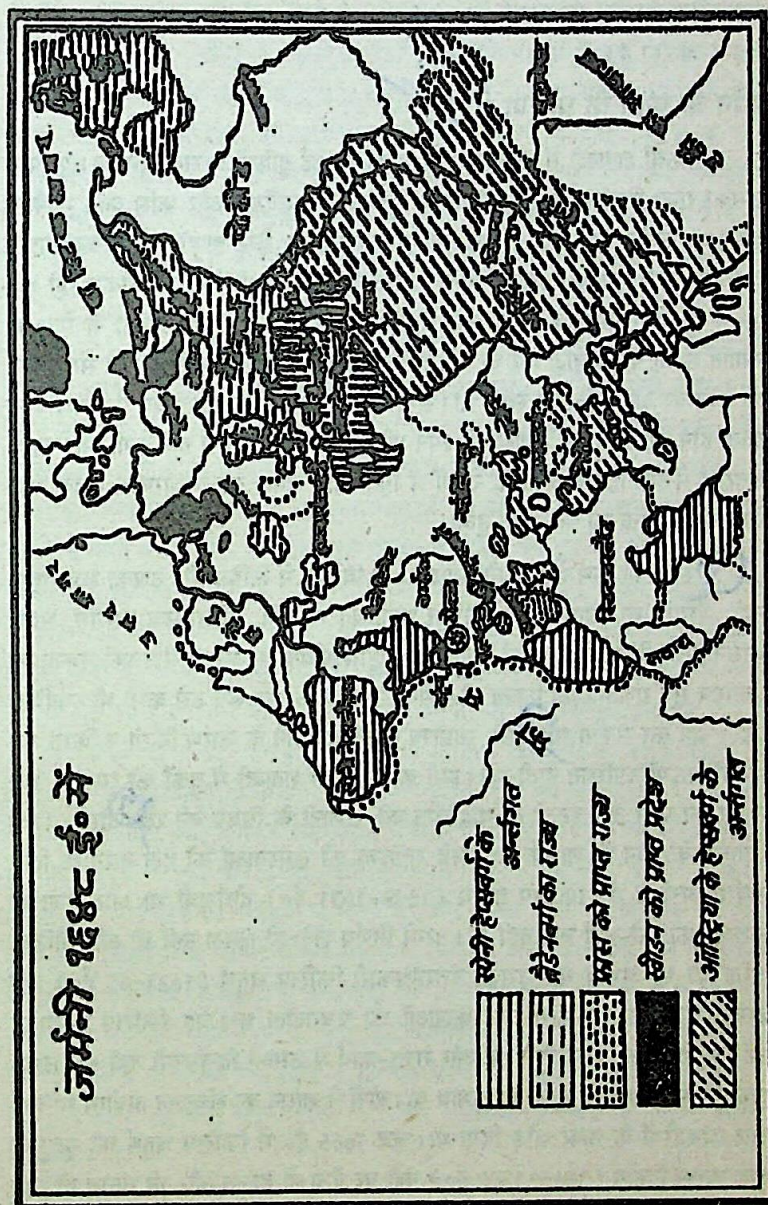
बताया। यद्यपि ग्रोशियस के बाद युद्धों का अन्त नहीं हुआ, परन्तु उसके बाद राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध पर एक विशाल साहित्य की रचना हुई, जिसका आकार अभी भी बढ़ता जा रहा है।

स्पेन के पतन के कारण

16वीं शताब्दी में स्पेन यूरोपीय राज्यों में कई दृष्टियों से सर्वप्रथम था। यूरोप में उसका राज्य मिलान, नेपुल्स, सिसिली, पुर्तगाल, नेदरलैंडस और फ्रांस कांते में फैला हुआ था। उसके उपनिवेश दक्षिणी और मध्य अमेरिका, वेस्ट इण्डीज और फिलीपाइन्स द्वीप तक फैले हुए थे। उसकी सैनिक शक्ति की धाक सभी देशों ने स्वीकार की थी। 1571 ई० के लेपैण्टो के समुद्री युद्ध ने, जिसमें तुर्कों की हार हुई, उसकी नौ सेना की ख्याति में भी पर्याप्त वृद्धि कर दी थी। यूरोपीय साहित्य, कला, स्थापत्य और संस्कृति में भी स्पेन का अपना विशिष्ट स्थान था। सभी ललित कलाओं को राज्याश्रय प्राप्त था। परन्तु इतना होने पर भी 17वीं शताब्दी में स्पेन की अवनति द्रुत गति से होने लगी और उसके उत्तरार्द्ध में वह द्वितीय श्रेणी के राज्यों में गिना जाने लगा। यह विचारणीय है कि स्पेन ऐसी महान शक्ति का पतन क्यों हुआ।

स्पेन की कमजोरी उसके साम्राज्य के विस्तार में निहित थी। उसका रूप राष्ट्रीय नहीं, वंशगत था। साम्राज्य के विभिन्न भागों की संस्कृति, ऐतिहासिक परम्परा, भाषा, शासन-प्रणाली आदि में काफी अन्तर था। राष्ट्रीय भावना के अभाव में उनकी एकता का एकमात्र सूत्र राजतन्त्र की एकता थी। स्पेनी साम्राज्य का यह रूप उसे कभी भी स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकता था। दूसरे, साम्राज्य के विस्तृत होने के कारण किसी-न-किसी क्षेत्र में कठिनाइयाँ उपस्थित होती रही। इसी कारण 16वीं शताब्दी में तुर्कों की समस्या, धर्म सुधार का प्रश्न और इटली के युद्ध स्पेन की परेशानी के विषय बने रहे। तीसरे, 17वीं शताब्दी के स्पेन के शासक इतने बड़े साम्राज्य की समस्याओं को हल करने के लिये सर्वथा अयोग्य थे। फिलिप तृतीय (1598-1621 ई०) दीर्घसूत्री था और राजा के कर्तव्यों का उसे कोई ज्ञान नहीं था। उसमें निर्णय लेने की क्षमता नहीं थी और बौद्धिक शक्ति का भी अभाव था। उसका उत्तराधिकारी फिलिप चतुर्थ (1621-65 ई०) एक अच्छा घुड़सवार, शिकारी और कलाओं का प्रश्रयदाता था। वह फिलिप तृतीय से अधिक योग्य था, परन्तु सुस्त था और राज्य-कार्य में उसकी दिलचस्पी नहीं थी। उसमें एक कुशल शासक के गुणों का अभाव था। दोनों ने शासन का संचालन अयोग्य मन्त्रियों और दरबारियों के ऊपर छोड़ दिया था। जब 1665 ई० में फिलिप चतुर्थ की मृत्यु के बाद चार्ल्स द्वितीय (1665-1700 ई०) गद्दी पर बैठा तो हालत और भी खराब हो गई। वह अल्प मति का व्यक्ति था तथा शरीर से अस्वस्थ और दुर्बल था। अतः उसके समय में स्पेन के शक्तिशाली होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। निःसंदेह 17वीं शताब्दी के

शासक अयोग्य थे, परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि स्पेन का अभाग्य था कि उसको अपनी प्रधानता के युग में भी वास्तविक दूरदर्शी शासक न मिले। चार्ल्स पंचम और फिलिप द्वितीय योग्य थे, परन्तु दूरदर्शी नहीं। चार्ल्स के विस्तृत साम्राज्य की समस्याओं से स्पेन की शक्ति को गहरा धक्का पहुंचा। फिलिप अत्यन्त परिश्रमी था, परन्तु उसकी दृष्टि में राज्य की बड़ी और छोटी समस्याओं में कोई अन्तर न था। कैथलिक धर्म सुधार की उन्नति के लिये उसने स्पेन के साधनों का प्रयोग कर उसे क्षीण बना दिया। यदि फिलिप दूरदर्शी होता तो वह स्पेन को कई आवश्यक युद्धों से बचा सकता था। इस कथन में अत्युक्ति नहीं कि स्पेन के साम्राज्य का बड़ा होना ही उसके लिए अभिशाप हो गया।

(3) स्पेन की वास्तविक कमजोरी आर्थिक थी। देश की आबादी कोई अधिक नहीं थी और उसके प्राकृतिक साधन भी अपर्याप्त थे। लोहा, जस्ता और ताँबा वहाँ अवश्य थे, परन्तु उस युग में उनका लाभप्रद प्रयोग नहीं होता था। देश का काफी धन शान और विलास की वस्तुओं पर व्यय होता था। राजदरबार इसके लिये नमूना था और उच्च वर्ग के लोग, जिन्हें नयी दुनिया की बहुमूल्य धातुओं का काफी भाग मिलता था, धन का दुरुपयोग करते थे। उसनके शानदार महल दरबार के समीप बने हुए थे। मास्को और पेरू से लाई हुई चाँदी और सोने की अतुल राशि आभूषण, सजावट और भोजन की तश्तरियों के रूप में दिखाई देती थी। कहते हैं कि अलबुकर्क (Albuquerque) ड्यूक के पास केवल चाँदी की 17 हजार तश्तरियाँ थीं। आर्थिक दृष्टि से इन मूल्यवान धातुओं का कोई महत्व नहीं था इस प्रकार बाहर से स्पेन एक बहुत धनी देश मालूम होता था, परन्तु उसका आर्थिक ढाँचा बड़ा कमजोर था राज्य का साधारण खर्च स्पेन से चलना कठिन हो गया। शासकों की अदूरदर्शी नीति से स्पेन में व्यापारिक पूँजी का अभाव था। लगाई परंतु ये विदेशी कारीगर और महाजन स्वार्थ-पूर्ति में संलग्न थे उन्हें स्पेन की व्यापारिक उन्नति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। फलतः लाभ के रूप में पैदा की हुई सम्पत्ति स्पेन से बाहर चली जाती थी। स्पेन के अमीर लोगों में व्यापार और उद्योग के प्रति कोई रुचि नहीं थी। उन्हें सेना और चर्च का जीवन अधिक पसन्द था। व्यापार करना वे अपनी शान के विरुद्ध समझते थे। वास्तव में यह पेशा उच्च पदों की प्राप्ति में बाधक समझा जाता था ऐसी परिस्थिति में उपयोगी परिश्रम के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं था। चर्च की छुट्टियाँ भी आर्थिक उन्नति में बाधक थीं। साल में 93 दिन काम बन्द रहता था और अन्य दिनों में प्रायः 5 घण्टे प्रतिदिन काम होता था। यह व्यवस्था उत्पादन के लिए अत्यन्त हानिकारक थी।

(7) स्पेन के युद्धों और धार्मिक नीति का भी आर्थिक क्षेत्र पर बुरा प्रभाव पड़ा। 16वीं और 17वीं शताब्दी के युद्धों से धन और जन दोनों की गहरी क्षति हुई। यूरोपीय युद्ध

क्षेत्रों में स्पेन के न जाने कितने स्वस्थ सैनिक मरे उन युद्धों के संचालन में धन का पूर्ण अपव्यय हुआ युद्धों से कुछ समय तक स्पेन का सैनिक गौरव अवश्य बढ़ा, परन्तु इसके लिये उसे इतना अधिक मूल्य चुकाना पड़ा कि फिर वह शक्तिशाली न हो सका। उसकी धार्मिक असहिष्णुता से सहस्रों यहूदियों और मूरों को स्पेन छोड़ देना पड़ा उनके जाने से स्पेन की आर्थिक स्थिति पर धक्का पहुँचा, क्योंकि वे अच्छे कारीगर थे और प्रायः समस्त उद्योग धन्धे उन्हीं के हाथों में थे।

(5) स्पेन की सामाजिक व्यवस्था उसके लिये बड़ी अहितकर सिद्ध हुई। चर्च और सामन्तों के हाथ में देश की बहुत बड़ी सम्पत्ति थी, परन्तु वे करों से मुक्त थे। कैस्टील (Castile) के उच्च वर्ग का अंशदान राज्य की साधारण आमदनी में बहुत कम था। अरागान की सभा केवल एक निश्चित और अपर्याप्त रकम देती थी। इस तरह राज कर का भार नीची श्रेणी के लोगों के ऊपर पड़ता था। अनुमान है कि 17वीं शताब्दी के अन्त में स्पेन के सामन्तों की संख्या करीब 6 लाख थी जबकि फ्रांस ऐसे देश में, जो उससे चौगुना धनी था उनकी संख्या एक चौथाई थी।

स्पेन के व्यापारिक कर की नीति अत्यन्त दोषपूर्ण थी। आमदनी बढ़ाने के लिये सभी वस्तुओं पर दस प्रतिशत का एक विक्रय कर (abcabala) लगाया जाता था इससे राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति रुक गई। आयात और निर्यात की भी नीति अदूरदर्शितापूर्ण थी। स्पेन के हित में आवश्यक था कि सामान के अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान में वृद्धि हो। चीजों का दाम कम करने के लिये एक नियम द्वारा खाद्यान्न, पशु और चमड़े आदि के सामानों का निर्यात निषिद्ध कर दिया गया था। उपनिवेशों के निर्यात पर भी पूरा नियंत्रण था। यद्यपि स्पेन उनकी आवश्यकता की चीजें भेजने में असमर्थ था, फिर भी वे दूसरे देशों के साथ व्यापार नहीं कर सकते थे। यदि वह अपने उद्योगों की उन्नति करके उनकी माँगों की पूर्ति करता तो उसकी संपत्ति में बहुत ही वृद्धि हुई होती। इसके विपरीत सरकार के नियंत्रण ने ऊन और रेशम के विकसित व्यापार का भी गला घोंट दिया। स्पेन ने अमेरिका से आती हुई बहुमूल्य धातुओं को धन समझा, परन्तु वास्तविक धन तो चीजों के आदान-प्रदान में होता है न कि धातु-राशि में। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्पेन की बहुमूल्य धातुयें इंगलैंड और हालैंड आदि उन व्यापारिक जातियों के हाथों में गई जिन्होंने स्पेन को उसकी आवश्यकता के सामान दिये और जिनका उत्पादन आलस्यवश अथवा सरकार की गलत नीति से वहाँ न हो सका।

यद्यपि स्पेन प्रधानता: कृषि प्रधान देश था, परन्तु खेती की उन्नति के लिये कोई सुधार नहीं किये गये भूमि का काफी बड़ा भाग सामन्तों और चर्च के हाथ में था। कहते हैं कि 20 प्रतिशत जमीन पर चर्च का अधिकार था, परन्तु ये दोनों ही वर्ग कृषि की उन्नति में सचेष्ट नहीं थे। जमीन का प्रबंध प्रबंधकर्त्ताओं पर छोड़ दिया जाता था जो

मजदूरी कम करने के लिये उसका काफी भाग चारागह के रूप में परिवर्तित कर देते थे। खाद्यान्न के लिये अपर्याप्त भूमि होने के कारण किसानों को बड़ा कष्ट होता था। खेती के अतिरिक्त भेंड़ पालने का काम स्पेन के मुख्य उद्यमों में था। 17वीं शताब्दी के अन्त में इस काम को छोड़कर स्पेन में उत्पादन के सभी क्षेत्रों में कमी हो गई थी। भेड़ों के मालिकों ने, जिनमें चर्च और उच्च वर्ग के लोग थे, एक शक्तिशाली संघ (Mesta) बनाया था। गर्मी की ऋतु में भेंडे स्पेन के उत्तरी पहाड़ी इलाकों में भेजी जाती थीं और जाड़े में दक्षिणी भाग में। स्पेन की सरकार के एक कानून द्वारा किसानों को उन खेतों की घेराबन्दी की मनाही थी जिनमें भेंड़े एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाती थीं। इस कानून से खेती की बड़ी क्षति हुई, क्योंकि भेड़ों के आने-जाने से फसल नष्ट हो जाती थी।

स्पेन के शासकों की धार्मिक नीति ने आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी देश का बड़ा अहित किया। इसमें संदेह नहीं कि कैथलिक धर्म-सुधार वहाँ पूर्णतः सफल रहा, परन्तु धार्मिक न्यायालयों की कार्रवाई और फिलिप द्वितीय की असहिष्णु नीति ने एक ऐसा वातावरण पैदा किया जिसमें विज्ञान और स्वतंत्र चिन्तन के लिये स्थान नहीं था। जब यूरोप में वैज्ञानिक आन्दोलन का जोर बढ़ रहा था, स्पेन ने उसके विरुद्ध एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर दी। फलतः वह देश, जो 16वीं और 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सांस्कृतिक क्षेत्र में काफी आगे था, कुछ ही समय में बहुत पीछे हो गया।

स्पेन की समुद्री शक्ति बड़ी विस्तृत थी। उसके प्रभाव के अंदर भूमध्य-सागर और अटलांटिक दोनों के काफी हिस्से थे। भूमध्यसागर के क्षेत्र में उसे तुर्कों का सामना करना पड़ता था और वहाँ उसकी नौ-सेना पुराने ढंग की थी, परन्तु अटलांटिक में उसकी सेना आधुनिक ढंग पर संगठित की गई थी। इस प्रकार एक ही साथ स्पेन को दो प्रकार के जहाज रखने पड़ते थे। यह उसके लिये एक बड़ी असुविधा थी, परंतु यदि राजनीतिज्ञ युद्ध में समुद्री शक्ति की महत्ता को अच्छी तरह समझे होते तो इसका निराकरण हो सकता था। आश्चर्य है कि इतने विस्तृत उपनिवेशों के स्वामी र ।ने अटलांटिक पर अपनी प्रभुता कायम रखने के लिये एक निश्चित नीति का अनुसरण नहीं किया। स्पेन के विरुद्ध हालैंड की सफलता का एक प्रधान कारण यह था कि उसका समुद्र पर अधिकार बना रहा।

अतः स्पष्ट है कि योग्य शासकों के अभाव, अदूरदर्शी धार्मिक नीति और आर्थिक कमजोरी से स्पेन का पतन हुआ। 17वीं शताब्दी के मध्य में ह्रास के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे और एक शताब्दी के बाद स्पेन उन्नत राष्ट्रों से बहुत पीछे हो गया था। 1752 ई० में लार्ड चेस्टरफील्ड ने लिखा कि स्पेन ही ऐसा देश है जो प्रतिदिन अपने को बर्बर बना रहा है, जबकि यूरोप के अन्य राज्य अपने को सभ्य बना रहे हैं।

अध्याय 9

फ्रांस का चरम उत्कर्ष

लुई चतुर्दश का काल

लुई चतुर्दश संसार के उन थोड़े से व्यक्तियों में है जो अपने युग को इतना अधिक प्रभावित करते हैं कि उसका नामकरण उन्हीं के नाम पर चल पड़ता है। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस ने यूरोपीय राजनीति और संस्कृति को इतना अधिक प्रभावित किया कि उसके इतिहास का यह काल 'लुई चतुर्दश के काल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में फ्रांस हरएकक्षेत्र में अग्रणी था। साहित्य, कला, राजतंत्र के आदर्श स्वरूप और राज दरबार के व्यवहार आदि में फ्रांस एक आदर्श था जिसका अनुकरण अन्य देशों ने किया।

कई अनुकूल परिस्थितियों से लुई का काल संभव हो सका। उस समय यूरोपीय राज्यों की स्थिति अच्छी न थी। तीस वर्षीय युद्ध से आस्ट्रिया की शक्ति क्षीण हो गई थी। स्पेन द्रुत गति से अवनति की ओर जा रहा था। इंगलैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय की अपनी कोई स्वतंत्र नीति नहीं थी। लुई से धन स्वीकार कर वह अपनी शक्ति दृढ़ करने के प्रयत्न में था। उसका उत्तराधिकारी जेम्स द्वितीय लुई का समर्थक था और धार्मिक तथा राजनीतिक विषयों में स्वतंत्र होना चाहता था। जर्मनी की राजनीतिक और आर्थिक दशा अत्यंत दयनीय थी। जहाँ यूरोप की ऐसी दशा थी, फ्रांस में एक सबल और सुसंगठित राज्य के रूप में रंगमंच पर आया। लुई को हेनरी चतुर्थ, रीशलू और मेजारिन की नीति के परिणामस्वरूप शक्ति के केन्द्रीकरण में तनिक भी कठिनाई न हुई। पेरिस की पार्लिमेंट और स्टेटस-जनरल ऐसी संस्थायें या तो कमजोर हो गई थीं या उनकी शक्ति नाममात्र रह गई थी। सौभाग्यवश लुई को अनेक योग्य कर्मचारियों की सेवायें प्राप्त हुई, जिन्होंने उसके शासन-काल के प्रथम भाग में फ्रांस की उन्नति में बड़ा योगदान दिया परंतु इन अनुकूल परिस्थितियों के होने पर भी यदि लुई अयोग्य होता तो फ्रांस अपनी प्रधानता स्थापित करने में कभी भी समर्थ न होता।

लुई के राजनीतिक विचार—लुई का जन्म 1638 में हुआ था। पाँच वर्ष की अवस्था में उसके पिता का देहान्त हो गया। तेईस वर्ष की आयु में उसने शासन का सारा कार्य-भार अपने हाथ में लिया। उसकी साहित्यिक शिक्षा साधारण कोटि की हुई थी। सैं सीमों (St. Simon) ने यहाँ तक लिखा है कि लुई कठिनता से पढ़ लिख सकता था। परन्तु इस कथन में अत्युक्ति है। उसको लैटिन, इटालियन, गणित आदि की शिक्षा मिली थी। उसने सीजर की 'कामेण्ट्रीज' (Commentaries) और संभवतः 'डान क़्वीजाट' आदि ग्रंथ पढ़े थे मेजारिन और त्यूरेन उसके शिक्षक रह चुके थे परंतु यह निर्विवाद है

कि वह बहुत शिक्षित नहीं था। मेजारिन ने उसकी सैनिक और राजनीतिक शिक्षा पर अधिक जोर दिया था। राजनीति उसके कार्यों का प्रमुख क्षेत्र थी।

लुई ने राजतंत्र के गौरव को पराकाष्ठा तक पहुँचाने में कोई कोर-कसर न उठा रखी। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी पेशे को परिश्रमपूर्वक सीखता है, उसी प्रकार लुई ने राजा के पेशे में दक्षता प्राप्त की वह बड़ा परिश्रमी था और राज्य के प्रश्नों की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था। उसने स्वयं कहा है कि उन घंटों के अतिरिक्त, जिनमें वह अकेले काम करता था, दूसरों के साथ वह प्रतिदिन राजकीय विषयों पर पाँच-छह घंटे काम करने में संलग्न रहता था। उसके व्यक्तित्व के आकर्षण के सम्बन्ध में एक लेखक का कथन है कि यदि लुई भिखमंगे के घर भी पैदा होता तब भी वह एक-एक इंच राजा था। वह देखने में सुन्दर और व्यवहार में गम्भीर था। वह हँसता कम था और क्रुद्ध भी कम होता था। अपनी मर्यादा का सदैव ध्यान रखता था। अत्यन्त नैराश्य और आपत्ति काल में भी उसने साहस न छोड़ा। अधिक समय तक राजदंड धारण करने वाला लुई का हाथ, थकित भले ही हो गया हो, कंपित नहीं हुआ। निजी पर्यवेक्षण के आधार पर बालिंगब्रोक (Bolingbroke) ने कहा है कि यदि लुई सबसे बड़ा राजा न था तो राजतंत्र के गौरव और मर्यादा का सर्वश्रेष्ठ अभिनेता तो था ही, राज्य विस्तार और शक्ति में लुई से बढ़कर उसके पहले अनेक शासक हो चुके थे, परंतु राजतंत्र के वैभव का प्रदर्शन ऐसा कभी नहीं हुआ था। लुई निःसंदेह एक महान राजा (Grand Monarch) था जिसने अपने व्यक्तित्व से यूरोपीय राजनीति और संस्कृति को अत्यधिक मात्रा में प्रभावित किया।

लुई राजा के दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास करता था। वह अपने निर्णय और कार्यों के लिए ईश्वर के अतिरिक्त, किसी के भी प्रति अपने को उत्तरदायी नहीं समझता था इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या प्रसिद्ध धर्मज्ञ बोस्युये (Bossuet) ने, जो लुई के लड़के का शिक्षक था, की है। उसके मतानुसार राजाओं के अधिकार ईश्वर प्रदत्त होते हैं और वे अपने कार्यों के लिए किसी व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। उन्हीं के द्वारा ईश्वर का साम्राज्य चलता है। तात्पर्य है कि राजा की आलोचना और आज्ञा का उल्लंघन धर्म-विरुद्ध कार्य है। दैवी अधिकार के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले लुई ने फ्रांस की पार्लिमेंट, स्टेटस जनरल तथा प्रांतीय और म्युनिसिपल संस्थाओं के अधिकार बहुत सीमित कर दिये। उच्च वर्ग के आर्थिक अधिकार तो सुरक्षित रहे, किन्तु शासन में उनका प्रभाव जाता रहा और वे सोने की जंजीर में बाँध दिये गये उनका मुख्य कार्य दरबार की शोभा बढ़ाना था। मंत्रियों की नियुक्ति के संबंध में अपनी नीति स्पष्ट करते हुए लुई ने लिखा है—"मैं जिस वर्ग के मंत्रियों को चुनता हूँ उससे जनसाधारण को विदित हो जाना चाहिये कि मैं उनके साथ शक्ति में हाथ नहीं बँटाना चाहता।" लुई

अपना प्रधानमंत्री स्वयं था। 1661 ई० के बाद उसकी शासन-व्यवस्था में रीशलू अथवा मेजारिन ऐसे शक्तिशाली मंत्रियों के लिए कोई स्थान नहीं रह गया। उसके मंत्री निर्णय लेने के लिए नहीं बल्कि उसकी आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए थे।

वर्साई—लुई ने अपना राज्यचिन्ह सूर्य रखा था और उसके दरबारियों ने उसको आदित्य नृप (Sun King) की उपाधि से विभूषित किया था। यह राजचिन्ह एक दृष्टि से बड़ा सार्थक है। इससे लुई के समक्ष जनता और राजकर्मचारियों की स्थिति का पूर्णत: बोध होता है। प्रकाशपिण्ड लुई की ही किरणों से दूसरे लोग प्रकाशित होते थे, उनमें स्वयं प्रकाश करने की शक्ति नहीं थी। ईश्वर-तुल्य राजा के गौरव और वैभव के प्रदर्शन के लिए एक भव्य मन्दिर की आवश्यकता थी और लुई ने पेरिस से 12 मील की दूरी पर वर्साई (Versailles) का प्रासाद बनवाया। साधारण लोगों का निवास-स्थान और क्रांतियों का केन्द्र पेरिस उसकी मर्यादा के अनुरूप नहीं था। उसने अपने बाल्यकाल में फ्रोंद के युद्धों के समय उसकी जो दशा देखी थी, उससे उसके हृदय में पेरिस के प्रति घृणा हो गई थी फलत: राजतंत्र के प्रमुख अभिनेता लुई का रंगमंच पेरिस नहीं, वर्साई का सुन्दर और सुसज्जित प्रासाद बना। कहते हैं कि उद्यानों सहित इस प्रासाद के निर्माण में इतना अधिक खर्च (40 से 50 करोड़ रुपये के बीच) हुआ कि उसने लेखा-पुस्तकों के जलवाने की आज्ञा दे दी। वर्साई की सजावट, शीशों का हाल, चित्र, उद्यान और पार्क, फव्वारे, छायादार मार्ग फ्रांस के लिए ही नहीं, यूरोप के लिए भी आकर्षण के विषय थे। अत्यन्त परिश्रम से इन फव्वारों में पानी पहुँचाने के लिए करीब की एक नदी से पानी लाया जाता था। राजा प्रासाद के पास ही रहने वाले उच्चवर्ग के स्त्री-पुरुष दरबार की शोभा में वृद्धि करते थे। दरबारी जीवन की प्रत्येक बात निश्चित नियमों के अनुसार होती थी। इन विस्तृत विधियों और उत्सवों ने लुई को ईश्वर-तुल्य बना दिया था। उसके उठने, भोजन, सवारी, सोने इत्यादि के काम उत्सवों और विधियों से पूर्ण थे। वे व्यक्तिगत नहीं, राज्य के कार्य समझे जाते थे। वर्साई के रंगमंच पर प्रतिदिन होने वाले इस नाटक का प्रधान अभिनेता लुई था और अन्य लोग, उसके गौरव की वृद्धि के लिए, अपने-अपने पद के अनुसार अभिनय करते थे। लुई का दरबार यूरोपीय राजदरबारों के लिए आदर्श हो गया। शिष्टाचार आदि के लिए लोग फ्रांस की ओर देखने लगे।

फ्रांस की सांस्कृतिक उन्नति—लुई का काल सांस्कृतिक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। अनेक साहित्यकारों और कलाकारों की अमूल्य कृतियों ने फ्रांस को इस क्षेत्र में जो नेतृत्व प्रदान किया उसकी धाक बहुत दिनों तक बनी रही और आज भी कुछ अंशों में कायम है। फ्रेंच नाटक के इतिहास में कोरनेय (Corneille), रासीन (Rachine) और मोल्येर (Moliere) के नाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं। दु:खान्त नाटकों के लिखने में कोरनेय का स्थान फ्रेंच साहित्य में सर्वश्रेष्ठ है। मोल्येर के सुखान्त नाटक

तत्कालीन फ्रांसीसी दरबार के जीवन का दृश्य उपस्थित करते हैं और वे आज भी दर्शकों को आकर्षित करते हैं। मोल्येर का साथ लुई की व्यक्तिगत मित्रता थी और उसने दरबारियों और पुजारियों के प्रहार से उसकी रक्षा की। रासीन के दु:खान्त नाटक प्राचीन शैली में लिखे गये हैं उनसे फ्रेंच रंगमंच को इतनी प्रतिष्ठा मिली कि करीब एक शताब्दी तक नमूने के रूप में अनुकरणीय बने रहे।

साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी बड़ी उन्नति हुई। संस्मरण की लेखन कला में से सीमों का बहुत उच्च स्थान है। वह लुई की निरंकुशता का कट्टर विरोधी था। उसने तत्कालीन दरबारी जीवन का जो चित्रण किया है, उसमें अतिरंजना अवश्य है, परंतु उससे दरबार के विकृत जीवन का पता लगता है। वर्सोई के सम्बन्ध में अपनी पुत्री को लिखे हुए मदाम द सेवीन्ये (Savigne) के पत्र आज भी पत्र-शैली के अच्छे नमूने समझे जाते हैं। इस काल के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य पर लिखने वाले लेखकों में बोस्युये और फेनलों के नाम प्रसिद्ध हैं। बोस्युये मो (Meaux) का बिशप एक श्रेष्ठ वक्ता एवं लेखक था। उसने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लुई के पौत्र का शिक्षक फेनलो एक अच्छा विद्वान् था और उसने दार्शनिक विषयों पर लिखा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक पास्कल (Pascal) भी इसी युग का कहा जा सकता है, यद्यपि उसने लुई के व्यक्तिगत शासन के प्रारम्भ के पूर्व लिखा है। अपने प्रान्तीय पत्रों (Provincial Letters, 1656 ई०) में उसने जेसूइटों के विरुद्ध जैन्सेन के आन्दोलन का समर्थन किया।

लुई के शासन-काल में शिल्पकला, स्थापत्य, संगीत और चित्रकला को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इन विषयों की अकादमियाँ स्थापित की गई, जिनके द्वारा निर्धारित मापदंड और नियमों से इन कलाओं की बड़ी उन्नति हुई। लुई की वास्तविक अभिरुचि केवल संगीत में थी, परन्तु सभी कलाओं को राज्य का प्रश्रय प्राप्त था। प्रसिद्ध स्थापित मान्सेर (Mansart) ने अपनी कला का परिचय वर्साई-प्रासाद के मुख्य भागों और अपाहिजों के चर्च (Dome of the Invalids) के निर्माण में दिया है। राज-शिल्पकार जिरादों (Girardon) ने सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया। प्रसिद्ध चित्रकार लब्रूँ (Le Brun) के सुन्दर चित्र उपर्युक्त चर्च में देखते बनते हैं। संगीतज्ञ लली (Lully) ने दरबार के लिए 'बैले' और संगीत-नाटकों की रचना की। लुई के समय में पाक-शास्त्र भी एक ललित कला समझा जाता था।

प्रमुख राज-कर्मचारी—लुई का सौभाग्य था कि उसके राज्य-काल के प्रथम चरण में अनेक योग्य कर्मचारियों ने उसकी सेवा की। कौल्बैर एक अत्यन्त सफल वित्तमंत्री सिद्ध हुआ। युद्ध-विभाग छोड़कर उसने और सभी विभागों में प्रशंसनीय सुधार किये। प्रसिद्ध सेनापति त्यूरेन और कोंदे अपनी सैनिक कुशलता की चरम-सीमा पर थे। तुलना में वे तत्कालीन यूरोपीय सेनापतियों से श्रेष्ठतर थे। लियोन (Lionne) एक दक्ष

कूटनीतिज्ञ था और उसने बड़ी योग्यता से परराष्ट्र-विभाग का संगठन किया। वोबां (Vauban) एक अत्यंत योग्य सैनिक इंजीनियर था। घेरे के युद्ध में वह अप्रतिम था। उसके विषय में कहा जाता था कि जिस शहर का घेरा उसने डाला उसे निश्चय लिया और जिसकी उसने रक्षा की वह अजेय हो गया। सेना का संघटन युद्धमंत्री लूव्वा (Louvois) ने किया। अनुशासन, ड्रिल, वर्दी, शस्त्रास्त्र और रसद की व्यवस्था से उसने फ्रांस में एक संघटित और स्थायी सेना का निर्माण किया। सैनिक इतिहासकार इस मत से सहमत हैं कि वह आधुनिक रूप में यूरोपीय स्थायी सेना का निर्माणकर्त्ता था।

कोल्बैर (1619-83 ई०)

लुई के कर्मचारियों में कोल्बैर (Colbert) का स्थान बहुत ऊँचा है। उसकी कार्य-क्षमता, आर्थिक प्रश्नों के विस्तार और गहनता की जानकारी और कार्यपरायणता प्रशंसनीय थी। वाणिज्य, नौ-सेना, उपनिवेश, सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था और यातायात के साधनों के महत्व को समझने वालों में बहुत कम लोग उसकी समानता कर सकते हैं। उसने बताया कि किसी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति इन्हीं बातों की उन्नति पर निर्भर करती है। मन्त्री होने पर उसने अपने जीवन का सारा समय फ्रांस को शक्तिशाली बनाने में लगाया। प्रतिदिन 16 घंटे काम करता था। उसने जीवन में एक ही आनन्द था, वह था काम वह आराम करना जानता ही नहीं था। कार्यों का परिवर्तन ही उसके लिए आराम था।

कोल्बैर मध्यम वर्ग के एक व्यापारी का लड़का था। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर मेजारिन ने उसको अपने घर का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त किया था और मृत्यु के पहले उसने लुई से उसकी नियुक्ति की सिफारिश की थी। उस समय वित्त-विभाग का निरीक्षक फूके (Fouquet) था। उसने अवैध ढंग से विपुल सम्पत्ति एकत्र कर ली थी। परन्तु वह बड़ा शक्तिशाली था और उसके समर्थकों की संख्या इतनी अधिक थी कि लुई ने षडयंत्र करके उसे हटाया। वह आजीवन बन्दी बनाया गया। उसके पदच्युत होने के बाद वित्त-विभाग के प्रबन्ध के लिए लुई ने पाँच सदस्यों की एक समिति बनाई जिसका प्रधान कोल्बैर नियुक्त हुआ। 1665 ई० में वह इस विभाग का महानिरीक्षक (Controller-Gerneral) बनाया गया और चार वर्ष के बाद वाणिज्य और उपनिवेश विभाग का भी मन्त्री हो गया। वास्तव में सेना-विभाग को छोड़कर करीब सभी विभाग उसके निरीक्षण में थे। अपनी ईमानदारी और कार्यपरायणता से वह लुई का विश्वास-भाजन बना रहा।

कोल्बैर की नियुक्ति के समय फ्रांस की आर्थिक स्थिति काफी बिगड़ गई थी। तीस वर्षीय और उसे पश्चात स्पेन के विरुद्ध युद्ध, फ्रोंदु की अशांति और पूर्ववर्ती मंत्रियों के कुप्रबन्धों से बड़ी अव्यवस्था थी। जनता से वसूल किए हुए धन काफी का भाग

राजकर्मचारी खा जाते थे। ठेकेदारी की प्रथा ने सारी व्यवस्था को दूषित बना दिया था। कर एकत्र करने वाले कर्मचारी अपने कार्यों का पालन अच्छी तरह से करते थे अतः संदिग्ध चरित्र के कर्मचारियों की जाँच के लिए एक विशेष न्यायालय नियुक्त किया गया। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप लगभग 40 करोड़ रु० की अपहृत संपत्ति राज्य को प्राप्त हुई। अच्छे प्रबन्ध और निरीक्षण से 10 वर्ष में, बिना कर बढ़ाये, फ्रांस की आय दूनी हो गई।

यद्यपि कोल्बैर उच्च वर्ग के ऊपर प्रत्यक्ष भूमिकर (Taile) लगाने में असमर्थ रहा, किन्तु वे लोग, जो इससे मुक्त होने का दावा करते थे, उनके प्रमाणपत्रों की जाँच कराई गई और जो अपने अधिकारों को प्रमाणित न कर सके, उन्हें कर देने के लिए बाध्य किया गया। कोल्बैर का ध्यान फ्रांस की आबादी की समस्या की ओर भी गया। एक नियम के अनुसार जिसके दस बच्चे थे, वे कर से आजीवन मुक्त कर दिये गये। इस प्रकार बिना किसी क्रांतिकारी परिवर्तन के राज्य की आमदनी में पर्याप्त वृद्धि हुई और बजट में कमी के स्थान पर बचत हुई। परन्तु याद रखना चाहिये कि जिस गति से आय बढ़ी उससे तीव्र गति से लुई का खर्च भी बढ़ने लगा। कोल्बैर ने इस संबंध में कई बार उसका ध्यान आकृष्ट किया, परन्तु लुई खर्च कम करने के लिए तैयार नहीं था।

फ्रांस की औद्योगिक उन्नति के लिए कोल्बैर ने बहुत से सुधार किये। इंग्लैंड, हालैंड और इटली से शीशा, कपड़ा बुनने आदि का काम सिखाने के लिए कारीगर बुलाये गये उन्हें धनादि द्वारा प्रोत्साहन देकर फ्रांस की उन्नति के कार्य में लगाया गया। फ्रांसीसी कारीगरों को अपना देश छोड़कर दूसरी जगह बसने की मनाही कर दी गई। अमीरों को उद्योग-धन्धे में पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। शहरों में इस कार्य के लिए निःशुल्क भूमि दी गई। उत्पादन की वृद्धि के लिए चर्च की छुट्टियों की संख्या कुछ कम कर दी गई सबसे अधिक उन्नति शौकीनी की वस्तुओं, जैसे—कपड़े पर सुन्दर काम, पोर्सलीन के सामान आदि के उत्पादन में हुई। इन चीजों की माँग विशेष रूप से वर्साई प्रासाद को सुसज्जित करने के लिए होती थी। अन्य उद्योगों में लिनन, चमड़ा, और रेशम की—जिन पर रीशलू और मेजारिन ने ध्यान नहीं दिया था। विशेष उन्नति हुई।

फ्रांस की व्यापारिक उन्नति के लिए कोल्बैर ने रक्षण नीति का अनुसरण किया। वह फ्रांस को स्वावलम्बी बनाना चाहता था और इसके लिए उसने आयात पर पूर्ण नियंत्रण रखा और निर्यात को प्रोत्साहन दिया। फ्रांसीसी चीजों की माँग बढ़ाने के लिए उसने बहुत से नियम बनाये सुन्दरता और मजबूती पर विशेष ध्यान दिया जाता था। निरीक्षकों को आज्ञा थी कि वे उन्हीं वस्त्रों पर सरकारी मोहरें लगावें जो निर्धारित मापदंड के हों उद्योगों पर निःसंदेह सरकार का बहुत नियंत्रण था, परन्तु फ्रांस के बने

हुए सामान की माँग दूसरे देशों में बहुत बढ़ गई। फ्रांस-स्थित वेनीशियन राजदूत ने लिखा है कि फ्रांस में संसार की सभी चीजें बनती हैं और उनकी माँग इतनी अधिक है कि हरएकदिशा से उनके लिए आदेश आते हैं। राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति में एक बहुत बड़ी बाधा क्षेत्रीय स्वार्थ था। अनेक प्रांतीय चुंगी पंक्तियों के होने से चीजों के एक स्थान से दूसरे स्थान में भेजने में बड़ी कठिनाई होती थी। कोल्बैर ने इन आंतरिक प्रतिबंधों को कम करने का काफी प्रयत्न किया, परन्तु स्थानीय स्वार्थ की प्रबलता के कारण वह पूर्णतः सफल न हो सका।

यातायात के साधनों में बहुत से सुधार किये गये। पुरानी सड़कों की मरम्मत की गई और बहुत सी नई सड़कें बनाई गई। बिस्के की खाड़ी और भूमध्यसागर को मिलाने वाली 160 मील लम्बी लांगडाक (Languedoc) नहर इसी समय बनी सामान ढोने वाले जहाजों की संख्या दूनी हो गई बाल्टिक और भूमध्यसागर में तथा अमेरिका और भारत से व्यापार करने के लिए कई कंपनियाँ खोली गईं। उन्हें सरकार से पूरी आर्थिक सहायता दी गई। उसकी रक्षा की जिम्मेदारी राज्य के ऊपर थी। उपनिवेशों की स्थापना पर बड़ा जोर दिया गया। भारत, लुइजियाना, वेस्ट इंडीज और कनाडा में फ्रांसीसी व्यापारिक केन्द्र स्थापित हुए।

कोल्बैर ने नौ-सेना की शक्ति में बड़ी वृद्धि की। रीशलू की मृत्यु के पश्चात यह विभाग बहुत उपेक्षित दशा में था। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप जहाजों की संख्या 18 से 273 हो गई। कैले, ब्रेस्ट और हाब्र में विकास और समुद्री व्यापार की उन्नति के लिए कोल्बैर नौ-सेना को शक्तिशाली बनाना अत्यावश्यक समझता था।

फ्रांस की सांस्कृतिक उन्नति के लिए विज्ञान, चित्रकला और संगीत की अकादमियाँ खोली गई। कानूनों के संग्रह का प्रयत्न भी किया गया। फौजदारी और दीवानी के न्यायालयों की प्रक्रिया, वाणिज्य, समुद्र-नौवहन संबंधी नियमों का संशोधन और संकलन हुआ। ये लुई-विधान के नाम से विख्यात हुए। इनमें फ्रांस की कानूनी एकता को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया, परंतु नियम-संग्रह का कार्य क्रांति में जाकर पूर्ण हुआ। तब तक स्थानीय रीति-रिवाज चलते रहे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कोल्बैर ने सभी क्षेत्रों में फ्रांस की उन्नति करने का प्रयत्न किया। परंतु उसकी सबसे बड़ी कठिनाई थी लुई का अनियंत्रित खर्च कम उसने कई बार लुई को दरबार का खर्च करने की सलाह दी, किन्तु वह असफल रहा। स्वामिभक्त, अत्यन्त परिश्रमी और योग्य कोल्बैर सत्य कहने और अच्छी सलाह देने के कारण अपने जीवन के अन्तिम काल में लुई का उतना प्रिय न रह सका जितना वह प्रारंभ में था। राजदरबारों में असत्यवादी चापलूसों को सत्यवादी और कर्तव्यनिष्ठ कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक और आसानी से सफलता मिलती है। युद्ध-मंत्री लूव्वा

कोल्बैर के विरुद्ध लुई के कान भरता रहा और अपनी खर्चीली, किन्तु आकर्षक सैनिक योजनाओं से वह उसको अपने पक्ष में करने में सफल हुआ। 1683 ई० में कोल्बैर की मृत्यु हो गई। उसने अपनी योग्यता से फ्रांस को एक समृद्धिशाली देश बनाया। असीमित साधनों से युक्त लुई ने उनका उपयोग महत्वाकांक्षी युद्धों में किया। लुई के मंत्रियों में कोल्बैर ही ऐसा व्यक्ति था जो उसको वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने में सचेष्ट रहा और लुई भी जानता था कि वह उसके अनियंत्रित खर्च के पक्ष में न था।

कोल्बैर की मृत्यु से फ्रांस को गहरा धक्का पहुँचा। उसके बाद लुई को वैसा योग्य मंत्री न मिला। इसके अतिरिक्त उसकी धार्मिक असहिष्णुता से हजारों प्रोटेस्टेंटों को फ्रांस छोड़ना पड़ा। फ्रांस की औद्योगिक उन्नति में उनका बहुत बड़ा हाथा था। प्रयः वे ही व्यापार और वाणिज्य का काम करते थे। उनके चले जाने से फ्रांस की गहरी आर्थिक क्षति हुई। लुई के युद्धों, विशेषकर आग्सबर्ग के लीग और स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध से आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई।

यद्यपि कोल्बैर के सुधारों से फ्रांस को बड़ा लाभ हुआ, किन्तु व्यापारिक रक्षण की उसकी नीति दोषपूर्ण थी। बुद्धिमान होने पर भी वह तत्कालीन प्रचलित विचारधारा के प्रभाव से न बच सका। उसकी यह धारणा गलत थी कि आयात पर प्रतिबन्ध और निर्यात के प्रोत्साहन से कोई देश धनी होता है। वह समझ न सका कि कोई देश आर्थिक क्षेत्र में पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सकता और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सभी के लिए लाभदायक हो सकता है। किसी देश की समृद्धि दूसरे देश की निर्धनता से नहीं, अपितु वस्तुओं के आदान-प्रदान से होती है। यदि सभी देश रक्षण की नीति को अपना लें तो अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य ही असंभव हो जाय। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि राज्य के अधिक नियंत्रण से फ्रांसीसी व्यापारिक कंपनियों में आत्मनिर्भरता का गुण विकसित न हो सका। राज्य का एक विभाग होने से उनका भाग्य फ्रांस की राजनीतिक सफलता या विफलता पर निर्भर हो गया। जब 18वीं शताब्दी में फ्रांस यूरोपीय युद्धों में बुरी तरह फँस गया तब उनकी दशा काफी बिगड़ गई। तीसरे, फ्रांस की की कर-व्यवस्था बहुत असंतोषजनक थी। उच्च वर्ग के लोग करों से मुक्त थे और निर्धन उनके बोझ से दबे जा रहे थे। कोल्बैर उनकी स्थिति सुधारने में असमर्थ रहा। वास्तव में फ्रांस की वित्तीय व्यवस्था के दोष इतने अधिक और गहरे थे कि कोई एक मंत्री उनका अंत नहीं कर सकता था।

लुई की परराष्ट्र-नीति

महत्त्वाकांक्षी लुई शांति की नीति से संतुष्ट नहीं रह सकता था। इतिहास बताता है कि शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथ में युद्ध अति प्राचीन काल से गौरव और विस्तार का अस्त्र रहा है लुई ने भी फ्रांस की प्रधानता, सीमा-विस्तार और अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कई युद्ध किये। उसके युद्धों का रूप कोरा आक्रामक था। अतः यूरोपीय

राज्यों को उसके उद्देश्यों को समझने में कठिनाई न हुई। यद्यपि लुई ने वक्तव्यों और घोषणाओं द्वारा अपनी नीति का स्पष्टीकरण नहीं किया, किन्तु उसके कार्यों से इस संबंध में कोई संदेह न रह गया। वस्तुतः उसकी परराष्ट्र नीति की परंपरा वही थी जिसे हेनरी चतुर्थ, रीशलू और मेजारिन ने प्रतिष्ठित किया था। वे हैप्सबर्गों को नीचा दिखाकर फ्रांस का विस्तार करना चाहते थे। लुई और उनकी नीति में गुणात्मक नहीं, परिमाणात्मक अंतर था। असीम साधनों और योग्य व्यक्तियों की सेवा से युक्त लुई की नीति का उद्देश्य फ्रांस को यूरोप में प्रधान बनाना था। वह एक कुशल राजनीतिज्ञ था। परराष्ट्र-नीति के संचालन में वह पूरी दिलचस्पी लेता था। आक्रामक नीति को कार्यान्वित करने के लिए उसके पास साधन भी पर्याप्त थे। कोल्बैर के सुधारों से फ्रांस समृद्धिशाली देश हो गया था। लूव्वा ने एक बड़ी स्थायी सेना का संगठन किया था वोबां ने रक्षा का पूरा प्रबन्ध किया तथा त्यूरेन और कोंदे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ सेनानी थे। संयोगवश यूरोप की राजनीतिक दशा लुई के अनुकूल थी। स्पेन शक्तिहीन था, आस्ट्रिया तीसवर्षीय युद्ध की क्षति से अभी भी ग्रस्त था। जर्मनी पूर्णतः अव्यवस्थित था। ब्रैण्डेनबर्ग की शक्ति पूर्ण विकसित नहीं हुई थी। रूस अभी तक यूरोपीय राजनीति में नगण्य था। इंग्लैंड का राजा चार्ल्स फ्रांस की मित्रता का इच्छुक था। हालैंड में दो दल थे—एक राजतंत्र की स्थापना में सचेष्ट था और दूसरा गणतांत्रिक प्रणाली को सुरक्षित रखना चाहता था। इस मतभेद के कारण वहाँ की आन्तरिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

अपनी विस्तार नीति के समर्थन में लुई ने 'प्राकृतिक सीमा' के सिद्धान्त पर जोर दिया। इसके अनुसारहर एकदेश की सीमा प्रकृति की देन के रूप में पर्वत या नदी होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में, उत्तर-पूर्व में फ्रांस का विस्तार राइन नदी तक होना चाहिए स्पेनिश नेदरलैंडस और फ्रांस कोंते में स्पेन के अधिकार को फ्रांस अपने लिए खतरनाक समझता था। यद्यपि वेस्टफैलिया और पिरेनीज की सन्धियों में फ्रांस ने अपने विस्तार में एक लम्बा कदम उठाया था, परन्तु उतने से वह संतुष्ट नहीं था। यदि महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की आकांक्षाओं की कोई सीमा होती तो संसार का इतिहास कुछ दूसरा ही होता लुई की विस्तार-नीति से यूरोपीय राज्य आतंकित हो उठे उसकी इच्छा सम्राट बनने की भी थी, परन्तु हैप्सबर्ग सम्राट लियोपोल्ड 1705 ई० तक जीवित रहा। तब तक वह वृद्ध हो रहा था और स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध में भी बुरी तरह फँसा था। इन कारणों से वह इस उद्देश्य में सफल न हो सका।

फ्रांस की प्रधानता के विषय में लुई इतना सतर्क था कि वह नहीं चाहता था कि बाह्य रूप में भी उसका देश किसी से भी हीन समझा जाय। युद्ध की धमकी देकर उसने स्पेन के राजा फिलिप चतुर्थ को इंगलैंड में स्थित फ्रांसीसी राजदूत की श्रेष्ठता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। जब इंगलैंड के राजा चार्ल्स द्वितीय ने एक पुरानी प्रथा के

अनुसार इंगलिश चैनल में फ्रेंच जहाजों द्वारा ब्रिटिश झण्डे के अभिवादन की माँग रखी, तो लुई ने बड़ा कड़ा रुख लिया और अन्त में चार्ल्स को झुकना पड़ा।

लुई के युद्ध

लुई ने चार बड़े युद्धों में भाग लिया। प्रथम दो युद्धों में उसकी पूर्ण विजय हुई, तीसरे मे उसकी सेनाओं ने कार्य-क्षमता का पूर्ण परिचय दिया, परंतु पहली बार उसको यूरोपीय शक्तियों के उग्र प्रतिरोध के कारण अपने जीते हुए प्रांतों को लौटाना पड़ा। चौथा युद्ध 11 वर्ष तक चला। प्रारम्भ में लुई की कई स्थानों में हार हुई और यद्यपि युद्ध के अन्तिम चरण में फ्रांस का प्रतिरोध अत्यन्त प्रशंसनीय रहा, किन्तु अब उसके युद्ध का रूप रक्षात्मक हो गया था। यूरोपीय राजनीति में फ्रांस के प्रभुत्व को स्थापित करने का स्वप्न भंग हो गया। मृत्यु के समय लुई ने अपने प्रपौत्र को अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक रहने और स्वयं अपनी महत्त्वाकांक्षी नीति के अनुकरण न करने की सलाह दी।

डीबोलूशन का युद्ध (War of Devolution, 1667-68)—लुई ने यह युद्ध स्पेनिश नेदरलैंड्स को अपने राज्य मे मिलाने के लिए किया। 1665 ई० में फिलिप चतुर्थ की मृत्यु के बाद उसका चतुर्थवर्षीय पुत्र चार्ल्स द्वितीय स्पेन की गद्दी पर बैठा। वह फिलिप की दूसरी स्त्री से पैदा हुआ था। लुई के लिए अवसर अनुकूल था उसे एक बहाना चाहिए था और युद्ध करने वालों को बहना मिलना काफी आसान होता है उसने ब्राबैण्ट (Brabant) में प्रचलित एक कानून का सहारा लेकर नेदरलैंडस की माँग पेश की इस कानून के अनुसार भू-सम्पत्ति पर पहली स्त्री की संतान का अधिकार दूसरी स्त्री की संतान से श्रेष्ठतर होता था। लुई की स्त्री मेरिया थेरेसा फिलिप चतुर्थ की पहली स्त्री से पैदा हुई थी। परन्तु लुई का माँग का आधार बहुत निर्बल था। पहले, दाय का यह कानून प्रान्तीय था और वह पूर्ण नेदरलैंडस के लिए लागू नहीं हो सकता था। दूसरे, यह कानून केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति से—राज्य से नहीं—सम्बन्धित था। तीसरे, विवाह के समय लुई ने वचन दे दिया था कि अपनी स्त्री के द्वारा वह स्पेन की गद्दी अथवा उसके किसी भाग के सम्बन्ध में कोई माँग न रखेगा।

युद्ध प्रारम्भ करने के पहले लुई ने अपनी कूटनीति से हालैंड, स्वीडेन और जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट राज्यों को तटस्थ कर लिया था। इंगलैंड से कोई भय नहीं था, क्योंकि उस समय उसका और हालैंड का युद्ध चल रहा था। फ्रांस की सेनायें नेदरलैंडस में प्रविष्ट हुई और उन्होंने सीमा पर स्थित शहरों पर अधिकार कर लिया। निर्बल स्पेन को हटाना कठिन न था। फ्रांस कोंते पर भी फ्रांस का अधिकार हो गया और यदि यूरोपीय राजनीति में परिवर्तन न हुआ होता तो सम्पूर्ण नेदरलैंडस फ्रांस के हाथ में आ गया होता लुई की विजय से यूरोपीय राज्य भयभीत हो गये। इस क्षेत्र में फ्रांस के विस्तार

से हालैंड के लिए विशेष खतरा उपस्थित हुआ उसने इंगलैंड से सन्धि कर ली और स्वीडेन से मिलकर एक त्रिगुट बनाया। लुई ने यह सोचकर, कि कहीं इस संघ का आकार और भी न बढ़ जांय, 1668 ई० में एक्स-ला-शापेल (Aix-la-Chapelle) की संधि कर ली। उसको फ्रांस कोंते (Franche- Comte) तो लौटाना पड़ा, परन्तु फ्रांस की सीमा पर स्थित अनेक नगर मिले, जिनमें लील (Lille), तूर्ने (Tournai) और शार्लर्वा (Charleroi) प्रसिद्ध थे। वोबां ने इन शहरों की किलेबन्दी करके फ्रांस की सीमा को सुदृढ़ बनाया। परन्तु इस युद्ध से महत्त्वाकांक्षी लुई की भूख शान्त न हुई, अपितु उसकी तीव्रता और भी बढ़ी।

डच-युद्ध (1672-78)—फ्रांस के विरुद्ध त्रिगुट बनाने में हालैंड का मुख्य हाथ था जिसे लुई न भूल सकता था। वह अपने उत्तर-पूर्व के विस्तार में हालैंड को बाधक भी समझता था। दूसरे, औपनिवेशिक और व्यापारिक क्षेत्र में हालैंड अग्रणी था, परन्तु कोल्बैर के प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रांस भी इस क्षेत्र में बढ़ रहा था और हालैंड को प्रतिद्वन्द्वी समझता था। दोनों देशों ने एक-दूसरे के सामान के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि अपने सुधारों के लिए शांति चाहने वाला कोल्बैर भी हालैंड के विरुद्ध युद्ध का समर्थक था, क्योंकि उसे वह फ्रांस की उन्नति के मार्ग में बाधक समझता था। तीसरे, हालैंड की गणतांत्रिक सरकार फ्रांस ऐसे निरंकुश राजतंत्र को बहुत खटकती थी। चौथे, लुई की धार्मिक असहिष्णुता से बहुत से प्रोटेस्टेण्ट फ्रांस छोड़कर हालैंड में शरण ले रहे थे और उन्हें वहाँ बसने के लिए प्रोत्साहन भी मिल रहा था।

युद्ध-घोषणा के समय हालैंड बिना मित्र का था। लुई ने संघ के सदस्यों को उससे अलग कर लिया था। 1670 ई० में डोवर की गुप्त संधि द्वारा चार्ल्स द्वितीय ने लुई से धन स्वीकार कर उपयुक्त समय पर अपने को कैथलिक घोषित करने और हालैंड के विरुद्ध फ्रांस की सहायता करने का वचन दिया था। स्वीडेन को भी धन देकर उसने अपनी ओर कर लिया था। इसी समय इंगलैंड और हालैंड में व्यापारिक युद्ध (1672-74 ई०) भी छिड़ गया। हालैंड की आंतरिक स्थिति भी अच्छी न थी। आरेंज परिवार का प्रधान अपने शासनाधिकार को वंशानुगत राजतन्त्र का रूप देने में प्रयत्नशील था, दूसरी ओर जॉन विट (1625-72 ई०) के नेतृत्व में दूसरा दल गणतांत्रिक प्रणाली को अक्षुण्ण रखते हुए प्रान्तीय अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहता था। गृह-कलह से विच्छिन्न और अकेला हालैंड लुई का सामना न कर सकता था।

फ्रांस की सेना ने लोरेन पर अधिकार कर लिया। बहाना यह था कि लोरेन का डयूक हालैंड से मिलकर फ्रांस के विरुद्ध षडयंत्र कर रहा था। तदुपरान्त लुई की सेना हालैंड के कुछ भाग को अधिकृत कर एमस्टरडम की ओर बढ़ी। निराशा के आवेश में

डचों ने जॉन विट की हत्या कर डाली, यद्यपि पराजय की जिम्मेदारी उसकी न थी। सेना का संचालन आरेंज के राजकुमार विलियम के हाथ में आया। रक्षा के लिए बाँध काट दिये गये और देश का काफी भाग जलमग्न कर दिया गया। हालैंड की दुर्दशा देखकर यूरोपीय राज्यों को भी बड़ा डर हुआ। विलियम एक कुशल कूटनीतिज्ञ था। वह लुई के विरुद्ध एक गुट बनाने में सफल हुआ। उसमें आस्ट्रिया, स्पेन, ब्रैण्डेनबर्ग और हालैंड सम्मिलित हुए। 1674 ई० में इंगलैंड ने भी हालैंड से संधि कर ली और चार्ल्स की इच्छा के विरुद्ध पार्लियामेंट ने इस संघ का साथ दिया। त्यूरेन के नेतृत्व में फ्रांस की कई स्थानों में विजय की प्राप्ति के निकट था, अल्सेस में मारा गया। इसके बाद भी कुछ समय तक युद्ध चलता रहा। परन्तु लड़ते-लड़ते दोनों पक्ष थक गये थे। 1678 ई० में नाइमेगेन (Nimweguen) की संधि द्वारा दोनों पक्षों ने युद्ध समाप्त किया। फ्रांस को फ्रांश कोंते, लारेन का कुछ भाग और बेलजियन नेदरलैंड्स में कई सुदृढ़ किले मिले। इस प्रकार इस युद्ध में हालैंड की नहीं, स्पेन की क्षति हुई। राइन की ओर बढ़ने में लुई का यह दूसरा कदम था।

आग्सबर्ग की लीग का युद्ध (1688-97 ई०)—डच युद्ध के बाद लुई की शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। उसने दोनों युद्धों में फ्रांस की सैनिक कुशलता का परिचय दिया और कुछ अंशों में उसकी सीमा का विस्तार किया, परन्तु अभी भी उसके राज्य-विस्तार की क्षुधा शान्त न हुई थी। उसने एक दूसरा तरीका सोचा। उसका कहना था कि वेस्टफैलिया और नाइमेगेन की सन्धियों में जो प्रान्त उसको मिले थे उनके साथ ही उनके आश्रित स्थान भी उसे मिलने चाहिये थे। उसकी यह माँग एक मध्यकालीन सामन्तवादी प्रणाली पर आधारित थी, जिसके अनुसार फ्रांस के अधिकृत कुछ प्रान्तों के अधिकार कई नगरों और स्थानों पर थे, परन्तु वे लुई को उनके साथ नहीं मिले थे। किन्तु वास्तव में ऐसे सामन्तवादी सम्बन्ध अब तक आते-जाते समाप्त हो गये थे। लुई विस्तार के लिए एक बहाना चाहता था। अपनी माँगों को वैधानिक रूप देने के लिए उसने पुन एकता के न्यायालय (Chambers of Reunion) स्थापित किये। वह स्वयं वादी था और जज भी उसी के द्वारा नियुक्त किये गये थे। यदि जाँच का कार्य किसी स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सुपुर्द किया गया होता तो किसी को आपत्ति न होती। परन्तु लुई निष्पक्ष निर्णय नहीं चाहता था। अदालतें बहाना मात्र थीं उन्होंने अपने निर्णय में स्ट्रासबर्ग और लक्सेमबर्ग (Luxembourg) के अतिरिक्त 20 अन्य प्रसिद्ध नगरों पर फ्रांस का अधिकार निश्चित किया। यद्यपि स्ट्रासबर्ग एक स्वतंत्र और तटस्थ राज्य स्वीकृत हुआ था, फिर भी निर्णय फ्रांस के पक्ष में दिया गया। ज्यों ही किसी स्थान के सम्बन्ध में लुई के पक्ष में निर्णय होता था, उस पर वह तुरन्त अधिकार कर लेता था। 1681 ई० में स्ट्रासबर्ग, 1684 ई० में लक्सेमबर्ग और इनके अतिरिक्त अनेक नगरों पर उसने अधिकार कर लिया। लुई के इन कार्यों से यूरोपीय राज्य बहुत आतंकित हुए

उसकी धार्मिक नीति से भी बड़ा असन्तोष था। उसकी निरंकुशता और असहिष्णुता उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। 1682 ई० में उसने पोप से झगड़ा कर लिया। तीन वर्ष बाद उसने नांत की राजाज्ञा रद्द कर प्रोटेस्टेंटों के सब अधिकार छीन लिये। लुई की इस नीति से प्रोटेस्टेंट राज्य असंतुष्ट थे। पोप के झगड़े और तुर्कों से मैत्री की नीति से कैथलिक राज्य भी अप्रसन्न थे। 1683 ई० में तुर्क संभवत: वियना लेने में सफल हो गये होते, यदि पोलैंड के शासक जॉन सोब्येस्की (John Sobieski) की सहायता न प्राप्त होती। लुई ने अपनी धार्मिक नीति और आक्रामक कार्यों से यूरोपीय लोकमत को अपने विरुद्ध कर लिया। 1686 ई० में आरेंज का विलियम, जो लुई का सबसे बड़ा और दृढ़ शत्रु था, आग्सबर्ग की लीग बनाने में समर्थ हुआ, जिसमे आस्ट्रिया, स्पेन, स्वीडेन और कई जर्मन राज्य सम्मिलित हुए। एक साल के बाद बवेरिया भी इसका सदस्य हो गया। इसे हालैंड और सवाय का भी समर्थन प्राप्त था।

आग्सबर्ग की लीग के युद्ध में पैलेटाइन और कोलोन में होने वाली घटनाओं का काफी हाथ था। 1685 ई० में पैलेटाइन के निर्वाचक चार्ल्स की मृत्यु हो गई। उसकी बहन का विवाह लुई के भाई फिलिप के साथ हुआ था। इस वैवाहिक सम्बन्ध के आधार पर लुई ने तुरन्त पैलेटाइन की माँग पेश की। नये निर्वाचक फिलिप विलियम ने सम्राट से सहायता माँगी। अन्त में झगड़े का निर्णय पोप की मध्यस्थता पर छोड़ दिया गया। 1688 ई० में कोलोन में इसी प्रकार की समस्या उपस्थित हुई। जब वहाँ के आर्चबिशप-निर्वाचक मैक्सिमिलियन की मृत्यु हो गई तो लुई और सम्राट उसके उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में झगड़ने लगे। दोनों ने अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किये। जब निर्वाचन में किसी को भी बहुमत प्राप्त न हुआ तो मामला पोप के सुपुर्द कर दिया गया। पोप ने सम्राट के अभ्यर्थी जोसेफ क्लीमेंट के पक्ष में अपना निर्णय दिया। लुई ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसने पैलेटाइन के प्रश्न पर देरी करने का दोषारोपण सम्राट पर किया, यद्यपि इस देरी का दायित्व पोप पर था, न कि सम्राट पर। उसने सम्राट के विरुद्ध और भी कई शिकायतें पेश कीं—जैसे, कोलोन में उसके अभ्यर्थी की असफलता, तुर्कों से संधि करके फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की तैयारी करना, इत्यादि। दूसरी शिकायत बिल्कुल निराधार थी। यदि सम्राट ने आक्रमणकारी तुर्कों से संधि कर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था की तो इसमें लुई को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये थी।

इसी समय इंगलैंड में घटनायें द्रुत गति से क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर रही थीं। जेम्स द्वितीय (1885-88 ई०) की धार्मिक नीति से देश में गहरा असंतोष था। वह अवैधानिक तरीके से इंगलैंड पर कैथलिक धर्म लादना चाहता था। ह्विग और टोरी दोनों दलों ने हालैंड के शासक विलियम को, जिसका विवाह जेम्स की पुत्री मेरी के साथ हुआ था—इंगलैंड की गद्दी पर बैठने के लिए आमंत्रित किया। विलियम ने इस उद्देश्य

सत्रहवीं शताब्दी में
फ्रांस
आरास
पेरिस
वर्साई
ओर्लेआं
बर्गंडी
फ्रां
स
लियों
आविन्यों
मार्सेल
पिरेनीज
स्पेन
१६४८ ई० में प्राप्त प्रदेश →
१६५९ ई० में प्राप्त प्रदेश →
१६६८ ई० में प्राप्त प्रदेश →
१६७८ ई० में प्राप्त प्रदेश →
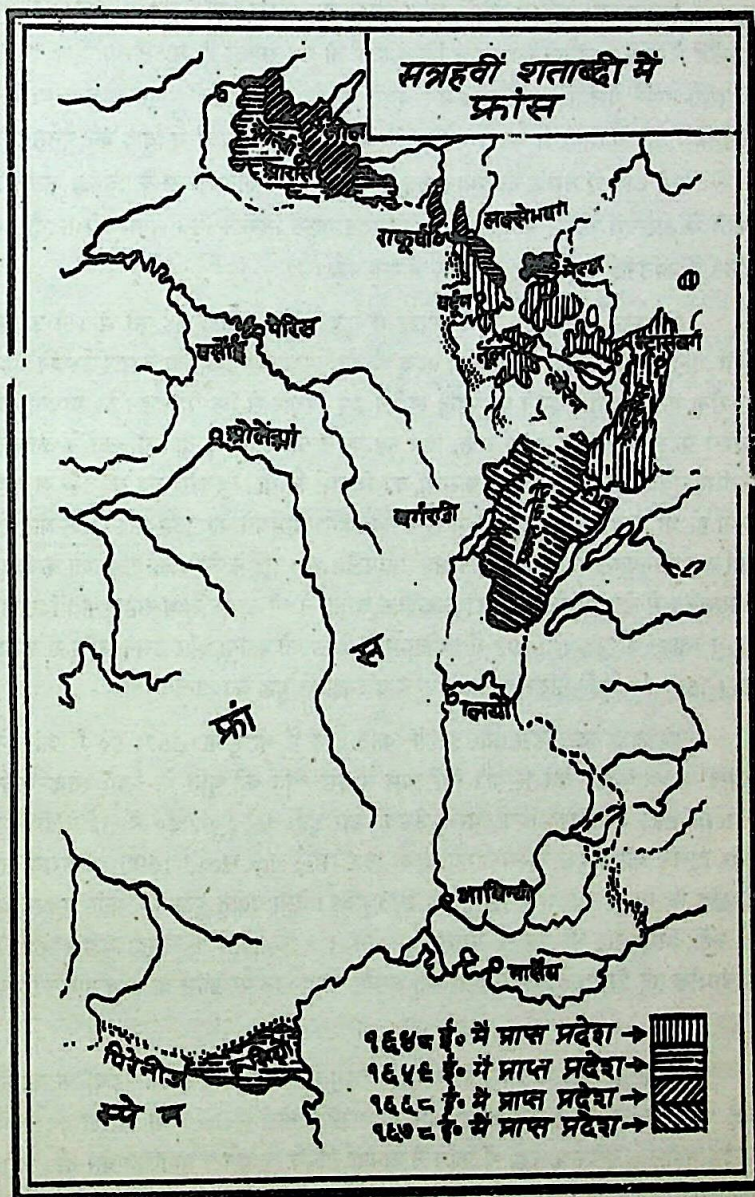
से कि इंगलैंड के राजा की हैसियत से वह उसके और हालैंड के साधनों का उपयोग लुई के विरुद्ध कर सकेगा, निमंत्रण स्वीकार कर लिया। यदि लुई ने विलियम को इंगलैंड में जाने से रोकने का प्रयत्न किया होता तो वह सफल हो सकता था, परंतु इसके विपरीत उसने पैलेटाइन पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी। लुई सोचता था कि विलियम को आसानी से गद्दी न मिल सकेगी और इंगलैंड में गृहयुद्ध की पुनरावृत्ति होगी। ऐसी दशा में उसके दो प्रधान शत्रु, इंगलैंड और हालैंड, फ्रांस के विरुद्ध कार्रवाई करने में असमर्थ रहेंगे। परन्तु लुई का अनुमान गलत निकला। विलियम को गद्दी पर बैठने में कठिनाई न हुई और जेम्स को भागना पड़ा।

सितम्बर, 1688 ई० में पैलेटाइन में युद्ध प्रारम्भ हुआ। लुई की सेना ने उसके कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। परन्तु सैनिक आवश्यकताओं के कारण उसको वहाँ से सेना हटानी पड़ी। हटने के पहले लुई ने इस विचार से कि पैलेटाइन के साधनों का प्रयोग फ्रांस के विरुद्ध न हो सके, उसे नष्ट करने की आज्ञा दे दी। सैनिकों ने अत्यन्त नृशंसतापूर्वक गाँव, शहर और फसलों का विनाश किया। विध्वंस का बहुत-कुछ रूप वैसा ही था जैसा तीसवर्षीय युद्ध में कैथलिकों द्वारा मैग्डबर्ग का हुआ था। इसके बाद दो वर्ष तक सैनिककार्यवाहीका प्रधान क्षेत्र आयरलैंड था। लुई ने जेम्स की सहायता के लिए आयरलैंड में सेना भेजी। वहाँ की कैथलिक जनता ने भी उसके साथ सहानुभूति दिखाई, परन्तु ब्वाइन के युद्ध (1690) में विलियम ने जेम्स को हराया और उसने फ्रांस में शरण ली। 1691 ई० में लिमेरिक के पतन के बाद आइरिश युद्ध का अन्त हो गया।

यह युद्ध नेदरलैंडस और इटली आदि देशों में भी हुआ। 1691 ई० में फ्रांस ने नामूर पर अधिकार कर लिया। विलियम ने इस क्षति की पूर्ति के लिए स्टाइनकर्क (Steinkirk) आक्रमण किया, परन्तु उसकी हार हुई। 1690-92 ई० में लुई ने इंगलैंड और हालैंड की संयुक्त नौ-सेना को बीची लेड (Beachy Head-1690) में हराया तो इंगलैंड के सामने एक बड़ा खतरा उपस्थित हुआ। ऐसा प्रतीत हुआ कि फ्रांस स्थल पर ही नहीं, समुद्र पर भी श्रेष्ठ है, परन्तु ला-ओग (La Houge) के समुद्री युद्ध (1692) में इंगलैड की विजय हुई और तत्पश्चात् उसके समुद्र-तट पर फ्रांस के आक्रमण का भय जाता रहा।

इटली के युद्ध में फ्रांस ने सवाय के ड्यूक को हराकर उसकी डची के काफी बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और दूसरे साल नीस (Nice) भी ले लिया। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोपीय युद्धों में फ्रांस ने अपनी सैनिक कुशलता प्रमाणित कर दी। प्रायः सभी युद्धों में उसकी श्रेष्ठता बनी रही। परन्तु युद्ध काफी समय से चल रहा था और दोनों पक्ष शांति चाहते थे। इसके अतिरिक्त इसी समय लुई का ध्यान स्पेनिश उत्तराधिकार के महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर गया। 1697 ई० में उसने रिसविक (Ryswick) की संधि

कर ली। स्ट्रासबर्ग को छोड़कर लुई को उन सभी स्थानों को, जिन्हें उसने नाइमेगेन की संधि के बाद जीता था, लौटाना पड़ा। विलियम तृतीय को उसने इंगलैंड का राजा स्वीकार किया। भविष्य में फ्रांस के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए डचों को स्पेनिश नेदरलैंडस की सीमा पर स्थित स्थानों की किलेबन्दी का अधिकार दिया गया। लुई को लोरेन भी छोड़ना पड़ा और वह उसके ड्यूक को मिल गया। उसने पैलेटाइन सम्बन्धी माँग छोड़ दी।

संधि की शर्तों से स्पष्ट है कि लुई को पहली बार अपने जीते हुए प्रान्तों को लौटाना पड़ा और अपने शत्रु विलियम को इंगलैंड का राजा स्वीकार करना पड़ा। इसका अर्थ यह नहीं कि फ्रांस को एक विजित राज्य की तरह सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। अभी भी उसकी सेना संगठित थी और उसके साधन विपुल थे। रक्षात्मक और आक्रामक युद्ध करने के लिए उसके पास पूरी शक्ति थी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 1697 ई० में यूरोपीय राज्यों ने लुई की विस्तार-नीति को रोकने में तो सफलता पाई, किन्तु वे उसकी सैनिक शक्ति को नष्ट न कर सके।

स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध (1702-13 ई०)

फिलिप चतुर्थ के बाद उसका पुत्र चार्ल्स द्वितीय (1665-1700 ई०) स्पेन की गद्दी पर बैठा। वह बुद्धिहीन, अस्वस्थ और निःसन्तान था। यद्यपि इस समय स्पेन पतनावस्था में था, किन्तु उपनिवेशों के साथ उसका आकार बहुत ही विशाल था। यूरोप में इसके अन्तर्गत स्पेन, नेदरलैंडस, मिलान, नेपुल्स और सिसिली थे। उसके उपनिवेश मेक्सिको, दक्षिणी अमेरिका, वेस्ट-इंडीज और फिलीपाइन्स में फैले हुए थे। यूरोपीय राज्यों के सामने यह प्रश्न था कि चार्ल्स के बाद स्पेन के साम्राज्य का कौन स्वामी हो? यद्यपि उत्तराधिकार की समस्या स्पेन से संबंधित थी, परंतु यूरोप के सभी प्रमुख राज्य इसके सुलझाने में प्रयत्नशील थे।

राज्य के उत्तराधिकारी—चार्ल्स को न कोई लड़का था और न कोई भाई, परन्तु उसकी दो बहनें थीं—उनमें बड़ी, मेरिया थेरेसा की शादी लुई चतुर्दश से और छोटी मार्गरेट थेरेसा की शादी आस्ट्रिया के सम्राट लोयोपोल्ड प्रथम से हुई थी। मेरिया थेरेसा द्वारा उसके लड़के या पौत्र का अधिकार स्पेन की गद्दी पर होता था। परन्तु विवाह के समय लुई ने, एक विपुल दहेज के उपलक्ष्य में, स्पेन का राज्य सम्बन्धी अधिकार छोड़ दिया था। लेकिन समस्या जटिल इसलिए हो गई कि लुई को दहेज नहीं मिला था। अस्तु, वह अधिकार छोड़ने वाली शर्त से बाध्य नहीं था। चार्ल्स की छोटी बहन मार्गरेट थेरेसा को मेरिया एण्टोनिया नाम की एक लड़की थी। उसका विवाह बवेरिया के शासक मैक्सिमिलियन इमैन्युल के साथ हुआ था और उनके एक लड़का था, जिसका नाम जोसेफ फर्डिनेंड था। इस प्रकार जोसेफ का अधिकार अपनी नानी मार्गरेट थेरेसा के

द्वारा था। परन्तु विवाह के समय, अपने पिता के दबाव से, मेरिया एण्टोनिया ने स्पेन की गद्दी का अधिकार त्याग दिया था। अतः कानूनी दृष्टि से उसका लड़का गद्दी का उम्मीदवार नहीं हो सकता था, परंतु स्वेच्छा के अभाव में इस त्याग की नैतिकता और वैधानिकता दुर्बल थी। यदि लुई चतुर्दश और मेरिया एण्टोनिया के त्यागों की वैधता स्वीकृत हो जाती तो चार्ल्स का उत्तराधिकारी ढूँढ़ने के लिए एक पुश्त और पीछे हटने की आवश्यकता पड़ती। स्पेन के राजा फिलिप चतुर्थ की दो बहनें थीं—बड़ी आस्ट्रिया की एन की शादी फ्रांस के राजा लुई त्रयोदश से हुई थी और उसका लड़का लुई चतुर्दश था; छोटी मेरिया की शादी सम्राट फर्डिनेंट तृतीय के साथ हुई थी और उसका लड़का लियोपोल्ड प्रथम था। इस प्रकार अपनी माताओं के द्वारा लुई और लियोपोल्ड स्पेन की गद्दी के उत्तराधिकारी थे। परन्तु आस्ट्रिया की एन ने इस सम्बन्ध में अपना अधिकार छोड़ दिया था जब कि मेरिया ने ऐसा नहीं किया था। इस आधार पर सम्राट लियोपोल्ड अपने अधिकार को वैध और प्रबल समझता था।

प्रश्न का यूरोपीय रूप—यह निश्चित था कि उत्तराधिकार का प्रश्न वंशगत आधार पर हल नहीं हो सकता था। इसके हल में यूरोपीय राज्यों के समक्ष दो महत्वपूर्ण विचार थे—एक तो यूरोपीय शक्ति-संतुलन को कायम रखना; दूसरे, स्पेन के उपनिवेशों के साथ व्यापार करने की सुविधायें प्राप्त करना। शक्ति-संतुलन के लिए आवश्यक था कि स्पेन का राज्य किसी शक्तिशाली राज्य को न मिले। यदि लियोपोल्ड का अधिकार उस पर स्वीकृत हो जाता तो आस्ट्रिया की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती और वह बहुत कुछ उसी प्रकार की होती जैसी 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चार्ल्स पंचम के समय थी। यदि स्पेन का राज्य फ्रांस को मिल जाता तो यूरोप के सामने एक भीषण खतरा उपस्थित हो जाता। लुई ने अकेले ही सबको आतंकित कर दिया था। स्पेन का राज्य पाकर वह अत्यन्त प्रबल हो जाता। सारांश यह कि शक्ति-संतुलन को कायम रखने के लिए स्पेन का राज्य फ्रांस और आस्ट्रिया ऐसी बड़ी शक्तियों को नहीं दिया जा सकता था। जोसेफ फर्डिनेंड के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि बवेरिया एक छोटा राज्य था उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्पेन की गद्दी पर वंशगत आधार पर लुई के दूसरे पुत्र आंजू (Anjou) का, कानूनी दृष्टि से लियोपोल्ड के दूसरे पुत्र आर्चडयूक चार्ल्स और राजनीतिक दृष्टि से फर्डिनेंड का अधिकार प्रबल था। यहाँ याद रखना चाहिये कि लुई के पुत्र और प्रथम पौत्र का अधिकार फ्रांस की गद्दी पर था, उसी प्रकार लियोपोल्ड के प्रथम पुत्र का अधिकार आस्ट्रिया पर था इसलिए स्पेन के सम्बन्ध में दूसरे पौत्र या पुत्र के लिए व्यवस्था की गई। इससे फ्रांस या आस्ट्रिया के राज्यों को स्पेन में मिलने से रोका जा सकता था। शक्ति-संतुलन का सबसे प्रधान समर्थक इंगलैंड था। वहाँ का राजा विलियम तृतीय स्पेन की गद्दी पर लुई के पौत्र का अधिकार स्वीकार करने के लिए

तैयार नहीं था। हालैंड भी अपनी सुरक्षा के लिए नहीं चाहता था कि स्पेनिश नेदरलैंड पर आंजू का अधिकार हो।

दूसरी बात, जिससे इंगलैंड और हालैंड चिन्तित थे, वह स्पेन के औपनिवेशिक व्यापार से सम्बन्धित थी। वे नहीं चाहते थे कि उसके विस्तृत उपनिवेश फ्रांस ऐसी शक्ति के प्रभाव के अन्तर्गत आवें जो व्यापारिक क्षेत्र में उनका प्रतिद्वन्द्वी था। दूसरे, जब तक उनका स्वामी स्पेन ऐसा कमजोर देश था, वे अपनी शक्ति तथा धाँधली द्वारा व्यापारिक सुविधायें प्राप्त कर लेते थे, परन्तु लुई के प्रभाव में आने पर यह बात सम्भव नहीं थी। अपने स्वार्थ के लिए वे स्पेन के उपनिवेश और व्यापार को किसी शक्तिशाली राज्य के हाथ में दिये जाने के विरुद्ध थे।

विभाजन की संधियाँ—चार्ल्स द्वितीय के सिंहासनारोहण के पश्चात् से ही लुई उसके नि:सन्देह मरने की सम्भावना पर विचार करने लग गया था। 1668 ई० में सम्राट लियोपोल्ड प्रथम के साथ उसने स्पेन के विभाजन की एक गुप्त संधि की। उसके अनुसार लियोपोल्ड को स्पेन, मिलान और उपनिवेशों के तथा फ्रांस को फ्रांश कोंते, नेदरलैंडस, नेपुल्स और सिसिली के मिलने की व्यवस्था की गई। परन्तु इंगलैंड का राजा विलियम ऐसे विभाजन को कभी स्वीकार नहीं कर सकता था। इंगलैंड और हालैंड दोनों ही नेदरलैंडस में फ्रांस की शक्ति-स्थापना के विरोधी थे। इसके साथ ही वे अमेरिका के व्यापार से सदैव के लिए वंचित नहीं रहना चाहते थे। रिसविक की सन्धि के बाद लुई और विलियम ने इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया और अक्टूबर, 1698 ई० में एक सन्धि द्वारा जोसेफ फर्डिनेंड को नेदरलैंडस और उपनिवेशों के साथ स्पेन का राज्य, आर्चड्यूक चार्ल्स को मिलान और लक्सेमबर्ग तथा आंजू को नेपुल्स, सिसली और गीपूस्कोआ (Guipuscoa) देने की व्यवस्था की गई। इस योजना के बनाने में सम्राट और स्पेन का हाथ नहीं था लुई और विलियम का विश्वास था कि अपने पुत्र के अधिकार के लिए सम्राट युद्ध का मार्ग ग्रहण करेगा। फरवरी, 1699 ई० में जोसेफ फर्डिनेंड की मृत्यु होने से उनका प्रयत्न निष्फल हो गया। अधिकारिक तौर पर बताया गया चर्चा थी कि उसको विष पिला दिया गया था अब फिर स्पेन के विभाजन की वार्ता प्रारम्भ हुई और मार्च, 1700 ई० में विभाजन की दूसरी संधि हुई। इसके अनुसार आर्चड्यूक चार्ल्स को नेदरलैड्स और उपनिवेशों के साथ स्पेन का राजा स्वीकार किया गया। आंजू को नेपुल्स, सिसिली, गीपूस्कोआ और मिलान मिले किन्तु इस शर्त पर कि लुई मिलान को लोरेन से बदल लेगा यद्यपि लोरेन के ड्यूक को मिलान देने की योजना बनाई गई, परन्तु बहुत संभव था कि लुई उस पर अपना प्रभाव डालकर अपनी सैनिक आवश्यकताओं के लिए मिलान का उपयोग करने और इस प्रकार आस्ट्रिया और स्पेन के यातायात-संबंध को तोड़ने में समर्थ होता। तिस पर भी, इसमें संदेह नहीं कि आस्ट्रिया की तुलना में दूसरी संधि में लुई की माँगों का रूप बहुत सीमित था। ये दोनों संधियाँ चार्ल्स द्वितीय को बिना

बताये की गई थीं जब उसे साम्राज्य के विभाजन का समाचार मिला तो उसके क्रोध की सीमा न रही। अब उसकी मृत्यु निकट थी, परंतु मरने के पहले उसने के बसीयत के द्वारा उपनिवेशों के साथ स्पेन का संपूर्ण साम्राज्य लुई के पौत्र आंजू को दे दिया और उसके अस्वीकृत करने की दशा में आर्चड्यूक चार्ल्स को गद्दी देने की व्यवस्था की गई। चार्ल्स लियोपोल्ड की दूसरी स्त्री एलिनोर का दूसरा लड़का था और स्वयं एलिनोर स्पेन का राजा चार्ल्स द्वितीय की रानी मेरी की बहन थी। वसीयत करने के कुछ दिनों बाद नवम्बर में चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु हो गई।

लुई के सामने काफी कठिन समस्या थी। विभाजन-संधियों की योजना में उसका प्रमुख हाथ था, अतः दूसरी संधि की शर्तों को कार्यान्वित करना सम्मान की दृष्टि से अत्यावश्यक था। परंतु अब उसके पौत्र को कुछ प्रांतों की जगह स्पेन का संपूर्ण साम्राज्य मिल रहा था। आकर्षण बहुत बड़ा था। नवंबर 1700 ई० में लुई ने चार्ल्स की वसीयत के संबंध में अपनी स्वीकृति दे दी। इस निर्णय में उसने कोई गलती नहीं की, क्योंकि उसके अस्वीकार करने पर आर्चडयूक चार्ल्स स्पेन की गद्दी का उत्तराधिकारी होता हैप्सबर्गों की शक्ति में इतनी वृद्धि फ्रांस को सह्य नहीं थी। यदि लुई 1700 ई० की विभाजन संधि को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता तब भी युद्ध की संभावना बनी रहती, क्योंकि सम्राट अपने लड़के के लिए स्पेन का संपूर्ण साम्राज्य चाहता था और स्पेन के लोग भी बँटवारे के विरुद्ध थे। लुई की संधि के कार्यान्वित करने की अपेक्षा वसीयत को स्वीकार करने में कम खतरा दिखाई दिया। उसके इन निर्णय के पक्ष में फ्रांस और स्पेन दोनों देशों के लोग थे। जहाँ तक इंगलैंड और हालैंड के विरोध का प्रश्न था, लुई जानता था कि इंगलैंड के लोग विलियम की नीति के बहुत पक्ष में न थे और विशेषकर एक ऐसे प्रश्न पर, जिससे उनका कोई संबंध नहीं था, युद्ध में भाग लेने के लिए इच्छुक नहीं थे। हालैंड में भी प्रजातंत्री दल विलियम की नीति का विरोधी था। इन विचारों को दृष्टिगत रखते हुए लुई ने वसीयत स्वीकार की और अपने पौत्र को फिलिप पंचम की उपाधि से स्पेन का राजा मान लिया।

वसीयतनामे के स्वीकार करने के बाद लुई को ऐसा कोई काम न करना चाहिए था जिससे उसके प्रति यूरोपीय राज्यों को आशंका होती। सावधानी और दूरदर्शिता से वह संभवतः बिना युद्ध के ही अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में सफल हो गया होता; परन्तु उसकी गलतियों से युद्ध अनिवार्य हो गया। लुई के कार्यों से स्पष्ट हो गया कि स्पेन और फ्रांस की नीति बहुत कुछ एक प्रकार की होगी और वह अपने पौत्र के नीति-निर्धारण में हाथ बँटायेगा। उसने फिलिप को उपदेश दिया—"तुम्हारा पहला कर्तव्य है कि तुम एक अच्छा स्पेनी बनना, परन्तु कभी न भूलना कि तुम एक फ्रांसीसी हो। अपने सम्बन्धियों को प्यार करना और दोनों राज्यों की एकता स्थापित करने का प्रयत्न करना।" लुई ने

अपने उत्तराधिकारियों की जो सूची बनाई उसमें फिलिप के लिए भी स्थान रखा। इस तरह फिलिप का फ्रांस की गद्दी पर अधिकार सुरक्षित रखा गया। लुई ने रिसविक की संधि की शर्तों के विरुद्ध भी कई कार्य किये। नैदरलैंड्स में अपनी सेना भेजकर बिना चेतावनी दिये उसने सीमान्त के उन दुर्गों पर अधिकार कर लिया, जहाँ हालैंड की सेना थी। डच सैनिक पकड़ लिए गये और जब हालैंड ने फिलिप पंचम को मान्यता प्रदान करने की स्वीकृति दी, तब मुक्त किये गये लुई के इस कार्य से वे लोग, में जो युद्ध के विरुद्ध थे, पक्ष हो गये। इंगलैंड के सम्बन्ध में भी उसने बहुत बड़ी गलती की। 1701 ई० में जेम्स द्वितीय की मृत्यु के बाद, विलियम तृतीय के विरुद्ध उसने उसके लड़के को इंगलैंड की गद्दी का अधिकारी स्वीकृत कर लिया। इस निर्णय से उसने इंगलैंड की गौरवपूर्ण राज्यक्रांति (1688 ई०) द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों और तत्पश्चात् वैधानिक परिवर्तनों की उपेक्षा की और इसके साथ ही रिसविक की सन्धि के विरुद्ध भी कार्य किया। अब विलियम के विरोधी भी उसकी युद्ध-नीति के पक्ष में हो गये। लुई ने कई आदेश प्रकाशित किये जिससे फ्रांसीसी जहाजों को स्पेन के उपनिवेशों से व्यापार करने की सुविधायें प्राप्त हुई। उसके कार्यों से यह भी स्पष्ट था कि स्पेनिश अमेरिका में इंगलैंड और हालैंड को कोई भी व्यापारिक सुविधा न प्राप्त होगी। उसकी आक्रामक नीति और कार्यों से सशंक यूरोपीय राज्यों ने 1701 ई० में एक महान् संघ (Grand Alliance) बनाया जिसमें इंगलैंड, हालैंड, आस्ट्रिया, ब्रैडेनबर्ग, हनोवर और पैलेटाइन सम्मिलित थे। आगे चलकर सवाय ने भी 'मित्र राज्यों' का साथ दिया। लुई के साथ स्पेन, बवेरिया और कोलोन ने दिया। संघ ने सम्राट के लिए नैदरलैंड्स और इटालियन प्रान्तों की ओर समुद्री शक्तियों के लिए स्पेन के उपनिवेशों में व्यापारिक सुविधाओं की माँग रखी। यद्यपि स्पेन की राजगद्दी के विषय में कोई निश्चित माँग नहीं रखी गई, किन्तु आर्चड्यूक चार्ल्स के अधिकार के बारे में कोई संदेह नहीं था। संघ-निर्माण के बाद 1702 ई० में विलियम की मृत्यु हो गई, किन्तु रानी एन के समय में उसकी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। स्पष्ट है कि वसीयत स्वीकार करने से नहीं, बल्कि अपने आक्रामक कार्यों से लुई ने युद्ध अनिवार्य कर दिया।

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ—लुई ने बड़ी आशा के साथ युद्ध प्रारम्भ किया। उसके पास एक बहुत बड़ी संघटित, प्रशिक्षित और अपराजित सेना थी। यद्यपि त्यूरेन और कोंदे ऐसे अत्यन्त कुशल सेनापतियों की सेवा अब उसको प्राप्त न थी, परन्तु अभी भी कई अनुभवी सेनापति थे। सैन्य-संचालन की एकता उसकी बहुत बड़ी शक्ति थी। संघ के पास भी एक बहुत बड़ी सेना थी, परन्तु उसमें फ्रांसीसी सेना की सुदृढ़ एकता सम्भव न थी। समुद्र पर निश्चय ही इंगलैंड और हालैंड की शक्ति फ्रांस से अधिक थी। संघ का सौभाग्य था कि मार्लबरा का डयूक (Duke of Marlborough) और प्रिन्स यूजेन (Eugene) ऐसे योग्य सेनापतियों ने उनकी सेना का संचालन किया, व्यूह-रचना

में मार्लबरा अपने समय में अद्वितीय था। वह अपनी सेना के हर भाग में बड़ी तत्परता और योग्यता से काम लेता था शत्रु की सेना में दुर्बल स्थान देखने की उसकी योग्यता प्रशंसनीय थी। तोपखाने के प्रयोग में भी वह कुशल था। अपने काल का महान सेनापति होने के साथ-साथ वह एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। प्रिन्स यूजेन भी एक प्रतिभासम्पन्न सेनानायक था। उसने सम्राट की सेनाओं का संचालन किया। यदि वह मार्लबरा का समकालीन न होता तो वह अपने समय का सर्वश्रेष्ठ सेनापति समझा जाता।

युद्ध के प्रमुख क्षेत्र नैदरलैंड्स, मध्य यूरोप, इटली और स्पेन थे। 1702 ई० में नैदरलैंड्स युद्ध प्रारम्भ हुआ और फ्रांस ने स्पेनिश नैदरलैंड्स पर अधिकार कर लिया। लुई की योजना इंगलैंड और हालैंड की सेनाओं को नेदरलैंड्स में फँसा रंखने और बवेरिया को सैनिक आधार बनाकर वियना लेने की थी। इंगलैंड और हालैंड की सेना का संचालन मार्लबरा कर रहा था। उसने ठीक समझा कि वियना की रक्षा हालैंड से अधिक महत्व की थी, परन्तु हालैंड स्टेट्स जनरल मार्लबरा के वहाँ जाने के विरुद्ध थी, क्योंकि उसे भय था कि फ्रांस तुरंत ही हालैंड पर आक्रमण कर देगा। 1704 ई० में फ्रांस और बवेरिया की सेनाओं ने वियना लेने की योजना बनाई। उसका विरोध यूजेन अकेले न कर सकता था। मोजेल (Moselle) पर आक्रमण करने के बहाने मार्लबरा यूजेन की सहायता करने के लिए उधर बढ़ा। उसने हालैंड की इच्छा के विरुद्ध वहाँ से सेना हटाई और यूजेन के साथ जा मिला। दोनों में फ्रांस और बवेरिया की सेनाओं को ब्लेनहिम के युद्ध में बुरी तरह परास्त किया। इस विजय से फ्रांसीसी सेना की अजेयता की धाक समाप्त हो गई और मार्लबरा की ख्याति में बड़ी वृद्धि हुई। वियना पर अब कोई खतरा न रहा। बवेरिया युद्ध से अलग होने के लिए बाध्य हुआ। 1704 ई० में ही जार्ज रूक ने जिब्राल्टर पर अधिकार कर लिया और फ्रांसीसी नौ-सेना को, जो इसे पुनः प्राप्त करने के लिए भेजी गई थी, हराया। 1706 ई० में यूजेन ने ट्यूरिन में फ्रांसीसी सेना को हराकर इटली से फ्रांस को हटने के लिए बाध्य किया। इसी साल मार्लबरा ने रामीई (Ramillies) के युद्ध में फ्रांस को हराया और करीब सम्पूर्ण स्पेनिश नेदरलैंड पर उसका अधिकार हो गया। 1707 ई० में फ्रांस ने उसका कुछ भाग फिर जीत लिया, परन्तु ऊदेनार्द (Oudenarde, 1708 ई०) और मालप्ला (Malplaquet, 1709 ई०) की लड़ाइयों में मार्लवरा ने फ्रांस को परास्त किया और सम्पूर्ण नेदरलैंड्स पर अधिकार कर लिया। जब फ्रांस की दृष्टि से युद्ध का रूप रक्षात्मक हो गया।

स्पेन भी युद्ध का एक प्रधान क्षेत्र था। 1705 ई० में लार्ड गैल्वे के नेतृत्व में एक अंग्रेजी सेना स्पेन में घुसी और मेड्रिड पहुँच गई। आर्चड्यूक चार्ल्स को चार्ल्स तृतीय के नाम से स्पेन का राजा घोषित किया गया। 1706 ई० में कुछ समय तक 'मित्र राज्यों' का सारे स्पेन पर अधिकार रहा, परन्तु फिलिप के समर्थकों का विरोध इतना प्रबल था कि

1707 ई० में उनके हाथ से अरागान और वालेंशिया निकल गये। 1710 ई० में वे मेड्रिड लेने में समर्थ हुए, परन्तु पहले की तरह उनका अधिकार अस्थायी रहा। स्पेन के विरोध का रूप निःसन्देह राष्ट्रीय था। उसका दमन करना आसान नहीं था। 'मित्र राज्यों' की दो लड़ाइयों में हार हुई और केवल बार्सिलोना में चार्ल्स का अधिकार बचा रहा।

सन् 1706 ई० में रामीई के युद्ध और मेड्रिड पर 'मित्र राज्यों' के अधिकार होने के बाद लुई चार्ल्स को स्पेन का राजा स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया था, बशर्ते कि मिलान, नेपुल्स और सिसिली पर उसके पौत्र फिलिप का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय। एक साल के बाद वह इंगलैंड और हालैंड को कई व्यापारिक सुविधायें देने के लिये भी तैयार था, किन्तु दोनों बार इंगलैंड ने संधि के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। 1709 ई० में हेग में संधि की वार्ता शुरू हुई। लुई इंगलैंड के प्रोटेस्टेंट उत्तराधिकार को स्वीकार करने और स्पेनिश राजगद्दी पर फिलिप के अधिकार को अस्वीकृत करने के लिए तैयार था, किन्तु मित्र राज्यों ने अलसेस और फ्रांस-कोंते छोड़ने और जेम्स द्वितीय के लड़के को फ्रांस से निकालने की माँगें रखीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह आश्वासन माँगा कि यदि फिलिप स्पेन की गद्दी छोड़ने के लिए न तैयार हो तो उसको निकालने में वह उनकी सहायता करे। फिलिप का अधिकार करीब संपूर्ण स्पेन पर हो गया और इसकी कोई भी संभावना नहीं थी कि लुई के आदेश पर राज्य छोड़ देता। कहने की आवश्यकता नहीं कि संघ की वह माँग अनुचित, विवेकशून्य और लुई के लिए अपमानजनक थी युद्ध जारी रखने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं था। उसने स्पष्ट कह दिया कि यदि उसे युद्ध करना ही पड़ेगा तो वह स्पेन के राजा के विरुद्ध नहीं, अपितु उसके लिए लड़ेगा। युद्ध फिर शुरू हो गया। संधि की वार्ता के भंग होने का दोष मार्लबरा पर आरोपित किया जाता है, परन्तु वास्तव में उसका दायित्व सम्राट, हालैंड और इंगलैंड में टाउनशेड पर है।

लुई के सामने अब फ्रांस की रक्षा का प्रश्न था। वह फ्रांसीसी राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करने में सफल हुआ। राष्ट्र की सेवा के लिए नये रँगरूट भर्ती होने लगे। सभी वर्गों ने राज्य की आर्थिक सहायता की। स्पेन में भी ऐसी ही भावना थी। वहाँ के लोगों ने अपने बल पर फिलिप का अधिकार सम्पूर्ण देश पर फिर स्थापित कर लिया। इसी समय दो ऐसी महत्वपूर्ण बातें हुई जिनसे युद्ध का समाप्त करना आवश्यक हो गया। 1710 ई० मे इंगलैंड में ह्विगो की जगह टोरी दल को शक्ति प्राप्त हुई। टोरी मंत्रिमण्डल युद्ध जारी रखने के पक्ष में न था। मार्लबरा पदच्युत कर दिया गया और उसके उत्तराधिकारी आरमंड को यह आदेश दिया गया कि वह अपनी ओर से आक्रमण न करे। 1711 ई० में एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना हुई। सम्राट लियोपोल्ड का उत्तराधिकारी जोसेफ़ प्रथम जो 1705 ई० में गद्दी पर बैठा था, मर गया। उसके कोई लड़का नहीं था,

अतः उसके बाद उसका भाई आर्चड्यूक चार्ल्स सम्राट हो गया। अब युद्ध जारी रखने में मित्र राज्यों को कोई दिलचस्पी नहीं थी। युद्ध का एक मुख्य उद्देश्य चार्ल्स को फिलिप के स्थान पर स्पेन का राजा बनाना था, किन्तु आस्ट्रिया का राज्य मिलने पर इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई। वे नहीं चाहते थे कि फिलिप को हटाकर आस्ट्रिया की प्रधानता स्थापित की जाय। इन परिस्थितियों में संधि की बातचीत शुरू हुई और 1713 ई० में यूट्रेक्ट की संधि (Treaty of Utrecht) द्वारा युद्ध समाप्त हुआ, परन्तु आस्ट्रिया ने फ्रांस के विरुद्ध लड़ाई जारी रखी। एक वर्ष के बाद 1714 ई० में दोनों ने रास्टाड (Rastadt) की संधि द्वारा युद्ध का अंत किया। आस्ट्रिया ने यूट्रेक्ट के निर्णय को स्वीकार कर लिया। इन संधियों को सामूहिक रूप में यूट्रेक्ट की संधि कहते हैं।

यूट्रेक्ट की संधि—इस संधि द्वारा फिलिप स्पेन का राजा स्वीकृत हुआ, पर इस शर्त पर कि फ्रांस और स्पेन के राज्य न मिलाये जाय। फ्रांस की सीमा में कोई परिवर्तन न किया गया, यहाँ तक कि स्ट्रासबर्ग भी उसी के हाथ में रहने दिया गया। आस्ट्रिया को स्पेनिश नेदरलैंड्स (जिनका नाम अब आस्ट्रियन नेदरलैंड्स पड़ा), मिलान, नेपुल्स और सार्डीनिया मिले। सवाय के डयूक को राजा की उपाधि और सिसिली का द्वीप मिला, जिसे उसने 1720 ई० में आस्ट्रिया के साथ सार्डीनिया से बदल लिया। इंगलैंड को स्पेन से मिनोरिका (Mionorca) और जिब्राल्टर और फ्रांस से न्यूफाउन्डलैंड, नोबास्कोशिया और हडसन की खाड़ी मिली। फ्रांस ने उसका प्रोटेस्टेंट उत्तराधिकार स्वीकार कर लिया और इस प्रकार गौरवपूर्ण राज्यक्रांति के सिद्धान्त और तत्पश्चात् के वैधानिक परिवर्तन पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गये। स्पेन से उसको कई व्यापारिक सुविधायें प्राप्त हुई। इंगलैंड को 30 वर्ष तक स्पेनिश उपनिवेशों में हब्शी दासों के भेजने का अधिकार मिला। इस समझौते को एसियेण्टो (Asiento) कहते हैं। उस समय वह बहुत ही लाभप्रद व्यापार समझा जाता था। इसके अतिरिक्त साधारण व्यापार के रूप में इंगलैंड को प्रतिवर्ष इन उपनिवेशों में सामान से लदा एक जहाज भेजने का अधिकार मिला। प्रशा को गेल्डेरलैंड (Guelderland) मिला और उसके शासक को राजा की उपाधि (जिसे 1701 ई० में सम्राट् ने स्वीकार कर लिया था) प्राप्त हुई। हालैंड को फ्रांस से उसकी सुरक्षा के लिए नेदरलैंडस के सीमावर्ती नगरों के किलेबन्दी का अधिकार मिला और स्केल्ट (Scheldt) नदी का व्यापारिक एकाधिकार भी प्राप्त हुआ।

संधि की समीक्षा—युद्ध के पश्चात् भी फिलिप को स्पेन का राजा स्वीकृत करना स्पष्ट करता है कि यदि विभाजन की संधि के बाद लुई अपनी मूर्खता से यूरोपीय राज्यों को सशंकित न करता तो संभवतः युद्ध न होता, या यदि होता, तो उसका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता। परंतु इसमें संदेह नहीं कि 1701 और 1713 ई० की यूरोपीय राजनीतिक स्थिति में बहुत अंतर था। यद्यपि फ्रांस प्रथम श्रेणी के राज्यों में अभी भी था,

परंतु इस युद्ध के बाद उसमें अपनी प्रधानता स्थापित करने की शक्ति नहीं रह गई। जहाँ तक दोनों राज्यों के न मिलने का प्रश्न था, सन्धि में इसकी पूर्ण व्यवस्था की गई और दोनों ने इस शर्त का पालन किया। परंतु 18वीं शताब्दी में दोनों की परराष्ट्रनीति में बड़ी एकता रही। इससे स्पष्ट है कि सन्धि की शर्तों से इन दो राज्यों को मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने से नहीं रोका जा सकता था।

फ्रांस के प्रति उदारता के व्यवहार का एक प्रधान कारण यूरोप में शक्ति-सन्तुलन स्थापित रखना था। संघ के सदस्य फ्रांस को न तो बहुत शक्तिशाली बनाना चाहते थे और न बहुत कमजोर। यद्यपि फ्रांस की सीमा को अक्षुण्ण रखकर उसको दुर्बल नहीं बनाया गया, परंतु उसके उत्तर-पूर्व में हालैंड की किलेबन्दी, दक्षिण-पूर्व में सवाय की शक्ति और इटली में आस्ट्रिया के अधिकृत प्रान्तों से फ्रांस के विरुद्ध प्रतिरक्षा की व्यवस्था की गई। नेदरलैंडस और इटली का जो वितरण हुआ उससे बिल्कुल स्पष्ट था कि यूरोपीय राज्यों ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों की पूर्ण उपेक्षा की। प्रदेशों का बँटवारा साधारण वस्तुओं की लेन-देन की तरह किया गया।

यूट्रेक्ट की संधि का एक बहुत बड़ा दोष कैटेलोनिया से सम्बन्धित था। युद्ध में इस प्रांत के लोगों ने चार्ल्स का साथ दिया था और अब वे फिलिप के अधिकार में आ गये। यद्यपि सन्धि में उनके साथ अच्छा बर्ताव करने की व्यवस्था की गई थी, किन्तु फिलिप ने इसकी उपेक्षा करके सैन्य बल से उनको दबाया और अत्यन्त निर्दयता का व्यवहार किया उनकी रक्षा के विषय में ऐसी उदासीनता 'मित्र राज्यों' के लिए बड़ी लज्जा की वात थी। इस संधि से इंगलैंड की समुद्री शक्ति और औपनिवेशिक विस्तार में बड़ी सहायता मिली। 17वीं शताब्दी के मध्य से हालैंड की नौ-शक्ति इंगलैंड से किसी प्रकार कम न थी, परंतु स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध के अन्त तक समुद्र पर इंगलैंड की प्रधानता स्थापित हो गई और यह निश्चित हो गया कि उसका भाग्य समुद्र पर अवलम्बित है। जिब्राल्टर और मिनोरका के मिलने से इंगलैंड को भूमध्यसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने में सरलता हुई और अमरीकी स्थानों पर अधिकार होने से वह उस क्षेत्र में भी अपने उपनिवेशों का विस्तार कर सका। जिन उद्देश्यों को समक्ष रखकर इंगलैंड ने युद्ध में भाग लिया था वे सभी उसको युद्ध के बाद प्राप्त हो गये।

सवाय के विस्तार और उसके ड्यूक के राजा बनने से इटली में एक ऐसी शक्ति स्थापित हुई जो 19वीं शताब्दी में उसकी राष्ट्रीय भावना को साकार रूप देने मे समर्थ हुई। वास्तव में सवांय ही उसका एक ऐसा भाग था जो स्वतंत्र इटालियन राज्य था। प्रशा के शासक को राजा की उपाधि देकर यूरोपीय राज्यों ने एक ऐसे राज्य की श्रेष्ठता स्वीकार की जो यूट्रेक्ट की सन्धि के बाद प्रथम श्रेणी के राज्यों में आ गया।

इस सन्धि के सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात यह है कि इसकी प्रादेशिक व्यवस्था वस्तु-स्थिति पर आधारित थी। जो प्रांत आस्ट्रिया को मिले उन पर उसका या

'मित्र राज्यों' का अधिकार था। फिलिप का करीब सम्पूर्ण स्पेन पर अधिकार स्थापित हो गया था। जो स्थान अंग्रेजों को दिये गये वे उनके अधिकार के अंतर्गत आ गये।

यूट्रेक्ट की सन्धि से 17वीं शताब्दी का अन्त और 18वीं शताब्दी का प्रारम्भ होता है। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस की राजनीतिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता का सिक्का सभी ने मान लिया था, किन्तु इस सन्धि के बाद रूस और प्रशा ने यूरोपीय राजनीति में पूरा भाग लिया। इसके अतिरिक्त 18वीं शताब्दी में इंगलैंड की समुद्री शक्ति की प्रधानता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई। इस काल के युद्धों में औपनिवेशिक और व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता का प्रमुख हाथ है।

लुई की धार्मिक नीति

राजकीय विषयों में ही नहीं, धार्मिक क्षेत्र में भी लुई निरंकुश अधिकार स्थापित करना चाहता था। वैसे तो फ्रांस का चर्च रोम के अधिकार से बहुत/कुछ स्वतन्त्र था, परन्तु लुई को किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सह्य नहीं था। रिक्त विशप्रिकों की आमदनी के प्रश्न पर पोप और लुई का झगड़ा शुरू हुआ। देश के काफी बड़े भाग की इस प्रकार की आमदनी (Rigale) पर राजा का अधिकार था, परन्तु दक्षिणी फ्रांस के कुछ प्रांतों में उसका यह अधिकार स्वीकृत नहीं हुआ था। 1673 ई० में उसने समान रूप से यह नियम लागू किया। जब आलेत (Alet) और पामिये (Pamiers) के बिशपों ने इस आज्ञा का विरोध किया और इस सम्बन्ध में पोप से अपील की तो पोप ने राजा के विरुद्ध निर्णय दिया । वाद-विवाद कुछ समय तक चलता रहा। लोकमत बहुत-कुछ लुई के पक्ष में था अन्त में 1682 ई० में धर्माधिकारियों की एक सभा ने, जो बोस्युये के संरक्षण में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त हुई थी, फ्रेंच चर्च (Gallican Church) की स्वतन्त्रता के चार सिद्धान्तों की घोषणा की। पहला, पोप के अधिकार केवल अध्यात्मिक बातों तक सीमित हैं और राजा किसी भी प्रकार उस पर आश्रित नहीं है। अर्थात राजा को सिंहासनच्युत करने और उसकी प्रजा को राजभक्ति से मुक्त करने का अधिकार पोप को नहीं है। दूसरा, चर्च की सामान्य कौंसिल (General Council) का अधिकार पोप से श्रेष्ठकर है। तीसरा, फ्रेंच चर्च के संविधान और रीति-रिवाजों के अनुसार पोप और फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होने चाहिये। चौथा, सैद्धान्तिक मामलों के निर्णय में पोप के अधिकार श्रेष्ठ हैं, किन्तु वे अन्तिम रूप से चर्च की अनुमति से ही लागू किये जा सकते हैं।

पोप ने इन प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया, परन्तु उसने लुई को चर्च से निष्कासित नहीं किया। लुई ने भी ऐसी कोई भी कार्रवाई नहीं की जिससे समझौता असम्भव हो जाय। कुछ वर्षों तक दोनों का संघर्ष चलता रहा। 1693 ई० में लुई ने चारों प्रस्तावों को वापस ले लिया और पोप ने रिक्त पदों पर उसके द्वारा नियुक्त कर्मचारियों को अपनी स्वीकृति दे दी। बाह्य रूप में तो यह पोप की विजय थी, किन्तु वास्तव में फ्रेंच चर्च के ऊपर राज्य का अधिकार बहुत बढ़ गया।

लुई की धार्मिक कट्टरता ह्यूगेनो वर्ग के प्रति उसके व्यवहार से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। फ्रांस के प्रोटेस्टेंट शांतिप्रिय और परिश्रमी थे। वे अच्छे कारीगर थे और व्यापार तथा वाणिज्य प्रायः उनका पेशा था। उन्होंने फ्रांस की समृद्धि में काफी योग दिया था। उनकें विरुद्ध देश-द्रोह का कोई अभियोग भी नहीं था। जब से रीशलू ने उनकी राजनीतिक शक्ति छीन ली थी, तब से उन्होंने इस क्षेत्र में शक्ति प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं की थी ऐसी दशा में उनके प्रति पूर्ण सहिष्णुता की नीति वांछनीय थी। परन्तु लुई ने इसके विपरीत अपनी धार्मिक नीति निर्धारित की। प्रोटेस्टेंटों को धर्म-परिवर्तन करने की सुविधाएँ दी गई। धन का आकर्षण देकर उन्हें कैथलिक बनाने के लिए 1677 ई० में एक कोष खोला गया। जिन कैथलिक कर्मचारियों ने इस दिशा में अच्छा काम किया उनकी नियुक्ति ऊंचे पदों पर की गई। 1681 ई० में प्रोटेस्टेंटों को सरकारी पदों से हटा दिया गया और उनके धार्मिक कर्मचारियों के उपदेश देने की स्वतन्त्रता छीन ली गई। अनेक चर्च और पाठशालायें बन्द कर दी गई। जब इन आज्ञाओं के विरुद्ध उन्होंने सेवेन (Cevennes) में प्रदर्शन किया तो उनके दमन के लिए एक सेना भेजी गई। सैनिकों के दुर्व्यवहार और अत्याचार से बहुतों ने कैथलिक धर्म स्वीकार कर लिया। 1685 ई० में नॉत की राजाज्ञा, जिससे प्रोटेस्टेंटों को अनेक अधिकार मिले थे, रद्द कर दी गई। प्रोटेस्टेंट पूजा निषिद्ध कर दी गई और बचे-खुचे चर्च भी बन्द हो गये।

लुई के धार्मिक अत्याचार से सहस्रों प्रोटेस्टेंटों को फ्रांस छोड़ना पड़ा। प्रोटेस्टेंट रहकर उन्हें अपने देश में रहना असम्भव था। फ्रांस छोड़ने वाले प्रोटेस्टेंटों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है, किन्तु ऐसा अनुमान है कि उनकी संख्या दो लाख से ऊपर रही होगी। उन्होंने अपना देश छोड़कर स्विटजरलैण्ड, प्रशा, हालैण्ड और इंगलैंड में शरण ली। उन देशों में उनको बसने और काम करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। आर्थिक दृष्टि से उनके उत्प्रवास से फ्रांस की बहुत क्षति हुई, क्योंकि इस क्षेत्र में वे वहाँ के थोड़े से चुने हुए लोगों में से थे। जिन देशों में जाकर वे बसे, वहाँ की आर्थिक उन्नति में उन्होंने बड़ा सहयोग दिया। लुई का यह कार्य अत्यन्त निन्दनीय और मूर्खतापूर्ण था। उसके अत्याचार और असहिष्णुता से जहाँ फ्रांस की हानि हुई, वहाँ उसके प्रतियोगियों को लाभ हुआ।

जिन सिद्धान्तों से प्रेरित होकर लुई ने प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध अत्याचार किया, उन्हीं से प्रभावित होकर उसने जैन्सेनवादियों के विरुद्ध भी कार्रवाई की। धार्मिक विषय में वह बहुत कट्टर हो गया था और फ्रांस में प्रचलित कैथलिक चर्च के अतिरिक्त किसी भी संप्रदाय के स्वतन्त्रता देने के पक्ष में नहीं था। जैन्सेनवादियों को कैथलिक चर्च का प्यूरिटन समुदाय कहा जा सकता है। उन्हें चर्च के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति और उसके सिद्धान्तों में पूरी निष्ठा थी। परन्तु वे संयम, अनुशासन, जीवन की पवित्रता और बाइबिल की प्रामाणिकता पर अधिक जोर देते थे। चर्च की धार्मिक विधियों और उत्सवों के स्थान पर वे शुद्ध आध्यात्मिक जीवन को महत्व देते थे। इस आन्दोलन के समर्थक एप्र (Ypres) के बिशप जैन्सेन के अनुयायी थे। लुई ने इस आन्दोलन को पोप के ही

अधिकारों पर नहीं, अपने अधिकारों पर भी आघात समझा। उसने उनके विरुद्ध कड़ी कारंवाई की, यद्यपि उस हद तक नहीं, जैसी प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध हुई थी। पोप ने भी उनके विरुद्ध आज्ञाएँ प्रकाशित की और लुई। अपनी मृत्यु तक कुछ-न-कुछ करता रहा। यदि वह धार्मिक बातों में उदार होता तो इस आन्दोलन के द्वारा संभवतः वह फ्रांस के आध्यात्मिक जीवन को उन्नत बना सकता था।

अनेक लेखकों के मत में लुई की धार्मिक नीति पर मदाम द मेंतनों (Madame de Maintenon) के चरित्र और व्यक्तित्व का बहुत प्रभाव पड़ा। अपने राज्य-काल के प्रारम्भ से ही लुई का सम्बन्ध कई स्त्रियों से था, जिनमें मेंतनों बहुत प्रसिद्ध है। 1673 ई० में उसने मेंतनों को अपनी जारज संतति की अध्यापिका नियुक्त किया। 1684 ई० में, मेरिया थेरेसा की मृत्यु के एक साल बाद, लुई ने विवाह कर लिया। उसकी मित्रता से वह धार्मिक कृत्यों में काफी दिलचस्पी लेने लगा, परन्तु किस हद तक उसका प्रभाव उसकी नीति पर पड़ा यह कहना बहुत कठिन है। इतना अवश्य है कि लुई की धार्मिक नीति का उसके शासन की साधारण नीति से पूरा सामंजस्य था। अतः हम कह सकते हैं कि मेंतनों के न रहने पर भी संभवतः उसकी नीति में विशेष अन्तर न पड़ता।

लुई का चरित्र

पचपन वर्ष के दीर्घकालीन व्यक्तिगत शासन के बाद 1715 ई० में लुई की जीवन-लीला समाप्त हुई। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए लुई ने अपने पंचवर्षीय प्रपौत्र को, जो उसके पश्चात लुई पंचदश के नाम से फ्रांस की गद्दी पर बैठा, जो उपने दिये उनसे स्पष्ट है कि लुई को अपनी महत्वाकांक्षी नीति की विफलता और युद्धों के दुष्परिणाम का परिज्ञान हो गया था। उसने अपने प्रपौत्र से कहा—"मेरे पुत्र, ईश्वर के प्रति तुम अपने कर्तव्य को कभी न भूलना। अपने पड़ोसियों से युद्ध करने की मेरी नीति को न अपनाना। प्रजा के बोझ को जहाँ तक सम्भव हो कम करना। अभाग्यवश राज्य की आवश्यकताओं से मैं इस दिशा में कार्य न कर सका। सदैव बुद्धिमान, निःस्वार्थी और सुलझे हुए व्यक्तियों की सलाह मानना"। लुई के ये उपदेश उसकी नीति और कार्य की सुन्दर टिप्पणियाँ हैं। जिस परिस्थिति में उसने इन शब्दों को कहां, उसकी कल्पना करने से उसके प्रति कुछ समय के लिए हमारी सहानुभूति हो जाती है। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि लुई को अपनी नीति के दुष्परिणाम का ज्ञान इतने दीर्घकाल के बाद और जीवन के अंतिम समय में हुआ। अपनी नीति से उसने यूरोप में आतंक और भय का राज्य स्थापित कर दिया था। फ्रांस के गौरव और शक्ति की वृद्धि के लिए उसने कई बार यूरोप की शांति भंग की और फ्रांस के भी आर्थिक ढाँचे को कमजोर बना दिया। तत्कालीन राजनीति और संस्कृति का केन्द्र फ्रांस शायद अपने वैभव के प्रकाश में लुई के दोषों को कुछ समय के लिए भूल जाय, परन्तु यूरोप उसे कभी भी क्षमा नहीं कर सकता। महान व्यक्तियों के मृत्यु-काल के पश्चाताप से उनके प्रति सहानुभूति अवश्य हो जाती है, किन्तु वे उनके कुकृत्यों पर पर्दा डालने में असमर्थ होते हैं।

तेईस वर्ष की अवस्था में लुई के व्यक्तिगत शासन का प्रारम्भ हुआ। उसकी शक्ति असीमित थी। वास्तव में संपूर्ण राज्य ही उसके व्यक्तित्व में सन्निविष्ट था। लुई के परराष्ट्र सचिव ने ठीक ही कहा कि राजा स्वयंहर एकचीज देखता है, सुनता है, प्रत्येक निर्णय करता है औरहर एकआज्ञा देता है। वह स्वयं कभी नियुक्तियाँ करता था। उसके बड़े-से-बड़े पदाधिकारी भी क्लर्क की तरह थे और केवल नौकर के रूप में ही राज्य-कार्य में भाग ले सकते थे। राजपद के सम्बन्ध में वह दैवी सिद्धान्त में विश्वास रखता था वह अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझता था। उसकी आज्ञा का पालन प्रजा का कर्तव्य था। उसकी निरंकुश शक्ति का परिचय उसकी इस गर्वोक्ति से कि 'मैं ही राज्य हूँ' पर्याप्त रूप में मिलता है। लुई में वे सभी गुण विद्यमान थे जिनसे कोई बड़ा राजा हो सकता था। अधिक शिक्षित न होने पर भी वह युद्ध और शासन की कला में दक्ष था उसके व्यक्तित्व में बड़ा आकर्षण था। वह देखने में सुन्दर था और मिलनसार होने पर भी वह एक क्षण भी यह नहीं भूलता था कि वह राजा है। वह वीर, चालाक और एक कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने बड़े परिश्रम से राजतंत्र के पेशे में दक्षता प्राप्त की थी। वह कहता था कि शासन कार्य में बहुत ही परिश्रम की आवश्यकता होती है। वह प्रतिदिन छह घंटे काम करता था उसने अपनी सारी शक्ति राजोचित अभिनय करने और अपने राज्य को वैभवशाली बनाने में लगाया। जीवन-पर्यन्त उसने फ्रांस की प्रधानता स्थापित करने का प्रयत्न किया और वह स्वयं उस प्रधानता का प्रतीक था। उसने अपने पुत्र से कहा कि जव हम राज्य को दृष्टिगत रखकर काम करते हैं तब हम अपने लिए काम करते हैं। लुई की दृष्टि में फ्रांस का वैभव और उसके राजा की ख्याति अभिन्न थी।

लुई में मौलिकता का अभाव था। दृश्य वस्तुओं के अतिरिक्त वह कुछ देखने में असमर्थ था। परन्तु वह दूसरों के अनुभव और ज्ञान से लाभ उठाना जानता था। वह स्वयं परिश्रमी था और अपने कर्मचारियों से काम लेने की उसमें अत्यधिक क्षमता थी। उसके मंत्री निर्णय लेने के लिये नहीं, बल्कि एकमात्र सलाह देने और उसकी आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए थे। अतः शक्ति के केन्द्रीकरण से उनकी योग्यता की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित न हो सका।

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजतंत्र के वैभव में विश्वास रखने वाला लुई वर्साई में रहता था। वहाँ के सभी लोग और चीजें उसके गौरव और वैभव की वृद्धि के लिए जुटाई गई थीं। उसके अंगरक्षकों की संख्या 9000 थी। उसके इस्तेमाल के लिए 200 गाड़ियाँ और 1800 घोड़े थे। भोजन की मेजों पर परोसने इत्यादि का काम करने वाले अफसरों और नौकरों की संख्या 300 थी। रानी के घरेलू नौकरों की संख्या 500 थी। राज्य के उच्चतम वर्ग के लोग भी राजा की कुछ सेवा करने में गर्व और गौरव का अनुभव करते थे। जब वह प्रातः काल शय्या से उठता था तो उसके विशेष कृपापात्र उसका दर्शन करने और परिधान पहनाने में अपना सम्मान समझते थे।हर एककार्य के लिए विशेष पद्धतियाँ थीं। यद्यपि निःसन्देह इन बातों पर अत्यधिक धन व्यय होता था, परन्तु उस काल में सांस्कृतिक दृष्टि से फ्रांस यूरोप का सर्वश्रेष्ठ देश हो गया था। आज भी

वर्साई लुई-कालीन फ्रांस की सांस्कृतिक उन्नति और वैभव की याद दिलाता है। परन्तु पेरिस से दूर रहने से हानि यह हुई कि राजदरबार सर्वसाधारण के विचार और आवश्यकताओं की पूर्ण जानकारी न प्राप्त कर सका। अन्त में दरबार और जनता के बीच की दूरी इतनी बढ़ गयी कि उसको हटाने के लिए क्रांति की आवश्यकता पड़ी। अपने वैभव के प्रदर्शन के लिए लुई वर्साई में रहा, किन्तु तत्सम्बन्धी हानि को समझने में सर्वथा असमर्थ रहा।

अपनी गृह-नीति में लुई ने उन सभी संस्थाओं की, जिनका सरकार पर कुछ नियंत्रण या अधिकार था, शक्ति कम कर दी, या उन्हें नष्ट कर दिया। पार्लियामेंट की शक्ति बिल्कुल कम हो गई और 1665 ई० में उसकी उच्चतम न्यायालय की उपाधि भी जाती रही। उसके अधिकार केवल न्याय-वितरण तक सीमित कर दिये गये। स्टेटस-जनरल को बुलाने का कोई प्रश्न नहीं था। लुई की राज्य व्यवस्था में उसके लिए कोई स्थान नहीं था। उच्च वर्ग के राजनीतिक अधिकार नाममात्र के थे। वे दरबार की शोभा बढ़ाने में अपना सम्मान समझते थे और इस रूप में अन्य वर्गों में अपने को श्रेष्ठ समझकर सन्तोष प्राप्त करते थे। अपने मंत्रियों की नियुक्ति लुई ने योग्यता, कार्यपरायणता और परिश्रम को ध्यान में रखकर मध्यम वर्ग के लोगों में से की। धार्मिक क्षेत्र में भी वह असीमित अधिकार के पक्ष में था। ह्यूगेनो और जैन्सेनवादियों के विरुद्ध उसकी कार्रवाई धार्मिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से की गई थी। अतः स्पष्ट है कि लुई का शासन शुद्ध व्यक्तिगत था उसमें संस्थाओं के विकास के लिए तनिक भी स्थान नहीं था। ऐसे शासन की सफलता एक व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर थी, यह इसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी।

शासनकाल के प्रथम भाग में लुई अपनी परराष्ट्र नीति में काफी सफल रहा। रीशलू और मेजारिन की नीति का अनुसरण कर उसने फ्रांस की शक्ति और राज्य-विस्तार में वृद्धि की और यदि वह 1685 ई० के पहले, या रिसविक की सन्धि के बाद भी, मर गया होता तो उसकी ख्याति पूर्णतः बनी रहती। परन्तु स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध से फ्रांस की अत्याधिक आर्थिक क्षति हुई उसके कार्यों की आलोचना करते हुए फ्रेंच चर्च के श्रेष्ठ प्रतिनिधि फेनेलों (Fenelon) ने कहा—'लुई की नीति ने फ्रांस को निर्धन बना दिया है उसका राज्य सभी वर्गों के विनाश पर खड़ा है।' निस्संदेह लुई के युद्धों और वर्साई की शान-शौकत के लिए फ्रांस को इतना अधिक मूल्य चुकाना पड़ा कि उसका आर्थिक जीवन विश्रृंखलित हो गया। यदि वह अपनी महत्वाकांक्षाओं को सीमित रखता और प्रजा के धन का उचित ढंग से उपयोग किए होता तो वह फ्रांस को सुखी और समृद्ध बना सकता था और उसकी गणना संसार के रचनात्मक कार्य करने वाले शासकों में होती।

अध्याय 10

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य राज्य

इंगलैंड

स्टूअर्ट राजा और पार्लियामेंट—यद्यपि 16वीं शताब्दी में इंगलैंड और यूरोपीय देशों की ऐतिहासिक विचारधाराओं में प्रायः समानता दिखाई पड़ती है, परन्तु 17वीं शताब्दी में इस प्रवाह में स्पष्ट रूप से दिशा-परिलक्षित होता है जिसकी तुलना अन्य यूरोपीय देशों के इतिहास से नहीं की जा सकती। इसका यह अर्थ नहीं कि इस काल में इंगलैंड का इन देशों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसके विपरीत ब्रिटिश शासन पर फ्रेंच शासन का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था, स्टैफर्ड ने रीशलू की नीति अपनायी थी और चार्ल्स द्वितीय प्रायः 'फ्रेंच आदर्श' (French Model) का उल्लेख किया करता था। परन्तु इंगलैंड के शानदार विप्लव (1688) ने इस प्रकार की विचारधारा को पूर्णतः नष्ट कर दिया। पार्लियामेंट की यह विजय यूरोपीय इतिहास का गौरवपूर्ण पृष्ठ है और इसका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है जब जब हम यह देखते हैं कि इस काल में यूरोप में चारों ओर सुदृढ़ केन्द्रीय राजतन्त्र का ही बोल-बाला था।

जब जेम्स प्रथम इंगलैंड का राजा हुआ (1603-25 ई०) उस समय ट्यूडर शासन-प्रणाली के बदलने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। बाह्य और आन्तरिक खतरों को दूर करने के लिये ही देश ने ट्यूडर राजाओं के निरंकुश शासन को स्वीकार किया था, और अब, जब उनका भय नहीं रह गया था, पार्लियामेंट अपने अधिकारों की माँग प्रस्तुत करने लगी। इस विपरीत परिस्थिति में नीति-कुशल, संयत और विवेकशील शासक की आवश्यकता थी। परन्तु जेम्स प्रथम में इन गुणों का अभाव था और तत्कालीन यूरोपीय राजनीति से भी वह पूर्ण अवगत न था। पुस्तकीय ज्ञान में पारंगत जेम्स जीवन की प्रयोगीय अनुभूतियों से वंचित था। उसने अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए, 'राजा के दैवी अधिकारों' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उससे बुरी तरह चिपटा रहा। इसके विपरीत एलिजाबेथ के समय की सफलताओं के फलस्वरूप इंगलैंड के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में आत्म-विश्वास और जातीय गौरव की भावना उत्पन्न हो चुकी थी और पार्लियामेंट में नव-जीवन का संचार हो चुका था। यद्यपि अभी तक पार्लियामेंट के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या न हो पायी थी, परन्तु यह महत्व की बात थी कि इंगलैंड के जीवन से उसका घनिष्ठ सम्पर्क था और वह शताब्दियों से देश का अंग बन चुकी थी। यही उसकी शक्ति का रहस्य था और ट्यूडर राजाओं ने भी इसे नष्ट

करने की कल्पना तक न की थी। राजा की दुर्बलता तथा बाह्य भय के अभाव ने उसे जागृत कर दिया और शासन में हाथ बँटाने की माँग प्रस्तुत करने लगी। दूसरी ओर धर्म ने भी राजा और पार्लियामेंट के संघर्ष को तीव्र किया। कुछ लोग और विशेषतः प्यूरिटन तथा कैथलिक, आँग्ल-चर्च के संघटन में साधारण परिवर्तन या संशोधन चाहते थे, परन्तु व्यवहार और नीति-कुशलता के अभाव में जेम्स ने उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी और आँग्ल-चर्च के संगठन का जोरदार समर्थन किया।

जेम्स प्रथम का शासन-काल राजा और पार्लियामेंट के संघर्ष की तैयारी का समय है। एक ओर तो राजा अपने दैवी अधिकारों की रक्षा के लिए कृत-संकल्प था, दूसरी ओर पार्लियामेंट अपने को राजस्व स्वीकृत करने का एकमात्र अधिकारी समझती थी और साथ ही उसने राजा की शासन-नीति की आलोचना प्रारम्भ कर दी थी। जेम्स ने अपनी पार्लियामैंट को सँभालने और उसकी आलोचना का प्रत्युत्तर देने में घोर विवेक-शून्यता एवं मर्यादाहीनता का परिचय दिया। उसकी बाह्य नीति की असफलता ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश के गौरव को कम कर दिया था और इंगलैंड की स्थिति हास्यास्पद बन गयी थी। अतः यह स्थिति भी पार्लियामेंट द्वारा राजा के विरोध का कारण बन गयी।

जेम्स के पुत्र और उत्तराधिकारी चार्ल्स प्रथम के समय यह संघर्ष और तीव्र हो उठा वह भी अपने पिता की नीति का पोषक था। स्पेन और फ्रांस के विरुद्ध देश की पराजय उसकी श्रीहीनता का प्रमुख कारण बन गयी। राजा द्वारा बकिंघम का समर्थन भी पार्लियामेंट के विरोध का कारण बन गया उसने क्रोधावेश में अपनी दो पार्लियामेंटें बर्खास्त कर दी थीं। ला रोशेल के दुर्ग में घिरे फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंटों की सफल सहायता द्वारा वह अपना और देश का गौरव ऊंचा उठा सकता था। अतः उसने तीसरी पार्लियामेंट का अधिवेशन बुलाया राजा की आर्थिक दुर्बलता ही पार्लियामेंट की शक्ति और स्वतन्त्रता का प्रधान साधन थी फलतः चार्ल्स को पार्लियामेंट द्वारा प्रस्तुत 'अधिकार-पत्र' (Petition of Right) (1628 ई०) स्वीकार करना पड़ा। इसके द्वारा यह स्वीकृत हुआ कि पार्लियामेंट की स्वीकृति के बिना कर नहीं लगाया जा सकता, कारण और न्यायालय के निर्णय के बिना कोई व्यक्ति बन्दी नहीं किया जा सकता और नागरिकों की स्वीकृति के बिना उनके घरों में सैनिक या नाविक नहीं ठहराये जा सकते। यह 'अधिकार-पत्र' इंगलैंड के वैधानिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय है, परन्तु इससे राजा और पार्लियामेंट के झगड़ों का अन्त न हुआ। चार्ल्स ने शीघ्र ही पार्लियामेंट को भंग कर दिया। इसके पश्चात् चार्ल्स प्रथम ने ग्यारह वर्षों (1629-40 ई० तक पार्लियामेंट के बिना ही शासन किया। इस काल में अर्ल स्ट्रैफर्ड उसका सहायक और परामर्शदाता था।

जहाजी कर तथा ऐसे ही दूसरे करों द्वारा आवश्यक धन का संग्रह करके शासन का कार्य संचालित होता रहा। परन्तु इस धन से केवल शान्ति-कालीन आवश्यकतायें ही पूर्ण हो सकती थीं, असाधारण स्थिति के लिए यह साधन सर्वथा अपर्याप्त था।

गृह-युद्ध—चार्ल्स के राजनीतिक कार्यों से पार्लियामेंट में असन्तोष और क्षोभ तो था ही, उसकी धार्मिक नीति ने वातावरण को और भी क्षुब्ध कर दिया। धार्मिक विषयों में उसका परामर्शदाता लाड (Laud) था जो कैंटरबरी का आर्चबिशप था। लाड ने आँग्ल चर्च में कुछ पुराने उत्सव तथा सजावटें प्रारम्भ कीं जिन्हें प्यूरिटनों के कैथलिक-धर्म से सम्बन्धित बतलाया और उनका विरोध किया। साथ ही स्काटलैंड के चर्च में भी इंगलैंड की प्रार्थना-पुस्तक प्रचलित की गयी। बिशपों की नियुक्ति पहले से ही प्रारम्भ हो गयी थी फलतः स्काटलैंड के प्रेस्बिटीरियन लोगों ने विद्रोह कर दिया जिसे 'स्काटलैंड के बिशपों का युद्ध' कहते हैं। चार्ल्स का स्वेच्छाचारी शासन शान्तिकाल में तो चल सकता था, परन्तु युद्ध-संचालन के लिए जब धन की आवश्यकता पड़ी तो उसे पार्लियामेंट का अधिवेशन बुलाना ही पड़ा (1640 ई०) जो इतिहास में दीर्घ पार्लियामेंट के नाम से विख्यात है। इसने बड़ी मुस्तैदी के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया। इसने चार्ल्स के स्वेच्छाचारी शासन के लिए स्ट्रैफर्ड को दोषी ठहराया और उसे फाँसी की सजा दी गयी। राजा उसकी रक्षा करने में असमर्थ रहा। इसके बाद पार्लियामेंट ने राजा की राजनीतिक तथा धार्मिक नीति का विरोध प्रारम्भ किया। राजा ने विरोधी नेताओं को गिरफ्तार कर पार्लियामेंट को भयभीत करना चाहा, परन्तु उसका प्रयत्न निष्फल हुआ। पार्लियामेंट ने राजा को इस कार्य को युद्ध की घोषणा के रूप में स्वीकार किया और इंगलैंड में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

इस युद्ध में प्रथम दो वर्षों तक तो दोनों ही दल प्रायः समान शक्तिमान रहे। इसमें धन और जन की अधिक क्षति न हुई। बाहरी देशों का हस्तक्षेप भी कम रहा और बाहरी सेनाएँ तो इसमें बिलकुल भाग न ले सकीं। इसका प्रधान कारण यही था कि इन दिनों यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था और यूरोप के प्रायः सभी प्रमुख राज्य उसमें ही संलग्न थे। फलतः यह संघर्ष इंगलैंड, स्काटलैंड और आयरलैंड तक ही सीमित रहा दो वर्षों बाद दो कारणों से युद्ध में पार्लियामेंट की विजय प्रारम्भ हुई। एक तो पिम ने स्काटलैंड से सन्धि कर ली और स्काटी सेनायें राजा के विरुद्ध युद्ध में आ उतरीं। दूसरे, क्रामवेल ने एक नवीन सेना का संघटन किया जिसे नियत वेतन मिलता था और जिसकी नियमित शिक्षा और अनुकूल वर्दी की पूर्ण व्यवस्था की। साथ ही सेना में पर्याप्त धार्मिक उत्साह भी था। फलतः चार्ल्स मार्स्टन मूर (1644) और नेसबी (1645) के युद्धों में पराजित हुआ।

क्रामवेल की सेना का संघटन एक विशिष्ट आदर्श पर हुआ था और उसने पार्लियामेंट के अधीन रहकर कार्य करना अस्वीकार कर दिया था। इसने राजा से सन्धि की बातें भी प्रारंभ कीं, परन्तु अभिमानी चार्ल्स ने इन्कार कर दिया। इस बीच अंग्रेजी और स्काटी सेना में मतभेद भी हो गया और चार्ल्स ने इससे लाभ उठाकर स्काटी सेना को इंगलैंड पर आक्रमण करने के लिए तैयार कर लिया। राजा की सेनायें पुनः दो स्थानों पर पराजित हुई और क्रामवेल की सेना सीधे लंदन की ओर बढ़ी। उसने पार्लियामेंट को अपना आदेश मानने के लिए बाध्य किया और जो उसके विचारों के समर्थक न थे उन्हें पार्लियामेंट से अलग कर दिया गया। अनुकूल मत वाले एक छोटे-से दल ने, जिसे रम्प (Rump) कहा गया है, राजा के अभियोग पर विचार किया और अन्त में उसे फाँसी (जनवरी, 1649 ई०) की सजा दी।

कामनवेल्थ—चार्ल्स प्रथम की फाँसी के बाद इंगलैंड में कामनवेल्थ या प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। इंगलैंड में बहुमत इसके विरुद्ध था और आयरलैंड तथा स्काटलैंड तो घोर विरोधी थे। इस विपरीत परिस्थिति में सेना ने असीम धैर्य और साहस से काम लिया। संयोगवश सेना का नेता क्रामवेल असाधारण योग्यता का व्यक्ति था। वह कुशल सेनानी, सफल शासक और अनुभवी राजनीतिज्ञ सिद्ध हुआ। उसने देश में सभी प्रकार के विरोधों का दमन किया, आयरलैंड के विद्रोह के दमन में तो उसने भीषण नृशंसता का आश्रय लिया जिसे आयरलैण्ड के निवासी अधिक दिनों तक भूल न सके। स्काटलैंण्ड ने चार्ल्स प्रथम के पुत्र चार्ल्स द्वितीय को राजा स्वीकार कर लिया था और वहाँ के सभी वर्गों के लोग अंग्रेजी सेना के कारनामों से घोर असन्तुष्ट थे। स्काटी सेना को क्रामवेल ने डनबर और वूस्टर के दो युद्धों में पराजित किया। इस प्रकार क्रामवेल ने अपनी सेना के बल पर सभी प्रकार के विरोधों या विद्रोहों का अन्त कर नवीन प्रजातन्त्र को पूर्ण सफल बनाया।

इंगलैंड के भावी शासन की रूपरेखा क्या हो, इस पर अनेक प्रकार से विभिन्न दलों के लोग विचार कर रहे थे। परन्तु सेना का प्रभाव सर्वोपरि था। क्रामवेल ने रम्प पार्लियामेंट को भंग (1653) कर दिया, क्योंकि वह देश का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ थी सेना ने शासन की एक नवीन योजना प्रस्तुत की जिसे 'शासन का विधान' (Instrument of Government) कहा गया है। इसके अनुसार पार्लियामेंट में एक मात्र कामन्स की सभा (House of Commons) की व्यवस्था थी। शासन का प्रधान लार्ड प्रोटेक्टर या प्रमुख संरक्षक था जिसकी सहायता के लिए एक राज्य-परिषद (Council of State) की स्थापना की गयी। क्रामवेल आजीवन प्रमुख संरक्षक के पद पर नियुक्त

किया गया। सेना की इस व्यवस्था की दुर्बलता स्पष्ट थी। उसकी शक्ति और सफलता का एकमात्र आधार क्रामवेल था जो निःसन्देह एक महान् व्यक्ति था। उसने अपने शासन-काल में शान्ति और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की और अपनी सफल और सबल बाह्य नीति से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इंगलैण्ड के गौरव और सम्मान की वृद्धि की। फ्रांस, स्पेन या यूरोप के अन्य राज्य उसकी मित्रता के इच्छुक बन गये थे। परन्तु उसके शासन में जन-प्रियता के तत्व का अभाव था। उसने सैन्य-बल पर शक्ति अर्जित की थी और उसी के बल पर उसकी रक्षा कर रहा था। इंगलैंड का जन-समुदाय प्रजातंत्र और प्यूरिटनों के शासन का विरोधी था। देश में राजतंत्र का सम्मान था और बहुमत राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था की स्थापना के पक्ष में था। फलतः क्रामवेल की मृत्यु (1658) के साथ ही उसकी समस्त व्यवस्था धराशायी होने लगी। उसके पुत्र रिचर्ड क्रामवेल में इस व्यवस्था के संचालन की योग्यता का अभाव था और शीघ्र ही उसने प्रधान संरक्षक के पद से इस्तीफा दे दिया। रम्प पार्लियामेंट ने इस अशान्त वातावरण में सत्तारूढ़ होने का अनुकूल अवसर देखा। इसी समय मंक (Monk) नामक सेनापति ने देश के भाग्य का निर्णय कर दिया। वह स्काटलैण्ड से इंगलैंड आया और यहाँ पर उसने घोषणा की कि स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित पार्लियामेंट ही देश के शासन-विधान का निर्णय करेगी। अतः इस नवीन पार्लियामेंट ने निश्चित किया कि देश का शासन राजा, लार्डस और कामन्स के द्वारा होगा। इसके आधार पर इंगलैंड में राजतन्त्र की पुनःस्थापना हुई (1660) और चार्ल्स द्वितीय को अपने पिता का रिक्त सिंहासन सुशोभित करने के लिये निमन्त्रित किया गया।

राजतन्त्र की पुनर्स्थापना—राजतन्त्र की पुनर्स्थापना से इंगलैंड में प्रसन्नता छा गयी। चार्ल्स द्वितीय चाहता था कि राजनीतिक और धार्मिक विषयों में इंगलैंड की शासन-पद्धति फ्रांस के 'आदर्श' पर स्थापित हो, परन्तु देश इसे स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत न था। राजतन्त्र की पुनर्स्थापना का कारण राजतन्त्र के प्रति प्रेम न था, अपितु सैनिक और प्यूरिटन शासन से ऊबकर ही देश ने ऐसा किया था। इसके द्वारा राजतन्त्र और पार्लियामेंट दोनों की पुनर्स्थापना की गयी थी। अतः शक्ति के लिये राजा और पार्लियामेंट दोनों का संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया। यद्यपि चार्ल्स द्वितीय पुनः अपनी यात्रा पर जाने के लिये प्रस्तुत न था, परन्तु राजनीतिक एवं धार्मिक विषयों में पार्लियामेंट से उसका मेल न था। पार्लियामेंट आंग्ल चर्च की प्रबल समर्थक और किसी भी प्रकार के धार्मिक विरोध के प्रति असहनशील थी। इसके विपरीत चार्ल्स का झुकाव रोमन कैथलिक धर्म की ओर था और वह धार्मिक सहिष्णुता की नीति स्वीकार करने के पक्ष

में था। बाह्य नीति में पार्लियामेंट द्वारा राजा का समर्थन उसकी सफलता पर निर्भर था। यदि इसके द्वारा देश के गौरव का उत्थान होता तो राजा को देश का समर्थन भी अवश्य प्राप्त होता। परन्तु व्यापार और उपनिवेशों के लिये होने वाले युद्ध में हालैंड ने इंगलैंड को बुरी तरह नीचा दिखाया और उसके जलपोतों ने टेम्स नदी में आकर कई सप्ताह तक लंदन शहर को घेर दिया, प्लेग और लन्दन की आग से तो लोगों के धैर्य का बाँध ही टूट गया। फलतः राजा को पार्लियामेंट का आर्थिक नियंत्रण स्वीकार करना पड़ा और उसे अपने मन्त्री क्लैरेण्डन की भी बलि देनी पड़ी।

जब फ्रांस के राजा लुई चतुर्दश ने हालैंड पर आक्रमण किया (1668) तो चार्ल्स ने हालैंड और स्वीडेन के साथ त्रिगुट बनाकर उसे रोकने की सफल चेष्टा की। देश ने उसकी इस नीति का स्वागत किया, परन्तु स्वयं उसे निराशा हुई कि पार्लियामेंट ने उसके ऊपर अपना नियन्त्रण शिथिल न होने दिया और न तो उसे सहिष्णु धार्मिक नीति स्वीकार करने की ही सुविधा प्राप्त हो सकी। अतः उसने फ्रांस की सहायता से इस नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वच्छन्द रूप से देश पर शासन करने तथा रोमन कैथलिक होने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से उसने फ्रांस के साथ डोवर की गुप्त सन्धि (1670) की जिसके द्वारा उसने हालैंड के द्वितीय आक्रमण में फ्रांस की सहायता करने का आश्वासन दिया और उसके बदले लुई ने उसे धन-जन की सहायता का वादा किया, जिसके द्वारा चार्ल्स अपने को पार्लियामेंट के नियंत्रण से मुक्त कर सके और देश में कैथलिक धर्म को आवश्यक सुविधायें प्रदान कर सके। चार्ल्स का यह कार्य देश-द्रोह का सूचक था और साथ ही खतरनाक भी था। वास्तव में उसके शासन तथा स्टूअर्ट राजवंश की भावी कठिनाइयों का यहीं से सूत्रपात होता है। यद्यपि इस सन्धि की शर्तों को सर्वथा गुप्त रखने की चेष्टा की गयी थी, परन्तु अन्त में इसका रहस्योद्घाटन होकर ही रहा। फलतः पार्लियामेंट और प्रोटेस्टेंटों ने राजा का उग्र विरोध प्रारम्भ किया और अन्त में बाध्य होकर उसे हालैंड से सन्धि करनी पड़ी (1674)।

चार्ल्स के कोई पुत्र न था और उसके छोटे भाई जेम्स के उत्तराधिकार की प्रबल सम्भावना थी परन्तु जेम्स रोमन कैथलिक था और वह नियमतः इंगलैंड के सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं हो सकता था। अतः राजा के विरोधियों ने, जो ह्विग (Whigs) के नाम से विख्यात थे, पार्लियामेंट में 'निष्कासन बिल' (Exchlusion Bill) प्रस्तुत किया जो जेम्स को उत्तराधिकार से वंचित करने का प्रयत्न था। यदि वह बिल स्वीकृत हो जाता तो निःसन्देह यह पार्लियामेंट की बहुत बड़ी विजय होती और राजतन्त्र पर उसका पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया होता। इसके पश्चात् 1688 ई० के

शानदार विप्लव की भी आवश्यकता न होती और राजा के दैवी अधिकारों का भी अन्त हो गया होता। इस समय चार्ल्स द्वितीय ने असीम दृढ़ता और साहस से काम लिया। पार्लियामेंट ने बार-बार इस बिल को स्वीकृत करने की कोशिश की और चार्ल्स ने बार-बार उसे भंग किया। ह्विग दल ने राजा को अधिकाधिक बदनाम करने की कोशिश की और उसकी यही कोशिश उसकी दुर्बलता का कारण बन गयी, क्योंकि राजा को बदनाम करने के प्रयत्न में ह्विग दल ने जिन सत्य और असत्य साधनों का प्रयोग किया उनके कारण वह स्वयं बदनाम हो गया। साथ ही इस दल ने उत्तराधिकार के लिये मन्मथ के ड्यूक का समर्थन किया जो चार्ल्स द्वितीय का क्षेत्रज पुत्र था और था चरित्रहीन एवं प्रतिभाहीन। इस संघर्ष में राजा का सबसे बड़ा दौर्बल्य धन का अभाव था। इस आवश्यकता की पूर्ति पर ही राजा की विजय या पराजय आश्रित थी। चार्ल्स ने पुनः लुई चतुर्दश की ओर दृष्टिपात किया जो उसकी सहायता के लिए तैयार बैठा था। अब चार्ल्स द्वितीय को पार्लियामेंट की आवश्यकता न रह गयी और उसने अपने शासन के अन्तिम चार वर्ष (1681-85 ई०) में उसका एक भी अधिवेशन नहीं बुलाया। यह राजा की बड़ी विजय थी। उधर दूसरी ओर षडयन्त्रों का भण्डाफोड़ होने पर ह्विग दल भी बहुत अपमानित हुआ, उनका नेता शैफ्टबरी तो भागकर हालैंड चला गया। जेम्स का उत्तराधिकार न रोका जा सका। राजा की इस विजय का प्रभाव देश की बाह्य नीति पर विशेष रूप से पड़ा, क्योंकि फ्रांस का राजा लुई चतुर्दश इंगलैंड की ओर से निश्चिन्त होकर जर्मनी में अपने राज्य-विस्तार की नीति को सफल बना सका।

शानदार विप्लव—जब जेम्स द्वितीय इंगलैंड के सिंहासन पर बैठा (1685) उस समय परिस्थिति सर्वथा उसके अनुकूल थी। उसके विरोधी ह्विग लोग बदनाम थे और पार्लियामेंट उसकी इच्छा पर चलने वाली थी। यदि इस समय जेम्स ने विवेक से काम लिया होता और राजनीति को धर्म से अलग रखा होता तो सुदृढ़ शासन की स्थापना में उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई होती। परन्तु वह अपने धर्म के लिए सभी खतरा मोल लेने के लिये प्रस्तुत था। वह कैथलिकों तथा विरोधी प्रोटेस्टेंटों के लिये सहिष्णुता की नीति का प्रबल पोषक था और इसे कार्यान्वित करना चाहता था। यद्यपि पार्लियामेंट उसके अनुकूल थी, परन्तु धार्मिक सहिष्णुता के विषय में वह राजा का साथ देने के लिए कदापि प्रस्तुत न थी। राजा की नीति न्यायपूर्ण थी और इंगलैंड के कैथलिकों से देशद्रोह की आशंका भी नहीं रह गयी थी। परन्तु एक ओर तो इंगलैंड के प्रोटेस्टेंटों का यह ख्याल था कि कैथलिक धर्म राज्य में समानता का अधिकार पाकर ही सन्तुष्ट न होगा और दूसरी ओर उस काल में कैथलिक धर्म और स्वेच्छाचारी शासन दोनों ही समानार्थी शब्द बन गये थे। पार्लियामेंट के द्वारा राजा की सहिष्णु धार्मिक नीति के उग्र विरोध का

यही प्रधान कारण था। फलतः राजा ने पार्लियामेंट को भंग कर दिया। इसी समय सात बिशपों ने एक अवैधानिक अध्यादेश के विरुद्ध राजा के पास आवेदन-पत्र दिया जिस पर उनके विरुद्ध देश-द्रोह का आरोप लगाया गया। इस आरोप का इतना उग्र विरोध हुआ कि अन्त में वे मुक्त कर दिये गये और जनता में अपनी इस विजय पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। ठीक उसी समय जेम्स के एक पुत्र हुआ। अब तक पुत्र के अभाव में राज-सिंहासन पर जेम्स की उपस्थिति सह्य थी, परन्तु इस सन्तान की उत्पत्ति से लोगों का विश्वास दृढ़ हो गया कि देश की राजनीतिक तथा धार्मिक नीति में परिवर्तन सम्भव नहीं है, क्योंकि पिता के धर्म में पालित पुत्र पिता की नीति का ही अनुसरण करेगा।

अब पार्लियामेंट ने सक्रिय नीति अपनायी। उसने आरेंज के विलियम को, जो जेम्स द्वितीय का दामाद था और जो समस्त यूरोप में प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रबल समर्थक तथा फ्रांस के घोर शत्रु के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था, इंगलैंड का राजा होने के लिये आमंत्रित किया उसका दृढ़ विश्वास था कि विलियम देश में पार्लियामेंट के अधिकारों और प्रोटेस्टेंट धर्म की रक्षा में समर्थ हो सकेगा। दूरदर्शी विलियम ने भी समझ लिया कि इस निमन्त्रण को स्वीकार कर वह एक ओर तो हालैंड, इंगलैंड और प्रोटेस्टेंट धर्म की रक्षा कर सकेगा और दूसरी ओर इंगलैंड के साधनों के प्रयोग द्वारा वह लुई चतुर्दश की महत्वाकांक्षा को नियन्त्रित कर सकेगा। फलतः उसने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और लुई की अदूरदर्शिता से लाभ उठाकर नवम्बर सन् 1688 ई० में इंगलैंड आ धमका जेम्स द्वितीय भयभीत होकर फ्रांस भाग निकला। राजकुमार विलियम विलयम तृतीय के नाम से इंगलैंड का राजा स्वीकृत हो गया और बिना रक्तपात के ही यह विप्लव सफल हो गया। इस क्रांन्ति ने यह सिद्ध कर दिया कि सिंहासन पर राजा का वंशानुगत और दैवी अधिकार नहीं है, बल्कि उसका उत्तराधिकार जनता और पार्लियामेंट की स्वीकृति पर आधारित है।

क्रान्ति की सफलता के पश्चात पार्लियामेंट ने 'अधिकार बिल' (1689) द्वारा राजा के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त किया। इसके द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा की गयी। पार्लियामेंट की स्वीकृति के बिना राजा को कर लगाने का अधिकार नहीं रहा। साथ ही बिना इसकी स्वीकृति के वह स्थायी सेना भी नहीं रख सकता था। कानूनों को रद्द या स्थगित करने के राजा के अधिकार का अन्त कर दिया और उसे भी कानून के अधीन स्वीकार किया गया। रोमन कैथलिकों को राज्याधिकार से वंचित कर दिया गया। राजा के समस्त अधिकार पार्लियामेंट के हाथ में आ गये और राजा पर उसकी प्रधानता स्वीकृत हो गयी।

विलियम तृतीय के शासन के अन्त में जब यह निश्चित हो गया कि उसके तथा उसकी साली राजकुमारी एन के कोई सन्तान न होगी, पार्लियामेंट ने उत्तराधिकार का नियम स्वीकृत किया। इसके द्वारा यह निश्चित हुआ कि जेम्स द्वितीय के वंशज या अन्य रोमन कैथलिक राज्य के अधिकारी न होंगे। इंगलैंड के सिंहासन पर अधिकार हनोवर की निर्वाचिका (Electress) सोफिया को दिया गया जो प्रोटेस्टेंट और जेम्स की प्रथम नतिनी थी। इस प्रकार दूसरी बार पार्लियामेंट ने उत्तराधिकार पर अपने अधिकारों की मान्यता प्रदान की।

विलियम तृतीय के समय में ह्विगों की प्रधानता थी, परन्तु रानी एन के समय में टोरियों ने अपना खोया अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया। रानी की भी उन पर सहानुभूति की दृष्टि थी। दूसरी ओर स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध चल रहा था जिसमें धन-जन की क्षति से राज्य में असन्तोष था। साथ ही मार्लबरा की डचेस के साथ रानी का सम्बन्ध भी अच्छा न था। इन सब कारणों ने देश की दलगत स्थिति में परिवर्तन किया और टोरी दल की प्रधानता स्थापित हुई। टोरियों ने जेम्स द्वितीय के पुत्र के पक्ष में उत्तराधिकार के नियम को प्रायः रद्द कर दिया था परन्तु दो कारणों से इस नियम की रक्षा हुई। एक तो टोरी नेता स्वयं आपस में लड़-झगड़ रहे थे और दूसरी ओर सहसा रानी एन की मृत्यु हो गयी। अब हनोवर के उत्तराधिकार को रोकने का एक ही मार्ग रह गया था और वह मार्ग युद्ध का था जिसके लिए टोरी नेता बालिंगब्रोक तैयार न था। फलतः सन् 1714 ई० में सोफिया का पुत्र जार्ज प्रथम के नाम से इंगलैंड के सिंहासन पर आसीन हुआ और हनोवर के राजवंश की प्रतिष्ठा हो गयी।

स्वीडेन

गस्टवस एडाल्फस—सत्रहवीं शताब्दी स्वीडेन के चरम उत्कर्ष का काल है। गस्टबस एडाल्फस के शासन (1611-32 ई०) में स्वीडेन की गणना यूरोप के प्रमुख राज्यों में होने लगी उसने बाल्टिक सागर को स्वीडिश-झील के रूप में परिवर्तित करने की नीति निर्धारित की थी और उसमें पूरी सफलता प्राप्त हुई। उसने सर्वप्रथम डेनमार्क से बाल्टिक के मुहाने पर स्वतन्त्र रूप से अपने जहाजों के आने-जाने की सुविधा प्राप्त की। बाल्टिक के पश्चिमी और उत्तरी तट पर स्थित स्वीडेन और फिनलैंड तो उसके अधीन थे ही, उसने पोलैंड और रूस से बाल्टिक के पूर्वी किनारे पर स्थित करीलिया, इंग्रिया, इस्टोनिया और लिवोनिया के प्रान्त प्राप्त किये। हम ऊपर देख चुके हैं कि वेस्टफैलिया की संधि में स्वीडेन को पश्चिमी पोमेरेनिया तथा एल्ब, ओडर एवं वेसर नदियों के मुहाने प्राप्त हुए। यद्यपि इस समय तक वह जीवित न था, परन्तु उसी की

विजयों के फलस्वरूप यूरोप में प्रोटेस्टेंट धर्म का नेतृत्व स्वीडेन के हाथों में आया और यूरोप के प्रमुख राज्यों में उसकी गणना होने लगी।

क्रिस्टिना—गस्टवस एडाल्फस की उत्तराधिकारिणी उसकी चार वर्ष की पुत्री क्रिस्टिना (Christina, 1632-54 ई०) थी। उसके समय में डेनमार्क ने स्वीडेन से युद्ध छेड़ दिया, परन्तु स्वीडेन की सेनाओं ने उसे पराजित किया और सन्धि समय स्वीडेन ने अपने अनुकूल शर्तें मानने के लिए डेनमार्क को बाध्य किया। वेस्टफैलिया की सन्धि में भी क्रिस्टिना का हाथ था और जैसा हम पहले देख चुके हैं, जर्मनी में स्वीडेन को महत्वपूर्ण भूभाग तो प्राप्त हुए ही, अब बाल्टिक समुद्र के दक्षिणी तट का अधिकांश भाग भी उसके हाथ में आ गया और स्वीडेन बाल्टिक के व्यापार का एकाधिकारी बन गया।

चार्ल्स दशम—क्रिस्टिना ने राज-पद से इस्तीफा दे दिया (1654) और उसके स्थान पर चार्ल्स दशम स्वीडेन का राजा हुआ। चार्ल्स दशम (1654-60 ई०) ने एक ओर तो शिक्षा, व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर ध्यान दिया और दूसरी ओर उसने यह भी सोचा कि सफल युद्धों में ही स्वीडेन का हित है, क्योंकि इससे सेना के वेतन की व्यवस्था और राज्य-विस्तार दोनों सम्भव हैं। इसके समय में स्वीडेन और पोलैंड का युद्ध प्रायः पाँच वर्षों (1655-60 ई०) तक चलता रहा। इस युद्ध का प्रधान कारण यही था कि पोलैंड ने चार्ल्स के उत्तराधिकार को अस्वीकार कर स्वीडेन पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया चार्ल्स दशम ने एक सफल विजेता की भाँति दो बार पोलैंड को रौंद डाला। उधर स्वीडेन को पोलैंड, रूस और आस्ट्रिया आदि से युद्ध में संलग्न देखकर डेनमार्क ने भी स्वीडेन के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। चार्ल्स ने अप्रत्याशित रूप से जाड़े के दिनों में डेनमार्क पर आक्रमण कर उसे भी बुरी तरह से हराया जिससे बाध्य होकर डेनमार्क को स्वीडेन का वह दक्षिणी भाग भी छोड़ना पड़ा जो अभी तक उसके अधीन था। चार्ल्स ने डेनमार्क की स्वतन्त्रता का अन्त करने के विचार से दूसरी बार उस पर आक्रमण किया, परन्तु इस बार इंगलैंड और हालैंड ने हस्तक्षेप कर डेनमार्क की रक्षा की फरवरी, सन् 1660 ई० में चार्ल्स की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात् ही पोलैंड के साथ ओलिवा (Oliva) की सन्धि (1660) हुई जिसके द्वारा पोलैंड ने स्वीडेन के सिंहासन पर अपना दावा छोड़ दिया, लिवोनिया पर स्वीडेन का अधिकार स्वीकृत हो गया और पश्चिमी प्रशा पोलैंड के अधीन रहने दिया गया। महान् निर्वाचक (Great Elector) और सम्राट भी इस सन्धि में सम्मिलित थे। डेनमार्क और रूस से भी अलग-अलग सन्धियाँ की गयीं। इस प्रकार "सत्रहवीं शताब्दी में प्रथम बार स्वीडेन की दुनिया के साथ मैत्री थी।" चार्ल्स दशम के शासन-काल में स्वीडेन उत्तरी यूरोप का

प्रधान राज्य बन गया। बाल्टिक सागर के दक्षिणी और पूर्वी तट पर अधिकार के कारण स्वीडेन साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण सदस्य बन गया था और उसने रूस के विकास को अवरुद्ध कर दिया था। परन्तु इन विजयों के बावजूद स्वीडेन की समस्याओं का अन्त न था। एक ओर तो डेनमार्क बराबर अपनी घात में था, दूसरी ओर ब्रैडेनबर्ग पोमेरेनिया को लेना चाहता था और रूस बाल्टिक के पूर्वी तट पर अपने लिये मार्ग की तलाश में था। इसके अतिरिक्त अनेक युद्धों के कारण देश की आर्थिक स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी।

चार्ल्स एकादश (1660-97 ई०)—चार्ल्स एकादश के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में उसकी बाल्यावस्था के कारण एक रीजेंसी परिषद् की स्थापना हुई थी जिसमें सरदारों ने अपने हितों की ओर विशेष ध्यान दिया। इसी समय फ्रांस के विरुद्ध स्वीडेन, हालैंड और इंगलैंड का त्रिगुट (1668) तैयार हुआ था। परन्तु लुई चतुर्दश ने शीघ्र ही इस त्रिगुट का अन्त करके स्वीडेन को अपनी ओर मिला लिया (1672) जिसके अनुसार स्वीडेन द्वारा 16000 सैनिकों की सहायता के बदले फ्रांस ने उसे एक निश्चित धनराशि प्रतिवर्ष देना स्वीकार किया। ब्रैडेनबर्ग के महाननिर्वाचक ने युद्ध (1675-79 ई०) में स्वीडेन की सेनाओं को हराकर उसके सैनिक गौरव को जबरदस्त धक्का पहुँचाया और स्टेटिन तथा स्ट्रालजुंड पर अधिकार भी कर लिया, परन्तु अन्त में लुई चतुर्दश के हस्तक्षेप के कारण उसे वे नगर लौटाने पड़े। इस प्रकार यद्यपि फ्रांस के हस्तक्षेप के कारण स्वीडेन की अधिक क्षति न होने पायी, परन्तु युद्ध के विफल संचालन के कारण सरदार-वर्ग के लोग बहुत बदनाम हो गये। सरदारों का प्रभाव कम करने तथा निरंकुश शासन स्थापित करने में पादरियों, साहूकारों तथा किसानों ने विशेष योग दिया। उन्होंने 1680 ई० में रीजेंसी के कार्यों की जाँच के लिये एक कमीशन नियुक्त किया जिसने सरदारों को उनके द्वारा अधिकृत राजभूमि छोड़ने के लिए बाध्य किया और राजा के निरंकुश अधिकारों के साथ इस बात की भी घोषणा की कि वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। राजा को विचार, कर और शासन का पूरा अधिकार प्राप्त हुआ। चार्ल्स एकादश ने 1686 ई० में प्रथम बार चर्च पर राज्य का पूर्ण अधिकार स्थापित किया।

चार्ल्स एकादश ने अपने परिवार की परम्परागत युद्ध-नीति का परित्याग कर शान्ति की नीति अपनायी जो देश के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हुई। उसने फ्रांस को यूरोप की शांति भंग करने वाला समझकर उसका साथ छोड़ दिया और लुई चतुर्दश के विरुद्ध स्थापित 'महान संघ' में भी कम ही भाग लिया। अपनी मध्यस्थता से उसने रिसविक की सन्धि (1697) में भी पर्याप्त योग दिया। वस्तुतः वह परिश्रमी, अध्यवसायी, ईमानदार और कुशल शासक था और उसने अनेक उद्योगों को और

विशेषतः वस्त्र, लोहा और जहाज-निर्माण के उद्योगों को, विशेष प्रोत्साहन दिया और जल तथा स्थल दोनों ही सेनाओं को पूर्णतः संगठित किया। उसने सरदारों को अपने सांधन के अनुकूल सैनिक प्रस्तुत करने के लिए बाध्य किया और राजभूमि में से सैनिकों को भूमि प्रदान की उसने अर्थ-विभाग का भी संगठन किया। स्वयं वह सीधे-सादे ढंग से रहता था और राजकोष का व्यय केवल जनहित के कार्यों में ही करता था।

चार्ल्स द्वादश (1697-1718 ई०)—गद्दी पर बैठते समय चार्ल्स द्वादश की अवस्था केवल 15 वर्ष की थी। उसके पिता चार्ल्स एकादश ने उसकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की थी और वह कुशल गणितज्ञ एवं अनेक भाषाओं का जानकार था। शासन का उसे पर्याप्त अनुभव था। वह उच्चतम कोटि का सैनिक था और उसमें उसके पूर्वजों का शौर्य साकार हो उठा था। युद्ध की भीषणता में उसे विशेष आनन्द क़ी अनुभूति होती थी। अपने असीम साहस, धैर्य और कुशल नेतृत्व के कारण वह अपनी सबल सेना का श्रद्धाभाजन था। परन्तु सफल व्यूह-रचना एवं परिस्थिति के अनुकूल आचरण करने के गुणों का उसमें अभाव था। अपने युद्धावेश के कारण वह 'उत्तर का पागल आदमी' के नाम से विख्यात था।

उसकी बाल्यावस्था के कारण पड़ोसी राज्यों ने समझा कि स्वीडेन से अपने खोये हुए भू-भागों के वासप लेने का अनुकूल अवसर आ गया है। डेनमार्क की दृष्टि होल्सटाइन की डची पर थी जिसका स्वीडेन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। रूस का जार पीटर वाल्टिक की दिशा में अपने देश का मार्ग उन्मुक्त करने के लिये पूर्वी तट के प्रान्तों को, जिन्हें स्वीडेन ने रूस से बलपूर्वक छीन लिया था अधिकृत करने के लिये कृत संकल्प था। पोलैंड की दृष्टि लिवोनिया के प्रान्त पर थी। फलतः 1699 ई० में स्वीडेन के विरुद्ध डेनमार्क, पोलैंड तथा रूस का संघ बनकर तैयार हो गया जिसने 'महान उत्तरीय युद्ध' का प्रारम्भ किया चार्ल्स द्वादश ने शत्रुओं की सैनिक एकता का अवसर न आने दिया। वह तुरन्त डेनमार्क पर टूट पड़ा और उसे संघ छोड़ने और हरजाने के साथ सन्धि करने के लिये बाध्यं किया (1700)। इसके पश्चात वह विद्युतगति से पोलैंड और रूस की ओर मुड़ा। पीटर अपनी सेना के साथ पोलैंड की सहायता के लिये आ रहा था कि चार्ल्स ने नार्वा के मैदान में उसे आ घेरा और बुरी तरह पराजित किया (1700)। अब बाल्टिक तट की पंक्ति तो सुरक्षित हो गयी, परन्तु पराजित पीटर का पीछा करने की अपेक्षा वह अपने प्रधान शत्रु पोलैंड के राजा आगस्टस द्वितीय की ओर बढ़ा। उसका यह विचार, कि रूसी तो किसी समय पराजित किये जा सकते हैं, अन्त में ठीक न सिद्ध हुआ। जिस समय वह पोलैंड को पददलित करने का प्रयत्न कर रहा था, पीटर ने अपनी सामरिक भूलों का परिमार्जन क़रके स्वीडिश सेना के आदर्श पर ही अपनी सेना का

संगठन किया और बाल्टिक तट के अनेक नगरों को अपने अधिकार में कर लिया। इसी समय उसने सेंट पीटर्सबर्ग नगर की नींव डाली।

आगस्टस द्वितीय को दण्ड देने के विचार से ही चार्ल्स द्वादश ने स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध में भाग नहीं लिया। उसने 1701 ई० में पोलैंड पर आक्रमण किया तथा शीघ्र ही वारसा तथा अन्य अनेक नगरों पर अधिकार किया। वारसा में चार्ल्स ने अपने प्रभाव से आगस्टस द्वितीय को पदच्युत कराकर स्टैनिसलास को पोलैंड का राजा बनवाया। आगस्टस अनेक युद्धों में पराजित होने के पश्चात अपने देश सैक्सोनी भाग गया। परन्तु चार्ल्स ने वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा और पुनः पराजित आगस्टस को रूस का साथ छोड़ने तथा स्टैनिसलास को पोलैंड का राजा स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा (1706)।

चार्ल्स द्वादश अपनी शक्ति के शिखर पर था और स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध में एक ओर फ्रांस और स्पने तथा दूसरी ओर 'मित्र-राष्ट्र' उसकी मैत्री के इच्छुक थे। परन्तु उसकी सैनिक आवश्यकतायें बाल्टिक तट की दिशा में उसका आवाहन कर रही थी। चार्ल्स के पोलैंड और सैक्सोनी में व्यस्त रहने के कारण बाल्टिक-तट पर पीटर ने अपनी स्थिति पूर्णतः दृढ़ कर ली थी। अतः वह उत्तर की ओर मुड़ा। पीटर ने सन्धि की बातें प्रारम्भ की, परन्तु वह सेंट पीटर्सबर्ग तथा नीवा के मुहाने को छोड़ने के लिये प्रस्तुत न था। फलतः युद्ध अनिवार्य हो गया। जून, 1709 में पोल्टवा के युद्ध-क्षेत्र में शत्रु-सेनाओं की मुठभेड़ हुई जिसमें बहुसंख्यक रूसी सेना ने चार्ल्स को पूर्ण पराजय दी। वह तो भागकर टर्की चला गया, परन्तु उसकी पराजय ने उत्तरी यूरोप में स्वीडेन के आधिपत्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। रूस का गौरव बढ़ गया और स्टैनिसलास पोलैंड छोड़कर भाग गया।

चार्ल्स की पराजय ने उसके शत्रुओं को एक बार पुनः संगठन का अवसर दिया इस नवीन संघ (1709) में डेनमार्क, पोलैंड और रूस के अतिरिक्त रक्षात्मक कार्यों के लिये प्रशा का राजा फ्रेडेरिक प्रथम भी सम्मिलित था। स्वीडिश सेना ने डेनमार्क को पुनः पराजित किया, परन्तु पीटर ने लिवोनिया के प्रान्त को अधिकृत कर लिया। उधर चार्ल्स द्वादश रूस से युद्ध छेड़ने के लिये टर्की को प्रस्तुत कर रहा था। इस युद्ध में पीटर की पराजय हुई और उसने आजोफ का बन्दरगाह वापस कर तुर्कों से सन्धि कर ली। चार्ल्स द्वादश को इससे घोर निराशा हुई और पाँच वर्ष टर्की में रहने के पश्चात् (1714) वह अपने दो साथियों के साथ स्ट्रालजुंड (Stralsund) नगर में पहुँचा। स्वीडेन और फिनलैंड के अतिरिक्त एकमात्र यह नगर ही स्वीडेन के अधिकार में रह गया था। इस

बीच हनोवर और इंगलैंड भी स्वीडेन के विरुद्ध संघ में सम्मिलित हो गये थे। इस संघ ने इंगलैंड, डेनमार्क तथा रूस की जलसेना की सहायता से स्वीडेन में ही चार्ल्स पर आक्रमण की योजना तैयार की, परन्तु आवश्यक एकता के अभाव से इसमें सफलता न मिल सकी अतः पीटर ने फ्रांस की सहायता से स्वीडेन के लिये बहुत अनुकूल शर्तों पर सन्धि की वार्ता प्रारम्भ की, परन्तु चार्ल्स द्वादश सर्वस्व की रक्षा या नाश के अतिरिक्त और दूसरी बात मानने के लिये कदापि प्रस्तुत न था। इस वार्ता से लाभ उठाकर उसने नार्वे पर आक्रमण कर दिया और एक दुर्ग के घेरे का संचालन करते समय इसकी मृत्यु (1718) हो गयी।

जो सन्धि चार्ल्स द्वादश के जीवनकाल में सम्भव न थी वह अब सत्य बन गयी। उसकी छोटी बहन अलरीका (Ulrica) स्वीडेन की महारानी हुई और स्टाकहोम की दो संधियों (1719, 1720 ई०) द्वारा स्वीडेन ने पश्चिमी पोमेरेनिया के एक छोटे से जिले और स्ट्रालजुंड को छोड़कर और सब जर्मन भू-भाग त्याग दिया। एल्ब और वेसर के मुहानों पर हनोवर का तथा आडर के मुहाने और स्टेटिन नगर पर प्रशा का अधिकार स्वीकृत हुआ। डेनमार्क को होल्सटाइन तथा लड़ाई का हर्जाना प्राप्त हुआ। आगस्टस द्वितीय पोलैण्ड का राजा मान लिया गया, परन्तु स्टैनिसलास को राजा की पदवी धारण करने का अधिकार तथा आगस्टस से पेंशन की प्राप्ति हुई। इंगलैंड-डेनमार्क तथा प्रशा को बाल्टिक में व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त हुई।

इंगलैंड ने रूस के विरुद्ध स्वीडेन की सहायता का वादा किया जिसकी कभी पूर्ति न हो सकी। उधर रूसी सेनाओं ने तीन बार स्वीडिश समुद्र-तट को रौंद डाला। अन्त में बाध्य होकर स्वीडेन को रूस के साथ न्यूस्टाड (Nystad) की सन्धि (1721) करनी पड़ी। इसके द्वारा रूस को करीलिया, इंग्रिया, लिबोनिया, इस्टोनिया तथा विबर्ग (Viborg) नगर के साथ फिनलैंड का पतला दक्षिणी भाग ये बाल्टिक तटीय प्रदेश प्राप्त हुए फिनलैंड का शेष विस्तृत भाग स्वीडेन को वापस मिल गया। पीटर ने स्वीडेन को युद्ध का व्यय भी दिया और बाल्टिक में उसके स्वतन्त्र व्यापार के अधिकार को स्वीकार किया।

स्वीडेन के पतन के कारण—महान् उत्तरी युद्ध का अन्त करने वाली स्काटहोम तथा न्यूस्टाड की सन्धियाँ अत्यन्त महत्व की हैं। इनके द्वारा उत्तरी यूरोप में स्वीडेन के आधिपत्य तथा जर्मनी में उसके प्रभाव का अन्त हुआ। सत्रहवीं शताब्दी में स्वीडेन के राजाओं ने इन्हीं उद्देश्यों की रक्षा के लिये सतत संघर्ष किया था और समस्त यूरोप में अपना सैनिक प्राबल्य स्थापित किया था। एक शताब्दी तक उत्तरी यूरोप का भाग्य-चक्र उनकी ही इच्छा से संचालित होता रहा और राजनीति, धर्म तथा व्यापार के

क्षेत्र में वे भय और आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। परन्तु दीर्घकाल तक अपने इस आधिपत्य की रक्षा करने में स्वीडेन असमर्थ सिद्ध हुआ। इसके अनेक कारण थे। एक तो बाल्टिक सागर में उसका एकाधिकार पड़ोसी राज्यों की आँखों की किरकिरी बना हुआ था और वे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये इस स्थिति का अन्त करने के लिये कटिबद्ध थे। दूसरे, उसके साम्राज्य के संगठन का आधार अत्यन्त दुर्बल था। साम्राज्य के भीतर बसने वाली जातियों—जैसे, फिन, इस्टोनियन, लेट, रूसी, पोल, जर्मन, डेन आदि की सहानुभूति स्वीडेन के साथ कम और उसके शत्रुओं के साथ अधिक थी। अतः उन्हें दबाये रखने के लिये स्वीडेन को अपनी सैनिक शक्ति पर्याप्त दृढ़ रखने की आवश्यकता थी। धन-जन-हीन स्वीडेन जैसा देश अधिक दिनों तक इस गुरुतर कार्य के सम्पादन में असमर्थ था। तीसरे, जर्मनी में अपनी स्थिति दृढ़ रखने के लिये उसे फ्रांस से सदैव पर्याप्त सहायता मिलती रही, परन्तु फ्रांस के पतन तथा प्रशा और रूस के उत्थान के पश्चात यह कार्य प्रायः असम्भव हो गया। चौथे, जिस प्रकार स्वीडेन के विकास में उसके राजाओं का बहुत बड़ा हाथ है, उसी प्रकार उसके पतन का उत्तरदायित्व भी उनके ही ऊपर विशेष रूप से है। प्रायः सभी शासक शूर-वीर और योद्धा थे और इसी कारण वे देश के आर्थिक विकास और संगठन के कार्य में अधिक भाग न ले सके। उनके युद्धों में बहुत बड़ी संख्या में सैनिक मारे गये जो कम-आबाद देश के लिये अपूरणीय क्षति थी। व्यापार और उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। अपार धन-राशि का अपव्यय हुआ और देश के अनेक भूभाग उजाड़ हो गये। गये। राज्य के कामों के प्रति उनकी उदासीनता, अपव्ययशीलता तथा शान-शौकत ने शासन को शिथिल एवं अव्यवस्थित बना दिया। पांचवें, सरदार-वर्ग की स्वार्थ-प्रियता, पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष, राष्ट्र के प्रति उनके अहितकर कार्य तथा अपने व्यक्तिगत अधिकारों की वृद्धि भी स्वीडेन के पतन में सहायक हुई। छठें, देश पर करों का भार बहुत बढ़ गया था और उनका असमान वितरण अधिकारहीन वर्ग की शक्ति के बाहर सिद्ध हो रहा था। अन्त में स्वीडेन के पतन में चार्ल्स द्वादश की विवेकहीनता, हठवादिता और सैनिक अदूरदर्शिता भी अधिक सहायक हुई। उसने नार्वा के युद्ध के पश्चात् पीटर को अवसर देकर बड़ी अदूरदर्शिता का परिचय दिया और सन् 1718 ई० में पीटर के सन्धि के प्रस्ताव को अस्वीकार कर घोर हठवादिता और विवेकहीनता दिखलायी। जिस समय उसकी शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी और उसके विरुद्ध पाँच यूरोपीय राज्यों का प्रबल संघ युद्ध क्षेत्र में वर्तमान था, उस समय समस्त साम्राज्य की रक्षा का अडिग संकल्प कर उसने अपना और अपने का सर्वनाश कर दिया। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी का प्रथम कोटि का राज्य अठारहवीं के प्रथम चरण में चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात तृतीय श्रेणी का राज्य बन गया।

हालैंड

व्यापारिक उन्नति—डच नेदरलैंड्स ने, जो संयुक्त प्रदेश के नाम से विख्यात हो चुका था, 1609 ई० में स्पेन के साथ बारह वर्षीय विराम सन्धि की जिसके अनुसार स्पेन ने उनकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और डच-व्यापार में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया। वस्तुतः इस युद्ध की समाप्ति का श्रेय ओल्डेनबार्नेवेल्ट (Oldenbarnevldt) को है जो स्पेन के साथ सन्धि का पक्षपाती था। इसके विपरीत डच सेनापति मारिस सन्धि का विरोधी और युद्ध के संचालन के पक्ष में था। इसका परिणाम यह हुआ कि ओल्डेनबार्नेवेल्ट और मारिस का मतभेद बढ़ता गया। संयुक्त प्रान्तों की बाह्य-नीति का संचालन ओल्डेनबार्नेवेल्ट के हाथों में था और उसने अपनी कुशल कूटनीति से अपने देश की स्थिति को पूर्ण रूप से दृढ़ करने की सफल चेष्टा की। डचों ने 1601 ई० में डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य व्यापार था और जिसके संगठन का आधार सैनिक था। फलतः अंग्रेजों और पुर्तगालियों की ईर्ष्या के बावजूद इसने पूर्वी द्वीप-समूह में अपनी स्थिति पूर्ण रूप से स्थापित कर ली। इसने जावा और बटेविया पर अधिकार किया और उन्हीं को अपने व्यापार तथा साम्राज्य-स्थापना का केन्द्र बनाया। डचों ने अम्बोयना में अंग्रेज व्यापारियों का हत्याकांड (1623) किया और अंग्रेजों को भारत तक ही अपने व्यापार को सीमित रखने के लिये बाध्य किया। डचों ने ही सर्वप्रथम यूरोप में चाय का प्रचार किया (1610) जिसे वे चीन से लाये थे। कहवा पीने का प्रारम्भ (1616) भी डचों से ही हुआ जिसे वे अरब के मोख नामक स्थान से अपने साथ यूरोप ले गये थे। वेस्टइंडीज और अमेरिका के साथ भी इन्होंने व्यापार प्रारम्भ किया और 1616 ई० में डच गायना की स्थापना हुई। पश्चिमी दुनिया में अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए डचों ने डच वेस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना (1621) की। अफ्रीका के गोल्ड कोस्ट में 1617 ई० में एक डच उपनिवेश स्थापित किया गया संयुक्त प्रान्त के इस बढ़ते हुए व्यापार ने अंग्रेजों और डचों के बीच अत्यधिक द्वेष उत्पन्न कर दिया। व्यापार की वृद्धि के अतिरिक्त ओल्डेनबार्नेवेल्ट की सफल कूटनीति से अनेक यूरोपीय देशों और नगरों के साथ भी डचों का सम्बन्ध स्थापित हुआ और यूरोपीय राजनीति में उनका प्रभाव पड़ा।

धार्मिक मतभेद—डच लोग कैल्विनवादी प्रोटेस्टेंट-धर्म के अनुयायी थे। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही कैल्विनवादियों में दो सम्प्रदाय हो गये। एक सम्प्रदाय का नेता आर्मिनियस था जो लीडेन के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्राध्यापक था। यह धार्मिक सिद्धान्तों में साधारण परिवर्तनों के द्वारा उसे अधिक लोकप्रिय बनाने के पक्ष में था। साथ ही यह धार्मिक सहिष्णुता एवं धार्मिक मामलों में राज्य की प्रधानता के

सिद्धान्त का पोषक था इसके अनुयायी आर्मिनियन सम्प्रदायवादी या 'विरोध-प्रदर्शक' (Remonstrants) के नाम से विख्यात हुए। इस सम्प्रदाय के समर्थकों में ओल्डेनबार्नेवेल्ट, आरेंज की विधवा लूइज द कोलिन्यी (Louise-de Coligny), उसका पुत्र फ्रेडरिक विलियम आदि तथा हालैंड और जीलैंड के प्रदेश थे। सन् 1610 ई० में आर्मिनियन लोगों ने अपने विरोध की घोषणा के साथ अपने विचारों को जनता के समक्ष उपस्थित किया। दूसरी तरफ लीडेन के दूसरे प्राध्यापक गोमारस (Gomarus) के बिना किसी संशोधन के कैल्विन के सिद्धान्तों को मानने के विचार का पोषण किया। इसके समर्थकों में पुजारी वर्ग, नासो का राजकुमार मारिस आदि थे। इन लोगों ने आर्मिनियनवादी विरोध-प्रदर्शन का प्रतिरोध किया। जिससे इस वर्ग का नाम गोमारिस्ट या 'प्रतिवादात्मक विरोध-प्रदर्शक' (Counter-Remonstrants) पड़ा। इन लोगों का विचार था कि इस धार्मिक विवाद के निर्णय के लिये एक राष्ट्रीय संगीति का समारोह होना चाहिए। इसके विरोध में आर्मिनियन लोगों ने हालैंड की प्रादेशिक सरकार से सहायता की प्रार्थना की। शीघ्र ही इस संघर्ष ने राजनीतिक स्वरूप धारण किया। अभी तक स्टेट्स-जनरल तथा परिषदों के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया था। फलतः इस विवाद के परिणाम-स्वरूप स्टेट 126स-जनरल और हालैंड की प्रादेशिक परिषद् में संघर्ष हो गया। इस संघर्ष में आल्डेनबार्नेवेल्ट की स्थिति तो स्पष्ट थी। उसने हालैंड की परिषद का साथ दिया। परन्तु मारिस की स्थिति विषम थी हालैंड के राज्यपाल के रूप में उसे परिषद् के आदेश मान्य थे और दूसरी ओर संघ के प्रधान के रूप में स्टेटस-जनरल की आज्ञायें उसे कार्यान्वित करनी थीं। उसने स्टेट्स-जनरल के ही पथ का समर्थन किया। मारिस ने तुरन्त सैन्य-बल से यूट्रेक्ट नगर का अधिकार कर लिया और हालैंड की परिषद् तथा नगर-सभाओं में अपने समर्थकों का बहुमत करा लिया। हालैंड संघर्ष के लिए असमर्थ सिद्ध हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी प्रादेशिक परिषदों ने राष्ट्रीय संगीति का समर्थन किया। ओल्डेनबार्नेवेल्ट तथा अन्य दूसरे व्यक्ति गिरफ्तार (1618) कर लिये गये। संगीति का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इसमें संयुक्त-प्रान्तों के अतिरिक्त इंगलैंड, स्काटलैंड, जेनेवा तथा ब्रेडेनबर्ग के भी प्रतिनिधि उपस्थित थे। संगीति ने आर्मिनियनों को धर्म-विरोधी घोषित किया और उन्हें निष्कासन का दण्ड मिला। स्टेट्स-जनरल के एक कमीशन द्वारा ओल्डेनबार्नेवेल्ट के अभियोग का निर्णय हुआ। उस पर स्पेन से उत्कोच स्वीकार करने, प्रांतों के संघ को भंग करने और प्रान्तीय धर्म के स्वीकृत करने तथा उनके अधिकारों को मान्यता प्रदान करने के आरोप थे। कमीशन ने उसे मृत्यु-दण्ड दिया (1619) और मारिस ने भी उसे बचाने के लिये अपने विशेषाधिकार का प्रयोग नहीं किया।

संघर्ष का प्रारम्भ—सन् 1621 ई० में विराम-संधि का अन्त और स्पेन के साथ पुनः संघर्ष का प्रारम्भ हो गया। मारिस ने संघर्ष का नेतृत्व किया, परन्तु पहले की अपेक्षा

वह इस बार कम सफल रहा। चार वर्षों बाद 1625 ई० में मारिस की मृत्यु हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि मारिस एक कुशल और सफल सेनानी था और उसने 1588 और 1609 ई० के बीच अपने देश की अद्वितीय सेवा की थी। परन्तु उसकी राजनीतिज्ञता उच्च कोटि की न थी और इस क्षेत्र में वह अपने प्रतिद्वन्द्वी ओल्डेनबार्नेवेल्ट के समकक्ष न था ओल्डेनबार्नेवेल्ट के मृत्यु-दण्ड के कारण अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसने अपनी पुरानी लोकप्रियता खो दी थी और उसका गौरव कम हो गया था।

फ्रेडरिक हेनरी—मारिस का उत्तराधिकारी उसका सौतेला भाई फ्रेडरिक हेनरी हुआ (1625-47 ई०) जो हालैंड, जीलैंड, यूट्रेक्ट आदि प्रान्तों का राज्यपाल, देश का कप्तान और ऐडमिरल-जनरल तथा राज्य परिषद का प्रधान नियुक्त हुआ। यह योग्य सेनापति तथा कुशल राजनीतिज्ञ था। धार्मिक विषयों में वह सहिष्णु था और देश में अत्यधिक लोकप्रिय था। इसी काल में तीसवर्षीय युद्ध चल रहा था। इसमें उसने संयुक्त प्रान्तों की सुरक्षा का ध्यान रखकर रीशलू को अपनी जल-सेना की सहायता प्रदान कर पर्याप्त धन प्राप्त किया और अपनी सेना का संगठन भी किया। संयुक्त-प्रान्तों ने उस संघ में भी भाग लिया जिसका निर्माण (1631) गस्टवस एडाल्फस ने साम्राज्य के विरुद्ध किया था। इसने 1635 ई० में रीशलू के साथ पुनः मित्रता स्थापित की और उससे धन-जन की सहायता प्राप्त की। दो वर्षों बाद उसने स्पेनियों से ब्रेडा नगर छीन लिया। इंगलैंड के साथ व्यापारिक स्पर्धा तथा अन्य कारणों से डचों का सम्बन्ध अच्छा नहीं चल रहा था। इसने अपने पुत्र विलियम का विवाह चार्ल्स प्रथम की पुत्री मेरी के साथ करके दोनों देशों में अच्छे सम्बन्ध की स्थापना की। हेनरी के नेतृत्व में डचों ने स्पेन की बढ़ती हुई दुर्बलता, पुर्तगाल के विद्रोह तथा फ्रांस के विरुद्ध स्पेन की पराजय आदि से पूर्ण लाभ उठाया। अन्त में स्पेन को बाध्य होकर संयुक्त-प्रान्तों से मस्टर नामक स्थान की संधि (1648) करनी पड़ी। फ्रेडरिक हेनरी द्वारा सन्धि के पोषण का प्रधान कारण यह था कि फ्रांस की विजयों के कारण नेदरलैंडस में उसकी प्रभाव-वृद्धि से वह सशंक था और दूसरे, ब्राजील के उपनिवेश के सम्बन्ध में पुर्तगालियों के साथ भी मतभेद हो गया था। अतः यद्यपि 1647 ई० में फ्रेडरिक हेनरी की मृत्यु हो गयी, तथापि उसके विचारों के अनुसार ही दूसरे वर्ष (1648) स्पेन के साथ सन्धि हुई जिसके द्वारा संयुक्त-प्रान्तों को पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई और उनकी विजयों की भी स्पेन ने मान्यता प्रदान की। ईस्ट और वेस्ट इंडीज में उन्हें व्यापार की सुविधा एवं स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। इस प्रकार इस सन्धि द्वारा नेदरलैंड्स के विद्रोह का अन्त हो गया और संयुक्त प्रान्तों के एक नवीन राज्य की प्रतिष्ठा हुई। उसी वर्ष वेस्टफैलिया की सन्धि (1648) द्वारा यूरोपीय राष्ट्रों ने भी इसे मान्यता प्रदान की।

विलियम द्वितीय—फ्रेडरिक हेनरी की मृत्यु के पश्चात् विलियम द्वितीय अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। उसके समय में स्टेट्स-जनरल और हालैंड की प्रादेशिक परिषद् में संघर्ष छिड़ गया। विलियम द्वितीय संयुक्त-प्रान्तों के घनिष्ठ सम्बन्ध का पोषक था। स्पेन के साथ युद्ध समाप्त हो चुका था, अतः राज्य परिषद ने संघीय सेना की संख्या कम करने का निश्चय किया। परन्तु हालैंड ने अपनी स्वीकृत संख्या से अधिक सैनिकों को छुट्टी दे दी इस पर विलियम द्वितीय ने बलपूर्वक हालैंड को राज्य-परिषद् का आदेश मानने के लिये बाध्य किया। 1650 ई० में विलियम की मृत्यु हो गयी और उसके एक वर्ष बाद उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर देश में विकेन्द्रीकरण की नीति स्वीकृति हुई। इसके द्वारा स्टेट्स-जनरल के अधिकार कम हुए और प्रान्तीय परिषदों के अधिकार बढ़े। इस नवीन निर्णय के द्वारा संयुक्त-प्रान्तों का नेतृत्व हालैंड के हाथ में आया जो सबसे बड़ा, शक्तिमान् और धनी प्रान्त था और वहाँ का शासक देश के सर्व-प्रधान व्यक्ति के रूप में मान्य हुआ। अब संयुक्त प्रान्त के स्थान पर डच-प्रजातन्त्र के लिये हालैंड के नाम का व्यवहार बढ़ने लगा।

जान द विट—विलियम द्वितीय की मृत्यु के एक सप्ताह बाद (1650) उसका पुत्र विलियम तृतीय उत्पन्न हुआ। अतः वह अनेक वर्षों तक अपने परिवार में चले आते हुए कप्तान-जनरल, ऐडमिरल-जनरल और राज्यपाल के पदों को सुशोभित करने में असमर्थ था। इस परिस्थिति में प्रजातन्त्री दल की शक्ति बढ़ी और उसका नेता जान द विट (John de Witt), जो हालैंड का शासक था, शासन का प्रधान नियुक्त हुआ। वह ईमानदार, देशभक्त, कुशल कूटनीतिज्ञ और कट्टर प्रजातन्त्रवादी था। आरेंज-परिवार की शक्ति-वृद्धि को रोकना, हालैंड की परिषद के प्रभाव को बढ़ाना और फ्रांस तथा इंगलैंड के विरुद्ध देश के हितों की रक्षा करना, उसके प्रधान उद्देश्य थे।

इंगलैंड और हालैंड के पारस्परिक संघर्ष का प्रधान कारण व्यापारिक था। इंगलैंड के जहाजरानी के कानून (Navigation Act) 1651 ई० के द्वारा हालैंड के व्यापार को गहरी क्षति पहुँच रही थी। इस कानून द्वारा यह स्वीकृत हुआ था कि इंगलैंड का समस्त निर्यात अपने ही जहाजों द्वारा और आयात या तो अपने या उत्पादन-क्षेत्र के जहाजों द्वारा होगा। फलतः दोनों देशों में युद्ध छिड़ गया जो दो वर्षों तक (1652-54 ई०) चलता रहा। दूसरा युद्ध 1665 ई० से 1667 ई० तक चला। इस युद्ध में हालैंड की जलसेना ने टेम्स के मुहाने में प्रवेश कर अंग्रेजी जहाजों को जला दिया और कई सप्ताह तक लंदन नगर का घेरा किया। अन्त में ब्रेडा की सन्धि (1667) से उस युद्ध का अन्त हुआ। इसके द्वारा जहाजरानी के कानून में संशोधन किया गया और पश्चिमी जर्मनी और

नेदरलैंडस का माल इंगलैंड पहुँचाने के लिये हालैंड के जहाजों को सुविधा प्रदान हुई। इसी वर्ष हालैंड की परिषद ने 'शाश्वत अध्यादेश' (Entrnal Edict) स्वीकृत किया जिसके द्वारा देश का कप्तान-जनरल और ऐडमिरल-जनरल किसी प्रान्त का राज्यपाल नहीं हो सकता था। यह अध्यादेश विलियम तृतीय को अपने वंशानुगत अधिकारों से वंचित करने के लिए स्वीकृत हुआ था।

जान द विट के शासनकाल में लुई चतुर्दश ने नेदरलैंडस को फ्रांस में मिलाने के उद्देश्य से अधिकार-प्राप्ति का युद्ध (War of Devolution 1667-68 ई०) छेड़ दिया और दुर्बल स्पेन के विरुद्ध उसे सफलता-पर-सफलता प्राप्त होने लगी। इस सफलता से विट भयभीत हुआ, क्योंकि डच लोग "मित्र के रूप में फ्रांस का स्वागत करने के लिए प्रस्तुत थे, परन्तु पड़ोसी के रूप में नहीं।" विट ने लुई का बढ़ाव रोकने के लिए हालैंड, इंगलैंड और स्वीडेन का त्रिगुट तैयार किया। फलतः सीमा पर स्थित दुर्गों को प्राप्त कर लुई कुछ समय के लिए सन्तुष्ट हो गया और एक्सलाशापेल की सन्धि (1668) द्वारा युद्ध का अन्त हो गया। यह सन्धि जान द विट की कूटनीतिक विजय थी। फलतः इस सन्धि की स्मृति में एक पदक निर्मित हुआ जिसमें लिखा गया कि डचों ने "कानूनों को रक्षित किया, धर्म-सुधार किया, राजाओं में मेल कराया, सामुद्रिक स्वतन्त्रता की रक्षा की और यूरोप में शान्ति की स्थापना की।" परन्तु चार वर्षों बाद जब लुई चतुर्दश ने हालैंड पर पुनः आक्रमण किया और प्रत्येक क्षेत्र में हालैंड की हार होनी प्रारम्भ हुई तो लोगों ने जान द विट पर इस पराजय का दोषारोपण किया और उसे मार डाला (1672)। उसकी मृत्यु के बाद युद्ध-संचालन का उत्तरदायित्व विलियम तृतीय ने ग्रहण किया।

टर्की

दौर्बल्यारम्भ—तुर्क एक वीर जाति के लोग थे और योग्य नेतृत्व में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उन्होंने पर्याप्त विजय प्राप्त की थी। परन्तु उनमें संगठन-शक्ति तथा नये जीते हुए प्रदेशों पर शासन की आवश्यक क्षमता का अभाव था। यही कारण है कि नये जीते हुए देशों को पचाना उनके लिए कठिन हो गया। 'यूरोप के विस्तृत भू-भाग पर नये शासक-वर्ग और एक शक्तिमान धर्म की स्थापना उनकी विजय का उद्देश्य था।' वस्तुतः टर्की और नये अधिकृत प्रदेशों में पारस्परिक सम्बन्ध का आधार विजय और सैनिक नियन्त्रण था। फलतः कालान्तर में तुर्कों का सैनिक दौर्बल्य उनके साम्राज्य के पतन का कारण बन गया। कुस्तुन्तुनिया की विजय (1453) के बाद प्रायः सवा सौ वर्षों तक तुर्कों ने दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में अपने प्राधान्य की पूर्ण रक्षा की और जर्मन साम्राज्य, स्पेन, वेनिस, रोम आदि को उन्होंने सदैव आतंकित रखा। परन्तु लेपांटों की खाड़ी के

जल-युद्ध (1571) के पश्चात् उनका पूर्व शौर्य शीघ्रता से क्षीण होने लगा। इस बदलती हुई स्थिति का स्पष्ट परिचय सम्राट और सुल्तान के बीच हुई सितवाटोराक की सन्धि (Peace of Sitvatorok, 1696 ई०) में मिलता है। इस सन्धि में तुर्क सुल्तान ने रुडाल्फ द्वितीय को प्रथम बार 'वियना के राजा' के स्थान पर सम्राट के रूप में स्वीकार किया और आस्ट्रिया से लिया जाने वाला वार्षिक कर भी छोड़ दिया। इसके बदले में सम्राट ने एक मुश्त कुछ धन सुल्तान को प्रदान किया। जर्मनी में चलने वाले तीस वर्षीय युद्ध के काल में आस्ट्रिया और सुल्तान के बीच संघर्ष न छिड़ा। एक ओर तो इस युद्ध के कारण सम्राट टर्की पर आक्रमण करने में असमर्थ था और दूसरी ओर शासन की दुर्व्यवस्था तथा कुशल नेतृत्व के अभाव के कारण सुल्तान आस्ट्रिया की कठिनाइयों से लाभ न उठा सके।

भूमध्य सागर के क्षेत्र में भी तुर्कों की दुर्बलता स्पष्ट हो रही थी। वस्तुतः लेपांटों के जलयुद्ध (1571) ने सदैव के लिये भूमध्य सागर में तुर्कों के आधिपत्य की सीमा निर्धारित कर दी।" सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तुर्कों के अव्यवस्थित शासन से लाभ उठाकर वेनिस और माल्टा ने उन पर लगातार आक्रमण प्रारम्भ किया। अतः सुल्तान इब्राहीम प्रथम ने प्रतिशोध की भावना से क्रीट पर आक्रमण किया (1645) और कानिया (Canea) पर अधिकार कर लिया। सुल्तान मुहम्मद चतुर्थ (1649-87) की बाल्यावस्था से लाभ उठाकर वेनिस ने डार्डेनेल्ज के युद्ध में तुर्कों को पराजित किया (1656), लेमनास और टिनिडास को अधिकृत किया और तुर्क राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी आक्रान्त किया निश्चित रूप से यह स्थिति तुर्क-साम्राज्य के पतन की सूचक थी।

वियना का घेरा (1683 ई०)—तीस वर्षीय युद्ध से निवृत्त होने के पश्चात आस्ट्रिया ने हंगरी और ट्रांसिलवेनिया पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा, परन्तु एक ओर तो फ्रांस की प्रतिद्वन्द्विता और दूसरी ओर अपने साम्राज्य की आन्तरिक कठिनाइयों के कारण सम्राट लियोपोल्ड प्रथम (1658-1705 ई०) को अवकाश न मिल सका। जर्मन साम्राज्य में अनेक ऐसे प्रोटेस्टेंट भी थे जो कैथलिक सम्राट की असहिष्णु नीति की अपेक्षा तुर्कों के सहिष्णु शासन को पसन्द करते थे। सुल्तान इब्राहीम के वजीर ने ट्रांसिलवेनिया के विद्रोह का दमन करके हंगरी पर आक्रमण किया (1664), परन्तु फ्रांसीसियों की सहायता से आस्ट्रिया ने तुर्क सेना को पराजित किया। यह पराजय तुर्कों की सैनिक दुर्बलता की सूचक थी। इस युद्ध के कुछ दिनों बाद हंगरी के सरदारों ने सम्राट के विरुद्ध विद्रोह कर दिया परन्तु बाह्य सहायता के अभाव में उन्हें सफलता न मिल सकी और अत्यन्त नृशंसता के साथ उनके विद्रोह (1666-71 ई०) का दमन कर

दिया गया। इसमें प्रोटेस्टेंटों को विशेष क्षति उठानी पड़ी। परन्तु जब हंगरी में दूसरा विद्रोह हुआ तो सम्राट ने विद्रोही नेता से वार्ता प्रारम्भ की और शान्ति की स्थापना के लिये हंगरी ने पार्लियामेंट से परामर्श करने तथा प्रोटेस्टेंटों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का प्रस्ताव (1681) रखा। विद्रोहियों को लियोपोल्ड के वादों पर विश्वास न था, अतः उनके नेता ने टर्की की अधीनता स्वीकार करने के लिये सुल्तान से प्रार्थना (1682) की हंगरी पर अपने आधिपत्य की स्थापना के लिये विशाल सेना संगठित की और 1683 ई० में आस्ट्रिया पर आक्रमण कर वियना पर घेरा डाल दिया। सम्राट और उसके दरबारी राजधानी से भाग निकले। परन्तु तुर्कों की सामरिक असावधानी के कारण उनका वियना पर अधिकार न हो सका और शाही सेना को पोलैंड के राजा जान सोब्येस्की (John Sobieski) के नेतृत्व में संगठित होने और राजधानी तक पहुँचने का अवसर प्राप्त हो गया। उसने तुर्कों को बुरी तरह पराजित किया और उनके शिविरों को भी लूटा। तुर्क सेनापति मुस्तफा भागकर बेलग्रेड पहुँचा। सोब्येस्की और उसके सहायक लोरेन ने तुर्कों का पीछा किया और ग्रैन-नगर को अधिकृत किया। इसाइयों और तुर्कों के संघर्ष में यह प्रथम अवसर था जब ईसाई सेना ने तुर्कों के अधीन नगर को मुक्त किया था।

धर्मयुद्ध (1684-99 ई०)—इस विजय के पश्चात सम्राट लियोपोल्ड प्रथम, जॉनसोब्येस्की और वेनिस ने पोप की स्वीकृति से तुर्कों के विरुद्ध एक पवित्र संघ की स्थापना की (1684) और तुर्कों के विरुद्ध युद्ध को धर्म-युद्ध का स्वरूप प्रदान किया। लोरेन के चार्ल्स, जो एक कुशल सेनानी था, तुर्कों द्वारा अधिकृत हंगेरी के अधिकांश को तथा क्रोशिया और स्लावोनिया को उनसे छीन लिया (1685-87 ई०) हंगेरी की पार्लियामेंट ने हैप्सबर्ग परिवार के वंशानुगत शासन को स्वीकार किया और 1687 ई० में सम्राट लियोपोल्ड का पुत्र जोसेफ हंगेरी के राजा के रूप में अभिषिक्त हुआ। इसके पश्चात लोरेन ने ट्रांसिलबेनिया को जीता (1688) और बेलग्रेड पर अधिकार स्थापित किया। दूसरे क्षेत्र में तुर्कों के विरुद्ध वेनिस को भी पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई और उसने डालमेशिया कोरिंथ तथा एथेंस आदि पर अधिकार स्थापित कर लिया।

सुल्तान सुलेमान द्वितीय (1687-91 ई०) और मुस्तफा द्वितीय (1695-1703 ई०) के शासन-काल में तुर्कों ने एक बार पुनः अपनी खोई हुई शक्ति प्राप्त करने और अपनी सेना को संगठित करने का प्रयत्न किया। इसके लिये उन्हें अनुकूल अवसर भी प्राप्त हुआ; क्योंकि सम्राट तथा पश्चिमी यूरोप के अन्य राज्य लुई चतुर्दश के साथ युद्ध में संलग्न थे। उन्होंने बेलग्रेड नगर को जीता (1690) और हंगरी पर भी आक्रमण किया (1691) परंतु उन्हें पराजित होना पड़ा। शाही सेना ने ट्रांसिलवेनिया को फिर

जीता (1611) और वहाँ की परिषद ने हैप्सबर्ग-परिवार की अधीनता स्वीकार कर ली। युद्ध के अन्तिम काल में सुल्तान मुस्तफा द्वितीय ने स्वयं तुर्क सेना का नेतृत्व किया और उसे हंगेरी तथा भूमध्य सागर के क्षेत्र में कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। इस समय तक रूस का जार पीटकर भी तुर्कों के विरुद्ध युद्ध में उतर पड़ा था और उसने आजोफ (Azov) के बन्दरगाह पर अधिकार (1696) कर लिया। सन् 1696 ई० में जान सोब्येस्की की मृत्यु हो गयी और सवाय का ड्यूक यूजेन (Eugene), जो अपने समय का प्रसिद्ध सेनापति था, शाही सेना का प्रधान नियुक्त हुआ। मुस्तफा द्वितीय ने ट्रांसिलवेनिया में बढ़ने की चेष्टा की, परन्तु यूजेन ने उसे बुरी तरह पराजित कर (1697) पीछे ढकेल दिया।

यूरोप में रिसविक की सन्धि (1697) के पश्चात् सम्राट को तुर्कों की ओर विशेष ध्यान देने का अवसर मिला इस परिस्थिति में बाध्य होकर तुर्कों ने कार्लोवित्स की सन्धि (Peace of Carlowitz, 1699 ई०) स्वीकार कर ली। इसके अनुसार आस्ट्रिया को कुछ थोड़े से भू-भाग को छोड़कर समस्त हंगेरी, ट्रांसिलवेनिया, स्लावोनिया और क्रोशिया का अधिकांश भाग प्राप्त हुआ। आजोफ पर रूस का और पोडोलिआ पर पोलैण्ड का अधिकार स्वीकृत हो गया। वेनिस ने कोरिंथ के उत्तर के विजित प्रदेशों पर अपने अधिकार का परित्याग कर दिया। फलतः टर्की को यूरोप में अपने अनेक विजित प्रदेशों को छोड़कर डैन्यूब के पीछे हटने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार उसने साम्राज्य के विघटन तथा आजोफ पर रूस के अधिकार के साथ यूरोपीय राजनीति में पूर्वी समस्या (Eastern Ouestion) प्रारम्भ हुई जो आने वाली शताब्दियों में यूरोपीय राजनीतिज्ञों के लिये बहुत बड़ा सिरदर्द बनी रही है।

अध्याय 11

रूस का उत्कर्ष

जारशाही की स्थापना

बाह्य प्रभाव—मध्यकाल में यूरोप के उत्तर-पूर्व में स्थित रूस के विस्तृत मैदान में स्लाव जाति ने धीरे-धीरे अपना विस्तार किया। इस विस्तार-काल में पश्चिमी यूरोप के साथ इनका कोई संबंध न था जिससे ये लोग यूरोपीय सभ्यता से सर्वथा वंचित रहे। इस काल में रूसियों पर तीन स्थायी बाहरी प्रभाव पड़े जिन्होंने रूसी जाति के निर्माण में विशेष योग दिया है। एक तो जर्मन जाति के उत्तरी लोगों ने अपने सरदार रूरिक (Ruric) के नेतृत्व में नवीं शताब्दी (862) में इस देश पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की और नोवगोराड के 'नवीन नगर' की स्थापना की। इस आक्रमण के परिणामस्वरूप रूप की स्लाव जाति में राजनीतिक एवं सैनिक संगठन की स्थापना हुई। दूसरी ओर रुरिक के उत्तराधिकारियों की आक्रामक एवं विस्तार-नीति के फलस्वरूप प्राय: एक शताब्दी के पश्चात् रूसियों का सम्पर्क बाइजैंटाइन-साम्राज्य के साथ स्थापित हुआ और उनके शासक ब्लाडिमिर महान् ने सम्राट् वसील द्वितीय की बहन एन के साथ विवाह (988 में कर ईसाई-धर्म को स्वीकार किया। तभी से रूस में यूनानी चर्च (Greek Orthodox Faith) की स्थापना हुई जो आज तक रूसियों के जीवन को प्रभावित करता आया है। रूसियों पर तीसरा प्रभाव तातारियों के आक्रमण का है। तेरहवीं शताब्दी (1223) में एशिया की इस खानाबदोश जाति ने रूस को आक्रान्त किया। उनके आक्रमण और आधिपत्य के फलस्वरूप प्राय: तीन शताब्दियों तक रूसियों को दासता का यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा। तातारियों ने अनेक बार मास्को नगर को भी लूटा जो देश के उत्तरी भाग में एक प्रसिद्ध सैनिक क्षेत्र और रूसी सभ्यता का केन्द्र था। तातारियों के इस दीर्घकालीन आधिपत्य ने रूप की रहन-सहन और रीति-रिवाजों को अत्यधिक प्रभावित किया।

इवान महान्—पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मास्को के शासक (Grand Duke of Musovy) इवान महान् (1462-1505) के नेतृत्व में रूस को तातारियों के नियन्त्रण से मुक्त करने का सबल प्रयास प्रारम्भ हुआ। इसके समय में तातारी मंगोलों का अन्तिम आक्रमण (1481) हुआ जिसमें वे पराजित हुए। शीघ्र ही उसने दक्षिण के तातारियों पर स्वयं आक्रमण कर (1487) उन्हें पुन: पराजित किया। इस प्रकार इवान महान् ने इस राष्ट्रीय संघर्ष में रूस की विजय का प्रथम अध्याय प्रारम्भ किया और उसके

उत्तराधिकारियों ने क्रमशः तातारियों को पराजित कर रूस को दासता के चंगुल से मुक्त किया। मास्को के राष्ट्रीय नेतृत्व ने देश में उसके गौरव को अत्यन्त ऊंचा उठा दिया। पश्चिमी यूरोप से मास्को की अत्यधिक दूरी, तातारी प्रभाव और उनके साथ रूसियों का संघर्ष आदि के कारण रूस पर यूरोप की अपेक्षा एशियायी प्रभाव अधिक था। परन्तु इवान ने यूरोपीय सम्पर्क को बढ़ाने की चेष्टा की। वाइजैंटाइन साम्राज्य की समाप्ति (1453) के पश्चात् उसने रूस को पूर्वी यूरोप के ईसाई साम्राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार किया, अन्तिम रोमन सम्राट कांस्टैंटाइन एकादश की भतीजी के साथ विवाह किया और समस्त रूप से जार (सम्राट) की उपाधि धारण की। इस प्रकार मास्को का महान् ड्यूक रूस का जार बन गया और उसके स्थानीय शासन को राष्ट्रीय गौरव प्राप्त हुआ। इवान महान् ने जर्मन साम्राज्य, हंगेरी और वेनिस में भी अपने राजदूत भेजकर पश्चिमी यूरोप के साथ सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की। उसने सरदारों और चर्च के ऊपर अपना अधिकार जमाकर सबल केन्द्रीय शासन की स्थापना की।

इवान चतुर्थ—जार इवान चतुर्थ के शासन-काल (1533–84 ई०) में रूस की शक्ति और सीमा में पर्याप्त वृद्धि हुई। उसने तातारियों को पराजित कर काजान (Kazan) और अस्ट्राखान को तो अधिकृत किया, परन्तु कृष्ण सागर के तट पर स्थित क्रीमिया को वह न ले सका। उसने बाल्टिक तट के लिवोनिया प्रदेश पर भी कुछ समय के लिए अधिकार किया, परन्तु पोलैंड के दबाव से उसे बाध्य होकर यह प्रदेश छोड़ देना पड़ा। इसके शासन-काल में रूसियों ने यूराल के पहाड़ों को पार कर साइबेरिया में विस्तृत उपनिवेशों की स्थापना की। इस प्रकार बाल्टिक और काले सागर पर अधिकार स्थापित करने का रूस का प्रथम प्रयास निष्फल सिद्ध हुआ। साथ ही पश्चिम की ओर रूस और पोलैंड के हितों का संघर्ष तथा पूर्व की ओर एशिया में रूस का विस्तार प्रारम्भ हुआ। उसने रूसी सभ्यता के विकास के लिए अपने देश में जर्मन कारीगरों और चिकित्सकों को भी बुलाना चाहा, परन्तु पोलैंड की प्रतिद्वन्द्विता ने उसके इस प्रयत्न को भी निष्फल कर दिया। इसने इंगलैंड के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और दोनों देशों के व्यापारिक विकास के लिए 1555 ई० में इंगलिश मस्कोवी कंपनी की स्थापना हुई।

इवान चतुर्थ 'भयानक' (Terrible) की उपाधि से भी विभूषित किया जाता है। वह घोर निरंकुश राजतंत्र का पोषक था। उसने सरदार-वर्ग (Boyars) की शक्ति को नियंत्रित करने के लिए राज्य-सेवा पर आधारित एक नवीन सरदार-वर्ग की स्थापना की जो निरंकुश शासन का प्रबल पोषक एवं समर्थक था। उसने देश में नवीन न्यायालयों की

स्थापना करके एक ओर तो सरदारों के न्याय सम्बन्धी अधिकार को क्षीण किया और दूसरी ओर राजतंत्र को और अधिक पुष्ट एवं सबल। उसने रूसी चर्च को, जो यूनानी चर्च का एक अंगमात्र था, कांस्टैटिनोपुल (कुस्तुनतुनिया) के धर्माध्यक्ष (Patriarch) के आधिपत्य से मुक्त कर राष्ट्रीय चर्च का स्वरूप प्रदान किया और मास्कों में जार के नियंत्रण में 1582 ई० में एक नवीन धर्माध्यक्ष की नियुक्ति हुई। इस प्रकार रूसी राष्ट्रीयता का प्रतीक मास्को नगर रूस के बढ़ते हुए साम्राज्य और उसके जारों की राजनीतिक एवं धार्मिक राजधानी बन गया।

यूरोपीय सम्पर्क के अभाव के कारण—यद्यपि इवान महान् के शासन से लेकर प्रायः दो शताब्दियों तक रूस की शक्ति और सीमा में पर्याप्त वृद्धि हुई और रूसी जातियों ने समस्त साइवेरिया पर अपना अधिकार स्थापित कर रूस की जारशाही तथा रूसी राष्ट्रीय चर्च का अत्यधिक विस्तार किया, परन्तु इससे देश के सांस्कृतिक विकास में कोई योग न मिल सका। पश्चिमी यूरोप के साथ रूप का व्यापारिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध प्रायः नहीं के बराबर था जिसके परिणाम-स्वरूप रूस पर यूरोप के मानववाद, धर्म--सुधार, पूँजीवाद या वैज्ञानिक विकास का कोई प्रभाव न पड़ सका। यूरोप के सांस्कृतिक विकास में रूस के पिछड़ने के अनेक कारण थे। एक तो पश्चिमी यूरोप के कैथलिक धर्म से रूस का पुराना यूनानी धर्म भिन्न था और दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। फलतः पश्चिमी यूरोप के कैथलिक या प्रोटेस्टेंट धर्म का रूस के धर्म पर कभी कोई प्रभाव न पड़ सका। दूसरे, रूस के पूर्णतः कृषि-प्रधान देश होने के कारण वहाँ पर अधिक दिनों तक उद्योग-धन्धों तथा बाहरी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का विकास सम्भव नहीं हो पाया। तीसरे, पश्चिम की ओर अपना बढ़ाव असम्भव देखकर रूसियों ने पूर्व की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया जिससे यूरोप से उनका सम्बन्ध और भी क्षीण होने लगा। चौथे, प्रायः तीन शताब्दियों तक मंगोलों के राजनीतिक प्रभाव के कारण रूसियों में एशियायी रीति-रिवाज अधिक बढ़ गये थे। पाँचवें, जब तक स्वीडेन, पोलैंड तथा तुर्की के पड़ोसी राज्य प्रबल थे तब तक बाल्टिक और कृष्ण सागर पर रूस का अधिकार सम्भव न था और इस अधिकार के अभाव में पश्चिमी यूरोप के साथ उसका सीधा सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो सकता था। यही कारण है कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रूस बहुत अधिक पिछड़ा हुआ देश बना रहा और जब पीटर महान् ने अपनी सबल एवं सफल गृह तथा बाह्य नीति के द्वारा रूस का पश्चिमी यूरोपी के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया तभी रूस की उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सका।

रोमनाफ राजवंश

अशान्ति काल—इवान चतुर्थ के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र फिओडर (Feodor) गद्दी पर बैठा, परन्तु उसका शासनकाल (1584-98 ई०) अत्यधिक दुर्बल सिद्ध हुआ। उसकी मृत्यु के साथ इस राजवंश का ही लोप हो गया। फलतः उत्तराधिकार के लिए बड़े सरदारों में गृहक़लह प्रारम्भ हुआ जिसे रूसी इतिहास में 'अशान्ति काल' कहा गया है। आन्तरिक युद्ध और अशान्ति ने देश पर विदेशी आक्रमणों को प्रोत्साहन प्रदान किया। पड़ोसी राज्यों में पोलैंड ने देश में अत्यधिक भाग को तहस-नहस कर डाला और मास्को के दुर्ग क्रेमलिन पर ही अधिकार कर लिया। उधर स्वीडेन ने भी बाल्टिक तटीय प्रान्तों पर अधिकार कर लिया और व्यापार का प्रधान केन्द्र नोवगोराड पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। दक्षिण में तुर्कों ने भी क्रीमिया पर अपना अधिकार पहले की अपेक्षा और दृढ़ कर लिया। इस अशान्ति-काल के अन्तिम तीन वर्षों (1610-13 ई०) में पोलैंड के राजा का पुत्र जार भी बना रहा, परन्तु उसके विदेशी होने के कारण देश में उसका शासन लोकप्रिय न हो सका। इन परिस्थितियों में अशान्ति और अव्यवस्था को दूर करने एवं नया जार चुनने के लिए 1613 ई० में महान राष्ट्रीय परिषद की बैठक हुई जिसमें माइकेल रोमनाफ (Michael Romanoff) नाम का एक सरदार रूस का जार चुना गया इसका इवानों के वंश से वैवाहिक सम्बन्ध था और इसका पिता फिलारेट (Philaret) रूस का धर्माध्यक्ष था। इस प्रकार राष्ट्रीय परिषद द्वारा चुने हुए रोमनाफ वंश ने रूस में तीन सौ वर्षों तक शासन किया और अपनी स्वेच्छारिता को चरम सीमा तक पहुँचाया।

प्रथम तीन जार—माइकेल रोमनाफ (1613-45 ई०) स्वयं तो दुर्बल शासक सिद्ध हुआ, परन्तु संयोगवश उसे अपने पिता से, जो रूस का धर्माध्यक्ष था, पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। उसके सहयोग से उसने अशान्ति को दूर कर देश में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था की और विदेशियों के हस्तक्षेप से रूस की रक्षा की। दक्षिण में तातारियों और तुर्कों के आक्रमण से देश की रक्षा के लिए उसने अनेक दुर्गों का निर्माण कराया और प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र नोवगोराड को स्वीडेन से वापस लिया। उसने पोलैंड के राजा से सन्धि (1634) की। पोलैंड के राजा ने रूस के सिंहासन पर अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और इसके बदले में उसे पर्याप्त धन एवं स्मोलेंस्क का नगर प्राप्त हुआ।

माइकेल के पुत्र जार अलेक्सिस के समय (1645-76 ई०) में रूस और पोलैंड का संघर्ष पुनः प्रारम्भ हुआ। रूस और पोलैंड के बीच यूक्रेन का विस्तृत मैदान था जिसमें कोसकों (Cossacks) की युद्ध-प्रिय जाति रहती थी। दोनों देशों के बीच में होने के कारण कोसक लोग अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में असमर्थ थे। रूस और पोलैंड में

यूक्रेन के अधिकार के लिए अनेक युद्ध हुए। इस बीच जार अलेक्सिस पर्याप्त शक्ति-संचय कर चुका था। अतः पोलैंड को बाध्य होकर यूक्रेन का बँटवारा स्वीकार करना पड़ा (1667) और रूस की सीमा पश्चिम में नीपर नदी के किनारे तक पहुँच गयी। जार ने स्मोलेस्क नगर भी प्राप्त किया। इस प्रकार "पोलैंड के साथ तेरह वर्षीय युद्ध ने रूस पर यूरोपीय राज्य के रूप में पहली छाप लगायी।" उसके शासन-काल में मास्को के धर्माध्यक्ष ने राज-शक्ति के ऊपर चर्च की प्रधानता स्थापित करने की चेष्टा की। जार ने उसे पदच्युत कर चर्च पर राज्य की प्रभुता की रक्षा की। वह रूस के विकास के लिए यूरोप के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहता था, परन्तु देश की परम्परा तोड़ने में वह सफल न हो सका। अलेक्सिस के पुत्र जार थियोडोर (1676-82 ई०) ने सरदारों की मर्यादा और गौरव को कम करने की चेष्टा की और कुछ अंशों में उसे सफलता भी प्राप्त हुई।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में मास्को नगर में अनेक अंग्रेज और डच व्यापारी, स्काटलैंड के सैनिक अफसर और अनेक विदेशी राजदूत उपस्थित रहा करते थे। उनकी उपस्थिति में रूसियों के दृष्टिकोण में विकास हुआ। पश्चिमी आदर्शों और रहन-सहन का भी देश में प्रचार करने का प्रयत्न हुआ। परन्तु इसके बावजूद देश में शिक्षा का घोर अभाव था, उद्योग धन्धे नहीं के समान थे, व्यापार सीमित था और देश में मद्यमान का अत्यधिक प्रचार था। रूसियों के बाहरी देशों में जाने पर शासन की ओर से अनेक रुकावटें उत्पन्न की गयी थीं। वस्तुतः पश्चिमी यूरोप और रूस में प्रत्येक दृष्टि से बहुत अन्तर था।

पीटर महान्

रूस को यूरोपीय सभ्यता और राजनीति में प्रविष्ट करने का श्रेय पीटर महान् को है। वह 1672 ई० में पैदा हुआ था और दस वर्ष के बाद अपनी बहन सोफिया के संरक्षण में अपने भाई इवान के साथ गद्दी पर बैठा। 1689 ई० में सोफिया शासनाधिकार से हटा दी गई और पीटर के हाथों में शक्ति आई। परन्तु अभी भी सरदार-वर्ग, चर्च और उसके अंगरक्षकों की शक्ति इतनी प्रबल थी कि बिना उसको क्षीण या नष्ट किये पीटर अपनी सुधार की नीति को कार्यान्वित नहीं कर सकता था। यद्यपि इवान की मृत्यु तक (1696 ई०) राज्य पर दोनों भाइयों का संयुक्त अधिकार रहा, परन्तु अयोग्य इवान ने पीटर के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् पीटर ने अपने हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण किया और नृशंसतापूर्वक सभी बाधाओं को हटाकर उसने एक पूर्ण स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना की।

गृह-नीति—पाश्चात्य सभ्यता और राजनीति में प्रायः नगण्य रूस को नये मार्ग पर लाने में तीन मुख्य बाधायें थीं। अंगरक्षक-दल (Streltsi), सरदार-सभा (Boyars)

और चर्च। पीटर अच्छी तरह समझता था कि इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों का दमन किए बिना रूस का पाश्चात्यीकरण संभव नहीं है। उसके अंगरक्षक यद्यपि आलसी और अयोग्य थे, किन्तु वे शक्तिशाली और सुधारों के विरोधी थे। उनकी तुलना टर्की के जैनिसरीज और प्राचीन रोमन सम्राटों के प्रीटोरियन रक्षकों से की जा सकती है। जब 1698 ई० में पाश्चात्य देशों की यात्रा से पीटर लौट रहा था तो उसे अपने अंगरक्षकों के विद्रोह का समाचार मिला। उनका उद्देश्य विदेशियों को रूस से निकालना और पीटर के स्थान पर सोफिया की संरक्षता मे उसके अल्पवयस्क पुत्र अलेक्सिस (Alexis) को गद्दी पर बैठाना था। इस षड्यन्त्र में पुरोहित और अंगरक्षक दोनों दलों ने भाग लिया था। यह समाचार पाते ही पीटर तुरन्त रूस लौटा और यद्यपि तब तक विद्रोह दब गया था, लेकिन उसने अत्यन्त निर्दयता और नृशंसता के साथ अंगरक्षकों का दमन किया। लगभग एक हाजर से ऊपर घोर यातनाओं के साथ मृत्यु के घाट उतर गये। उनका सिर काटने में पीटर ने स्वयं भी भाग लिया। मठ में बन्दी सोफिया की खिड़की के सामने तीन विद्रोहियों को फाँसी दी गई उसने अंगरक्षक दल को भंग कर यूरोपीय ढंग पर एक सेना का निर्माण किया।

पीटर के मार्ग में दूसरी बाधा सामन्त-सभा थी। रूस के सरदार उसकी सुधारवादी नीति से अप्रसन्न थे। उसने इस सभा के स्थान पर एक समिति बनाई, जिसका काम केवल परामर्श देना था। समिति के सदस्यों की नियुक्ति पीटर स्वयं करता था। उनका नियमों के निर्माण में कोई अधिकार न रहा। इस प्रकार सामन्त-सभा नियम-निर्माण के सीमित अधिकारों से भी वंचित कर दी गई। पीटर ने अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए एक नये उच्च वर्ग की स्थापना की। इनकी सदस्यता उन लोगों को प्राप्त हुई जो सेना और शासन-विभाग में पदाधिकारी थे और सम्राट् के प्रति पूर्णतया राजभक्त थे। नये सरदारों की संख्या पुराने लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक थी।

सुधारों के विरोध का तीसरा केन्द्र चर्च था। हरेक देश में धर्म प्रतिक्रियावादी शक्तियों का अड्डा रहा है। 1697-98 ई० में जब पीटर विदेशी यात्राओं पर गया था, तब चर्च के पदाधिकारियों ने विद्रोह में प्रमुख भाग लिया था। 1700 ई० में जब रूसी चर्च के प्रधान (Patriarch) की मृत्यु हुई तब पीटर ने उसका उत्तराधिकारी नहीं नियुक्त किया, बल्कि उसकी जगह पर एक प्रशासक की नियुक्ति की और 1721 ई० में उसने एक धार्मिक समिति (Holy Synod) की स्थापना की। चर्च के प्रबन्ध, उसके कर्मचारियों की नियुक्ति, पुस्तकों के प्रकाशन आदि विषयों पर इस समिति को पूर्ण अधिकार दिये गये। समिति के सदस्यों को पीटर स्वयं नियुक्त करता था और वे उस पर पूर्णतः अवलम्बित थे। इस तरह वह चर्च का प्रधान हो गया और धार्मिक विषयों में उसके अधिकार उसी प्रकार के हो गये हैं जैसे 16वीं शताब्दी में इंगलैण्ड में हेनरी अष्टम

ने चर्च पर अपनी प्रधानता स्थापित की थी। निरंकुशता के प्रतीक पीटर को चर्च की स्वतन्त्रता कब सह्य हो सकती थी। उसने अपने शासन-काल के पूर्वार्द्ध में चर्च की सम्पत्ति की जाँच करवाई और उसकी बचत के अंश को जब्त कर उसे शिक्षा और घायल सैनिकों की देख-रेख पर खर्च किया।

शासन-प्रबन्ध के लिए पीटर ने स्वीडेन के ढंग पर एक नौकरशाही का निर्माण किया। शासन के निरीक्षण के लिए एक सिनेट बनाई गई जिसके सदस्य उसके द्वारा नियुक्त राज्य के उच्च कर्मचारी होते थे। न्याय, वित्त और सेना के प्रबन्ध के कार्य इसको दिये गये। वास्तव में यह सीनेट पीटर के निरंकुश शासन का एक प्रधान माध्यम थी। यद्यपि इसके अधिकारों का क्षेत्र काफी विस्तृत था, परन्तु इसको नियम-निर्माण का अधिकार नहीं प्राप्त था। प्रान्तीय शासन का प्रबन्ध जार द्वारा नियुक्त गवर्नर करते थे। कर्मचारियों की नियुक्ति और उन्नति योग्यता पर निर्भर थी। भ्रष्टाचारी पदाधिकारियों को बहुत कड़े दण्ड दिये जाते थे, परन्तु वास्तव में उनका जीवन इतना दूषित था कि इन सुधारों के बावजूद भी भ्रष्टाचार का अन्त न हो सका।

सभ्यता की दौड़ में पिछड़े हुए रूस की उन्नति के लिए पीटर ने पाश्चात्य देशों की शासन-पद्धति, सभ्यता, रहन-सहन, उद्योग-धन्धे और सैनिक संगठन के आधार पर बहुत से सुधार किये। 1697-98 ई० में वह जर्मनी, हालैंड और इंगलैंड गया। हालैंड में उसने एक साधारण बढ़ई की तरह जहाज बनाने का काम सीखा। इसके अतिरिक्त उसने शरीर-रचना-शास्त्र, कागज बनाने और आटा पीसने के कारखाने तथा छापाखाना आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की। इंगलैंड में भी उसने जहाज बनाने का काम सीखा और वहाँ के उद्योग-धन्धों का निरीक्षण किया। प्रशा में उसने सैनिक संघटन का ज्ञान प्राप्त किया। पीटर ने ये यात्रायें भ्रमणार्थ नहीं, शिक्षा प्राप्त करने के लिये, की थीं स्वयं आवश्यक बातों की जानकारी प्राप्त कर वह रूस का आधुनिक ढंग पर निर्माण करना चाहता था। उसने इंजीनियरिंग, चिकित्सा, स्थापत्य, उद्योग और जहाज का काम सिखाने के लिए विदेशों से बहुत से लोगों को बुलवाया। केवल हालैंड से ही 500 आदमी बुलाए गए थे। परन्तु स्मरण रहे कि पीटर सदैव के लिए रूस को परमुखापेक्षी नहीं रखना चाहता था वह चाहता था कि कालांतर में इन विषयों की जानकारी प्राप्त कर रूसी सभी कार्य स्वयं कर सकें। उसने मुख्य पदों पर अपने देश के ही लोगों को नियुक्त किया। इस दृष्टि से उसने बुद्धिमानी की, क्योंकि सतर्क न रहने पर विदेशी सहायता विदेशी नियंत्रण का रूप धारण कर लेती है। रूस से व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के लिए पीटर ने कम्पनियों की स्थापना की और दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सन्धियाँ कीं। विदेशियों को रूस में बसने की सुविधायें दी गईं। बहुत-सी मिलें स्थापित की गई और उद्योग-धन्धों की शिक्षा के लिए टेक्निकल स्कूल खोले गये।

रहन-सहन में पीटर रूस को पाश्चात्य देशों की तरह बनाना चाहता था। वहाँ के लोगों का रहन-सहन पूर्वी ढंग का था। उच्च वर्ग के लोग दाढ़ियाँ रखते थे और स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं। पीटर ने उनको दाढ़ी मुड़वाने की आज्ञा दी और स्वयं अपने हाथों से उसने बहुतों की दाढ़ियाँ मूड़ीं। जो लोग दाढ़ी रखना चाहते थे उन्हें कर देना पड़ता था। दरबार में उसने पाश्चात्य ढंग का कपड़ा पहनने और धूम्रपान पर जोर दिया। रूस में अभी तक लम्बे वस्त्रों के पहनने का रिवाज था। नाच आदि मनोरंजन में भी पाश्चात्य प्रणाली अपनायी गयी। पीटर ने पर्दा-पद्धति हटाने का प्रयत्न किया। स्त्रियों को दरबार के मनोरंजन में पुरुषों के साथ सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। उसने उच्च वर्ग के लोगों को अपने घरों पर पार्टी देने की आवश्यकता पर जोर दिया। अभी तक रूसी साल का आरम्भ पहली सितम्बर से होता था, अब उसकी गणना पहली जनवरी से होने लगी।

पीटर जानता था कि बिना शिक्षा के समाज का ढाँचा बदलना असम्भव है, अतः उसने उच्च वर्ग की शिक्षा पर बड़ा जोर दिया। एक राजाज्ञा द्वारा उनके लिए पढ़ना-लिखना और एक विदेशी भाषा का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया। प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाठशालायें खोली गई। जिनमें सरकारी कर्मचारियों के लड़कों का जाना आवश्यक था। नौ-सेना, इंजीनियरिंग और चीर-फाड़ की शिक्षा के लिए स्कूल खोले गये। गणित और विमान के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया। 1724 ई० में विज्ञान की एक अकादमी की स्थापना हुई। ज्ञान-वृद्धि के लिए रूसी भाषा में विदेशी साहित्य का रुपान्तर किया गया। पीटर के ही समय में पहला सार्वजनिक समाचार-पत्र पहला अजायबघर और पहला अस्पताल खुला। पाश्चात्य देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध कायम रखने के लिए उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग (लेनिनग्राड) को राजधानी बनाया। 1703 ई० में इस नगर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे इसकी आबादी और मकानों की संख्या बढ़ने लगी। बड़े-बड़े अमीरों के लिए वहाँ अपना निजी मकान रखना आवश्यक कर दिया गया। परंपराओं और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के गढ़ मास्को की अपेक्षा इस नगर में पाश्चात्यीकरण का कार्य काफी सरल था।

पीटर ने जल और स्थल सेना का भी संघटन किया। राज्य-विस्तार और अपनी शक्ति को दृढ़ रखने के लिए यह सुधार आवश्यक था। बहुत से रूसी विदेशों में सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजे गये। फ्रेंच और वेनीशियन जल-सेना में भी काम करने वालों की संख्या 47 थी। पीटर की मृत्यु तक सैनिकों की संख्या दो लाख हो गई थी। नौ-सेना में भी काफी वृद्धि हुई। उसमें 48 युद्ध-पोत और 800 छोटे जहाज थे।

बाह्य-नीति—पीटर की परराष्ट्रनीति का उद्देश्य रूस के लिए समुद्र तट प्राप्त करना था। उसको एक यूरोपीय शक्ति प्रदान करने और उसकी व्यापारिक उन्नति के लिए यह अत्यावश्यक था, परन्तु उसकी सीमाओं पर स्वीडेन, टर्की और पोलैंड के राज्यों की ऐसी दीवारें खड़ी थीं कि रूस जमीन से घिरा हुआ एक देश हो गया था। उसके पास ऐसे बन्दरगाह न थे जो साल भर काम दे सकें। पीटर के सामने उनमें खिड़कियां खोलनें का कठिन प्रश्न था, जो बिना युद्ध के संभव न था। 1695 ई० में उसने तुर्कों से आजोफ (Azov) लेने का प्रयत्न किया परन्तु विफल रहा। जाड़े में प्रशा और आस्ट्रिया से कारीगर बुलाये गये और एक नौसेना का संगठन किया गया। 1696 ई० में उसने आजोफ पर दूसरा आक्रमण किया और इस बार वह सफल हो गया, यद्यपि आगे चलकर यह फिर उसके हाथ से निकल गया।

पीटर को अपने तीन शत्रुओं में से केवल स्वीडेन के विरुद्ध सफलता प्राप्त हुई। जब 1697 ई० में पन्द्रह वर्षीय चार्ल्स द्वादश स्वीडेन की गद्दी पर बैठा तब उसके शत्रुओं को अपने शक्ति-विस्तार का अच्छा अवसर दिखाई दिया। पोलैंड, डेनमार्क और रूस ने उंस पर आक्रमण करने की योजना बनाई, परन्तु उन्होंने चार्ल्स की शक्ति तथा योग्यता के संबंध में गलत अनुमान किया था। नार्वा (Narva) के स्थान पर उसने 8000 सैनिकों से पीटर की पांच गुनी बड़ी सेना को परास्त किया। बन्दी सैनिकों की संख्या ही स्वीडिश सेना से अधिक हो गई। पीटर की यह हार सैनिक प्रशिक्षण के अभाव के कारण हुई थी। उसने अपनी विफलता से लाभ उठाया और सेना का पुनः संघटन किया। विजयोन्मत्त चार्ल्स अपने शत्रुओं को अयोग्य और अपने को अजेय समझने लगा। 1701 ई० तक उसने अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर दिया था, परंतु अभी उसकी विजय लिप्सा शांत न हुई थी। उसके सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि वह पोलैंड पर आक्रमणा करे या रूस पर। उसके बुद्धिमान और अनुभवी सलाहकारों ने रूस पर आक्रमण करने की सलाह दी यूरोप और स्वीडेन का भाग्य चार्ल्स के निर्णय पर निर्भर करता था। 1702 ई० में उसने पोलैंड पर आक्रमण करने का निश्चय किया और वारसा पर अधिकार कर लिया। चार्ल्स का यह निर्णय प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हुआ था न कि नीति से। जब वह पोलैंड और सैक्सोनी के युद्धों में फँसा हुआ था, पीटर ने अपनी सेना का संगठन किया और इंग्रिया तथा करीलिया पर अधिकार कर लिया। अब चार्ल्स ने रूस पर आक्रमण करने का निश्चय किया। यदि वह बाल्टिक के पूर्वी तट की ओर सीधे बढ़ा होता तो उसकी सफलता निश्चित थी, परंतु उसने रूस की राजधानी मास्को लेने की सोची। 1708 ई० में उसकी सेना ने उस दिशा में अभियान किया और सितंबर में मास्को केवल 300 मील दूर रह गया था। पीटर ने जमकर कोई युद्ध न किया, बल्कि

छिटपुट धावों से उसकी सेना को परेशान किया। अभी भी चार्ल्स बच सकता था यदि वह लेवेनहाप्ट (Levenhaupt) जो कुमक और रसद के साथ आ रहा था के आने तक रुका रहता। परंतु उसने कोसकों (Cossacks) के सेनापति माजेपा (Mazepa) से संधि कर दक्षिण की ओर यूक्रेन में अभियान किया। यद्यपि कोसक स्वीडेन की सहायता से रूसी आधिपत्य से मुक्त होना चाहते थे, किन्तु उन्होंने केवल 5000 सैनिकों की एक सेना तैयार की। इस अभियान में कड़े जाड़े के कारण चार्ल्स की सेना को गहरी क्षति हुई। पीटर ने उसकी गलती से काफी लाभ उठाया। उसने लेवेनहाप्ट की सेना पर आक्रमण कर उसको तितर-बितर कर दिया। वह किसी प्रकार अपनी शेष सेना के साथ चार्ल्स की सहायता के लिए पहुँच सका। इस क्षति से स्वीडेन की हार निश्चित थी। 1709 ई० में चार्ल्स ने पोल्टवा (Poltava) का घेरा डाला। परन्तु तोपखाने के अभाव में स्थिति प्रारम्भ से ही निराशाजनक थी। पीटर सात हजार सैनिकों के साथ वहाँ पहुँचा। अभाग्यवश पैर में गोली की चोट लगने से चार्ल्स सैन्य-संचालन का का[illegible] [illegible]छी तरह नहीं कर सकता था। पीटर की शानदार विजय हुई। चार्ल्स के बीस हजार सैनिक बन्दी बनाये गये। वह कुछ साथियों के साथ दक्षिण की ओर भागा और किसी प्रकार तुर्क भूमि में पहुँचा।

इस विजय के पश्चात् पीटर ने लिवोनिया और इस्टोनिया पर अधिकार कर लिया। बाल्टिक पर उसका अधिकार दृढ़ हो गया और अब सेण्ट पीटर्सबर्ग के निर्माण का काम बिना डर के हो सकता था। परन्तु दक्षिण में चार्ल्स तुर्कों को रूस के विरुद्ध उभाड़ने में सफल हुआ। इसमें संदेह नहीं की टर्की को जितना रूस की शक्ति-वृद्धि से भय था उतना किसी भी यूरोपीय राज्य से नहीं। 1711 ई० में टर्की और रूस में युद्ध छिड़ गया। तुर्कों का मुकाबिला करने के लिए पीटर स्वयं उधर बढ़ा, परन्तु प्रूथ नदी के किनारे वह उसी प्रकार घिर गया जैसे चार्ल्स पोल्टवा में घिरा था। ऐसा जान पड़ा कि आत्म-समर्पण के सिवा इसको कोई दूसरा चारा नहीं रह जायेगा। परन्तु टर्की के वजीर की मूर्खता और कैथरीन की, जो कालांतर में पीटर की स्त्री और उत्तराधिकारिणी हुई, चालाकी से ऐसी स्थिति न आई। कैथेरीन ने धन का प्रलोभन देकर वजीर से संधि की बातचीत की और 1711 ई० में प्रूथ की संधि हो गई। पीटर को आजोफ छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस क्षति से उसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा, परन्तु इतने बड़े खतरे से बचने के लिए, यह कोई अधिक मूल्य नहीं था। यद्यपि पीटर टर्की के विरुद्ध सफल नहीं हुआ, परन्तु स्वीडेन से जीते हुए प्रान्त सुरक्षित रहे। टर्की से लौटकर चार्ल्स ने नार्वे पर आक्रमण किया, किन्तु विफल रहा। दूसरी बार के आक्रमण में, जब वह दुर्ग का घेरा डाला था, उसे एक गोली लगी और उसकी मृत्यु हो गई। 1721 ई० में रूस और स्वीडेन ने न्यूस्टाड की संधि कर ली, जिससे रूस को इंग्रिया, स्टोनिया, लिवोनिया,

करीलिया तथा फिनलैंड के कुछ भाग मिले। इस प्रकार बाल्टिक-तट के काफी बड़े भाग पर रूस का अधिकार हो गया।

पीटर के कार्यों का मूल्यांकन—पीटर का कार्यों का मूल्यांकन केवल प्राप्त सफलता के आधार पर नहीं, बल्कि उसके उद्देश्य पर दृष्टि रखकर करना चाहिये। वह रूस का यूरोपीकरण एवं पाश्चात्यीकरण करना चाहता था। इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों ही बातें रूस के लिए नितान्त आवश्यक थीं। अपने सुधारों में वह कुछ हद तक सफल रहा और कुछ हद तक विफल। परन्तु उसके उद्देश्यों की यथार्थता में कोई संदेह नहीं। रूस के पाश्चात्यीकरंण का विकल्प उसको पिछड़ी हुई स्थिति में छोड़ रखना था, परन्तु ऐसी नीति सर्वथा हानिकारक और गलत होती। इस सम्बन्ध में उसकी यह आलोचना कि उसने एक ऐसे पिछड़े हुए देश पर सुधार लादने का प्रयत्न किया जो उसके लिए तैयार नहीं था, ठीक नहीं जँचती। उसने रूस में पाश्चात्य सभ्यता का बीजारोपण किया और उसका मुँह पश्चिम दिशा की ओर कर दिया। यूरोपीय देशों को उसे अपने परिवार का सदस्य स्वीकार करना पड़ा। यदि पीटर पूर्णतः सफल नहीं हुआ तो उसका कोई दोष नहीं। उस समय कोई भी व्यक्ति अपने जीवन-काल में काया-पलट नहीं कर सकता था।

पीटर की निरंकुशता की भी तीव्र आलोचना हुई है और सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक भी है। परन्तु यूरोप की तत्कालीन स्थिति और रूसी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को ध्यान में रखते हुए यह कहना गलत न होगा कि बिना निरंकुशता के सुधारों का कार्य प्रायः असम्भव था। पीटर की विस्तार की नीति का भी समर्थन करना बहुत कठिन है, परन्तु रूस के लिए समुद्र-तट प्राप्त करने की नीति सर्वथा अनावश्यक नहीं कही जा सकती। हाँ, महत्वाकांक्षी शासकों के जीवन में विस्तार की कोई निश्चित परिधि नहीं होती और रूस के शासक इसके अपवाद नहीं थे। पीटर के उत्तराधिकारियों ने—जिनमें कैथरीन द्वितीय का नाम बहुत प्रसिद्ध है—उसकी साम्राज्यवादी नीति को संपुष्ट और संवर्द्धित किया। इस परम्परा के आकर्षण से वर्तमान सोवियत रूस भी अपने को बचा नहीं पाया है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पीटर ने रूस को एक आधुनिक यूरोपीय राज्य बनाया जिसे आगे चलकर कैथेरीन ने एक महान राज्य के रूप में परिवर्तित किया इन कारणों से पीटर आधुनिक रूस का पिता कहा गया है।

पीटर के कार्यों के दोष भी काफी स्पष्ट हैं। उसके सुधारों की सफलता व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करती थी, अतः ऐसी व्यवस्था का रूप कभी स्थायी नहीं हो सकता था। पीटर ने शक्ति का केन्द्रीकरण अपने हाथों में किया और उसके उत्तराधिकारियों ने भी उसी की नीति का अनुसरण किया। इसंके परिणामस्वरूप रूस की शासन व्यवस्था में

संस्थाओं का सदैव अभाव बना रहा। दूसरे, पीटर ने जनसाधारण के सुख के लिए कोई भी सुधार नहीं किया। उसके सुधारों से केवल उच्चवर्ग के लोग प्रभावित हुए। उसने सेवा के आधार पर एक नये उच्चवर्ग की भी स्थापना की, जिसके सदस्यों की संख्या पुराने सरदारों से कई गुनी अधिक हो गई। अनुमान है कि सुधारों के पूर्व सरदारों के 3000 परिवार थे, जबकि 1737 ई० में उनकी संख्या एक लाख थी। यही वर्ग भूमि का स्वामी था साधारण किसानों का जीवन उसकी इच्छा पर निर्भर करता था। कालान्तर में उनकी स्थिति दासों की तरह हो गई। यद्यपि रूसी समाज का ऐसा विकृत रूप पीटर के सुधारों से ही नहीं हुआ, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने उच्च वर्ग की संख्या में वृद्धि करके एक ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी जो किसानों की दशा बिगाड़नें में सहायंक हुई। तीसरे, पीटर यूरोपीय सभ्यता के भौतिक रूप से बहुत आकृष्ट हुआ। उसने सैनिक संगठन, शासन-सुधार, शिष्टाचार और उद्योग-धन्धों पर तो बड़ा जोर दिया, परन्तु मानसिक उन्नति में, जो मनुष्य को सभ्य बनाती है, उसकी रुचि न थी।

पीटर का चरित्र—पीटर बहुत ही परिश्रमी व्यक्ति था। काम करने में उसे थकावट नहीं होती थी। वह निरंकुशता में पूर्ण विश्वास रखता था। अपने मार्ग की बाधाओं को दूर करने में उसे किसी प्रकार की भी हिचक न होती थी। जब 1716 ई० में उसकी अनुपस्थिति में उसके एकमात्र पुत्र अलेक्सिस (Alexis) ने उसके सुधारों को उलटने का प्रयत्न किया तब उसको षड्यंत्र के अभियोग में मृत्यु-दण्ड दिया गया, परन्तु कारावास में ही उसकी मृत्यु हो गई। साढ़े छह फुट ऊंचे पीटर ने अपने विद्रोही अंगरक्षकों के वध करने में स्वयं भी भाग लिया था। वास्तव में उसके चरित्र में कोई चीज स्वल्प मात्रा में नहीं थी। उसकी कार्य करने की शक्ति, प्रतिशोध की भावना, निर्दयता, क्रोध और जल्लादी असीमित थी। उसके गुण और दोष सभी अत्यधिक थे। इस प्रकार पीटर के जीवन का एक ऐसा रूप हमारे सामने आता है जिसमें मानवीय गुणों का बिल्कुल अभाव दिखाई देता है, और वह हमें ऐटिला (Attila) हूण की यादं दिलाता है। परन्तु जब हम उसके सुधारों की ओर देखते हैं, तो हमें कोल्बैर का स्मरण हो आता है। रूस की बहुमुखी उन्नति के लिए पीटर ने जितनी निष्ठा और परिश्रम से कार्य किया उससे वह कुछ अंशों में आगे देता निरंकुश शासकों के आगमन की सूचना दद्यता है। उसने अपनी आय का काफी भाग राज्य को दे दिया था। वह सार्वजनिक धन को निजी सुख पर व्यय नहीं करता था। इंगलैंड और हालैंड में जाकर उसने बहुत सी चीजें एक साधारण आदमी की तरह सीखीं और उनका आरम्भ अपने देश में किया। वह प्रारम्भ से ही रूस की आवश्यकतायें समझता था और उनकी पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा। उसके सुधारों का रूप व्यावहारिक था और निःसन्देह उसने जिन वस्तुओं को हटाया उनके स्थान पर उनसे अच्छी वस्तुएँ प्रतिष्ठित कीं। परराष्ट्र नीति में वह

महत्वाकांक्षी था। वह रूस के लिए यूरोपीय राज्यों में एक सम्मानित स्थान प्राप्त करना चाहता था, परन्तु इस क्षेत्र में उसे आंशिक सफलता ही मिली। अपने शासन-काल में पीटर ने सम्राट की उपाधि ग्रहण की। बहुत से देश, विशेषकर आस्ट्रिया, रूस के शासकों की इस उपाधि के विरुद्ध थे। आस्ट्रिया का सम्राट नहीं चाहता था कि कोई शासक यह उपाधि धारण कर उसकी बराबरी करने को दावा करें परन्तु पीटर और उसके उत्तराधिकारियों ने उपाधि न छोड़ी और अन्त में यूरोपीय राज्यों ने उसे स्वीकार कर लियां। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अनेक दोषों के बावजूद भी पीटर एक असाधरण योग्यता का व्यक्ति था और वह आधुनिक रूस का जन्मदाता कहा जा सकता है।

पीटर महान् के उत्तराधिकारी

कैथेरीन प्रथम (1725-27 ई०)—जार पीटर महान् ने रूस के यूरोपीकरण की यथाशक्ति चेष्टा की थी, परन्तु भविष्य में भी उसकी नीति कार्यान्वित हो सकेगी, इस विषय में उसे सन्देह था। उसने अपने पुत्र और युवराज अलेक्सिस को अपना अनुयायी बनाने का निष्फल प्रयत्न किया और अन्त में अपने आदर्शों की रक्षा के लिए उसने राजकुमार की बलि भी दे दी। फलतः जार की मृत्यु के पश्चात् उसकी महारानी कैथेरीन रूस की जारिना बनी जिसने दो वर्षों तक शासन किया। उसके शासन-काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना रूस और आस्ट्रिया की सन्धि (1726) है। यह मुख्यतः रक्षात्मक सन्धि थी जिसमें यह निश्चित हुआ था कि यदि इन दोनों में से कोई भी किसी तीसरी शक्ति द्वारा आक्रान्त हुआ तो दूसरा 30,000 सैनिकों के साथ उसकी सहायता करेगा। रूस ने आस्ट्रिया के सम्राट चार्ल्स को उसकी 'राज्याधिकार-स्वीकृति' की रक्षा का भी आश्वासन दिया साथ ही दोनों राज्यों ने टर्की के विरुद्ध एक होने का निश्चय किया।

पीटर द्वितीय (1727-30 ई०)—जारिना कैथेरिन प्रथम के पश्चात् पीटर महान् का पौत्र और अलेक्सिस का पुत्र पीटर द्वितीय रूस का जार हुआ। इसके शासन-काल में रूस में पीटर महान् की यूरोपीयकरण की नीति के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई। रूढ़िवादी रूसी सरदारों का फिर से बोलबाला हुआ और राजधानी सेंट पीटर्सबर्ग से हटाकर पुरानी परिपाटी के पोषक मास्को नगर में स्थापित हुई। पीटर द्वितीय का शासन-काल केवल तीन वर्षों तक ही रहा। वस्तुतः पीटर महान् की मृत्यु के बाद इन पांच वर्षों में रूस की दुर्बलता बढ़ती जा रही थी, परन्तु यह उसका सौभाग्य था कि उसके पड़ोसी राज्य स्वयं दुर्बल थे और रूस की दुर्बलता का लाभ उठाने की उनमें क्षमता न थी। स्वीडेन को तो पीटर महान् ने इतना अधिक निःशक्त कर दिया था कि वह रूस की ओर आँख उठाकर भी देखने में असमर्थ था। दूसरी ओर पोलैंड और टर्की स्वयं अपनी आन्तरिक कठिनाइयों के शिकार बने हुए थे। फलतः रूस बाह्य आक्रमणों से पूर्णतः वंचित रहा।

एन (1730-40)—पीटर द्वितीय के पश्चात् रूस में रोमनाफ वंश के पुरुषों का उत्तराधिकार समाप्त हो गया और अब पुत्रियों के उत्तराधिकार की बारी आई। जारिना एन, जो पीटर द्वितीय की उत्तराधिकारिणी हुई, पीटर महान् के बड़े भाई इवान की पुत्री थी और कूरलैंड के ड्यूक से ब्याही थी। इसके शासनकाल में भी रूढ़िवादी सरदारों ने अपना प्राबल्य स्थिर रखने के निमित्त उसके अधिकारों को सीमित करना चाहा। परन्तु जारिना होने के पूर्व सरदारों के प्रति उसका अनुभव अति कटु रह चुका था, फलतः वह इन पर विश्वास करने के लिए प्रस्तुत न थी। उसने छोटे सरदारों, पादरियों और अंगरक्षक सेना की सहायता से इन सरदारों को दबाया, उनकी परिषद् को भंग किया और निरंकुश शासन की स्थापना की। उसने रूढ़िवादी सरदारों को दबाकर उन्हें राजकीय अनुशासन के अधीन किया और नवीनता के प्रतीक सेंट पीटर्सबर्ग में फिर से राजधानी की स्थापना की। एन ने राज्य के सभी महत्वपूर्ण पदों पर विदेशियों को नियुक्त किया जिनकी राज्य-भक्ति पर वह पूर्ण विश्वास कर सकती थी। वह स्वयं सावधान और विवेकशील थी, राजकीय कार्य में दिलचस्पी लेती थी और अनुभवी व्यक्तियों के परामर्श पर उचित ध्यान देती थी। एन की बाह्य नीति का आधार आस्ट्रिया के साथ मित्रता का सम्बन्ध था। उसने फ्रांस की मित्रता के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया जिससे रूस पर फ्रांसीसी प्रभाव बहुत कम हो गया।

जारिन एन के समय में रूस और टर्की के बीच युद्ध (1736-39 ई०) छिड़ गया। टर्की की ईसाई प्रजा द्वारा सहायता की याचना, दक्षिणी रूस पर तातारियों के धावे और दक्षिण में कृष्ण सागर तक सीमा-विस्तार की रूसी नीति आदि इस युद्ध के प्रधान कारण थे। इस युद्ध में प्रारम्भ में आस्ट्रिया ने रूस का साथ दिया, परन्तु शीघ्र ही फ्रांस के प्रभाव से आस्ट्रिया ने तुर्कों के साथ अलग संधि कर ली। उधर स्वीडेन के आक्रमण तथा देश में रूढ़िवादी सरदारों के विद्रोह की आशंका से अपनी प्रारम्भिक विजयों के बावजूद रूस ने टर्की के साथ बेलग्रेड की सन्धि (1739) कर ली जिसके द्वारा आजोफ तो रूस के अधीन रह गया, परन्तु अपनी दूसरी विजयों से रूप को हाथ धोना पड़ा। रूस को कृष्ण सागर में अपनी जलसेना के रखने की अनुमति नहीं मिली। इस युद्ध के फलस्वरूप एक ओर टर्की की ओर रूस का बढ़ाव रुक गया और दूसरी ओर रूस और आस्ट्रिया के सम्बन्ध में भी पर्याप्त दुर्बलता आ गयी।

एलिजाबेथ (1741-62 ई०)—एन के पश्चात् उसका पुत्र इवान षष्ठ (1740-41 ई०) जार हुआ। इसी समय आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध (1740-48 ई०) छिड़ गया। रूस इस युद्ध में आस्ट्रिया की सहायता न कर सका, इस विचार से फ्रांस ने स्वीडेन को रूस के विरुद्ध उभाड़ा और उसने 1741 ई० में रूस के साथ युद्ध छेड़

दिया। फिनलैंड में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई जिसमें स्वीडेन पराजित हुआ। इसके बाद ही रूसी राजधानी में क्रांति हो गयी और अंगरक्षक सेना तथा एन के विदेशी मंत्रियों से असन्तुष्ट रूसी सरदारों की सहायता से पीटर महान् की छोटी पुत्री एलिजाबेथ ने सिंहासन पर अधिकार (1741) कर लिया। इवान बन्दी-गृह में डाल दिया गया, जहाँ 1764 ई० में उसकी हत्या कर दी गयी।

एलिजाबेथ अत्यन्त रूपवती और यूरोप की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों में थी। वह शरीर से पुष्ट एवं क्रीडा-प्रिय थी और शिकार आदि से उसे प्रेम था। अपने पिता की भाँति उसमें भी इन्द्रिय-जन्य सुख की प्रबल इच्छा थी। तैंतीस वर्ष की अवस्था में शिक्षा और शासन कार्य के अनुभव से वंचित यह विलासप्रिय राजकुमारी संकटपूर्ण काल में सहसा एक विस्तृत साम्राज्य की स्वामिनी बन बैठी। स्वाभाविक रूप से लोगों का यह विचार था कि उसके शासन काल में शैथिल्य एवं घोर अव्यवस्था का ही प्राधान्य होगा। परन्तु अपनी समस्त दुर्बलताओं के बावजूद वह साधारण स्त्री न थी। उचित व्यक्तियों के चुनाव, उनके योग्य परामर्श के अनुकूल व्यवहार, निर्णयात्मक बुद्धि और व्यावहारिक उमंग में वह अपने पिता का स्मरण दिलाती थी। अपने देश की भलाई उसकी सबसे प्रिय वस्तु थी और इसके लिए वह अपने व्यक्तिगत सुखों और विचारों का परित्याग करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहती थी। वस्तुतः साम्राजय के संकटपूर्ण काल में वह उसका कुशल कर्णधार सिद्ध हुई।

शासनारूढ़ होने के साथ ही एलिजाबेथ ने अपने मन्त्रियों और परामर्शदाताओं के चुनाव में पर्याप्त सतर्कता एवं बुद्धिमानी का परिचय दिया। उसने महारानी एन के समय के विदेशी मन्त्रियों को पदच्युत कर निष्कासित या दण्डित किया और उनके स्थान पर रूसी सरदारों को अपना मंत्री और सलाहकार नियुक्त किया। यद्यपि सेंट पीटर्सबर्ग-स्थित फ्रांसीसी राजदूत ने महारानी के उत्तराधिकार में सहायता पहुंचायी थी, परन्तु स्वीडेन की पराजय के पश्चात उसने एक ओर तो उसके हितों की रक्षा और दूसरी ओर रूस के विरुद्ध स्वीडेन और डेनमार्क तथा स्वीडेन और टर्की की मित्रता का प्रयत्न प्रारम्भ किया। शीघ्र ही उसका अभिप्राय सर्वविदित हो गया और वह फ्रांस वापस चला गया। उसके जाने के एक वर्ष बाद (1743 ई०) स्वीडेन ने रूस को दक्षिणी फिनलैंड देकर सन्धि कर ली। इस सन्धि के द्वारा रूस के लिए स्वीडेन की शत्रुता और फ्रांस के षड्यन्त्र का अन्त हो गया। अब रूस ने यह भली-भाँति समझ लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी स्थिति दृढ़ होने तथा उसके विस्तार के प्रयत्न में फ्रांस सबसे बड़ी बाधा है। फ्रांस, टर्की, पोलैंड तथा स्वीडेन तीनों का मित्र था और यही तीनों रूस के स्वाभाविक शत्रु थे, फलतः फ्रांस ही रूस की बाह्य नीति का केन्द्र बिन्दु बन गया, जिस पर उसके सभी कूटनीतिक सम्बन्ध आधारित थे। रूस ने प्रशा के राजा फ्रेडरिक द्वितीय को भी

प्रारम्भ में इसीलिए शत्रुता की दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया कि फ्रांस के साथ उसकी मित्रता थी। यही कारण है कि जारिना एजिलाबेथ ने अब फ्रांस के शत्रु आस्ट्रिया, इंगलैंड और सैक्सोनी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया।

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध (1740-48 ई०) में रूस ने आस्ट्रिया के साथ रक्षात्मक संधि (1745) की और सेंट पीटर्सबर्ग की सन्धि (1747) के द्वारा इंगलैंड से भी मित्रता स्थापित कर ली। आस्ट्रिया की सहायता के लिए एक रूसी सेना राइन नदी की ओर भी भेजी गयी। इसके पश्चात् शीघ्र ही एक्सलाशापेल की सन्धि (1748) द्वारा इस युद्ध का अन्त हो गया। इस सन्धि से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस का गौरव पर्याप्त बढ़ा और इंगलैंड, आस्ट्रिया और स्वीडेन उसके मित्रों की श्रेणी में आ गये।

जब सन् 1756 ई० में इंगलैंड और प्रशा में तथा उनके विरुद्ध आस्ट्रिया और फ्रांस मे मित्रता स्थापित हो गयी तो रूस ने फ्रांस की अपेक्षा प्रशा को अपनी बाह्य नीति का केन्द्र-बिन्दु बनाया इसके व्यक्तिगत और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही कारण थे। एक ओर तो फ्रेडेरिक द्वितीय के तानों, व्यंग्य-बाणों और अपमानजनक शब्दावली के कारण जारिना अत्यन्त क्रुद्ध थी और दूसरी ओर वह उसे यूरोपीय शान्ति को भंग करने वाला समझती थी उसकी यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि फ्रेडेरिक द्वितीय की शक्ति को निर्बल किये बिना पड़ोसी राज्यों की सुरक्षा सम्भव न थी। उसके विचार में इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह आवश्यक था कि वह पुनः जर्मनी में निर्वाचक (Elector) के रूप में ही रहे और उसके राज्य के शेष भूभाग उससे छीन लिये जायँ। फलतः 1756 ई० में जारिना ने आस्ट्रिया, फ्रांस और स्वीडेन को रूस का साथ देने के लिए निमंत्रित किया जिससे सब मिलकर 'प्रशा के राजा की शक्ति इतनी अधिक कम कर दें कि वह जर्मन साम्राज्य के लिए पुनः खतरनाक न बन सके।' इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जारिना ने वर्साई की सन्धि (1757) को भी स्वीकार किया। उसकी यह पक्की धारणा थी कि प्रशा की शक्ति के नियंत्रण और उसके अपमान में ही रूस के हित निहित हैं। इसीलिए यद्यपि सप्तवर्षीय युद्ध में अपनी पराजयों के कारण फ्रांस और आस्ट्रिया युद्ध जारी रखने के लिए प्रस्तुत न थे, परन्तु जारिना ने बड़ी दृढ़ता के साथ प्रशा के विरुद्ध रूस और इन राज्यों के संघर्ष को बनाये रखा और जब इंगलैंड की सहायता के अभाव में फ्रेडरिक की शक्ति पर्याप्तरूप से क्षीण हो गयी, तो 1761 ई० के निर्णयकारी रूसी आक्रमण पर उसने बहुत जोर दिया था। प्रशा के सौभाग्य से जनवरी, 1762 ई० में जारिना एलिजाबेथ की सहसा मृत्यु हो गयी और प्रशा पूर्णतः पराजित और उसके परिणामस्वरूप पददलित होने से बच गया।

पीटर तृतीय (1762 ई०)—जारिना एलिजाबेथ की मृत्यु के पश्चात् पीटर महान की बड़ी पुत्री एन का पुत्र पीटर तृतीय के नाम से रूस के सिंहासन पर आसीन हुआ। उसका पिता होल्सटाइन का ड्यूक था और पीटर तृतीय अपने पिता की भाँति प्रधानतः जर्मन था और रूसी रहन-सहन स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न था। वह फ्रेडरिक महान का बहुत बड़ा समर्थक और प्रशंसक था। उसने गद्दी पर बैठने के बाद ही उसके साथ सन्धि कर ली और प्रशा के विरुद्ध निर्णयात्मक युद्ध के लिए भेजी गयी रूसी सेनायें वापस बुला ली रूस में पीटर तृतीय का यह कार्य शत्रु के सामने समर्पण तथा देश के लिए अपमानजनक समझा गया। उसे रूस की अपेक्षा होल्सटाइन की ही अधिक चिन्ता थी और उसने होल्सटाइनी सैनिकों को ही अपना अंगरक्षक नियुक्त किया। रूसी सेना में प्रशा के ढंग पर सैनिक अनुशासन प्रारम्भ किया गया। वह लूथरवादी धर्म का समर्थक था और उसने रूसी चर्च का निरादर भी प्रारम्भ किया। अपने इन कार्यों से उसने कुछ ही महीनों में सेना और चर्च दोनों ही को अपना शत्रु बना लिया।

कैथेरीन महान्

सिंहासनारोहण—पीटर की रानी जर्मनी के आन्हाल्ट-जर्बस्ट (Anhalt-zerbst) की राजकुमारी सोफिया थी जिसने विवाह (1745) के पश्चात् अपने नवीन देश का बाना धारण करने के लिए अपना नाम बदलकर कैथेरीन रख लिया और रूसी भाषा, रहन-सहन एवं धर्म को भी अंगीकार कर लिया था। प्रारम्भ से ही पति-पत्नी दोनों का वैवाहिक सम्बन्ध अच्छा न था और 1755 ई० से तो दोनों ही एक-दूसरे से अलग रहने लगे थे। कैथेरीन को अपने पति द्वारा त्याग का भय सदा ही बना रहा और पीटर के जार होने पर यह आशंका और भी उग्र हो गयी। परन्तु गद्दी पर बैठने के बाद से पीटर की लोक-प्रियता शीघ्रता से नष्ट होने लगी और दूसरी ओर उसी अनुपात में कैथेरीन देश की आशा और महत्वाकांक्षा का केन्द्र-बिन्दु बनने लगी। उसने इस बदलती हुई परिस्थिति से लाभ उठाया और पीटर को पदच्युत करने के लिए अपने मित्रों की सहायता से एक षड्यंत्र रचा। इसमें नोवगोराड के आर्चबिशप और दूसरे पादरियों का सहयोग था और रूसी अंगरक्षक सेना ने जुलाई, सन् 1762 ई० में उसे कार्यान्वित कर दिया। पीटर ने पदत्याग स्वीकार कर लिया और कैथेरीन रूस की जारिना घोषित हुई। आठ दिनों के पश्चात पीटर की हत्या कर दी गयी। यद्यपि इस हत्या में कैथेरीन का हाथ न था, परन्तु उसने हत्यारे को कोई दण्ड भी नहीं दिया। जारिना के विषय में यह कहा गया है कि "अगर उसने 1762 ई० की क्रान्ति न की होती तो उसे अपने जीवन या स्वतन्त्रता से अवश्यमेव हाथ धोना पड़ा होता।" जब 1764 ई० में जारिना एन के बन्दी पुत्र इवान षष्ठ की भी जेल में हत्या कर दी गयी तो उसका मार्ग और भी अधिक

निष्कंटक हो गया। इस प्रकार पूरे 34 वर्षों (1762-96 ई०) तक उसने बड़ी सज-धज, शान-शौकत और सफलता के साथ रूस पर शासन किया।

गृह-नीति—कैथेरीन रूस की आन्तरिक और बाह्य नीति में पीटर महान् की नीति की पोषक और समर्थ थी। देश के यूरोपीयकरण की नीति का समर्थक होने का प्रबल कारण स्वयं उसका जर्मन होना है। यूरोप के तत्कालीन बौद्धिक आन्दोलनों का भी उसके ऊपर विशेष प्रभाव था। दूसरी ओर उसे अपने भाग्य और शासन की क्षमता पर पूर्ण आत्मविश्वास था। फलतः उसने पर्याप्त दृढ़ता और विश्वास के साथ शासन का कार्य प्रारम्भ किया। उसके मस्तिष्क में योजनाओं का अभाव न था। फलतः आन्तरिक एवं बाह्य-दृष्टिकोण से अपनी स्थिति दृढ़ कर लेने के पश्चात् उसने सर्वप्रथम देश के कानून को पुस्तक का आकार देने के लिए अखिलरूसी पार्लियामेंट की बैठक बुलाई और देश के विभिन्न वर्गों के 564 प्रतिनिधि अपने-अपने क्षेत्र की जनता के कष्टों की सूची के साथ 1767 ई० में मास्को नगर के क्रेमलिन दुर्ग में एकत्र हुए। प्रतिनिधियों के पथ-प्रदर्शन के लिए कैथेरीन ने फ्रांसीसी दार्शनिक विचारधारा पर आधारित एक विस्तृत आदेश (Nakas) भी प्रस्तुत किया जिसके अनुकूल विधान तैयार कर देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की योजना थी। परन्तु यह योजना तत्कालीन रूस में सर्वथा अव्यवहारिक सिद्ध हुई और पार्लियामेंट के सभी प्रयत्नों के बावजूद एक भी नियम न बन सका। इस विफलता से कैथेरीन को पर्याप्त निराशा हुई और 1768 ई० में टर्की के साथ युद्ध छिड़ जाने से इस प्रयत्न का अन्त ही हो गया।

तत्कालीन यूरोप के उदबुद्ध निरंकुश शासकों (Enlightened Despusts) की कोटि में उच्च स्थान प्राप्त करने की उसकी प्रबल इच्छा थी और इस उद्देश की पूर्ति के लिए उसने चर्च, सेना, नौकरशाही और सरदारों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया। उसके शासन-काल की बाह्य और आन्तरिक सफलताओं ने जारशाही के गौरव में वृद्धि की। नये नगरों की स्थापना हुई, नये-नये विशाल भवनों और राजमहलों का निर्माण हुआ, नये उद्योग-धन्धे, नये समाज तथा विनोद एवं उत्सवों की नवीन प्रणालियों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। उसने रूसियों को सभ्य बनाने और यूरोप को विश्वास दिलाने का, कि रूसी सभ्य हैं, भरपूर प्रयत्न किया। पश्चिमी कला की सुन्दरतम वस्तुओं से सुसज्जित राज-प्रासादों में ही वह विदेशी राजदूतों से मिला करती थी। उसने तत्कालीन साहित्यिक एवं वैज्ञानिक विचारधारा में विशेष अभिरुचि दिखलायी। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् वोल्तेर से उसका पत्र-व्यवहार था और दूसरा फ्रांसीसी विद्वान् दीदरो उसके पुत्र पाता का शिक्षक था। उसने अनेक स्कूलों और विद्वत्-परिषदों (Academy) की स्थापन

की और सभ्य-समाज की भाषा के रूप में फ्रेंच भाषा सीखने के लिए उच्चवर्गीय रूसियों को प्रोत्साहित किया। कृषि सम्बन्धी नवीन प्रयोगों की जानकारी के लिए रूसी राजकुमार इंगलैंड भेजे गये। उसने स्वयं नाटकों और पुस्तिकाओं की रचना की, कवियों और कलाकारों को राजाश्रय एवं संरक्षण प्रदान किया, चित्रों का संचय किया, विदेशी कलाकारों को देश में निमंत्रित किया और रूसियों को यूरोपीय देशों में जाने के लिए प्रोत्साहन प्रदान किया। उसके शासन-काल में अभियुक्तों को केवल शाही आज्ञा से ही शारीरिक यातना दी जा सकती थी। राज-दरबार की सजावट और प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। राज्य में अस्पतालों की स्थापना हुई और उसने स्वयं चेचक का टीका लेकर जनता का पथ-प्रदर्शन किया। उसके शासनकाल में रूसी साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई, राष्ट्रीय नाटक का सृजन हुआ और महाकाव्यों एवं हास्य पूर्ण लेखों की रचना हुई। कवियों ने उसकी सैनिक विजयों की स्मृति में सुन्दर कवितायें लिखीं। परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उसके इन सभी प्रयत्नों में वास्तविकता की अपेक्षा प्रदर्शन की मात्रा अधिक थी। उसने देश की निर्धनता या सर्वसाधारण के अज्ञान को दूर करने का हृदय से कोई भी प्रयत्न नहीं किया। इस विचार की पुष्टि उसके उसके पत्र से ही होती है जिसे उसने उत्तर के रूप में मास्को को राज्यपाल को लिखा था। उस पत्र का प्रासंगिक अंश इस प्रकार है—"मेरे प्रिय राजकुमार, तुम्हारी यह शिकायत व्यर्थ है कि रूसियों में शिक्षा के प्रति अभिरुचि नहीं है। यदि मैं स्कूलों की स्थापना करती हूँ तो ये अपने लिये नहीं बल्कि यूरोप के लिए है जहाँ की जनता की दृष्टि में हमें अपने गौरव की रक्षा करनी है। जिस दिन हमारे किसान शिक्षित होने की अभिलाषा करने लगेंगे उस दिन तुम और हम दोनों ही अपने पदों की रक्षा करने में असमर्थ होंगे।"

कैथेरीन ने आन्तरिक विषयों में जो कुछ भी सुधार या संशोधन किया वे सभी राज्य-शक्ति की वृद्धि की भावना से अनुप्राणित थे और इस संवर्द्धित शक्ति द्वारा वह जनता के उत्थान का कार्य सम्पादित करना चाहती थी। उसने केन्द्रीय शासन की सुदृढ़ता के निमित्त नौकरशाही का संगठन कर उसे सर्वथा अपने अधीन किया। 'वस्तुतः अपना मंत्री, प्रधानमंत्री, (Chancellor) और साम्राज्य परिषद वह स्वयं थी। समस्त साम्राज्य में प्रान्तों और जिलों का पुनर्संगठन हुआ और शासन के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा उनमें क्रमशः राज्यपालों और उप-राज्यपालों की नियुक्तियाँ की गयीं। वह स्थानीय शासन को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए उसे जनता के अधिकाधिक सहयोग पर आधारित करना चाहती थी, परन्तु नौकरशाही और सरदारों के स्थानीय अधिकारों की वृद्धि के कारण उसका यह प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुआ। उसने चर्च को भी, जो अपनी शक्ति और धन के कारण निरंकुश शासन में बाधक था और जिसने पीटर तृतीय के पतन और स्वयं

उसके सिंहासनारोहण में पर्याप्त योग दिया था, पूर्ण रूप से जारशाही के अधीन किया। चर्च की विस्तृत भूमि और उसके बहुसंख्यक दास (Serfs) राज्याधीन कर लिये गये और पुजारियों और साधुओं को राज्य की ओर से वेतन दिया जाने लगा। सरदारों का राजनीतिक महत्व तो कम हो गया था, परन्तु उन सरदारों को, जो उसके शानदार दरबार में सहयोग करते, राज्य और सेना में उच्चतम पद प्रदान किये जाते थे और स्वामिभक्ति एवं श्रद्धापूर्ण सेवा के लिए उन्हें जागीरें दी जाती थीं। वे करों से मुक्त थे और अपने बहुसंख्यक दासों पर उनका अनियन्त्रित अधिकार था जिनकी सहायता से वे राज्य की सैनिक सहायता एवं सेवा करते थे।

कैथरीन को अपने सुधारों में बहुत अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी। इनके अनेक कारण थे। एक ओर तो देश की विशालता, जनसाधारण का अज्ञान, राजकर्मचारियों में प्रचलित भ्रष्टाचार, नौकरशाही की प्रधानता और सरदारों के विशेषाधिकार इन सुधारों को देशव्यापी और सफल बनाने में घोर घातक सिद्ध हुए। दूसरी ओर बाह्य युद्धों के कारण धन-जन की अत्यधिक क्षति हुई, जिससे आन्तरिक विकास के कार्य सुचारु रूप से सम्पादित नहीं किये जा सके। साथ ही फ्रांस की राज्यक्रान्ति (1789) के कारण शासन के अन्तिम वर्षों में उसकी नीति पर्याप्त रूप से प्रतिक्रियात्मक बन गयी थी। जैसे, व्यापार के क्षेत्र में अपने शासन के प्रारम्भिक काल की उदार नीति का परित्याग कर उसने संरक्षण की नीति अपनायी और शिक्षा सम्बन्धी अपने विचारों को क्रान्तिकारी समझकर उसमें भी पर्याप्त परिवर्तन किया।

बाह्यय-नीति—ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि कैथेरीन ने गृह-नीति में 'उद्‌बुद्ध निरंकुशता' की नीति का अवलम्बन कर यूरोपीय राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों के समक्ष अपनी और रूस दोनों की मर्यादा को बढ़ाने की चेष्टा की, परन्तु उसकी बाह्य नीति रूस के लिए अधिक सफल और महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। उसने युद्धों और विजयों द्वारा एक ओर तो देश की सीमा का विस्तार किया और दूसरी ओर यूरोप में रूस को एक प्रबल राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्वीडेन, पोलैंड और टर्की ये तीन राज्य रूस के विकास के मार्ग में बाधक थे। इनमें स्वीडेन को पराजित कर पीटर महान् ने बाल्टिक-तटीय प्रान्तों पर अधिकार कर लिया था जिससे बाल्टिक सागर में रूस के व्यापार और आवागमन का मार्ग उन्मुक्त हो गया था। सबल रूस को पतनोन्मुख स्वीडेन की ओर से अब केवल सतर्क रहने की आवश्यकता थी। परन्तु पश्चिमी यूरोप से सीधा सम्पर्क स्थापित करने तथा कृष्ण और भूमध्य सागर में रूसी व्यापार की वृद्धि के लिए क्रमशः पोलैंड और टर्की से मुठभेड़ अनिवार्य थी। फलतः स्वीडेन पर सबल दबाव और पोलैंड तथा टर्की का पतन और पराजय उसकी बाह्य नीति की प्रधान

विशेषतायें थीं। यद्यपि ये सभी पड़ोसी राज्य दुर्बल थे, परन्तु उनके विरुद्ध सफलता प्राप्त करना बहुत सरल कार्य न था, क्योंकि इन क्षेत्रों में यूरोप के दूसरे राज्यों के साथ हितों का संघर्ष निश्चित था। रूस की शक्ति और सीमा के विस्तार से एक ओर बाल्टिक-क्षेत्र में प्रशा की सुरक्षा और विस्तार-योजना खतरे में थी तो दूसरी ओर डैन्यूब के मैदान में आस्ट्रिया के विकास की गति अवरुद्ध हो रही थी। साथ ही फ्रांस भी स्वीडेन, पोलैंड और टर्की इन तीनों राज्यों का मित्र और सहायक होने के कारण उन्हें निर्बल बनाने के प्रयत्नों का विरोधी था। अतः कैथेरीन ने अपने उद्देश्य की सफलता के लिये एक ओर तो सफल कूटनीति द्वारा इनके विरोधों का सामना किया और दूसरी ओर सैन्य-बल के आधार पर अपने दुर्बल पड़ोसियों के विस्तृत भू-भाग को आत्मसात् किया जिससे रूस की सीमा, शक्ति और मर्यादा में पर्याप्त वृद्धि हुई।

पश्चिमी और मध्य यूरोप—गद्दी पर बैठने के साथ ही कैथेरीन के सम्मुख प्रशा की समस्या उपस्थित हुई। हूबरटसबर्ग की सन्धि (1763) में रूस को सम्मिलित नहीं किया गया था और फ्रेडेरिक ने उसकी मध्यस्थता को भी अस्वीकार कर दिया था। परन्तु यह तटस्थता शीघ्र ही संघ के रूप में परिवर्तित हो गयी (1664) जो 1780 ई० तक कायम रही। वस्तुतः यह मित्रता फ्रेडेरिक और कैथेरीन दोनों ही की बाह्य नीति की प्रधान विशेषता थी। दोनों ही एक-दूसरे के व्यक्तित्व से प्रभावित थे और पोलैंड के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोणों में अद्भुत समानता थी। उसने क्रीमिया पर अपने अधिकार की अभिलाषा-पूर्ति के निमित्त 1781 ई० में आस्ट्रिया के साथ संघ बनाया और टर्की के विरुद्ध पूर्ण सफलता की प्राप्ति के लिये स्वीडेन के साथ भी सन्धि (1790) कर ली। इंगलैंड से अधिक सहायता की आशा न थी, क्योंकि औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना के प्रयत्न में फ्रांस के साथ उनका संघर्ष चल रहा था। अतः यद्यपि रूस और इंगलैंड का सम्बन्ध साधारण रूप से अच्छा बना रहा, परन्तु उनमें संघ की स्थापना न हो सकी। उसके शासन के अन्तिम वर्षों में इंगलैंड ने टर्की के विरुद्ध उसकी नीति का सक्रिय विरोध किया था। यद्यपि फ्रांस के दार्शनिकों और विद्वानों के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था और उसने फ्रांसीसी संस्कृति को अपने राज-दरबार में प्रोत्साहन प्रदान किया था, परन्तु फ्रांस के साथ उसका सम्बन्ध सदैव विरोधपूर्ण बना रहा। इस विरोध का कारण टर्की के साथ फ्रांस की मित्रता थी। फ्रांस की क्रान्ति की भी वह घोर विरोधिनी थी, परन्तु क्रान्तिकारी फ्रांस के विरुद्ध बने संघ में वह सम्मिलित न हो सकी, उलटे अपने कार्यों द्वारा उसने क्रान्ति को सहायता ही पहुँचायी।

टर्की के साथ प्रथम युद्ध (1768-74 ई०)—कैथेरीन ने टर्की के विरुद्ध पीटर महान की नीति का अनुसरण किया। टर्की से क्रीमिया का प्रान्त छीनकर कृष्ण

सागर में जहाजरानी का पूर्ण अधिकार, डैन्यूब नदी को रूस की दक्षिणी सीमा के रूप में परिवर्तित करना, माल्डेविया और वालेकिया पर रूसी प्रभाव की स्थापना और काकेशस पर रूसी अधिकार आदि दक्षिणी-पूर्वी यूरोप में उसकी नीति के प्रधान अंग थे। उसने प्रारम्भ में बाल्कन के ईसाइयों को टर्की के विरुद्ध उभाड़ा जिससे तुर्क क्रुद्ध थे। परन्तु जारिना की पोलैंड सम्बन्धी नीति से तो वे भयभीत हो उठे। उसका विश्वास था कि पोलैंड के बाद टर्की की ओर से रूस की वक्र दृष्टि होगी। शीघ्र ही पोलैंड के संघवादियों का पीछा करती हुई रूसी सेना ने टर्की की सीमा में प्रवेश कर एक तातारी नगर को जला डाला। कैथेरीन ने क्षमा-प्रार्थना भी की, परन्तु इस घटना से उत्तेजित तुर्कों ने फ्रांस को प्रोत्साहन प्राप्त कर रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा (1768) कर दी जिसमें उन्होंने पोलैंड की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। इस युद्ध के लिए रूस और टर्की दोनों ही प्रस्तुत न थे, यही कारण है कि फ्रेडेरिक महान ने कुटिल ढंग से इस युद्ध पर कटाक्ष करते हुए उसे अन्धे और एकाक्ष का युद्ध बतलाया। उसने इस युद्ध में कैथेरीन की कोई सहायता न की, बल्कि इसके विपरीत इस अवसर से लाभ उठाने की प्रतीक्षा ही करता रहा।

इस युद्ध ने तुर्कों की दुर्बलता को स्पष्ट कर दिया और प्राय: प्रत्येक क्षेत्र में तुर्क-सेना पराजित हुई। रूसी सेना ने आजोफ पर अधिकार किया, माल्डेविया और वालेकिया के प्रान्तों को आक्रान्त एवं अधिकृत किया तथा बुखारेस्ट नगर भी छीन लिया। कैथेरीन का प्रोत्साहन प्राप्त कर ग्रीस ने भी टर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और रूसी जल-सेना की सहायता से उसने टर्की को एक जल-युद्ध में बुरी तरह पराजित किया। रूस की इस सफलता से आस्ट्रिया की आशंका बढ़ी और एक गुप्त सन्धि द्वारा वह माल्डेविया और वालेकिया के प्रान्तों को लेने में टर्की की सहायता करने के लिए प्रस्तुत हो गया। युद्ध को बढ़ता देखकर फ्रेडेरिक ने मध्यस्थता की जिससे आस्ट्रिया का हस्तक्षेप रुक गया। सन् 1774 ई० में रूसी सेना के अन्तिम और सफल अभियान ने इस युद्ध का अन्त कर दिया और दोनों देशों के बीच कुचुक-कैनार्जी की सन्धि (1774) हो गयी।

इस सन्धि द्वारा आजोफ का बन्दरगाह तथा उसके आसपास के भूभाग रूस को मिले और कृष्ण सागर के उत्तर के सभी प्रान्त टर्की के शासन और नियंत्रण से मुक्त कर दिये गये। माल्डेविया, वालेकिया, बेसारबिया और ग्रीस टर्की को वापस मिल गये परन्तु सुल्तान ने उनके शासन की समुचित व्यवस्था का आश्वासन दिया। रूस को कृष्ण सागर में जहाजरानी का पूर्ण अधिकार तथा टर्की के बन्दरगाहों के व्यवहार की सुविधा प्रदान हुई। बाल्कन के ईसाइयों को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार मिला, रूस कुस्तुनतुनिया के कुछ चर्चों का संरक्षक स्वीकृत हुआ और रूसी ईसाइयों को अपने धर्मस्थान जेरुसलम जाने और वहाँ अपने धर्म-कार्यों के करने की आज्ञा प्राप्त हुई। पोलैंड का, जिसे लेकर इस युद्ध का प्रारम्भ हुआ था, इस सन्धि में कहीं भी उल्लेख न था।

टर्की के विरुद्ध अपने अभिप्राय की पूर्ति के लिए कैथेरीन ने आस्ट्रिया के साथ सन्धि (1781) कर ली जिसमें जोसेफ द्वितीय ने टर्की के विरुद्ध कैथेरीन का विरोध न करने का और टर्की द्वारा आक्रमण होने पर उसकी सहायता का आश्वासन दिया। इसके बाद शीघ्र ही जारिना ने कृष्ण सागर के उत्तर में स्थित उन सभी भूभागों पर अधिकार कर लिया (1783) जो कुचुक-कैनार्जी की सन्धि द्वारा टर्की के नियन्त्रण से मुक्त किये गये थे और दूसरे वर्ष टर्की ने भी इस अधिकार को स्वीकृति प्रदान कर दी।

द्वितीय युद्ध (1787-92 ई०)—कैथेरीन को इस सफलता से ही सन्तोष न था। वह समस्त बाल्कन को अधिकृत कर वहाँ पर अपने पौत्र के अधीन ग्रीक-साम्राज्य की स्थापना करना चाहती थी। अतः जब उसने जोसेफ द्वितीय के साथ स्वयं क्रीमिया का निरीक्षण किया (1787) तो तुर्कों के धैर्य का बाँध टूट गया। उन्हें काकेशस भी खोने का भय था अतः उन्होंने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा (1787) कर दी उन्हें प्रशा, इंगलैंड और फ्रांस से सहायता की आशा थी। आस्ट्रिया ने भी माल्डेविया तथा वालेकिया लेने के विचार से टर्की से युद्ध छेड़ दिया। प्रत्येक युद्ध में टर्की की पराजय हुई उसका पतन प्रायः निश्चित था, परन्तु इंगलैंड, प्रशा तथा हालैंड के त्रिराष्ट्रीय संघ के हस्तक्षेप से वह विनाश से बच गया। इस संघ ने कैथेरीन को अपने जीते हुए प्रान्तों और नगरों को छोड़ने के के लिए कहा, परन्तु कैथेरीन ने दृढ़तापूर्वक इसे अस्वीकार कर दिया। अन्त में जैसी की सन्धि (1792) द्वारा युद्ध का अन्त हुआ। इसी सन्धि द्वारा टर्की और रूस के बीच नीस्टर नदी सीमा स्वीकृत की गयी।

इस प्रकार यद्यपि तुर्कों को यूरोप के बाहर निंकालकर कुस्तुनतुनिया में ग्रीक-साम्राज्य स्थापित करने का कैथेरीन का स्वप्नं पूरा न हो सका, परन्तु टर्की के विरुद्ध उसकी विजय अत्यधिक महत्वपूर्ण और सफल सिद्ध हुई। एक तो इन विजयों के फलस्वरूप दक्षिणी यूरोप में कृष्ण सागर और नीस्टर नदी के रूप में रूस को प्राकृतिक सीमा की प्राप्ति हुई और वह कृष्ण सागर के प्रमुख राज्यों में गिना जाने लगा। अब उसके जहाज वास्फोरस और डार्डनेल्ज के मार्ग से भूमध्य सागर और दक्षिणी यूरोप के देशों में पहुँचने लगे जिससे रूस के व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। यूरोपीय देशों के साथ सम्बन्ध के लिये रूस का 'दूसरा द्वार' भी उन्मुक्त हो गया। दूसरे, रूस तुर्क-साम्राज्य की ईसाई प्रजा का स्वाभाविक मित्र और सहायक समझा जाने लगा। तीसरे, कुस्तुनतुनिया के कुछ चर्चों के संरक्षण का अधिकार प्राप्त हो जाने पर कालान्तर में रूस ने समस्त टर्की के ईसाई चर्चों के संरक्षण का दावा पेश किया और इस प्रकार उसे टर्की के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेपं का अवसर मिला। यहीं से शीघ्रता के साथ टर्की का पतन प्रारम्भ हुआ और कुचुक-कैनार्जी की सन्धि के पश्चात् 'निकट पूर्व की समस्या' ने भी अपना निश्चित स्वरूप धारण किया।

टर्की के पतन के कारण—टर्की के पतन में बाह्य आक्रमणों की अपेक्षा उसकी आन्तरिक दुर्बलता ही अधिक सहायक हुई। जैसा हम पहले देख चुके हैं, तुर्कों की जातिगत वीरता एवं शौर्य, धार्मिक उत्साह, साम्राज्य विस्तार की उत्कट कामना तथा शत्रुओं का पारस्परिक कलह उनकी सफलता के प्रधान साधन थे। उन्होंने अपने विस्तृत साम्राज्य में विजित जातियों को दास बनाकर और स्वयं मुट्ठी-भर विजेता और शासक के रूप में शासन का कार्य प्रारम्भ किया था। इस गुरुतर उत्तरदायित्व की सफलता के लिये उन्हें शासन को व्यभिचार से मुक्त तथा सुव्यवस्थित और सैनिक संगठन को पर्याप्त सुदृढ़ बनाये रखने की आवश्यकता थी। परन्तु कालान्तर में वे इनमें से किसी का भी सफलतापूर्वक निर्वाह न कर सके। दुर्बल एवं अकर्मण्य सुल्तानों को शान्ति-काल में शासन और युद्ध-काल में सेनाओं के संचालन की अपेक्षा महल के भ्रष्ट वातावरण में क्रीड़ा और विलास का जीवन अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगा। फलतः शासन और सेना का अधिकार वजीरों और सेनापतियों के हाथों में आया जिनकी नियुक्ति या निष्कासन राज दरबार और अन्तःपुर के शाश्वत षडयंत्र का विषय बन गया। इस शासकीय दौर्बल्य ने साम्राज्य के संगठन को सर्वथा शिथिल बना दिया राज्य में छोटे-बड़े सभी पद क्रय-विक्रय की वस्तु बन गये जिससे शासन में व्यभिचार और ईसाई जनता पर अत्याचार की मात्रा अधिकाधिक बढ़ती गयी। दूसरे, सेना का शिथिल संगठन भी निस्तेज सुल्तानों की निष्क्रियता का प्रतीक बना हुआ था। सेना में वीरता, उत्साह और अनुशासन का अभाव उत्पन्न हो गया था, उसके पूर्वकालीन उद्देश्य की महत्ता अदृश्य हो गयी थी और अब वह महत्वाकांक्षी अमीरों और सरदारों के षड्यन्त्र का साधन बन यगी थी। उसकी व्यूह रचना और उसके अस्त्र-शस्त्र समयानुकूल नहीं रह गये थे और सेना का संचालन एवं नेतृत्व भी तत्कालीन यूरोपीय, और विशेषतः रूस और प्रशा की, सैनिक पद्धति से अत्यधिक पिछड़े हुए थे। सेना के सर्वोत्तम अंग जैनिसरी में भी घोर अनुशासनहीनता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी। उनकी एक विशिष्ट जाति बन गयी थी और सुल्तानों ने उन्हें विवाह की आज्ञा प्रदान कर दी थी। सल्तनत के पतन-काल में इस सेना का महत्त्व बहुत बढ़ गया था और स्वयं सुल्तानों को अपने राज्यारोहण के समय इसकी सहायता प्राप्त करने के लिये उत्कोच का आश्रय लेना पड़ता था। जब से ईसाई बच्चों को मुसलमान बनाकर इस सेना में सम्मिलित करने की परम्परा उठ गयी, तब से तो उनकी भर्ती का आधार ही समाप्त हो गया जो अन्त में जाकर उसकी दुर्बलता का कारण बना। तीसरे, तुर्कों की प्रबल आक्रामक नीति के कारण ईसाई सभ्यता के लिये जो भय उत्पन्न हुआ था उसका प्रतिकार करने के लिये यूरोप के ईसाई राज्यों ने अपना संघ बनाकर उनका सामना करना प्रारम्भ किया। अठारहवीं शताब्दी में रूस और आस्ट्रिया की बढ़ती हुई शक्ति,

उनके शासकों की महत्वाकांक्षा तथा तुर्क-साम्राज्य के भीतर ही ईसाई जनता के विद्रोह की प्रबल प्रवृत्ति आदि के कारण तुर्कों के यूरोपीय साम्राज्य के लिये बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया जिसका सामना करने में वे पूर्णतः असमर्थ सिद्ध हुए।

पोलैंड का विभाजन

जारिना कैथेरीन और उसके साथ ही प्रशा के राजा फ्रेडेरिक महान् की महत्वाकांक्षा का सबसे बड़ा शिकार पोलैंड हुआ। परन्तु अपने इन पड़ोसी राज्यों की लोलुपता और स्वार्थ का शिकार बनने के पूर्व यह देश स्वयं अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण दम तोड़ रहा था। सोलहवीं शताब्दी से विस्चुला नदी के मैदान में फैला हुआ था यह देश यूरोप के प्रमुख राज्यों में गिना जाता था। इसमें पोल, लिथुआनियन और लेट इन तीन जातियों का आंशिक समन्वय था कूरलैंड की लेट जाति 1561 ई० में पोलैंड में सम्मिलित हुई थी और उसके आठ वर्षों (1569) पोलैंड और लिथुआनिया की पार्लियामेंट तथा शासन दोनों का एकीकरण हुआ था। सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप राजनीति में पोलैंड ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। एक ओर बाल्टिक-तटीय प्रान्तों और बन्दरगाहों के लिए स्वीडेन के साथ इसका निरन्तर संघर्ष चलता रहा, तो दूसरी ओर रूस के भूभागों को अधिकृत करने तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने में भी इसने सफलता पूर्वक हाथ बँटाया था। इसके अतिरिक्त इसने तुर्कों के आक्रमण से आस्ट्रिया की पर्याप्त सहायता की और वियना के घेरे (1683) के समय पोलैंड के राजा जॉन सोब्येस्की की सफलता तो यूरोपीय इतिहास का एक गौरवमय पृष्ठ है।

पोलैंड के पतन के कारण—अठारहवीं शताब्दी में पोलैंड के भाग्य ने पलटा खाया। इसकी बढ़ती हुई सीमा से जहाँ पड़ोसियों की ईर्ष्या जागृत हुई, वहाँ अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण पोलैंड उनका प्रतिकार करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। देश तो बड़ा था, परन्तु इसकी जन-धन शक्ति अपेक्षाकृत कम थी। इसे आत्म रक्षा एवं बाह्य-युद्धों के लिये सबल सेनायें रखनी पड़ती थीं जिनका भार वहन करना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। साथ ही प्राकृतिक सीमा के अभाव में देश की समतल भूमि बाहरी आक्रमणकारियों के लिए सर्वथा अनुकूल थी।

पोलैंड के पतन में उसके राजनीतिक दौर्बल्य का प्रमुख हाथ था। जहाँ यूरोप के अन्य देशों में दृढ् केन्द्रीय शासन और स्वेच्छाचारी निरंकुश शासकों का प्राधान्य था, वहाँ पोलैंड अराजकता का शिकार हो रहा था। इस देश का विधान ही ऐसा था जहाँ दृढ़ केन्द्रीय शासन असम्भव था। यहाँ निर्वाचित राजतन्त्र था और प्रत्येक राजा के

उत्तराधिकार के समय आन्तरिक कलह और बाह्य षड्यन्त्र की परम्परा बन गयी थी। सरदार-वर्ग के लोक निर्वाचक थे जो निर्वाचन के समय धन और अधिकार के बदले मतदान दिया करते थे। इसके परिणाम-स्वरूप राज-शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी और अन्त में राजा केवल शोभा की वस्तु रह गया। बाद के तो अधिकांश राजा विदेशी थे जो पोलैंड की अपेक्षा अपने देश के हित-साधन में ही अपनी शेष शक्ति का उपयोग किया करते थे। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सैक्सोनी के 'निर्वाचक' ही पोलैंड के राजा थे जो आस्ट्रिया, प्रशा या रूस की मित्रता तथा पोल सरदारों को उत्कोच के रूप में प्रभूत धन देकर राजा निर्वाचित होते रहे। इन्होंने यथाशक्ति पोलैंड के आर्थिक साधनों का उपयोंग अपने देश के लिये ही किया। इन राजाओं का शासनाधिकार प्रायः नहीं के बराबर था, क्योंकि राज्य के सभी विभागों के प्रधान अपने कार्यों के लिए उनके प्रति नहीं, अपितु देश की पार्लियामेंट (Diet) के प्रति उत्तरदायी थे। वस्तुतः पोलैंड राजा के होते हुए भी राजतन्त्र नहीं, बल्कि अभिजाततंत्र था, जिसमें सारा अधिकार सरदार-वर्ग के हाथ में था। पार्लियामेंट की सदस्यता के अधिकारी भी केवल सरदार ही थे।

इस देश के विधान की दूसरी विशेषता 'अस्वीकृति का अधिकार' (Liberum Veto) था जिसकी वजह से शासन में निपुणता का आना असम्भव था। यह सरदारों के बीच एक प्रकार का समझौता था जिसके द्वारा एक भी सदस्य के विरोध पर पार्लियामेंट का कोई भी प्रस्ताव कानून का रूप नहीं धारण कर सकता था। इस प्रकार पोलैंड के प्रायः दस हजार सरदारों में से कोई भी एक व्यक्ति उस कानून को मानने से इन्कार कर सकता था जिसकी स्वीकृति उसने न दी हो। इस अधिकार के व्यापक प्रयोग ने देश के सम्पूर्ण जीवन में घोर अराजकता उत्पन्न कर दी थी और देश का राजनीतिक संगठन असम्भव हो गया था। इसके अतिरिक्त सरदारों को संघ बनाने का अधिकार था जिसके द्वारा, यदि आवश्यकता हो तो, वे बलपूर्वक अपने विचारों को कार्यान्वित करा सकते थे।

देश में राष्ट्रीयता का भी घोर अभाव था। बहुसंख्यक जनता पोलिश-भाषा-भाषी और कैथलिक धर्मानुयायी थी, परन्तु देश के कुछ भाग में लिथुआनियन जाति के लोग बसते थे जो कैथलिक मतावलम्बी होने पर भी अल्पसंख्य गिने जाते थे। दक्षिणी-पूर्वी जिलों में यूक्रेनियन और रूसी कोसक लोग बसे थे जिनकी भाषा भिन्न थी और जो ग्रीक चर्च के अनुयायी थे। पश्चिमी और बाल्टिक तटीय जिलों में प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी जर्मन लोग पर्याप्त संख्या में निवास करते थे। इनके अतिरिक्त अनेक नगरों में यहूदियों की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं जो अपनी अलग राष्ट्रीयता का राग अलाप रहे थे। इन भिन्न मतावलम्बियों (Dissenters) को सोलहवीं शताब्दी से धार्मिक स्वतन्त्रता के कुछ

अधिकार प्राप्त थे, परन्तु वे उनसे ही सन्तुष्ट न थे और अठारहवीं शताब्दी में उन्होंने कैथलिकों के साथ समानता का अधिकार माँगना प्रारम्भ किया और इसके न मिलने पर उन्होंने बाहरी देशों से सहायता की प्रार्थना प्रारम्भ की। इन प्रोटेस्टेंटों और ग्रीक-चर्च के मानने वालों की प्रार्थना पर अनुकूल विचार करने के लिए फ्रेडरिक महान् और कैथेरीन महान् दोनों ही प्रस्तुत थे।

पोलैंड के विघटन और पतन में वहाँ की सामाजिक और आर्थिक स्थिति भी कम सहायक न हुई। देश के सामाजिक जीवन में भी सरदारों की ही प्रधानता थी। इनकी संख्या बहुत अधिक थी और भूमि पर इनका ही स्वाम्य था। अपने स्वार्थों में ही लिप्त और शान-शौकत के साथ रहता हुआ अनुशासनहीन यह वर्ग किसानों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किया करता था। इनमें आपस में ही कलह और द्वेष अत्यधिक बढ़े हुये थे और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए विदेशियों से भी सहायता माँगने में इन्हें किसी प्रकार का संकोच न था। देश सें मध्यम वर्ग का प्राय: अभाव-सा था और बाल्टिक-तट पर स्वीडेन का अधिकार हो जाने के कारण पोलैंड के व्यापार पर गहरा आघात पहुँच रहा था। इससे नगरों के विकास की गति रुकी हुई थी और राष्ट्रीय धन का ह्रास हो रहा था। देश की बहुसंख्यक जनता खेती का काम करती थी, जिसकी दशा दासों की भाँति थी और जिनका सुख-दु:ख एकमात्र सरदारों की इच्छा पर आधारित था। उनके हृदय में अत्याचारी सरदार-वर्ग के प्रति घोर घृणा के भाव थे। इस परिस्थिति में देश में एकता का अभाव होना स्वाभाविक था और यही कारण है कि विदेशियों के आक्रमण से अपनी रक्षा के सामूहिक प्रयत्न में पोलैंड के निवासी पूर्णत: असमर्थ रहे।

अपनी इस हीनावस्था में पोलैंड को अपने प्रबल पड़ोसी रूस और प्रशा का सामना करना पड़ा, जहाँ पर सबल राजाओं ने सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना कर ली थी। रूस यूरोप में प्रधान स्लाव राज्य और ग्रीक चर्च का संरक्षक होना चाहता था। पोलैंड भी प्रधानत: स्लाव राज्य और कैथलिक धर्मानुयायी था। फलत: दोनों का संघर्ष स्वाभाविक था साथ ही यह रूस के विकास और पश्चिमी यूरोप के साथ उसके सीधा सम्पर्क स्थापित करने के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा था जिसे दूर करने के लिए रूस कृत संकल्प था। प्रशा द्वारा पोलैंड के विरोध का प्रधान कारण पश्चिमी प्रशा की डची थी जो पूर्वी प्रशा तथा ब्रैडेनबर्ग के बीच में पड़ती थी, परन्तु थी पोलैंड के अधीन। प्रोटेस्टेंटों के सहायक के रूप में भी प्रशा और पोलैंड की शत्रुता थी। इस प्रकार इन दो प्रबल पड़ोसी राज्यों की शत्रुता कें बीच निर्बल पोलैंड का बना रहना दुष्कर हो रहा था। हैसल ने फान मोल्ट के शब्दों को उद्धृत करते हुए इस समय के पोलैंड की दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—"विदेशी राज-दरबारों में पोलैंड के राजदूत न थे, देश में दुर्गों का अभाव था

न जल-सेना थी, न सड़कें थीं, न शस्त्रागार थे, न राजकोष था और न निश्चित राजस्व की व्यवस्था थी।'' देश की यह स्थिति उसके विनाश की सूचक थी।

स्टैनिसलास का निर्वाचन—सन् 1763 ई० में सैक्सोनी के 'निर्वाचक' और पोलैंड के राजा आगस्टस तृतीय की मृत्यु के पश्चात् पड़ोसी राज्यों को पोलैंड में हस्तक्षेप का अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ। यदि आगस्टस तृतीय का पुत्र पोलैंड का राजा निर्वाचित हुआ तो फ्रांस और आस्ट्रिया की दृष्टि में पोलैंड के उत्तराधिकार के वंशानुगत होने की आशंका थी। दूसरी ओर सैक्सन राजवंश को आस्ट्रिया के प्रभाव के अन्तर्गत समझकर कैथेरीन भी इसकी विरोधी थी और वह पोलैंड में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहती थी। जर्मन राजनीति में सैक्सोनी ने प्रशा के विरुद्ध आस्ट्रिया का साथ दिया था जिससे फ्रेडेरिक महान् भी पोलैंड में इस वंश का अन्त करना चाहता था। अतः पोलैंड के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में रूस और प्रशा ने, जो सैक्सन राजवंश के विरोधी थे, 1764 ई० में एक सन्धि की जिसके द्वारा दोनों ने कैथेरीन के प्रीति-पात्र एवं राजदरबारी स्टैनिसलास पोनिआटोवस्की (Stanislaus Poniatowski) को पोलैंड का राजा स्वीकार किया और साथ ही निर्वाचित राजतंत्र एवं 'अस्वीकृति के अधिकार' के सिद्धान्त की रक्षा का उत्तरदायित्व ग्रहण किया फ्रांस और आस्ट्रिया स्वतन्त्र निर्वाचन चाहते थे, परन्तु रूस और प्रशा की सम्मिलित शक्ति के सामने वे कुछ भी करने में असमर्थ थे। प्रशा की सेना पोलैंड की सीमा पर खड़ी थी और रूसी सैनिक देश में प्रवेश कर गये थे। उन्हीं की उपस्थिति में पोलैंड की पार्लियामेंट ने 1764 ई० में स्टैनिसलास को पोलैंड का राजा स्वीकार किया।

स्टैनिसलास के उत्तराधिकार से पोलैंड में रूस का प्राधान्य स्थापित हो गया। पोलैंड की पार्लियामेंट ने 'अस्वीकृति के अधिकार' का अन्त करने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। उसे आशा थी कि इस कार्य में उसे रूस की सहायता प्राप्त हो सकेगी, परन्तु इसमें उसे शीघ्र ही निराश होना पड़ा। इसके विपरीत रूस ने 'भिन्न-मतावलम्बियों' की राजनीतिक असुविधाओं का अन्त करने के लिये स्टैनिसलास को प्रोत्साहित किया। पार्लियामेंट ने प्रारम्भ में तो इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, परन्तु जब रूसी सेना ने उस पर दबाव डाला तो उसने बाध्य होकर 1767 ई० में यह स्वीकार किया कि 'भिन्न-मतावलम्बी' राज्य में सभी पदों पर नियुक्त हो सकते हैं। इस पार्लियामेंट ने 'अस्वीकृति के अधिकार' और निर्वाचित राजतंत्र के सिद्धान्त को भी पुनः मान्यता प्रदान की। इस स्थिति से भयभीत होकर देश के कैथेलिक सरदारों ने एक संघ की स्थापना की। 'भिन्न-मतावलम्बियों' का संघ तो उसके पूर्व ही बन चुका था। इन दोनों संघों में गृह-युद्ध छिड़ गया जिसमें कैथलिक संघ ने फ्रांस से और दूसरे संघ ने रूस और प्रशा से सहायता की याचना की। रूसी सेना ने राष्ट्रीय संघवादियों का दमन किया और उसके

कुछ भागते हुए नेताओं का टर्की की सीमा के भीतर पीछा किया जिससे टर्की ने भी रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। फलतः पोलैंड के विद्रोह के साथ ही यूरोपीय देशों का ध्यान रूस और टर्की के युद्ध की ओर आकृष्ट हुआ।

पोलैंड का प्रथम विभाजन (1772 ई०)—यद्यपि कैथेरीन टर्की के साथ युद्ध में संलग्न थी, परन्तु वह पोलैंड की ओर से अपना ध्यान हटा न सकी। फ्रेडेरिक महान् व्यर्थ ही यह सोचता रह गया कि वह अपनी सुविधा के अनुकूल पोलैंड का विभाजन करा सकेगा। उसने सर्वप्रथम 1769 ई० में पोलैंड के विभाजन का प्रस्ताव उपस्थित किया। उसी समय आस्ट्रिया की सेना ने पोलैंड में प्रवेश किया और जिप्स (Zips) पर अधिकार कर पोलैंड के विभाजन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि विभाजन के सम्बन्ध में प्रशा और आस्ट्रिया के सम्मेलन में कोई निर्णय न हो सका; परन्तु इससे कैथेरीन को चिन्ता अवश्य हुई। सन् 1770–71 ई० में फ्रेडेरिक ने कैथेरीन से भी वार्ता प्रारम्भ की और वह पोलैंड के विभाजन के प्रस्ताव पर विचार करने के लिये अधिक उत्सुक प्रतीत हुई। यद्यपि 1771 ई० का रूसी अभियान पोलैंड में पूर्ण सफल रहा, परन्तु अनेक वर्षों से दो मोर्चों पर युद्ध करने के कारण रूस थक गया था। अतः कैथेरीन ने पोलैंड के विषय में फ्रेडेरिक से सहयोग चाहा। वह आस्ट्रिया की इच्छा-पूर्ति के निमित्त डैन्यूब के प्रान्तों में माल्डेविया और वालेकिया को छोड़ने के लिये प्रस्तुत थी, परन्तु उसके बदले में वह पोलैंड में अपनी क्षति पूरा करना चाहती थी। इस पर प्रशा और आस्ट्रिया दोनों ही प्रस्तुत हो गये और अगस्त, सन् 1772 ई० में इन तीनों देशों में 'पवित्र त्रिमूर्ति के नाम पर' पोलैंड के प्रथम विभाजन का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

इस विभाजन द्वारा प्रशा को डाञ्जिंग और थार्न के नगरों को छोड़कर समस्त पश्चिमी प्रशा का प्रान्त प्राप्त हुआ। आस्ट्रिया को क्राको (Cracow) नगर के अतिरिक्त पूर्वी गैलीशिया का प्रान्त मिला। लिवोनिया और ड्वीना तथा नीपर नदियों के पूर्व स्थित श्वेत रूस के प्रान्त रूस के हिस्से में आये। इस प्रकार पोलैंड को अपने राज्य और जनसंख्या दोनों के तृतीयांश से हाथ धोना पड़ा। पोलैंड की पार्लियामेंट ने रिश्वत लेकर 1773 ई० में इस विभाजन को स्वीकृत प्रदान की। इस विभाजन में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आस्ट्रिया के कार्य का किसी प्रकार समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि गैलीशिया का प्रान्त कभी उसके अधीन नहीं रहा था, परन्तु इस दृष्टि से रूस और प्रशा का कार्य साधार ठहराया जा सकता है। पश्चिमी प्रशा के लोग जर्मन थे और जर्मन शासन के अन्तर्गत रह चुके थे। उसी प्रकार रूस द्वारा अधिकृत प्रदेश के निवासी रूसी भाषा-भाषी और ग्रीक चर्च के अनुयायी थें। अतः कैथेरीन के इस कथन में कि इस विभाजन द्वारा उसने पोलैंड के भू-भाग को नहीं लिया, सत्य का पर्याप्त अंश है। वस्तुतः पोलैंड के विभाजन की परिस्थिति उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व तो कैथेरीन पर नहीं है, परन्तु

उसने अत्यधिक बुद्धिमानी और सतर्कता के साथ इस परिस्थिति से लाभ उठाया। फ्रेडेरिक महान् ने अपने संस्मरण में इस विभाजन को यूरोपीय युद्ध के बचाव का साधन बतलाकर उसका औचित्य ठहराया है। परन्तु इस कार्य के पक्ष में जो भी कहा जाय, यह तो निर्विवाद है कि यह विभाजन एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय अपराध या पाप था जो एकमात्र पाशविक शक्ति द्वारा सम्पन्न किया गया था। स्वयं आस्ट्रिया की महारानी मेरिया थेरेसा के शब्दों में 'अब तक जो कुछ न्याय-संगत और पवित्र था उसके विपरीत यह कार्य हुआ।' यूरोप के राज्यों को यह कार्य बुरा अवश्य मालूम हुआ, परन्तु बाल्टिक क्षेत्र में अपने व्यापारिक हितों का ध्यान रखकर इंगलैंड और अर्थाभाव के कारण फ्रांस इस विभाजन का सक्रिय विरोध न कर सके।

द्वितीय विभाजन—प्रथम विभाजन से पोलैंड का अन्त नहीं हुआ और यदि वह अपनी आन्तरिक दुर्बलतायें दूर करने में अब भी सफल हुआ होता तो उसका भविष्य पर्याप्त उज्ज्वल रहता। परन्तु प्रथम विभाजन के पश्चात् उस देश पर रूस का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि राष्ट्रीय दल को देश के विधान के परिवर्तन के प्रयत्न में सदा रूस और प्रशा के विरोध का सामना करना पड़ा। 1781 ई० में प्रशा और रूस की सन्धि के अन्त और आस्ट्रिया तथा रूस के संघ के कारण परिस्थिति अनुकूल दिखाई पड़ने लगी, क्योंकि प्रशा की अपेक्षा आस्ट्रिया से पोलैंड को अधिक मित्रवत् व्यवहार की आशा थी। जब 1787 ई० में टर्की ने और 1788 ई० में स्वीडेन ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी तो पोलैंड की स्थिति और अधिक सुधर गयी। फलतः पोलैंड की चतुर्वर्षीय पार्लियामेंट (1788-92) ने देश में सुधार का कार्य प्रारम्भ किया। टर्की और स्वीडेन के विरुद्ध युद्ध के कारण रूस को बाध्य होकर पोलैंड से अपनी सेनायें वापस बुला लेनी पड़ीं। पोलैंड ने प्रशा के साथ सन्धि करने का निश्चय किया, क्योंकि इन दिनों दोनों का सम्बन्ध अधिक मित्रवत् था। दुर्भाग्यवश रूस के भय के कारण सुधार में देर हो गयी और तब तक युद्ध में रूस की स्थिति भी पहले की अपेक्षा सुधर गयी। अतः जब स्टैनिसलस ने 1791 ई० में एक नवीन विधान पार्लियामेंट से तैयार कराया जिसके द्वारा राजपद को वंशानुगत बनाने और 'अस्वीकृति के अधिकार' को दूर कर राजा के अधिकारों को बढ़ाने की योजना स्वीकृत की गयी थी, तो कैथेरीन ने इसका घोर विरोध किया। उसने आस्ट्रिया और प्रशा को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध के लिये प्रोत्साहित किया जिससे वे पोलैंड में उसके हस्तक्षेप का विरोध न कर सकें। सन् 1792 ई० में पोलैंड के रूसी दल ने नवीन विधान के विरुद्ध कैथेरीन से सहायता माँगी। उधर प्रशा ने पोलैंड की सहायता से इन्कार कर दिया और आस्ट्रिया फ्रांस के साथ युद्ध में लिप्त था। पोलैंड की सेनाओं ने वीरता के साथ रूसी सेनाओं का सामना किया, परन्तु वे पराजित हुईं। सुधारवादियों का देश-निष्कासन हुआ, नवीन विधान अस्वीकृत हो गया और पुराना विधान फिर से प्रचलित हुआ।

जनवरी, सन् 1793 ई० में प्रशा भी पोलैंड के विरुद्ध युद्ध-क्षेत्र में उतर आया और इन दोनों ने मिलकर पोलैंड का द्वितीय बँटवारा किया। इस विभाजन के अनुसार रूस को पूर्वी पोलैंड और प्रशा को डाज्जिंग, थार्न, पोजन आदि नगर प्राप्त हुए। इस प्रकार प्रशा से चार गुना भूभाग रूस के हाथ में आया। आस्ट्रिया को कुछ भी न मिला, केवल प्रशा ने फ्रांस के विरुद्ध उसकी सहायता के लिये युद्ध जारी रखने का आश्वासन मात्र दिया। इस विभाजन से आस्ट्रिया ने घोर असन्तोष प्रकट किया, क्योंकि रूस की सीमा आस्ट्रिया की सीमा से आ मिली, परन्तु फ्रांस के साथ युद्ध के कारण वह इसका सक्रिय विरोध न कर सका।

तृतीय विभाजन—देश के द्वितीय विभाजन से पोल लोग अत्यधिक क्षुब्ध थे। उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति तथा आवश्यक वैधानिक सुधार के लिये अनेक समितियाँ और दल स्थापित किये। परन्तु बिना बाहरी सहायता के यह कार्य कठिन था और फ्रांस तथा टर्की किसी प्रकार की सहायता देने में असमर्थ थे। सन् 1794 ई० में पुनः विद्रोह प्रारम्भ हो गया और राष्ट्रीय नेता कोसियस्को के नेतृत्व में उन्होंने प्रारम्भ में सफलतायें भी प्राप्त कीं। प्रशा ने रूस का साथ अवश्य दिया, परन्तु शीघ्र ही उसकी सेनायें वापस चली गयीं। अन्त में रूसी सेना ने विद्रोह का दमन किया। कैथेरीन ने इस बार प्रशा की अपेक्षा आस्ट्रिया का साथ दिया क्योंकि वह प्रशा के राजा फ्रेडेरिक विलियम द्वितीय से असन्तुष्ट थी।

अक्टूबर, सन् 1795 ई० में पोलैंड का तृतीय और अन्तिम विभाजन हुआ। इसके द्वारा रूस को गैलीशिया और ड्वीना नदी के निचले भाग के बीच का भू-प्रदेश मिला। आस्ट्रिया को गैलीशिया का शेष भाग तथा क्राको नगर प्राप्त हुआ। यह प्रदेश रूसी हिस्से का प्रायः आधा था। प्रशा को वारसा नगर तथा विस्चुला नदी की निचली घाटी का भूभाग मिला जो आस्ट्रिया के हिस्से के तीन-चौथाई से भी कम था।

इस प्रकार तीन बँटवारों में पोलैंड के स्वतन्त्र और विस्तृत राज्य का अन्त हो गया। इसका अधिकांश तो रूस को मिला जिससे उसकी पश्चिमी सीमा आस्ट्रिया और प्रशा से आ मिली। इस सफलता के परिणाम-स्वरूप रूस का यूरोपीय महत्व बढ़ गया और अब उसने अखिल यूरोपीय निर्णयों को पूर्ण रूप से प्रभावित करना प्रारम्भ किया। प्रशा की भी राजनीतिक एकता पूर्ण हो गयी और उसकी सीमा का भी विस्तार हुआ। आस्ट्रिया को नवीन प्रान्त तो मिला परन्तु मिश्रित जातियों से निर्मित साम्राज्य में एक और नवीन जाति ने उसकी समस्यायें और भी जटिल कर दीं। साथ ही अब उसे अपनी पूर्वी सीमा पर निर्बल पोलैंड नहीं, अपितु सबल रूस का सामना करना पड़ा।

पोलैंड का विभाजन
प्रथम विभाजन १७७२ ई०
द्वितीय विभाजन १७९३ ई०
तृतीय विभाजन १७९५ ई०
पूर्वी प्रशा
पश्चिमी प्रशा
पोजेन
वारसा
वोल्होनिया
पोडोलिया
गैलीशिया
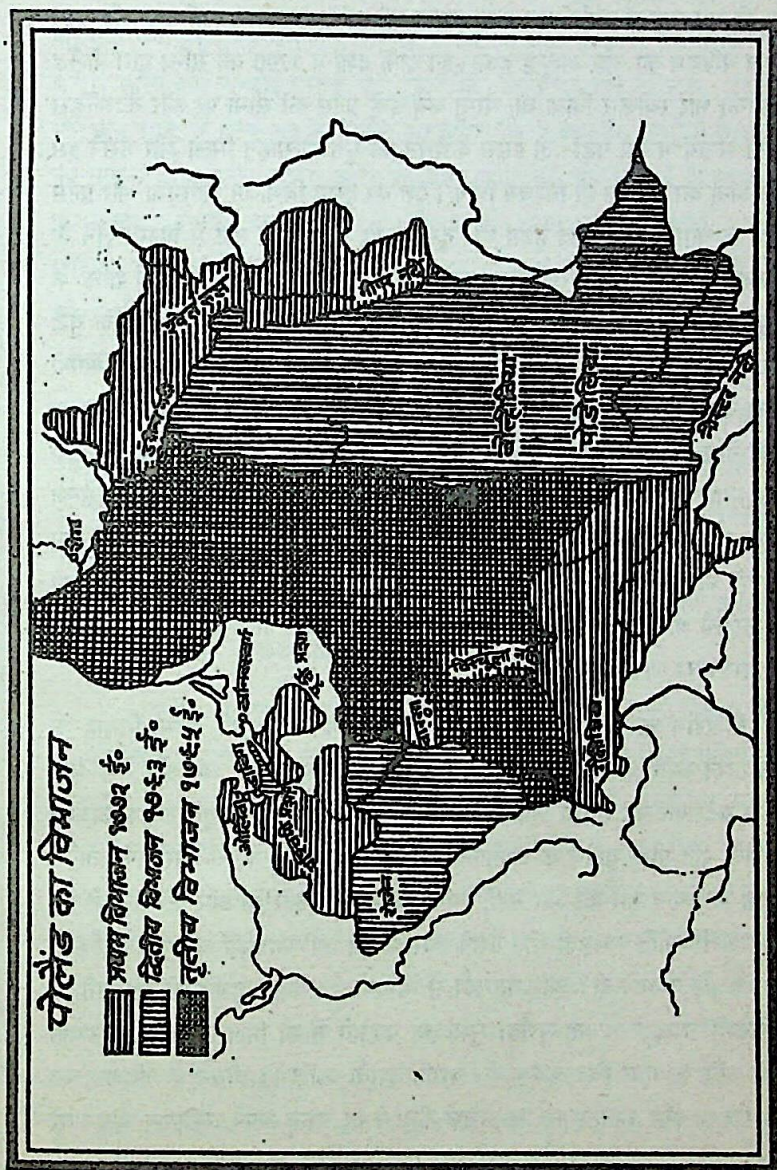
पोलैंड के विभाजन को फ्रांस की क्रांति से सहायता मिली और स्वयं उसने क्रान्ति की सफलता में पर्याप्त योग दिया। फ्रांस की क्रांति के कारण आस्ट्रिया और प्रशा का ध्यान पश्चिम की ओर आकृष्ट हुआ। इन दोनों देशों ने 1790 की सन्धि द्वारा पोलैंड की रक्षा का भार स्वीकार किया था, परन्तु जब उन्हें फ्रांस की सीमा पर और नेदरलैंड्स में अपनी सेनायें भेजनी पड़ीं। तो इससे कैथेरीन को पूर्ण प्रोत्साहन मिला और उसने इस देश का अन्त कर देने का ही निश्चय किया। देश का दूसरा विभाजन आस्ट्रिया और फ्रांस के युद्धों के कारण ही सम्भव हुआ था। दूसरी ओर पोलैंड की लूंट में हिस्सा लेने के लिए प्रयत्नशील होने के कारण यूरोपीय संघ को फ्रंास के विरुद्ध अपनी पूर्ण शक्ति के साथ युद्ध करने का अवसर न मिल सका। फ्रेडेरिक विलियम द्वितीय ने वाल्मी के युद्ध के बाद फ्रांसीसी मोर्चे से अपनी सेनायें वापस बुला ली थीं जिससे संघ को अपनी सफलता का पूर्ण उपयोग करने का अवसर न प्राप्त हो सका। तीसरे विभाजन के समय फ्रांस के नेदरलैंड्स पर अधिकार करने और राइन नदी के बायें तट से मित्रों की सेनाओं को मार भगाने का प्रधान कारण यही था कि संघ की दो प्रबल शक्तियों का ध्यान ब्रूसेल्ज और मेंज की अपेक्षा क्राको और वारसा की ओर था। फ्रेडेरिक विलियम द्वितीय ने इस बँटवारे में भाग लेने के लिए ही संघ का साथ छोड़कर फ्रांस के साथ 1795 ई० की सन्धि कर ली थी और इस प्रकार फ्रांस को राइन के बायें तट पर इच्छानुसार कार्य करने का अवसर दिया था।

कैथेरीन का चरित्र—कैथेरीन जन्म से जर्मन अवश्य थी, परन्तु विवाह के पश्चात् उसने रूसी जीवन को पूर्णतः अपना लिया था। अपना नाम, धर्म और वेश-भूषा सब कुछ बदलकर वह सर्वथा रूसी बन गयी थी और रूसी चरित्र से पूर्ण रूप से अवगत थी। उसके पति पीटर तृतीय के अल्पकालीन शासन में कुशल नेतृत्व और सफलता के लिए देश का ध्यान ज़ार की ओर नहीं, अपितु जारिना की ओर था और कैथेरीन भी इस बात को भली-भाँति समझती थी। उसने रूसियों की अभिलाषाओं की पूर्ति में किसी प्रकार की त्रुटि न आने दी। व्यक्तिगत रूप से सौन्दर्य और बाह्य प्रदर्शन की वह प्रेमी थी और विदेशी राजदूतों से वह पूर्णतः सुसज्जित प्रकोष्ठों में ही मिला करती थी। उसके आचरण और व्यवहार चित्ताकर्षक थे। यद्यपि उसके व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता का घोर अभाव था और उनके प्रणय का आदर्श ऊंचा न था, परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन को उसने राजनीति से सर्वथा अलग रखा और एक को दूसरे से प्रभावित न होने दिया। चारित्रिक दुर्बलता के कारण अपने पुत्र पाल के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य अच्छा नहीं रहा, परन्तु अपने पौत्र के प्रति उसका स्नेह आपार था। अपने दासों तथा दासियों के साथ उसने सदा प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार किया।

कैथेरीन में उच्च कोटि का विद्या-व्यसन था और उसकी रुचि अत्यधिक परिष्कृत थी। पढ़ने का उसका व्यसन इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि उसकी जेब में प्रत्येक समय कोई न कोई पुस्तक पड़ी रहती थी। उसने प्लूटार्क, टैसिटस, वोल्तेर और मोंतेस्क्यू आदि के ग्रन्थों का भलीभाँति अनुशीलन किया था और फ्रांसीसी विश्व-कोश की ग्राहक थी। वोल्तेर, दीदरो आदि फ्रांसीसी दार्शनिकों और विद्वानों के साथ उसका पत्र-व्यवहार था और वह स्वयं सफल लेखिका थी। उसने अनेक कवितायें, नाटक तथा संस्मरण लिखे और इतिहास तथा राजनीति पर भी ग्रन्थ रचे। तत्कालीन रूसी लेखकों को उसने भरपूर संरक्षण प्रदान किया। परन्तु फ्रांस के दार्शनिकों की शिक्षा का उसके व्यावहारिक जीवन पर कम प्रभाव था।

उसने फ्रांसीसी संस्कृति के आधार पर रूस के यूरोपीयकरण का प्रयत्न किया था, परन्तु इसमें उसे अधिक सफलता न प्राप्त हो सकी। राजदरबार में रहने वाले सरदारों पर तो पश्चिमी सभ्यता और आदर्श का पर्याप्त प्रभाव था, परन्तु साधारण जन-समुदाय इस प्रभाव से सर्वथा वंचित था और उसकी पुरानी रहन-सहन ज्यों-की-त्यों बनी थी, रूस के यूरोपीकरण में भी वह बाह्य प्रदर्शन पर अधिक ध्यान देती थी जिसमें वास्तविकता की अपेक्षा ढोंग की मात्रा अधिक थी।

कैथरीन की महत्ता विद्या और दार्शनिकता तथा रूस के यूरोपीकरण के प्रति उसके सहज आकर्षण से नहीं है, प्रत्युत इसका आधार उसकी राजनीतिमत्ता और दूरदर्शिता है। वह शासन की कला की मर्मज्ञ तो थी ही, साथ ही राजनीतिक समस्याओं को समझने की उसमें अद्भुत प्रतिभा थी। उसकी बाह्य नीति में अपूर्व मेधा, प्रतिभा तथा साहस का सुन्दर समन्वय है और एक बार अपना लक्ष्य स्थिर कर लेने के बाद वह किसी भी रूप में अपने मार्ग से विचलित होना नहीं जानती थी। प्रशा और आस्ट्रिया को एक-दूसरे के साथ भिड़ाये रखकर अपने उद्देश्य की पूर्ति करना उसकी असाधारण कूटनीतिक योग्यता का ज्वलन्त उदाहरण है। उसने भलीभाँति समझ लिया था कि पोलैंड और टर्की की आन्तरिक दुर्बलतायें रूस के लिए सुन्दर अवसर का संकेत कर रही हैं। अतः इस स्थिति से लाभ उठाने के लिए वह कृत-संकल्प थी, परन्तु इनके सम्बन्ध में कोई भी कदम उठाने के पूर्व वह स्थिति को पूर्ण रूप से अपने अनुकूल बनाने की सफल चेष्टा किया करती थी। फ्रांस की क्रान्ति से तत्कालीन यूरोप में जो उथल-पुथल मची हुई थी उसका उसने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पूरा प्रयोग किया। वस्तुतः पोलैंड के द्वितीय और तृतीय विभाजन इसी परिस्थिति की देन हैं।

कैथेरीन ने अपनी बाह्य नीति में अत्यधिक सफलता प्राप्त की। उसने इस क्षेत्र में पीटर महान् की नीति अपनायी और जिस कार्य को वह न कर सका था, उसे इसने पूरा किया। पीटर ने पश्चिमी यूरोप के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये बाल्टिक का द्वार उन्मुक्त किया था। कैथेरीन ने कृष्ण सागर और भूमध्य सागर का दूसरा द्वार तो प्रशस्त किया ही, साथ ही पोलैंड के विस्तृत भाग पर अधिकार कर उसने रूस को पूर्ण रूप से यूरोपीय राज्य भी बना डाला और अब कोई भी अखिल यूरोपीय निर्णय रूस की अनुमति या सहमति के बिना सम्भव न था। उसने रूस की सीमा का पर्याप्त विस्तार किया। उसका कहना था कि "मैं एक निर्धन लड़की की भाँति तीन या चार वस्त्रों के साथ रूस आई और रूस ने मुझे बहुमूल्य उपहार प्रदान किया। परन्तु अब मैं उसे आजोफ, क्रीमिया और यूक्रेन देकर उस ऋण से मुक्त हूँ।" उसके शासन के प्रारंभिक वर्षों में ही अखिल रूसी पार्लियामेंट ने उसे महान् की गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित किया था और उसने अपने कार्यों के द्वारा उसे पूर्ण रूप से चरितार्थ किया।

अध्याय 12

प्रशा का उत्थान

जिस प्रशा ने 18वीं शताब्दी से यूरोपीय राज्यों में एक सम्मानित स्थान प्राप्त किया और 19वीं शताब्दी में जर्मनी का एकीकरण किया उसका प्रारम्भ ब्रैण्डेनबर्ग नाम के सैनिक महत्व के एक छोटे-से स्थान से हुआ। 10वीं शताब्दी में ब्रैण्डेनबर्ग म्यूज और एल्ब नदियों के बीच में स्थित था और इसकी स्थापना जर्मनेतर और स्लाव जातियों के आक्रमणों से रक्षा करने के लिये की गई थी। इस क्षेत्र का प्रधान सम्राट द्वारा नियुक्त एक पदाधिकारी होता था। सैनिक चौकी का शासक होने के कारण उसकी उपाधि मार्कग्राफ (Markgraf) थी। ब्रैण्डेनबर्ग के शासकों ने धीरे-धीरे अपनी शक्ति का विस्तार किया और एल्ब और ओडर नदियों के बीच की भूमि पर अधिकार कर लिया। राज्य-विस्तार के साथ उनकी प्रतिष्ठा भी जर्मनी के शासकों में बढ़ने लगी। 14वीं शताब्दी में सम्राट् ने इसके शासक को निर्वाचक स्वीकार कर लिया। 1415 ई० में जब सम्राट सिगिसमंड (Sigismund) ने ब्रैण्डेनबर्ग के शासन का अधिकार होयेनजोलर्न (Hohenzollern) वंश के फ्रेडेरिक को दिया तब से इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी। फ्रेडेरिक ने शक्तिशाली 'नाइटों' के किलों पर आक्रमण कर उसकी शक्ति कम कर दी और उसके पुत्र ने अपने शासनकाल में मनमानी करने वाले नगरों को नीचा दिखाया। जब 16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी में धर्म-सुधार हुआ तब ब्रैण्डेनबर्ग भी उससे पूर्णतः प्रभावित हुआ। 1539 ई० में उसके शासक ने प्रोटेस्टेंट धर्म स्वीकार कर लिया और उसकी गणना प्रमुख प्रोटेस्टेंट राज्यों में होने लगी, परन्तु उसने सैक्सोनी से प्रोटेस्टेंट नेतृत्व छीनने की चेष्टा न की चर्च की संपत्ति को हथिया लेने से शासकों की शक्ति में बड़ी वृद्धि हुई।

प्रशा का विस्तार वैवाहिक सम्बन्ध, कूटनीति और सैनिक विजय, इन तीनों साधनों द्वारा हुआ। 1609 ई० में क्लीव्स (Cleves) के ड्यूक की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकार का प्रश्न उठा। ब्रैण्डेनबर्ग ने निर्वाचक का विवाह ड्यूक की भतीजी से हुआ और 1614 ई० में इस आधार पर वह उसको प्राप्त करने में सफल हुआ। 1618 ई० में जब उसके एक दूसरे सम्बन्धी-प्रशा के ड्यूक की मृत्यु हुई तब उसे पूर्वी प्रशा की डची भी मिल गई, परन्तु प्रशा पर अभी तक पोलैंड का सामन्तवादी स्वामित्व बना रहा। इस प्रकार तीस वर्षीय युद्ध के समय ब्रेण्डेनबर्ग के शासक की तीन उपाधियाँ थीं—ब्रैण्डेनबर्ग का निर्वाचक, क्लीव्स का ड्यूक और प्रशा का ड्यूक।

तीस वर्षीय युद्ध में ब्रैण्डेनबर्ग की गहरी क्षति हुई, क्योंकि उसका निर्वाचक जार्ज विलियम कमजोर था और उसकी कोई निश्चित नीति भी न थी। स्वीडेन और आस्ट्रिया दोनों की सेनाओं ने उसे खूब रौंदा। गस्टवस एडाल्फस ने तो सेना भेजकर जार्ज विलियम को प्रोटेस्टेंटों की सहायता करने के लिए बाध्य किया। अपनी कमजोरी के कारण ब्रैण्डेनबर्ग युद्ध से तटस्थ भी न रह सका। इस युद्ध में उसकी आबादी करीब आधी हो गई और उसकी अत्यधिक आर्थिक क्षति हुई।

फ्रेडेरिक विलियम (1640-88)—जार्ज विलियम की मृत्यु के बाद 1640 ई० में फ्रेडेरिक विलियम, जो इतिहास में महान् निर्वाचक (Great Elector) के नाम से प्रसिद्ध है, ब्रैण्डेनबर्ग का शासक हुआ। वह निःसन्देह ब्रैण्डेनबर्ग की महत्ता का वास्तविक संस्थापक था। उसने राज्य-विस्तार, केन्द्रीकरण, सैनिकीकरण, धार्मिक सहिष्णुता और आर्थिक सुधारों की जो नीति अपनायी उसका अनुसरण कर उसके उत्तराधिकारियों ने प्रशा को प्रथम श्रेणी का राज्य बनाने में सफलता प्राप्त की। उसका उद्देश्य वैधानिक नियन्त्रणों को हटाकर ब्रैण्डेनबर्ग को एक शक्तिशाली निरंकुश राज्य में परिवर्तित करना था। इसके साथ ही वह राज्य के विस्तार में भी बराबर प्रयत्नशील रहा। उसमें सैनिक, कूटनीतिक और प्रशासकीय गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उसे किसी प्रकार के साधन के प्रयोग करने में हिचक न थी। तीस वर्षीय युद्ध से क्षतिग्रस्त ब्रैण्डेनबर्ग में उसने जो सुधार किये उससे उसकी महत्ता का मार्ग प्रशस्त हो गया। उसकी मृत्यु के 60 साल के बाद जब उसका शव बर्लिन के एक नये गिरजाघर में लाया गया तब फ्रेडेरिक महान् ने शव-बक्स को खुलवाया और उसके मृत हाथ पर अपना हाथ रखकर कहा—'इस व्यक्ति ने बहुत से महान् कार्य किये हैं।' इस प्रशंसा में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। 17वीं शताब्दी के रचनात्मक कार्य करने वाले शासकों में महान् निर्वाचक का उच्च स्थान है।

फ्रेडेरिक विलियम की परराष्ट्र-नीति—गद्दी पर बैठते ही महान् निर्वाचक ने तीस वर्षीय युद्ध हटाने का प्रयत्न किया। 1641 ई० में उसने स्वीडेन से संधि कर ली और तत्पश्चात् स्वीडेन की सेना ब्रैण्डेनबर्ग से हट गई। युद्ध से तटस्थ होकर उसने सेना का पुनः संगठन किया और आर्थिक क्षेत्र में भी कई महत्वपूर्ण सुधार किये। वेस्टफैलिया की सन्धि के समय वह ऐसी दृढ़ स्थिति में था कि उसकी माँगों की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इस सन्धि में उसे पूर्वी पोमेरैनिया तथा मिण्डेन, मैग्डबर्ग और हाल्बरस्टाड की विशप्रिक मिलीं। यद्यपि महान् निर्वाचक ने सम्पूर्ण पोमेरैनिया की माँग रखी, परन्तु

स्वीडेन पश्चिमी भाग पर अपना अधिकार छोड़ने के लिये तैयार नहीं था, इसलिये उसकी माँगे पूर्णतः स्वीकृत न हुई। 1653 ई० में पूर्वी पोमेरैनिया ब्रैण्डेनबर्ग के अधिकार में आया। इस देर का कारण यह था कि स्वीडेन वहाँ से भी हटना नहीं चाहता था।

सन् 1655 ई० में जब स्वीडेन और पोलैंड में युद्ध छिड़ा तब महान निर्वाचक ने कभी एक का और कभी दूसरे का साथ दिया। यह युद्ध स्वीडेन द्वारा दक्षिणी बाल्टिक-तट पर अपनी शक्ति की वृद्धि में प्रयत्नशील होने के कारण हुआ था। फ्रेडेरिक विलियम दोनों राज्यों से कमजोर था और वह स्वीडेन से काफी सशंक था। परन्तु उसे स्वीडेन के राजा चार्ल्स दशम को पूर्वी पोमेरैनिया में सेना भेजने की आज्ञा देनी पड़ी। जब चार्ल्स पोलैंड का हराकर डाझिंग का घेरा डालने में व्यस्त था तब महान् निर्वाचक ने इसके विरुद्ध डेनमार्क और पोलैंड के साथ एक गुट बनाया। इसका पता लगते ही चार्ल्स दशम ने पूर्वी प्रशा पर आक्रमण किया और उसने ब्रैण्डेनबर्ग को उस पर अपनी सत्ता स्वीकार करनें और पोलैंड के विरुद्ध सहायता देने के लिए बाध्य किया। 1656 ई० में ब्रैण्डेनबर्ग की सहायता से चार्ल्स ने पोलैंड को हराया, परन्तु इसी समय डेनिश आक्रमण से स्वीडेन की रक्षा करने के लिए उसको अपनी सेना पोलैंड से हटानी पड़ी और पूर्वी प्रशा की सत्ता छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसके हटते ही 1657 ई० में महान् निर्वाचक ने स्वीडेन के विरुद्ध पोलैंड से एक सन्धि की। सहायता उपलब्ध में पोलैंड पूर्वी प्रशा पर अपनी सत्ता छोड़ने के लिए तैयार हो गया। महान् निर्वाचक की इस चाल से चार्ल्स बड़ा क्रुद्ध हुआ, परन्तु डेनिश युद्ध में फँसने के कारण वह पूर्वी प्रशा पर आक्रमण न कर सका इसी समय इंगलैंड और हालैंड भी शांति स्थापित करनें में प्रयत्नशील थे। 1660 ई० में चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात् ओलिवा (Oliva) की संधि हुई। स्वीडेन और पोलैंड ने पूर्वी प्रशा पर ब्रैण्डेनबर्ग का पूर्ण अधिकार स्वीकार कर लिया। प्रशा ही उसका ऐसा भाग था जो किसी भी बाहरी शक्ति की सत्ता से पूर्णतः मुक्त था।

फ्रेडेरिक विलियम ने अपनी परराष्ट्र-नीति में सदैव ब्रैण्डेनबर्ग का हित अपने समक्ष रखा। 1667-68 ई० में उसने लुई चतुर्दश का साथ दिया और त्रिगुट से अलग रहा। परन्तु लुई की आक्रामक नीति से डरकर उसने डच युद्ध (1672-78 ई०) में हालैंड की सहायता की। प्रथम तो त्यूरेन द्वारा वह हराया गया, परन्तु 1675 ई० में उसने फ्रांस के मित्र स्वीडेन को फुरबेलिन (Fuhrbellin) के युद्ध में परास्त किया और पश्चिमी पोमेरैनिया पर अधिकार कर लिया। युद्ध के अन्त तक वह स्वीडेन को वहाँ से पूर्ण रूप से हटाने में सफल हुआ। परन्तु 1678 ई० में नाइमेगेन की संधि में उसे पश्चिमी पोमेरैनिया छोड़ना पड़ा, क्योंकि लुई ने अपने मित्र स्वीडेन का साथ दिया। हरजाने के रूप में उसे तीन लाख क्राउन मिले। यद्यपि अभी भी ब्रैण्डेनबर्ग को स्वीडेन का खतरा

बना रहा, किन्तु फ्रेडेरिक विलियंम ने प्रमाणित कर दिया कि स्वीडेन की शक्ति अजेय नहीं थी। इस विजय के उपलक्ष्य में उसे महान् निर्वाचक की उपाधि प्राप्त हुई। अपने अधिकारों के प्रति मित्र-राज्यों की इस अपेक्षा से असंतुष्ट होकर उसने फ्रांस से मित्रता कर ली। परन्तु लुई की आक्रामक नीति और ह्यूगेनों लोगों के प्रति दुर्व्यवहार से वह फिर उनसे मिल गया। 1685 ई० में उसने हालैंड से और एक साल के बाद सम्राट से मैत्री कर ली।

फ्रेडेरिक विलियम साइलेशिया में भी अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहता था उसके वंश का साइलेशिया के कई जिलों पर अधिकार ठहरता था। परन्तु यह प्रांत सम्राट् के अधीन था और यह होयेनजोलर्न अधिकार की वैधानिकता स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। इस कारण ब्रैण्डेनबर्ग और आस्ट्रिया के सम्बन्ध कुछ वर्षों तक अच्छे न रहे, परन्तु लुई की महत्वाकांक्षी योजनाओं से सशंक होकर महान् निर्वाचक ने सम्राट् लियोपोल्ड प्रथम से मैत्री करना आवश्यक समझा। 1686 ई० में साइलेशिया के एक छोटे जिले श्वीबस (Schwiebus) के उपलक्ष्य में उसने सम्पूर्ण प्रांत पर अपना अधिकार छोड़ दिया। इसी समय सम्राट दुहरी चाल चल रहा था। उसने महान् निर्वाचक के पुत्र और उत्तराधिकारी फ्रेडेरिक से गद्दी प्राप्त होने के बाद इस जिले के लौटाने का वचन ले लिया। फ्रेडेरिक ने इस वचन का पालन किया। आगे चलकर साइलेशिया यूरोपीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण प्रश्न हो गया, क्योंकि ब्रैण्डेनबर्ग का मूल अधिकार फिर पूर्ववत् प्रतिष्ठित हो गया था।

महान् निर्वाचक की गृह-नीति—महान् निर्वाचक के सामने ब्रैण्डेनबर्ग के आर्थिक और प्रशासनीय सुधार की कठिन समस्या थी। वह एक संघटित राज्य का स्वामी नहीं था। ब्रैण्डेनबर्ग, प्रशा और क्लीव्स तीन अलग-अलग राज्य थे जिनके रीति-रिवाज और नियमों में काफी भिन्नता थी।हर एकभाग में सामंत वर्ग और नगरों के प्रतिनिधियों की सभायें थीं। उन्हें कर लगाने और उनको खर्च करने का अधिकार प्राप्त था।हर एकराज्य की निजी सेना भी थी। उनमें पृथकता की भावना इतनी प्रवल थी कि प्रशा के निवासी ब्रैण्डेनबर्ग में किसी पद पर नियुक्त नहीं हो सकते थे। ऐसी परिस्थिति में फ्रेडेरिक विलियम एक स्थायी सेना और केन्द्रीय शासन का निर्माण विरोधों को बिना हटाये नहीं कर सकता था। परन्तु उसने अपनी दृढ़ता, साहस और कूटनीतिज्ञता से इन पर विजय प्राप्त की और एक निरंकुश शासन की नींव डाली।

केन्द्रीय शक्ति को दृढ़ करने के लिए उसने प्रान्तीय सभाओं के अधिकार बहुत सीमित कर दिये। ब्रैण्डेनबर्ग में उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। उसने वहाँ की सभा को बुलाना ही बन्द कर दिया। क्लीव्स में अवश्य कठिनाई हुई, परन्तु सैन्य-बल से उसने विरोध को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की। पूर्वी प्रशा की सभा ने उसको काफी

परेशान किया। परन्तु वहाँ दलबन्दी की भावना इतनी उग्र थी कि फ्रेडेरिक विलियम ने एक दल को दूसरे से लड़ाकर अपनी शक्ति बढ़ा ली। 1662 ई० में नगर दल का नेता रोड बन्दी बनाया गया और तत्पश्चात् उसको इस दल से कोई परेशानी नहीं हुई। 1663 ई० में उसने एक राजपत्र प्रकाशित किया जिसके अनुसार छह साल में सभा के एक अधिवेशन और नये करों के लगाने के पूर्व उसकी सम्मति के अधिकार स्वीकृत किये गये। परन्तु महान् निर्वाचक ने इन अधिकारों का बहुत संकुचित अर्थ लगाकर उन सभी विषयों को अपनी शक्ति के अन्तर्गत कर लिया जो पत्र में निर्दिष्ट नहीं थे। कुछ साल के बाद उसने सामन्तों के विरुद्ध कार्रवाई की। उनके नेता काल्कस्टाइन के ऊपर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उसको फाँसी दे दी गई। इसके बाद महान् निर्वाचक की शक्ति पूर्वी प्रशा में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई।

फ्रेडेरिक विलियम ने शासन को संघटित और केन्द्रित करने का पूर्ण प्रयत्न किया। ब्रैण्डेनबर्ग की राज्य-सभा के अधिकार के अन्तर्गत अन्य प्रान्त भी लाये गये। उसने सैनिक और असैनिक आय और व्यय को पृथक किया और प्रथम को एक ऐसे मन्त्री के सुपुर्द किया जो उसके प्रति उत्तरदायी था। यद्यपि स्थानीय अधिकारियों की स्वतन्त्रता कुछ अंशों में अभी तक बाकी रह गई थी, किन्तु उसने उच्च पदों की नियुक्तियाँ अपने हाथ में ले लीं और इस प्रकार प्रशा की आधुनिक नौकरशाही की स्थापना की।

आर्थिक क्षेत्र में महान् निर्वाचक ने कई प्रशंसनीय सुधार किये। तीस वर्षीय युद्ध के कारण ब्रैण्डेनबर्ग की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी। आबादी घटकर आधी हो गयी थी और देश का काफी भाग उजाड़ हो गया था। महान् निर्वाचक हालैंड की उन्नति से बहुत प्रभावित था, क्योंकि उसकी शिक्षा वहीं हुई थी और विवाह भी आरेंज परिवार में हुआ था। उसने नहर बनाने, दलदल सुखाने और जानवर पालने की शिक्षा देने के लिए डचों को बुलाया। नहरों के निर्माण और दलदलों के सुखाने से कृषि की निःसन्देह बड़ी उन्नति हुई। औद्योगिक उन्नति कें लिये भी प्रयत्न किया गया। ऊन, हैट और मोजे के व्यापार में विशेष उन्नति हुई। आयात पर प्रतिबंध लगाकर इन उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया उसने समुद्री व्यापार के लिय कुछ कंपनियों को व्यापारिक सुविधायें प्रदान कीं। 1682 ई० में ब्रैण्डेनबर्ग अफ्रीकी व्यापारिक कम्पनी की स्थापना हुई। उसका प्रधान कार्यालय पूर्वी प्रशा के कानिक्सबर्ग (Konigsberg) में था। परन्तु इस क्षेत्र में हालैंड के विरोध के कारण कोई सफलता न प्राप्त हुई।

धार्मिक मामलों में उसने सहिष्णुता की नीति अपनायी। यहूदियों को बर्लिन में बसने की आज्ञा दी गई और कैथलिकों के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव किया गया। जब लुई की संकीर्ण नीति से फ्रांस के प्रोटेस्टेंट अपना देश छोड़ने के लिये बाध्य हो रहे थे तो

उसने उनको सुविधायें देकर ब्रैण्डेनबर्ग में बसने के लिये प्रोत्साहन दिया। लगभग 20 हजार प्रोटेस्टेंट इस प्रकार बसाये गये। उन्होंने ब्रैण्डेनबर्ग की आर्थिक उन्नति में बड़ा योग दिया। ये बहुत ही अच्छे कारीगर थे। उद्योग और वाणिज्य में उनकी बड़ी दिलचस्पी थी। अपने समय की प्रचलित धार्मिक संकीर्णता से ऊपर उठकर उसने अपने देश का बहुत लाभ किया। उसके उत्तराधिकारियों ने भी इस नीति का अनुसरण किया।

फ्रेडेरिक विलियम के ही शासन-काल में ब्रैण्डेनबर्ग की उन्नति एक सैनिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई। उसने 30 हजार सिपाहियों की एक सेना रखी। 1675 ई० में उसने स्वीडेन को हराकर अपनी सेना की कार्य-कुशलता का परिचय दिया। इसी नींव पर आगे चलकर प्रशा की शक्तिशाली सेना का निर्माण हुआ जिसका सफल प्रयोग कर फ्रेडेरिक महान् ने यूरोपीय युद्धों में विशेष ख्याति प्राप्त की।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फ्रेडेरिक विलियम ने सेना, प्रशासन, कृषि और व्यापार संबंधी सुधारों द्वारा ब्रैण्डेनबर्ग की बड़ी उन्नति की। इन्हीं सुधारों की नींव पर उसके उत्तराधिकारियों ने प्रशा को एक शक्तिशाली राज्य बनाने में सफलता प्राप्त की। फ्रेडेरिक विलियम बहुत ही चालाक और योग्य शासक था। उसके व्यक्तित्व में सावधानी और धूर्तता दोनों का मिश्रण था। उसने इन गुणों का परिचय उत्तरी युद्धों में पर्याप्त मात्रा में दिया था। उसके आलोचकों का कहना था कि वह केवल आपत्तिकाल में ही मित्रों को याद करता था। परन्तु इस चारित्रिक दोष के बावजूद भी वह प्रशा का एक वास्तविक निर्माता था। सत्य तो यह है कि जो बातें हमें व्यक्तिगत जीवन मे खटकती हैं वे ही कूटनीतिक सफलता के लिये आवश्यक समझी जाती हैं बहुत सी बातों में फ्रेडरिक विलियम फ्रेडेरिक महान् के सदृश्य था और निःसंदेह प्रशा को महान् बनाने में दोनों की देन अमूल्य है।

फ्रेडेरिक तृतीय (1688-1713 ई०)—फ्रेडेरिक तृतीय में अपने पिता के गुणों का अभाव था। वह शरीर से कमजोर था। न तो युद्ध-क्षेत्र में और न कौंसिल भवन में ही वह सक्रिय दिखाई देता था। परन्तु उसे तड़क-भड़क बहुत पसन्द थी और राजा की उपाधि प्राप्त करने की उसकी प्रबल इच्छा था। उसने सम्राट लियोपोल्ड से इस सम्बन्ध में कई वर्षों तक प्रार्थना की, परन्तु लियोपोल्ड नहीं चाहता था कि किसी जर्मन परिवार की प्रतिष्ठा बढ़े। इसलिये उसने फ्रेडेरिक की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। यद्यपि फ्रेडेरिक ने आग्सबर्ग के लीग के युद्ध में फ्रांस के विरुद्ध 'मित्र-राज्यों' का साथ दिया था, परन्तु उसे रिसविक की संधि में राजा की उपाधि न मिली। दो-तीन वर्ष के पश्चात् जब स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध की तैयारी होने लगी तो उसकी सहायता के उपलक्ष्य में सम्राट् ने बाध्य होकर फ्रेडरिक को प्रशा का राजा स्वीकार कर लिया। 1701 ई० में वह फ्रेडेरिक प्रथम के नाम से राजा हुआ। राजतन्त्र का नामकरण प्रशा पर पड़ा, क्योंकि

ब्रैण्डेनबर्ग राज्य का वही ऐसा भाग था जो पूर्णतः स्वतन्त्र था। राजतन्त्र की स्वीकृति के लिये आवश्यक था कि उपाधि साम्राज्य के किसी भाग से सम्बन्धित न हो और ब्रैण्डेनबर्ग साम्राज्य का एक सदस्य था। 1713 ई० में यूरोपीय राज्यों ने प्रशा को राजतंत्र की मान्यता प्रदान की और तब से ब्रैण्डेनबर्ग के निर्वाचक के स्थान पर प्रशा का राजा शब्द प्रचलित हो गया। प्रारम्भ में उपाधि का शुद्ध वैधानिक रूप 'प्रशा का राजा' नहीं, अपितु 'प्रशा में राजा' था क्योंकि अभी तक प्रशा का कुछ भाग पोलैंड के अन्तर्गत था। परन्तु व्यवहार में 'प्रशा का राजा' नामकरण प्रचलित हुआ। यही फ्रेडेरिक तृतीय की सबसे बड़ी सफलता थी।

स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध में उसने 'मित्र राज्यों' का साथ दिया। यद्यपि उसने 8 हजार सैनिकों से सहायता देने का वचन दिया था, परन्तु कालान्तर में प्रशा की सेनां में 40 हजार सैनिक हो गये। नेदरलैंड्स के युद्धों में उन्होंने अपनी कुशलता का परिचय दिया। फ्रेडेरिक ने दरबार की बाह्य तड़क-भड़क पर भी बड़ा जोर दिया उसने वर्साई के आदर्श पर अपने दरबार का संगठन किया। उसे विद्या में रुचि थी और उसने बर्लिन की विज्ञान और साहित्य की अकादमी की स्थापना की। आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में उसने पिता की नीति का अनुसरण किया। फ्रांस और अन्य देशों के शरणार्थियों को प्रशा में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया गया।

फ्रेडेरिक विलियम प्रथम (1713-40)—फ्रेडेरिक प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र फ्रेडेरिक विलियम 1713 ई० में प्रशा की गद्दी पर बैठा। उसमें अपने पितामह महान् निर्वाचक की कार्य-परायणता और व्यावहारिक बुद्धि तो प्रचुर मात्रा में थी, परन्तु उसकी बौद्धिक तीक्ष्णता और राजनीतिज्ञता का उसमें अभाव था। कूटनीति में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। तड़क-भड़क और प्रदर्शन को वह नापंसद करता था। सिद्धान्तों के प्रति उसे घृणा थी। वह पूर्णतः व्यावहारिक था। प्रत्येक दृष्टि से वह एक प्रश्न था उसमें एक सैनिक की स्पष्टवादिता, कार्यक्षमता और ईमानदारी आदि गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। उसने अपने राज्य-काल में अनावश्यक बातों पर के खर्च को बहुत कम कर दिया। उसके पिता के समय के बहुत से मंत्री, जो राजकीय शान-शौकत के लिए रखे गये थे, हटा दिये गये। सोने की बहुत-सी तश्तरियाँ बेंच दी गईं।

फ्रेडेरिक विलियम निरंकुशता में विश्वास करता थां। उसकी दृष्टि में राज्य एक स्कूल की तरह था जिसका वह स्वयं मास्टर था। स्वतंत्रता और प्रतिनिधिक संस्थाओं के लिए उसकी शासन-प्रणाली में कोई स्थान नहीं था। सारी शक्ति का केन्द्रीकरण उसने अपने हाथों में किया था। राजा की निरंकुशता की आलोचना निषिद्ध थी। फ्रेडेरिक विलियम का कथन था कि मोक्ष को छोड़ कर सभी बातें उसकी कार्य-परिधि के अन्तर्गत थीं।

फ्रेडेरिक विलियम अपनी झकों के लिए भी विख्यात था। उसकी दृष्टि में हरएक व्यक्ति और वस्तु पर रहती थी। यदि वह किसी को धनी समझता था तो उसको बर्लिन में सुन्दर मकान बनाने के लिये बाध्य करता था। आलस्य और निष्क्रियता से उसे बड़ी चिढ़ थी पुलिस को आज्ञा थी कि वह बेकार लोगों को पकड़कर सेना में भर्ती करे फ्रेडेरिक को बहुत ऊंचे कद के अंगरक्षकों के रखने का बड़ा शौक था। उसके जीवन में केवल यही एक अमितव्ययिता थी। अपने निवास-स्थान पोट्सडम में उसने अंग-रक्षकों का एक रेजिमेंट संगठित किया था, जिसमें धन से आकृष्ट होकर बहुत-से विदेशी भी भर्ती हुए थे। छह फुट से ऊंचे कद के ये सैनिक पोट्सडम के दीर्घकाय अंगरक्षक (Guard of Gaints) के नाम से प्रसिद्ध थे।

यदि महान् निर्वाचक ने प्रशा की महत्ता की नींव डाली तो फ्रेडेरिक विलियम ने उसकी राजनीतिक संस्थाओं और सेना का निर्माण किया, जिसके आधार पर उसका पुत्र फ्रेडेरिक महान् प्रशा को प्रथम श्रेणी का एक राज्य बनाने में समर्थ हुआ। फ्रेडेरिक विलियम ने सिविल सर्विस के सदस्यों में कार्य-क्षमता, कार्य-परायणता और ईमानदारी के गुणों को विकसित करने के लिए अनेक सुधार किये। वह सभी विभागों का स्वयं निरीक्षण करता था। उसने मंत्रियों और सचिवों का एक केन्द्रीय प्रशासकीय बोर्ड बनाया जिसके अन्तर्गत वित्त और युद्ध संबंधी कार्य थे। इस केन्द्रीय बोर्ड के अन्दर प्रान्तीय और स्थानीय बोर्डों का संगठन किया गया। सरकारी कर्मचारियों को कार्य-कुशल बनाने के लिये उसने बहुत से आदेश प्रकाशित किये। कौंसिल की बैठकों में जो अकारण देर में पहुँचते थे उन्हें अर्थ-दंड देना पड़ता था और जो अनुपस्थित होते थे उनका छह मास का वेतन जब्त कर लिया जाता था। फ्रेडेरिक विलियम ने न्याय के क्षेत्र में भी सुधार किये। प्रशा की न्याय-व्यवस्था ढीली और महँगी थी। उसने उसमें शीघ्रता और निष्पक्षता लाने के लिये कई सुधार किये।

फ्रेडेरिक विलियम का मुख्य कार्य सैन्यसंगठन से संवंध रखता है। उसके सुधारों के फलस्वरूप कार्य-क्षमता की दृष्टि से प्रशा की सेना यूरोप में सर्वश्रेष्ठ हो गई। उसके सिंहासनासीन होने के समय सैनिकों की संख्या 38 हजार थी, परन्तु उसकी मृत्यु के समय उनकी संख्या 83 हजार हो गई थी। फ्रेडेरिक विलियम वास्तव में एक ड्रिल सर्जेण्ट की तरह था। वह सैनिक वर्दी में सेना के प्रशिक्षण का निरीक्षण करता था। अफसरों की नियुक्ति में योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उसने सैनिक संगठन में इतनी दिलचस्पी ली कि बर्लिन 'उत्तर का स्पार्टा' बन गया। राज्य की आय का 70 प्रतिशत सेना के ऊपर खर्च होता था। यद्यपि अन्य विषयों में वह बहुत मितव्ययी था, परन्तु सेना पर वह खुले हाथ खर्च करता था।

फ्रेडेरिक विलियम ने लोकोपकारी विषयों पर बहुत कम खर्च किया। शिक्षा पर तो राज्य की आय का बहुत कम भाग व्यय किया जाता था। वास्तव में जो सांस्कृतिक धारा उस शताब्दी में वह बह रही थी, उससे वह बिल्कुल प्रभावित नहीं हुआ। संस्कृति के प्रति उसे ऐसी घृणा थी कि वह साहित्य और संगीत के प्रेमी अपने पुत्र फ्रेडेरिक से अप्रसन्न रहता था। उसे भय था कि कहीं वह होयेनजोलर्न वंश के लिये अपमान का विषय न हो जाय।

हम कह चुके हैं कि महान् निर्वाचक ने विदेशियों को प्रशा में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया था। फ्रेडेरिक विलियम ने उस नीति को जारी रखा। अन्य जर्मन राज्यों और विदेशों से आये हुए लोगों को प्रशा में बसने की सुविधायें दी गयीं। सैनिक-सेवा और करों से कुछ काल के लिये मुक्ति और भूमि के पट्टे आदि आकर्षणों से बहुत-से विदेशी प्रशा में बस गये। उन्होंने कपड़े इत्यादि के उद्योगों की उन्नति में बड़ा योग दिया।

यद्यपि फ्रेडेरिक विलियम ने एक बड़ी और कुशल सेना का संघटन किया था, परन्तु वह उसे अचानक युद्धों में ढकेलने के पक्ष में न था। राज्य की आमदनी का इतना बड़ा भाग सेना के ऊपर खर्च कर उसे युद्धों से अलग रखना एक विचित्र बात मालूम होती है। इसका कारण यह है कि उसे अपने सैनिकों का बड़ा मोह था। उसने केवल स्वीडेन के विरुद्ध एक युद्ध में भाग लिया था। जब चार्ल्स-द्वादश टर्की में था तब उसके शत्रुओं ने इस अवसर से लाभ उठाकर स्वीडेन के विरुद्ध लड़ाई घोषित कर दी। फ्रेडेरिक विलियम ने स्वीडिश पोमेरैनिया पर अधिकार कर लिया और 1720 ई० में स्वीडेन ने एक सन्धि द्वारा स्टेटिन (Stettin) के साथ इस भाग पर प्रशा का अधिकार स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि फ्रेडेरिक विलियम के तीन उद्देश्य थे—शान्ति और अनुशासन, कार्यकुशलता और मितव्ययिता और प्रबल सैनिक संघटन। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने पूर्ण केन्द्रीकरण की नीति अपनाई। प्रशा की सेना और सिविल सर्विस की कार्य-क्षमता यूरोप भर में विख्यात हो गई। इन साधनों का उपयोग करके उनके उत्तराधिकारी फ्रेडेरिक महान् ने प्रशा को प्रथम श्रेणी का राज्य बनाया।

फ्रेडेरिक महान्

प्रारम्भिक जीवन—प्रशा के शासकों में फ्रेडेरिक द्वितीय (1740-86 ई०) का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। अपनी असाधारण सैनिक और प्रशासकीय प्रतिभा, अथक परिश्रम और उस युग की प्रचलित राजनीतिक विचारधारा-उद्‌बुद्ध निरंकुशता का वास्तविक प्रतिनिध होने के कारण वह इतिहास में फ्रेडेरिक महान् के नाम से विख्यात है। अपने पिता के जीवन-काल में उसने ऐसे गुणों का परिचय नहीं दिया था जिनसे उसके महान् होने की

कोई आशा की जा सकती थी। पुस्तक संगीत कला और फ्रेंच दर्शन के प्रेमी फ्रेडरिक में उसका पिता राजोचित गुणों का अभाव देखता था। उसे वह 'कापुरुष' कहा करता था। अपनी प्रवृत्तियों में दोनों एक-दूसरे के पूर्ण विरोधी थे। पुत्र की उन सभी बातों में रुचि थी जिनको उसका पिता घृणा की दृष्टि से देखता था और वह उन सभी बातों को नापसंद करता था जो उसके पिता को प्रिय थीं। पिता पूर्णतया सैनिक, अशिक्षित और व्यवहार में असंस्कृत था। पुत्र के विचारों में विशालता थी और वह फ्रांसीसी सभ्यता से काफी प्रभावित हुआ था। सैनिक प्रशिक्षण और धार्मिक विषयों में उसको दिलचस्पी न थी। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि साहित्य और बाँसुरी का प्रेमी फ्रेडेरिक मिहान् गद्दी पर बैठते ही पूर्णतः प्रशन (Prussian) हो गया और आक्रामक नीति में बहुत आगे बढ़ गया।

फ्रेडेरिक महान् का जन्म 1712 ई० में हुआ था। उसके पिता की इच्छा उसको एक सैनिक राजा बनाने की थी। उसकी दृष्टि में किसी व्यक्ति की योग्यता का वास्तविक मापदंड सैनिक कुशलता थी। सात वर्ष की अल्पावस्था में ही फ्रेडेरिक महान् की सैनिक शिक्षा प्रारम्भ कर दी गई और उसके लिये सैनिक वर्दी अनिवार्य की गई। उसके जीवन के एक-एक घंटे का कार्यक्रम पिता ने निश्चित किया और वह सैनिक अध्यापकों के निरीक्षण में रखा गया। फ्रेडेरिक को ऐसे जीवन और नियन्त्रण से घृणा हो गई। बाल्यकाल से ही पिता से घृणा और उसके भय ने फ्रेडेरिक के हृदय में घर कर लिया। ऐसे वातावरण ने उसकी सुकुमार और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को कुचल दिया। उसने असत्य बोलना और धोखा देना सीखा। सुबह से रात तक उसको अपने पिता द्वारा निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार अभिनय करना पड़ता था। अपने फ्रेंच शिक्षक को फ्रेडेरिक ने लिखा है—"मैं एक ऐसे दर्पण की तरह हूँ जो अपने सामने की चीजों को प्रतिबिम्बित करता है, मुझे साहस नहीं कि मैं अपने प्रकृति-सुलभ स्वभाव की अभिव्यक्ति कर सकूँ।" 18 वर्ष की अवस्था में फ्रेडेरिक की मित्रता सेना के एक अफसर कैप्टन हरमान फान काट (Katte) से हुई काट ने फ्रेडेरिक को वोल्तेर (Voltaire), देकार्त (Descartes) और लाक आदि लेखकों की ऐसी पुस्तकें पढ़ने को दीं जो उसके लिए निषिद्ध घोषित की गई थीं। पिता के अनुशासन से ऊबकर फ्रेडेरिक ने अपने मित्र काट के साथ प्रशा छोड़ने का निश्चय किया, परन्तु वह योजना गुप्त न रह सकी। दोनों ही पकड़े गये और कारावास में बन्द कर दिये गये। अक्टूबर 1730 ई० में एक सैनिक न्यायालय ने काट को तीन साल के जेल का दण्ड दिया। परन्तु उसने युवराज फ्रेडेरिक के सम्बन्ध में कोई निर्णय देने की असमर्थता प्रकट की। फ्रेडेरिक विलियम न्यायालय के इस निर्णय से सन्तुष्ट न हुआ। देश की सेना के प्रधान सेनापति की हैसियत से उसने काट को राजद्रोह के लिए मृत्यु-दण्ड दिया। वह फ्रेडेरिक के भी साहस को सदैव के लिए दबा देना चाहता था। जिस किले की कोठरी में वह बन्द था उसकी खिड़की के सामने काट को

फाँसी दी गई। मृत्यु के पहले काट ने फ्रेडेरिक की ओर देखकर दृढ़तापूर्वक कहा—"ऐसे आकर्षक राजकुमार के लिए मृत्यु भी प्यारी है।"

काट की मृत्यु के पश्चात् फ्रेडेरिक ने फिर विद्रोह करने का साहस न किया। कुछ समय के लिए वह सेना से अलग कर दिया गया, परन्तु बाद में उसके पिता ने उसको क्षमा कर दिया। फ्रेडेरिक को एक सेवक, प्रजा और पुत्र के रूप में कर्तव्य पालन की शपथ लेनी पड़ी। 1733 ई० में अपनी इच्छा के विरुद्ध उसको एलिजाबेथ क्रिस्तिना से विवाह करना पड़ा। क्रिस्तिना में न तो सौंदर्य था और न बुद्धि। फ्रेडेरिक ने उससे कोई विशेष सम्बन्ध न रखा, अतः उसका वैवाहिक जीवन बिलकुल असफल रहा। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से इसके बाद का चार-पाँच वर्षों का उसका जीवन सुखमय बीता। उसने साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला, इतिहास और राजनीति का अध्ययन किया। फ्रांसीसी साहित्य में उसकी बहुत रुचि थी जो अन्त तक बनी रही।

फ्रेडेरिक के राजनीतिक विचार—शासन और राजनीति के सम्बन्ध में फ्रेडेरिक ने अपने विचार 'सरकार के भेद विषयक लेख' (Essay on the Forms of Government) में अच्छी तरह व्यक्त किये हैं। वह शासक होने के साथ एक लेखक भी था अतः उसके लिए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से प्रशासनीय सुधारों की विवेचना करनी सुलभ थी। फ्रेडेरिक अपने समय के बौद्धिक आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुआ था वह दर्शन और विज्ञान में प्रशासन के सिद्धान्तों को ढूँढता था। वह निर्विवाद है कि वह 18वीं शताब्दी की उदबुद्ध निरंकुशता का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। निरंकुशता में शायद वह लुई चतुर्दश से भी बढ़कर था, क्योंकि उसमें शासक और सेनापति दोनों के अधिकार केन्द्रित थे। वह शासक को राज्य का प्रतिनिधि समझता था। उसका कथन था कि राजा अपने देश का सर्वप्रधान न्यायाधीश, आर्थिक विषयों का नियामक और मंत्री होता है तथा वह संपूर्ण राष्ट्र के लिए देखता, सोचता और कार्य करता है। फ्रेडेरिक के शब्दों में राष्ट्र में राजा का वही स्थान है जो शरीर में मस्तिष्क का होता है।

राज्य का मास्टर फ्रेडेरिक अपने को उसका प्रथम सेवक भी कहता था। वह राज्याधिकार को एक महान् दायित्व और पवित्र धरोहर समझता था। वह लिखता है कि नागरिकों ने राजा को वह शक्ति उसकी सेवा करने की क्षमता को ध्यान में रखकर प्रदान की है। शासकों को विलासी जीवन व्यतीत करने के लिए नहीं, बल्कि कुशलता, परिश्रम और चरित्र से अपने कर्तव्य-पालन के लिए अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि वे विलासप्रियता में प्रजा के धन का दुरुपयोग करते हैं तो वे अत्यन्त अपराधी हैं। फ्रेडेरिक कहता था कि राजा को क्रियाशील, परिश्रमी और ईमानदार होना चाहिये, जिससे वह अपने पद के दायित्व का उचित निर्वाह कर सके। वह चाहता था कि शासक एक आदर्श

नागरिक हो और प्रजा-हित में सदैव तत्पर रहे। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से उसका जीवन आदर्श था। वह अत्यन्त परिश्रमी था। वह स्वयं सुबह से रात तक काम करता था और दूसरों को कार्य में संलग्न रखता था। गर्मियों में वह तीन बजे और जाड़े में चार-पाँच बजे उठ जाता था। चार सचिव, जब तक थक नहीं जाते थे, उसकी आज्ञायें लिखते रहते थे। व्यक्तिगत पत्रों का उत्तर वह स्वयं तुरन्त देता था। दस वर्षों (1742-52 ई०) में उसने स्वयं 12 हजार आज्ञप्तियाँ लिखी थीं और उन पर अपने हस्ताक्षर किये थे। वह सभी विभागों का निरीक्षण और सभी महत्वपूर्ण विषयों का स्वयं निर्णय करता था। तिस पर भी युद्ध-क्षेत्र में वह फ्रेंच कविताओं की रचना के लिए समय निकाल लेता था। उसका जीवन अत्यन्त सादा था—उतनी सादगी का जितना परिश्रम का। उसके शयन-कक्ष में इतनी कम चीजें थीं कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता था। उसके वस्त्र रखने की आलमारी में मुश्किल से दो-चार सूट रहते थे और उनमें कुछ तो बहुत ही पुराने थे।

परराष्ट्रनीति फ्रेडेरिक महान् के युद्धों के लिये 325-30 तथा 337-42 पृष्ठ देखिए। में फ्रेडेरिक शाश्वत मित्रता और शाश्वत शत्रुता में विश्वास नहीं रखता था। उसकी दृष्टि में एक ही चीज शाश्वत थी वह थी राष्ट्र का हित। उसका कथन था कि यदि ईमानदारी से हमारा काम हो तो हम ईमानदार होंगे और यदि धूर्तता से काम चले तो हम धूर्त होंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे दृष्टिकोण में संधियों की पवित्रता और राजनीतिक नैतिकता के लिये कोई भी स्थान नहीं था। फ्रेडेरिक को प्रशा के विस्तार के लिये साइलेशिया पर आक्रमण करने और पोलैंड के विभाजन में किसी भी प्रकार की हिचक नहीं थी। उसने अपने शासन-काल का पूर्वार्द्ध युद्धों में बिताया और अपनी सैनिक सफलता से प्रशा के लिए यूरोपीय राज्यों में एक सम्मानित स्थान प्राप्त किया। वह कहता था कि शस्त्रास्त्र के बिना कूटनीति बिना बाजे के संगीत की तरह होती है परराष्ट्र नीति में फ्रेडेरिक आक्रामक, स्वार्थी और अनैतिक था। परन्तु स्मरण रहे कि इन दोषों से संसार का शायद ही कोई महान् विजेता मुक्त हो और यूरोप की अठारहवीं शताब्दी तो राजनीतिक अनैतिकता के लिये विशेष रूप में कुख्यात है।

फ्रेडेरिक के सुधार—यद्यपि युद्ध के समय भी फ्रेडेरिक आन्तरिक सुधारों में पूरी दिलचस्पी लेता था, परन्तु 1763 ई० के बाद तो उसका प्रधान कार्य युद्धों से क्षत विक्षत प्रशा की आर्थिक स्थिति का सुधार था। उसने आर्थिक उन्नति के लिये अनेक सुधार किये। युद्ध से जिन जिलों की विशेष क्षति हुई थी उनके कर कम कर दिये गए। गरीब किसानों को बीज दिए गए। दलदलों को सुखाकर काफी जमीन खेती के योग्य बनाई गई। बेकार जमीन खेतों में परिवर्तित की गई। अनुमान है कि इस प्रकार पन्द्रह सौ वर्गमील भूमि में खेती होने लगी। आवश्यकता पड़ने पर सेना के घोड़े खेत जोतने के

काम में लाये गए। जानवरों की नस्ल में सुधार किया गया। अमीरों को 'वैज्ञानिक ढंग' पर खेती करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। फलदार वृक्ष विशेष रूप से लगाए गए। नहरों और सड़कों का निर्माण किया गया। किसानों के कर कम किये गये, यद्यपि उनकी दासवृत्ति (Serfdom) प्राय: ज्यों-की-त्यों बनी रही। आबादी बढ़ाने के लिये नये गाँवों की स्थापना की गई। धार्मिक सहिष्णुता की नीति से विदेशियों को प्रशा में बसने के लिये प्रोत्साहन दिया गया।

फ्रेडेरिक के राज्य-काल में यद्यपि कर हलके न थे, परन्तु भरसक प्रयत्न किया गया कि वे आर्थिक स्थिति में रखकर निर्धारित किये जायँ। वह आय-व्यय का हिसाब स्वयं देखता था और प्रजा के धन का दुरुपयोग नहीं करता था। ऐसी स्थिति में राज्य के कर्मचारियों को मनमाना खर्च करने का साहस नहीं हो सकता था। दूसरे राजाओं की तरह दरबार और स्त्रियों पर खर्च करने वाला वह राजा नहीं था। अत: कर कम न होने पर भी प्रजा को संतोष था कि राजकोष का दुरुपयोग नहीं होता था।

व्यापारिक उन्नति के लिये भी कई सुधार किये गये। ऊन और लिनेन के उत्पादन में विशेष उन्नति हुई। रेशम के कीड़े बाहर से लाए गए और उनके लिए शहतूत के वृक्ष लगाए गए। आर्थिक क्षेत्र में फ्रेडेरिक प्रशा को आत्मनिर्भर बनाने के सिद्धांत में विश्वास रखता था। वह चाहता था कि विदेशी वस्तुओं पर देश का अधिक धन न खर्च हो और प्रशा अपनी आवश्यकता की चीजों का स्वयं उत्पादन करे। इस दृष्टि से वह कोल्बैर की रक्षण की नीति का समर्थक था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उसके राष्ट्रीय बंक, रेशम के व्यापार और चीनी मिट्टी के कारखाने से प्रशा का स्थायी लाभ हुआ। विदेशियों के आने से भी व्यापारिक उन्नति में बहुत योग मिला।

नियुक्तियों में फ्रेडेरिक योग्यता पर जोर देता था। वह कहता था कि प्रकृति प्रतिभा का वितरण वंश और श्रेणी के आधार पर नहीं करती, अतएव शासक को अज्ञात योग्यता की तलाश करनी चाहिए। परन्तु स्मरण रहे कि यद्यपि सिद्धान्त में वह योग्य व्यक्तियों की उच्च पदों पर नियुक्ति में विश्वास करता था, किन्तु व्यवहार में उसे मध्य वर्ग के प्रति घृणा थी।

तत्कालीन बौद्धिक आन्दोलन में फ्रेडेरिक की बड़ी रुचि थी। वह विज्ञान और दर्शन पर लिखे गये ग्रन्थों को बड़े चाव से पढ़ता था। नाटक और काव्य सम्बन्धी गोष्ठियों में भाग लेने में उसे आनन्द आता था। उसने फ्रांसीसी साहित्यकारों को बर्लिन आने के लिये आमन्त्रित किया। वोल्तेर के बुलाने के लिए वह इतना इच्छुक था कि उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी बर्लिन आना पड़ा। प्रशा के राजदूत और अपने गुप्त एजेण्टों द्वारा उसने वोल्तेर को पेरिस में इतना अप्रिय बना दिया कि उसको उस स्थान छोड़ने के सिवा कोई

विकल्प नहीं रह गया। बीस हजार फ्रैंक प्रति वर्ष वेतन पर वह फ्रेडेरिक की काव्य शैली को सुधारने के लिए नियुक्त हुआ। परन्तु यह मित्रता बहुत दिनों तक न चली। जब उसने फ्रेडेरिक की कविताओं में अधिक दोष निकालने की चेष्टा की, तो वह अप्रसन्न हो गया और अन्त में वोल्तेर को बर्लिन छोड़ना पड़ा। आश्चर्य की बात तो यह है कि पूर्ण प्रशन होने पर भी उसे फ्रैंच साहित्य में, न कि जर्मन साहित्य में, रुचि थी। जब उसकी अन्तिम बीमारी में उसको फ्रेंच में अनूदित गेटे की एक पुस्तक पढ़ने की सलाह दी गई तो उसने अपने डाक्टर से कहा कि इन तुच्छ जर्मन कवियों की जगह पेट की सफाई के सम्बन्ध में बात करना मुझे अधिक पसन्द होगा। उसने प्रशा की बौद्धिक उन्नति के लिए बर्लिन की वैज्ञानिक अकादमी को पुष्ट बनाया। साधारण लोगों की शिक्षा के लिए अनेक प्रारंभिक पाठशालायें खोली गई, परन्तु उच्च वर्ग के लड़कों की शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया, क्योंकि उन्हीं में से सेना के भावी अफसर नियुक्त होते थे।

न्याय के प्रबन्ध में फ्रेडेरिक ने अनेक प्रशंसनीय सुधार किये। अपराध को स्वीकार कराने के लिए पहले जो यंत्रणायें दी जाती थीं वे बन्द कर दी गई। कानूनों का फिर से संकलन किया गया। न्यायालयों की कार्य-विधि संक्षिप्त की गई ताकि न्याय-वितरण शीघ्रता से हो सके। फ्रेडेरिक ने न्याय की एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जिसके द्वारा प्रशा में कानून की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित हुई। शक्ति और सामाजिक स्थिति के बल पर कोई अपने पक्ष में निर्णय नहीं करा सकता था। उसका कथन था कि न्यायालय में कानून को बोलना चाहिये और शासक को चुप रहना चाहिये। यदि कोई न्यायाधीश किसी निर्दोश व्यक्ति को सजा देता था तो उसे दंड दिया जाता था। एक बार जब फ्रेडेरिक को एक निर्बल व्यक्ति के साथ अन्याय होने का पता चला तो उसने जजों को हटा दिया और उन्हें एक साल के जेल की सजा दी। यद्यपि उसके सुधारों के बावजूद भी प्रशा के बहुत से कानूनों में काफी कठोरता रह गई, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रशा एक न्यायिक राज्य बन गया।

धार्मिक क्षेत्र में फ्रेडेरिक की नीति में महत्वपूर्ण सहिष्णुता थी। वह तत्कालीन बौद्धिक आन्दोलन से प्रभावित हुआ था और धार्मिक मामलों में उदार था। सभी धर्मों के अनुयायियों को यहाँ तक कि जेसिटों को भी पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता थी। फ्रेडेरिक ने यहाँ तक कहा कि यदि तुर्क मेरे देश में बसने के लिए आवें तो मैं उनके लिए मसजिदें बनवा दूँगा। वह कहा करता था कि हरेक व्यक्ति को अपने ढंग से स्वर्ग में जाने का अधिकार मिलना चाहिए। धार्मिक स्वतंत्रता की इस विस्तृत परिधि के बाहर केवल एक ही सम्प्रदाय रह गया था—वह था यहूदियों का। उनको इस प्रशा में रहने के लिए अनुज्ञप्ति लेनी पड़ती थी और वे अकारण अपने निवास-स्थान से हटा दिए जा सकते थे।

फ्रेडेरिक ने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर उपर्युक्त सुधार किए। इसमें संदेह नहीं कि यूरोप के निरंकुश राज्यों में उसका शासन-प्रबन्ध सर्वश्रेष्ठ था। उसके न्याय की व्यवस्था, धार्मिक सहिष्णुता और आर्थिक उन्नति के प्रयत्न प्रशंसनीय थे और यदि वह सेना का खर्च कम कर राज्य की आय का अधिक भाग प्रजा-हितकारी कार्यों पर व्यय किये होता तो वह प्रशा की दशा को और भी सुधारने में समर्थ हुआ होता। परन्तु सेना ही ऐसा विभाग था जिस पर वह मुक्तहस्त होकर खर्च करता था, क्योंकि उसको वह प्रशा की महत्ता का सर्वप्रधान अंग समझता था। उसने दो लाख सिपाहियों की एक ऐसी कार्य-कुशल सेना का संगठन किया जिसकी सहायता से वह प्रशा का विस्तार करने और यूरोपीय राज्यों में उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करने में सफल हुआ। फ्रेडेरिक के एक आलोचक ने उसकी सुधार-नीति का दोष बातते हुए कहा है कि उसके सुधारों का उद्देश्य आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की तैयारी था न कि प्रशा की प्रजा का हित, क्योंकि उसने दासवृत्ति को हटाने का कोई प्रयत्न नहीं किया और एक बड़ी सेना पर अत्यधिक खर्च कर किसानों के कष्ट में कोई कमी नहीं की। इस आलोचना में निःसन्देह अतिरंजना है। उसकी सेना अवश्य बड़ी थी, क्योंकि उसी पर प्रशा की महत्ता आधारित थी परन्तु सुधारों में फ्रेडेरिक की बड़ी दिलचस्पी थी और उसने भरसक प्रशा की दशा सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। वह निर्विवाद एक अत्यन्त योग्य और कुशल शासक था।

फ्रेडेरिक के कार्यों की समीक्षा—फ्रेडेरिक महान् इतिहास के उन थोड़े से व्यक्तियों में से है जिनमें एक कुशल सैनिक और एक अत्यन्त योग्य शासक के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होते हैं। यदि उसके शासन-काल का पूर्वार्द्ध युद्धों से पूर्ण है तो उसका उत्तरार्द्ध राष्ट्रहित में किए गए सुधारों का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उसने अकेले युद्ध क्षेत्र में फ्रांस, आस्ट्रिया और रूस ऐसी शक्तियों का मुकाबिला सफलतापूर्वक किया और प्रशा की सैनिक ख्याति की प्रतिष्ठा की। वास्तव में जर्मन सैनिकवाद की परम्परा बहुत कुछ फ्रेडेरिक से प्रारम्भ होती है। सुधारों के क्षेत्र में भी वह उस युग की उदबुद्ध निरंकुशता का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। उसकी निःस्वार्थ सेवा, अथक परिश्रम, कार्य-परायणता, राष्ट्र-हित में अनुरक्ति और सादगी प्रशंसनीय है। निरंकुश होते हुए भी वह अपने को प्रजा का प्रथम सेवक समझता था। परन्तु जब हम प्रजा की राजनीतिक शिक्षा पर दृष्टि रखकर उसके कार्यों की समीक्षा करते हैं तो उसकी आधारभूत नीति के दोष तुरन्त सामने आ जाते हैं। फ्रेडेरिक ने प्रजा के हित में सुधार अवश्य किये, परन्तु उसको शासन के कार्यों में सम्मिलित कर उसको राजनीतिक शिक्षा देने का उसने कोई प्रयत्न नहीं किया। दूसरे शब्दों में, वह प्रजा के हित में, न कि प्रजा द्वारा शासन में विश्वास करता था। ऐसी अवस्था कि सफलता निःसन्देह व्यक्तिगत योग्यता पर अवलम्बित थी। फ्रेडेरिक के

समकालीन प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मीराबी (Mirabeau) ने कहा कि किसी मूर्ख शासक के गद्दी पर बैठते ही प्रशा का पतन उसी प्रकार होगा जैसे कि स्वीडेन का हुआ था। फ्रेडेरिक को अपनी प्रजा की योग्यता में कोई विश्वास नहीं था। उसने ऐसी संस्थाओं का विकास नहीं किया जिनसे योग्य शासकों के अभाव में भी शासन का कार्य सुचारु रूप से चलता और प्रजा को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती। इस आधार पर फ्रेडेरिक की आलोचना करते हुए प्रसिद्ध लेखक गूच ने लिखा है कि प्रजा हितकारी निरंकुशता के सिद्धान्त और व्यवहार का श्रेष्ठ व्याख्याकार मूलतः अरचनात्मक था।

फ्रेडेरिक की परराष्ट्र-नीति और सैनिकवाद की प्रशंसा और निन्दा दोनों ही की गई है। उसके आलोचकों का कहना है कि फ्रेडेरिकवाद का अर्थ बाहर आक्रमण और भीतर सैनिक निरंकुशता है। मेरिया थेरेसा ने कहा 'सैंतीस वर्षों तक यह व्यक्ति अपनी निरंकुशता और आक्रामक कार्यों से यूरोप का अभिशाप रहा है।' एक लेखक का कथन है कि फ्रेडेरिक के पहले आस्ट्रिया और प्रशा में कोई संघर्ष नहीं था, परन्तु उसने अपनी नीति से साम्राज्य को नष्ट कर दिया और जर्मन जाति की शान्ति असम्भव कर दी।

इन आलोचनाओं के विपरीत कई प्रसिद्ध जर्मन इतिहासकारों ने फ्रेडेरिक की अत्यन्त प्रंशसा की है। रान्के ने लिखा हे कि फ्रेडेरिक ने केवल ऐसी विजय की जो प्रशा की सुरक्षा और सम्मान के लिए आवश्यक थी और तत्पश्चात् उसने तलवार तभी निकाली जब उसकी रक्षा का प्रश्न सामने आया। उसकी तुलना स्वीडेन के चार्ल्स द्वादश से नहीं की जा सकती, क्योंकि चार्ल्स का शान्तिपूर्वक रहना असम्भव था और वह आगामी युद्ध को ध्यान में रखकर ही कोई सन्धि करता था। रान्के ने फ्रेडेरिक के साइलेशिया के आक्रमण का भी समर्थन किया है। वह कहता है कि जब आस्ट्रिया ने प्रशा को यूलिक-बर्ग (Julich-Berg) की डची दिलाने में सहायता नहीं दी तो फ्रेडेरिक मेरिया थेरेसा की राजगद्दी के स्वीकृति-पत्र की शर्तों से बाधित नहीं हो सकता। दूसरे प्रशा का साइलेशिया के अधिकांश पर एक पुराना अधिकार होता था, जिसको प्राप्त करना अनैतिक कार्य नहीं कहा जा सकता। एक दूसरे इतिहासकार ट्राइश्के (Treitschke) ने पोलैंड के विभाजन में प्रशा के भाग लेने का जोरदार समर्थन किया है। उसके मत में पश्चिम में रूसी विस्तार को रोकने के लिये यह अत्यावश्यक था। अतः इसको जर्मन राजनीतिज्ञता की विजय समझनी चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि फ्रेडेरिक की नीति और कार्यों के सम्बन्ध में दो विरोधी मत हैं, परन्तु जब हम उसके काल और महान् विजेताओं के जीवन को दृष्टिगत रखकर उसके कार्यों की समीक्षा करते हैं तो उसकी योग्यता के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं रह जाता। राजनीतिक नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की अवहेलना राज्य-विस्तार के कार्य में अपवाद नहीं, नियम रही है। वासतव में प्रचलित कूटनीति

का अर्थ ही सरलतापूर्वक दूसरे देशों को मूर्ख बनाकर अपना कार्य-संपादन होता है। युद्ध सर्वथा त्याज्य है, परन्तु इतिहास में प्रायः वे ही महान् कहे गये हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में असाधारण कुशलता का परिचय दिया है। अतः कोरी सैद्धान्तिक दृष्टि से फ्रेडेरिक को हम भले ही बुरा कहें, परन्तु ऐतिहासिक मापदंड से उसके एक महान् विजेता, सफल राजनीतिज्ञ और एक कुशल शासक होने में कोई संदेह नहीं है। धार्मिक मामलों में वह अत्यन्त सहिष्णु था जबकि इसके विपरीत लुई चतुर्दश संकीर्ण विचारवाला और असहिष्णु था। आपत्ति के समय में उसका धैर्य सराहनीय था। उसके प्रयत्नों का ही परिणाम था कि प्रशा की आबादी और आय पहले से दूनी हो गयी और उसको प्रथम श्रेणी के राज्यों में सम्मानित स्थान प्राप्त हो सका। शक्ति और प्रतिष्ठा-सम्पन्न प्रशा 19वीं शताब्दी में सम्पूर्ण जर्मनी की एकता स्थापित करने में समर्थ हुआ।

उद्बुद्ध निरंकुशता

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शासन सम्बन्धी जो विचारधारा प्रचलित थी वह उद्बुद्ध या लोकोपकारी निरंकुशता (Enlightened Despotism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में प्रायः सभी शासक अपनी प्रजा के प्रति अपने दायित्व को समझते थे, परन्तु इसके साथ ही वे उसे शासन में किसी अंश में भाग देने के पक्ष में न थे। उन्होंने अपने हाथों में शक्ति का पूर्ण केन्द्रीकरण किया था। इस प्रकार वे प्रजा के लिये, परन्तु प्रजा द्वारा नहीं, शासन में विश्वास रखते थे। उन्होंने ऐसी संस्थाओं का निर्माण नहीं किया जिनसे जनसाधारण को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती और इसी कारण उनके सुधारों का प्रभाव भी स्थायी न हो सका। कृषि और व्यापार की उन्नति, न्याय-व्यवस्था में सुधार, धार्मिक सहिष्णुता और कानूनों के संकलन पर विशेष जोर दिया गया। प्रायः सभी शासक दूसरे धर्मावलिम्बयों के प्रति सहिष्णु थे। कैथलिक देशों में भी धार्मिक न्यायालयों के अधिकार सीमित कर दिये गये और जेसूइटों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की गई। देशों में न्यायालयों की कार्य-विधि में महत्वपूर्ण सुधार किये गये। प्रशा और टसकेनी आदि राज्यों में अपराध स्वीकार कराने के लिये यंत्रणाओं का जो प्रयोग होता था उसका अन्त कर दिया गया। यद्यपि सुधारों के पश्चात् भी यूरोपीय राज्यों के कानूनों में काफी कठोरता रह गई थी, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनके परिणामस्वरूप कई देशों की न्यायिक व्यवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ। इस दृष्टि से फ्रेडेरिक महान् के कार्य बहुत ही प्रशंसनीय हैं। रूस की साम्राज्ञी कैथेरीन ने भी नवीन दर्शन के सिद्धान्तों और जनता की इच्छा और आवश्यकताओं के अनुसार कानून निर्माण करने की योजना बनाई थी, यद्यपि उसका यह कार्य बिल्कुल अपूर्ण रह गया।

उद्बुद्ध निरंकुश शासक तत्कालीन बौद्धिक आन्दोलन से काफी प्रभावित हुए थे। यह युग बुद्धिवाद का था। जो बात तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थी, वह अनावश्यक और हानिकारक समझी जाती थी। दार्शनिकों ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुधारों की आवश्यकता पर जोर दिया। उनके विचारों का प्रभाव शासकों पर भी पड़ा। फ्रेडेरिक स्वयं साहित्य और दर्शन के अध्ययन में दिलचस्पी लेता था। कैथेरीन को भी फ्रांसीसी लेखकों में बड़ी रुचि थी। वह वोल्तेर और दीदरों से पत्र-व्यवहार किया करती थी। आस्ट्रिया का जोसेफ द्वितीय फ्रांस के दार्शनिकों से अत्यन्त प्रभावित हुआ था। 1781 ई० में उसने लिखा—'मैंने दर्शन को अपने साम्राज्य का व्यवस्थापक बनाया है।' इस काल के शासकों ने लोकोपकारी सिद्धान्तों के आधार पर बहुत से लाभदायक सुधार किये, परन्तु उन्होंने जनसत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। अतः स्पष्ट है कि 18वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निरंकुशता का भले ही वह लोकोपकारी रहा हो न कि लोकतन्त्र का युग था।

फ्रेडेरिक महान् के समकालीन यूरोप के कई शासकों ने प्रजा की भलाई के लिए बहुत से सुधार किए। उनमें आस्ट्रिया की मेरिया थेरेसा और जोसेफ द्वितीय रूस की कैथेरीन द्वितीय ने पुल्स और स्पेन के चार्ल्स तृतीय, पुर्तगाल जोसेफ के प्रथम, स्वीडेन के गस्टवस तृतीय आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

चार्ल्स तृतीय—फ्रेडेरिक महान् और जोसेफ द्वितीय के बाद चार्ल्स तृतीय का स्थान उद्बुद्ध निरंकुश शासकों से बहुत ऊंचा है। 1738 से 1759 ई० तक वह नेपुल्स का शासक था। उसके मंत्री तानूतची (Tanucci) ने अत्यन्त पिछड़े नेपुल्स में कई सुधार किये। उसने धर्माधिकारियों के अधिकार कम करने और न्यायिक व्यवस्था में सुधार करने का प्रयत्न किया। सामन्तों के न्याय सम्बन्धी अधिकार छीन लिए गए। पोप के भी अधिकार सीमित किए गए। इस प्रकार उसने राजतन्त्र के अधिकारों को बढ़ाकर प्रजा की भलाई करने की चेष्टा की, परन्तु 1776 ई० में वह अपने पद से हटा दिया गया और तत्पश्चात् उसकी सुधार-नीति को कार्यान्वित ने करने से नेपुल्स की दशा फिर खराब हो गई और 19वीं शताब्दी के मध्य में तो संभवतः उसका शासन प्रबन्ध यूरोपीय देशों में सबसे दूषित था।

स्पेन की गद्दी पर बैठने के बाद भी चार्ल्स तृतीय (1759-88 ई०) ने अपने सुधारवादी नीति का क्रम जारी रखा। वह स्वस्थ, प्रसन्नचित्त और परिश्रमी था। उसने कृषि और व्यापार की उन्नति पर जोर दिया। नहरें और सड़कें बनाई गईं। वैज्ञानिक ढंग से

खेती करने के लिए लोगों को प्रोत्साहन दिया गया और मध्य स्पेन में बहुत से वृक्ष लगाये गये। 1773 ई० में एक राजाज्ञा प्रकाशित की गई जिसके अनुसार उच्च वर्ग के लोग अपने सम्मान और अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए व्यापार में भाग ले सकते थे। स्मरण रहे कि अभी तक स्पेन में व्यापारिक जीवन सामन्तों के गौरव के विरुद्ध समझा जाता था। चार्ल्स ने औपनिवेशिक व्यापार सम्बन्धी अनेक आवश्यक प्रतिबन्ध हटा दिए। मठों की संख्या कम कर दी गई और धार्मिक न्यायालयों के भी अधिकार सीमित कर दिए गये। जेसूइटों के बहुत से अधिकार छीन लिए गये। शिक्षा की उन्नति के लिए प्रारम्भिक और टेकनिकल स्कूलों की स्थापना की गई। विश्वविद्यालयों के जीवन में एक नई स्फूर्ति परिलक्षित हुई। इस प्रकार चार्ल्स तृतीय के सुधारों के परिणामस्वरूप स्पेन की बहुमुखी उन्नति हुई। राज्य की आमदनी तिगुनी और जनसंख्या ड्योढ़ी हो गई। निःसन्देह स्पेन के श्रेष्ठ शासकों में चार्ल्स का बहुत ही उच्च स्थान है। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात उन्नति का क्रम उसी प्रकार जारी न रहा, क्योंकि स्पेनी राजकर्मचारियों में भ्रष्टाचार था और वहाँ की जनता में आलस्य और अन्धविश्वास ने शताब्दियों से घर कर लिया था। उन पर विजय पाना किसी एक शासक के लिए सम्भव न था।

जोसेफ प्रथम (1750-77 ई०)—पुर्तगाल में शासन सुधार का कार्य जोसेफ प्रथम के मन्त्री पोम्बाल (Pombal) ने किया। उसने व्यापारिक कम्पनियों की स्थापना की और शिक्षा और कृषि की उन्नति के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये। राज्य का खर्च कम किया गया और कर एकत्र करने वाले कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को रोका गया। पोम्बाल के सामन्तों के अधिकार को सीमित करके राजशक्ति को दृढ़ बनाया। परन्तु उसके मन्त्रि काल की सबसे बड़ी सफलता सामाजिक उन्नति के विरोधी और धार्मिक अधिकारों के समर्थक जेसूइटों का पुर्तगाल में निष्कासन थी। यद्यपि उसके सुधारों से निःसन्देह पुर्तगाल की समृद्धि और शक्ति में वृद्धि हुई, किन्तु स्पेन की तरह वहाँ भी जनता के आलस्य और अन्धविश्वासों के कारण उनके लाभ अस्थायी सिद्ध हुए 25 या 30 वर्षों में केवल एक राजनीतिज्ञ के कार्यों से यह संभव भी न था।

गस्टवस तृतीय (1771-92 ई०)—अठारहवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में स्वीडेन की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुँचा था उसे गस्टवस तृतीय कुछ हद तक पुनः स्थापित करने में सफल हुआ। गस्टवस एक प्रतिभासम्पन्न और परिश्रमी व्यक्ति था। उसने वित्त और कृषि-सम्बन्धी बहुत से सुधार किए। सामन्तों के अधिकार कम कर दिए गए। उनकी कर-मुक्ति का क्षेत्र संकुचित कर दिया गया। शिक्षा-प्रचार के लिए पाठशालायें खोली गईं और धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता की नीति अपनाई गई। कानूनों की

कठोरता कम की गई और न्यायाधीशों को उनके कार्य-सम्पादन में अधिक स्वतंत्रता दी गई। परन्तु अभाग्यवश उच्च वर्ग के लोगों ने उसके सुधारों का विरोध किया और 1792 ई० में कुछ असंतुष्ट लोगों ने उसकी हत्या कर डाली।

उद्‌बुद्ध निरंकुशता की कमजोरी—इसमें संदेह नहीं कि कई निरंकुश शासकों ने प्रजा की उन्नति के लिए बहुत से महत्वपूर्ण काम किये, परन्तु उनके सुधार स्थायी सिद्ध न हुए। इसके कई कारण थे। प्रथम तो इन सुधारों को कार्यान्वित करने में जनसाधारण की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने की कोई चेष्टा न की गई। फलतः वे प्रजा के ऊपर लादी हुई वस्तु की तरह रह गये। उदाहरणार्थ, जोसेफ द्वितीय ने कई ऐसे सुधार किये जो सचमुच बहुत अच्छे थे, परन्तु साधारण लोग उनका स्वागत करने के लिए तैयार नहीं थे। अतः सदभावना के साथ किये गये लाभप्रद सुधार भी निष्फल हो गये। वास्तव में बात यह थी कि इन शासकों की अपनी प्रजा की बुद्धि और योग्यता में कोई विश्वास नहीं था। उन्होंने अपनी बुद्धि से जो अच्छा समझा किया। परन्तु स्थायी सफलता के लिये प्रत्येक सुधारक को उन लोगों की इच्छा और मानसिक तैयारी को ध्यान में रखकर काम करना चाहिए जिनके लिये सुधार किये जाते हैं, और जहाँ तक सम्भव हो, उसका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि सुधारों को कार्यान्वित करने में प्रजा का सहयोग प्राप्त किया होता, तो निश्चय ही उनसे स्थायी लाभ होता। दूसरे, सुधारों की सफलता शासकों की व्यक्तिगत योग्यता और प्रवृत्ति पर निर्भर करती थी। उनका क्रम तभी जारी रह सकता था, जब कि सुधारवादी शासकों के उत्तराधिकारी भी योग्य होते और उनकी नीति का अनुसरण करते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। चार्ल्स तृतीय, जोसेफ़ प्रथम और गस्टवस तृतीय के उत्तराधिकारी अयोग्य निकले। यदि उद्‌बुद्ध निरंकुश शासक संस्थाओं के निर्माण की योजना बनाकर काम किये होते तो अयोग्य शासकों के अन्तर्गत भी सुधार का काम चलता रहता, परन्तु अभाग्यवश वे संस्थाओं के विकास के प्रति निश्चेष्ट रहे, बहुत से सुधार तो कुशल प्रशासनीय व्यवस्था के अभाव के कारण भी व्यवहृत न हो सके। तीसरे, उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति सुधार के ही कार्यों में नहीं लगाई। राज्य-विस्तार सचेच्ट होने के कारण उनका बहुत समय युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में व्यतीत हो गया। 18वीं शताब्दी अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता और नियमों की उपेक्षा के लिए काफी कुख्यात है। उद्‌बुद्ध निरंकुशता के श्रेष्ठ प्रतिनिधि फ्रेडरिक महान् ने साइलेशिया को हथियाने के लिये लम्बे युद्धों में भाग लिया। कमजोर पोलैंड को विभाजित करने में रूस, प्रशा और आस्ट्रिया को

नैतिकता का गला घोंटनें में कोई हिचक नहीं हुई। यदि सैन्य-वृद्धि और राज्य-विस्तार के स्थान पर केवल लोकोपकारी कार्यों में सुधारकों की पूर्ण रुचि रही होती तो उनकी प्रजा का निःसन्देह बहुत कल्याण हुआ होता। चौथे, आस्ट्रिया ऐसे राज्यों में जहाँ बहुत सी जातियाँ बसती थीं, शासकों को अपने विभिन्न प्रान्तों में सुधार संबंधी समान नीति को अपनाना सरल न था। अनेक सुधारों के संबंध में विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न मत होना स्वाभाविक था और इसलिये विरोध की संभावना बराबर बनी रहती थी। पाँचवें, शासकों ने अपने हाथ में शक्ति का केन्द्रीकरण इस हद तक किया कि क्षेत्रीय संस्थाओं को सुधार संबंधी कार्य में योग देना प्रायः असंभव हो गया। ऐसी परिस्थिति में यदि सुधारों से स्थायी लाभ न हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं।

अध्याय 13

आस्ट्रिया

आस्ट्रिया का साम्राज्य

आस्ट्रिया और हैप्सवर्ग राजवंश—दक्षिणी-पूर्वी जर्मनी में डैन्यूब के दोनों ओर का भू-भाग प्राचीन काल से आस्ट्रिया के नाम से विख्यात है। मध्यकाल में आस्ट्रिया के ड्यूक ने दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम स्थित स्टीरिया, करिंथिया, कार्निओला ओर टीरोल के प्रान्तोंको अधिकृत कर पर्याप्त शक्ति और राजनीतिक प्रभाव संचित कर लिया था। तेरहवींशताब्दी के अन्तिम चरण में आस्ट्रिया केइस विस्तृत भू-भाग पर हैप्सबर्ग-परिवार का अधिकार स्थापित हुआ। इस वंश के शासकों ने, जो आर्चड्यूक की उपाधि से सम्मानित थे, जर्मन साम्राज्य के भीतर आस्ट्रिया के प्रभाव की अत्यधिक वृद्धि की, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक काल के प्रारम्भ में हैप्सबर्ग कुलोत्पन्न सम्राट् मैक्सिमिलियन के शासन-काल में आस्ट्रिया जर्मनी का प्रधान राज्य बन गया। सम्राट् के रूप में उसने जर्मनी को भी संगठित बनाने की चेष्टा की, परन्तु वह सफल-मनोरथ न हो सका। उसके पौत्र सम्राट चार्ल्स पंचम के शासन-काल मेँ हैप्सबर्ग राजवंश ने चूड़ान्त गौरव प्राप्त किया और, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, यह यूरोप का सर्व-शक्तिमान् और सर्वाधिक प्रतिष्ठित राजवंश बन गया। इसी समय से जर्मनी का सम्राट्प्रद, जो इसके पूर्व और पश्चात् भी निर्वाचन पर आधारित रहा, वंशानुगत-सा बन गया और दो शताब्दियों से ऊपर तक आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग आर्चड्यूक ही जर्मनी के सम्राट् चुने जाते रहे। इनके निर्वाचकों की संख्या सात से नौ हो गयी थी। इस प्रकार आधुनिक काल मेंजर्मन-एकता के तीन प्रतीक सम्राट् डायट (पार्लियामेंट) ओर निर्वाचक थे, परन्तु इनके होते हुए भी जर्मनी प्राय: तीन सौ से अधिक राज्यों का ढीला-ढाला संघ-मात्र था और सर्वोच्च उपाधियुक्त सम्राट् साम्राज्य के भीतर समस्त शक्ति और साधनों से वंचित केवल आभूषण के रूप में प्रतिष्ठित था।

हैप्सबर्ग राजवंश की वास्तविक शक्ति का आधार आस्ट्रिया का वंशानुगत राज्य था। फलत: सम्राटों ने तीसवर्षीय युद्ध के पश्चात् जर्मन-सम्राज्य की रक्षा और संगठन का विचार छोड़कर अपने वंशानुगत राज्य के विस्तार और संगठन की ओर विशेष ध्यान दिया। इस दिशा में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। जहाँ एक ओर उनकी उदासीनता के क़ारण जर्मन साम्राज्य का पतन और विघटन हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अत्यधिक उत्साह और सफलता के साथ एक नवीन साम्राज्य का निर्माण प्रारम्भ किया

जिसकी गणना यूरोप की प्रधान शक्तियों में होने लगी। उनके वंशानुगत राज्य आस्ट्रिया के नाम पर ही यह नवीन साम्राज्य "आस्ट्रियाके साम्राज्य' के नाम से विख्यात हुआ, यद्यपि शास्त्रीय ढंग पर यह साम्राज्य न था और इसका प्रधान 'पवित्र रोमन साम्राज्य' के गौरवपूर्ण प्रधान पद पर निर्वाचित होने पर ही नियमतः सम्राट् की पदवी से विभूषित होता था। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, जब 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का अंत हो गया, हैप्सबर्ग राजवंश का वंशानुगत साम्राज्य 'आस्ट्रिया के साम्राज्य' के नाम से स्वीकृत हुआ और उसका प्रधान 'पवित्र रोमन सम्राट' के स्थान पर आस्ट्रिया के नाम से पुकारा जाने लगा।

बोहेमिया और हंगेरी—सन् 1526 ई० में निर्वाचन ओर उत्तराधिकार के आधार पर सम्राट् चार्ल्स पंचम का अनुज फर्डिनैंड बोहेमिया और हंगेरी केदो विस्तृत राज्यों का राजा हो गया। इनमें बोहेमिया तो जर्मन साम्राज्य के भीतर और 'निर्वाचक' राज्यों में था और इसके निवासियों में कुछ जर्मन, परअधिकांश चेक, जाति के थे। यह राज्य आस्ट्रिया से सटा हुआ उसके उत्तर में स्थित था। हंगेरी का राज्य भी आस्ट्रिया से मिला हुआ था और पूर्व की ओर जर्मन-साम्राज्य के बाहर स्थित था। डैन्यूब के निचले मैदान के इस पुराने मैगयार राज्य के भीतर क्रोशिया और ट्रांसिलवेनिया के भू-भाग भी सम्मिलित थे। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंश का वास्तविक साम्राज्य जर्मनी नहीं, अपितु आस्ट्रिया, बोहेमिया और हंगेरी के विस्तृत राज्य थे जहाँ के वे वंशानुगत राजा थे। इन सम्मिलित राज्यों का प्रथम शासक फर्डिनैंड था जो सम्राट् चार्ल्स पंचम के पदत्याग के पश्चात् (1556) जर्मन-सम्राट् भी हुआ। इन तीनों राज्यों में, एक-दूसरे से मिले होने के कारण, रानजीतिक एकता तो थी, परन्तु जाति और भाषा का पार्थक्य इनकी वास्तविक एकता में घोर बाधक था। यही कारण है कि हैप्सबर्ग सम्राटों की इन देशों के शासन में सदैव कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सोलहवीं शताब्दी मेंबोहेमिया में प्रोटेस्टेंटों की संख्या बराबर बढ़ती गयी और इसके साथ कैथलिक सम्राटों की कठिनाइयाँ भी बढ़ती गयीं। इस संघर्ष की परिणति सम्राट् फर्डिनैंड द्वितीय के विरुद्ध चेकोंके विद्रोह (1618) के रूप में हुई जहां से जर्मनी में तीस वर्षीय युद्ध का भीषण श्रीगणेश हुआ। दो ही वर्षों के पश्चात् इस स्थिति का अंत हो गया ओर ह्वाइट-हिल के युद्ध (1620) के पश्चात् बोहेमिया का विद्रोह समाप्त हो गया।इसके पश्चात् हैप्सबर्ग राजवंश ने इस राज्य पर पूर्ण निरंकुश शासन की स्थापना की और यहाँ की पार्लियामेंट को नियंत्रित करने, प्रोटेस्टेंटधर्म को कुचलने तथा चेक-बहुसंख्यकों के विरुद्ध जर्मन-अल्पसंख्यकों के प्रति पक्षपात की नीति अपनायी।

इसके विपरीत हंगेरी की स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस देश पर अधिकार के समय से ही यहाँ की समस्या अत्यन्त जटिल हो गयी। जाति, धर्म और भाषा की विभिन्नता के कारण एक ओर तो आन्तरिक कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, परन्तु उनसे भी अधिक भयंकरतुर्कों काआक्रमण सिद्ध हुआ। 1526 ई० में तुर्कों ने समस्त हंगेरी को आक्रान्त किया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि **समस्त** मध्य यूरोप पर उनका आधिपत्य स्थापित हो जायेगा। 1522 ई० में तुर्क सुल्तान सुलेमान ने आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर भी घेरा डाल दिया। उसका यह घेरा विफल सिद्ध हुआ और तुर्क लोग यूरोप में और आगे की ओर न बढ़ सके। परन्तु इस आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि बूडापेस्ट नगर के साथ प्रायः एक-तिहाई हंगेरी पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया। ट्रांसिलवेनिया के दूसरे तृतीयांश पर प्रोटेस्टेंट मतानुयायी एक मैगयार राजकुमार का शासन स्थापित हुआ जो सुल्तान के राजनीतिक प्रभाव के अन्तर्गत था। अन्तिम तृतीयांश हैप्सबर्ग राजवंश के अधीन अवश्य रहा परन्तु इसके लिए उन्हें तर्क सुल्तानों को वार्षिक कर देना पड़ता था। इस भूभाग के सरदारों में से अधिकांश प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी थे जिनका झुकाव कैथलिक सम्राट् की अपेक्षा ट्रांसिलबेनिया के प्रोटेस्टेंट राजकुमार की ओर अधिकथा। संयोग की बात थी कि इसी समय तुर्कों के जातीय शौर्य ओर उत्साह कम होने लगे और विलासिता में लिप्त होने के कारण उनके सुल्तान भी उनका नेतृत्तव करने में विफल रहे। परिणामस्व ्रूप सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में हंगेरी में आस्ट्रिया की शक्ति का क्रमिक विकास प्रारम्भ हुआ दूसरी ओर कैथमिल धर्म-सुधार के कारण इस धर्म में भी पुर्न जीवन आया और ट्रांसिलवेनिया के तथा अन्य दूसरे राजकुमारों और सरदारों ने प्रोटेस्टेंट धर्म का परित्याग कर पुनः कैथलिक धर्म को स्वीकार करना प्रारम्भ किया। सन् 1606 ई० में सितवाटोराक की सन्धि के द्वारा जब तुर्कों ने सम्राट् रुडाल्फ द्वितीय को, 'वियना के राजा' केस्थान पर 'सम्राट्' के रूप में स्वीकार किया और एकमुश्त धन के धन के बदले में वार्षिक कर लेना भी छोड़ दिया तो इससे हैप्सबर्ग राजवंश की प्रतिष्ठा पर्याप्त रूप में बढ़ गयी।

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तीस वर्षीय युद्ध के कारण एक ओर तो सम्राट्टर्कों पर आक्रमण कर तुर्कों को पीछे हटाने में असमर्थ थे और दूसरी ओर अपनी आन्तरिक दुर्बलता एवं उचित नेतृत्व के अभाव में सुल्तान भी आस्ट्रिया की कमजोरियों का लाभ न उठा सके। सत्रहवीं शताब्दी के अतिन्म चरण में तुर्कोंने हैप्सबर्ग राजवंश के विरुद्ध एक बार फिर जोर मारा और 1683 ई० में उन्होंने वियना परघेरा डाल दिया। परन्तु सम्राट् के सहायक पोलैंड के राजा जॉन सोब्येस्की तथा सवाय के ड्यूक यूजेन के कुशल नेत्त्व के कारण उन्हें राजधानी का घेरा ही नहीं उठाना पड़ा, प्रत्युत उनकी सारी विजय घोर

पराजय के रूप में परिणत हो गयी। अन्त में कार्लोवित्ज की सन्धि (1699) के द्वारा आस्ट्रिया को कुछ थोड़े-से भूभाग को छोड़कर समस्त हंगेरी, ट्रांसिलवेनिया, स्लावोनियाओर कोशिया के अधिकांश प्राप्त हुआ। इस सन्धि के पूर्व ही, जब युद्ध चल रहा था, हंगेरी की परिषद् ने देश पर हैप्सबर्ग राजवंश के वंशानुगत अधिकार को स्वीकार कर लिया था। (1687)और तीन वर्षों के पश्चात् ट्रांसिलवेनिया भी हैप्सबर्ग राज्य के अधीन हो गया था। अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तुर्कों के साथ पुनः युद्ध (1715-18 ई०) छिड़ गया। इस बार भी तुर्क बुरी तरह पराजित हुए और पासारोविट्ज की सन्धि (Passarovitzए 1718 ई०) द्वारा हंगेरीका शेष अंश भी उन्हें छोड़ देना पड़ा।

नेदरलैंड्स और इटली के राज्य—सन् 1702 ई० में स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंश ने भी स्पेन के विस्तृत साम्राज्य पर अपना दावा पेश किया। दूसरी ओर उसका प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस का राजा लुई चतुर्दश था। यूट्रेक्ट की सन्धि (1713) द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ जिसके अनुसार यद्यपि स्पेन और उसके औपनिवेशिक साम्राज्य पर फ्रांस के बूरबों राजवंश का अधिकार स्वीकृत हुआ, परन्तु आस्ट्रिया को मिले प्रान्त भी कम महत्व के न थे। इसके अनुसार हैप्सबर्ग सम्राट् चार्ल्स षष्ठ को स्पेनी नेदरलैंड्स और इटली में मिलान, नेपुल्स और सिसली के राज्य प्राप्त हुए। ये सभी प्रान्त जमर्न-साम्राज्य के बाहर थे। इसी समय से स्पेनी नेदरलैंड्स आस्ट्रियन नेदरलैंड्स के नाम से विख्यात हुआ।

शासन की कठिनाइयाँ—आस्ट्रिया के इस विस्तृत, परन्तु बिखरे हुए, साम्राज्य का प्रथम सम्राट् चार्ल्स षष्ठ था। यह इस नव-अधिकृतसाम्राज्य को राजनीतिक इकाई का रूप देने में असमर्थ सिद्ध हुआ। उसकी इस विफलता के अनेक कारण थे। एक ओर तो इस साम्राज्य में प्रायः एक दर्जन विभिन्न भाषा-भाषी जातियाँ थीं और उसके आर्थिक हितों में तो इससे भी अधिक विभिन्नता थी। इस साम्राज्य का शासक तो एक था परन्तु केन्द्रीय शासन के अभाव में वह प्रत्येक भूभाग पर विभिन्न उपाधियों से शासन करता था, जैसे, वह आस्ट्रिया का आर्च ड्यूक बोहेमिया का राजा, हंगेरी का राजा, मिलान का ड्यूक ओर नेदरलैंड्स का राजकुमार कहलाता था। इन पाँचों भूभागों का शासन एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् और स्वतंत्र था। इनकी आर्थिक नीति, नियम और न्यायालय एक-दूसरे से भिन्न थे और प्रत्येक क्षेत्र में एक-दूसरे से पृथक् रहने की प्रबल भावना थी। इस परिस्थिति में समस्त साम्राज्य में एक नियम और नीति का पालन बहुत ही कठिन था और हैप्सबर्ग राजवंश के लिये तो यह असम्भव सिद्ध हुआ। फ्रांस की

सफल केन्द्रीकरण की नीति से प्रभावित होकर हैप्सबर्ग सम्राटों ने भी इसे कार्यान्वित करना चाहा, परन्तु वे सफल नहीं हुए। परन्तु लुई चुतुर्दश तथा तुर्कों के विरुद्ध चलने वाले युद्ध के कारण एक केन्द्रीय आस्ट्रियन सेना का संगठन आवश्य हुआ जिसमें प्रान्तों के सैनिक सम्मिलित थे।

अपनी केन्द्रींकरण की नीति में उन्हें गम्भीर आन्तरिक कठिनाइयों का तो सामना करना ही पड़ा, परन्तु इससे भी अधिक कठिनाई का विषय उनकी बाह्य समस्यायें थीं जिनका समाधान उनकी शक्ति के बाहर था। एकओर दक्षिण-पूर्व में तुर्कों के बढ़ाव के कारण उनके साथ अनवरत् संघर्ष प्रारम्भ हुआ, दूसरी ओर व्यापारकि क्षेत्र में उन्नतिशील नेदरलैड्स पर अधिकार के कारण उन्हें हालैंड, इंगलैंड तथाफ्रांस के व्यापारी वर्ग का क्रोधभाजन बनना पड़ा और इटली में राज्य-विस्तार के फलस्वरूप उन्हें स्पेन फ्रांस और सवाय की शत्रुता मोल लेनी पड़ी। अपनी इन कठिनाइयों के ऊपर उन्हें सम्राट् के रूप में जर्मनी की गुरुतर समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। जर्मनीके दूसरे राजकुमारों की द्वेषपूर्ण महत्तवाकाक्षांयें और विदेशियों के हस्तक्षेप के कारण वे जर्मनी में भी सफलता न प्राप्त कर सके। वस्तुतः यह ठीक ही कहा गया है कि 'केवल जर्मनी ही हैप्सबर्ग की दुर्बलती का कारण न था, प्रत्युत यह राजवंश भी जर्मनी की दुर्बलता का साधन बना हुआथा। परन्तु अपनी इन गुरतर औरअसाध्य दुर्बलताओं के बीच भी यूरोप में हैप्सबर्ग राजवंश का सम्मान की दृष्टि से देखा और सबल राज्यों में गिना जाता था। इस बाह्य प्रदर्शन के कारण उसके अनेक प्रान्तों की समृद्धि, उनकी विस्तृत, यद्धपि असंगठित सेवायें, यूरोपीय राज्यों के साथ उसके वैवाहिक सम्बन्घ, ईसाई धर्म की रक्षा के लिये तुर्कों के साथ उसके युद्ध, प्रोटेस्टेंट धर्म के विरुद्ध कैथलिक धर्म की सहायता, स्वेच्छाचारी शासन और राज-दरबार की शान-शोकत आदि थे। इनके कारण उसकी आन्तंरिक दुर्बलता पर आवरण पड़ा हुआ था और यूरोप के राज्यों पर उसके शक्तिशाली होने का भ्रमपूर्ण विश्वास छाया हुआ था।

आस्ट्रिय के उत्तराधिकार के युद्ध

उतराधिकार-स्वीकृति-पत्र—सन् 1711 ई० में चार्ल्स षष्ठ जर्मन-सम्राट् ओर आस्ट्रिया के विस्तृत राज्य का स्वामी हुआ। उसके न कोई पुत्र था और न भाई। अतः जब उसकी अवस्था पर्याप्त हो गयी और पुत्रोत्पत्ति की कोई आशा न रही तो आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का प्रश्न अपने विकट रूप में उसके समक्ष उपस्थित हुआ। उसने पुत्र के अभाव में स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध की भीषणता तथा उसके राज्य के विघटन की प्रक्रिया अपनी आँखों से देखी थी और पुत्र के अभाव में उनकी स्मृति उसे विफल कर

देती थी। अतः उसने इस भीषणता तथा विघटन की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये पुत्रों तक ही सीमित उत्तराधिकार के नियम को बदलकर अपनी बड़ी पुत्री को समस्त साम्राज्य की एकमात्र स्वामिनी बनाने का निश्चय किया। इस उदेश्य की पूर्ति के लिये उसने 'उत्तराधिकार-स्वीकृति' (Pragmatic Sanction) का एक अध्यादेश निकाला जिसके द्वारा हैप्सबर्ग-राज्य के अविभाज्य होने और पुत्र के अभाव में पुत्री के उत्तराधिकार की घोषणा की गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् 'उत्तराधिकार-स्वीकृति' का अध्यादेश सर्वमान्य हो सके, इसके लिए सर्वप्रथम उसने अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों को पार्लिमेंटों द्वारा उसे स्वीकृत कराया ओर उसके पश्चात् उसने यूरोप के विभिन्न राज्यों की भी मान्यता प्राप्त की। इस प्रकार उसके शासन-काल के अन्तिम वर्षों की समस्त बाह्यनीति उसकी बड़ी पुत्री मेरिया थेरेसा के उत्तराधिकार की रक्षा का साधन बनी रही। अखिल यूरोप की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए उसे विदेशी राज्यों की अनेक सुविधायें भी प्रस्तुत करनी पड़ी। अन्त मेंउसे अपने प्रयत्न में सफलता मिली और केवल बवेरिया को छोड़कर यूरोप के प्रायः सभी राज्यों ने 'उत्तराधिकार-स्वीकृति-पत्र' को मान्यता प्रदान की। वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सच्चाई और विश्वास का उच्च स्थान है इसी भावना से अनुप्राणित होकर उसने इसके लिए आजीवन सतत प्रयत्न किया और यूरोप के पवित्र वादों को प्राप्त कर 1740 ई० में सन्तोष के साथ अपनी भौतिक लीला समाप्त की। इस प्रकार चार्ल्स षष्ठ ने अपने शासन-काल में राज्य के संगठन, राज-कोष की दृढ़ता तथा सैन्य-संगठन की ओर तोकम ध्यानदिया, जिनके द्वारा उसकी पुत्री के अधिकारों की रक्षा अधिक सम्भव थी, परन्तु इनके विपरीत उसने कागजी स्वीकृति का ढेर लगा दिया। इसी को ध्यान में रखकर प्रशा के समकालीन शासक फ्रेडेरिक महान् ने कहा था कि कागज के इस ढेर की अपेक्षा दो लाख सैनिकों की सबल सेना की विरासत मेरिया थेरेसा के लिए अधिक सहायक सिद्ध हुई होती।

उत्तराधिकार के युद्ध का प्रारम्भ—उत्तराधिकार-स्वीकृति-पत्र के आधार पर चार्ल्स षष्ठ की मत्यु के पश्चात् आर्च डचेज मेरिया थेरेसा हैप्सवर्ग-साम्राज्य की स्वामिनी हुई। अपने दिये हुए पवित्र वादों के बावजूद सभी पड़ोसी राज्य आस्ट्रिया के समीपवर्ती प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के लिये प्रस्तुत थे, प्रतीक्षा केवल इस बात की थी कि सर्वप्रथम कौन प्रहार करे। प्रशा के महत्तवाकांक्षी शासक फ्रेडेरिक महान् ने कुटिल ढंग से इन वादों पर मुसकराते हुए उनका नेतृत्व किया। उसने एक पुराने अधिकार के आधार पर, जिसका औचित्य संदिग्ध था, आस्ट्रिया के प्रान्त साइलेशिया पर

आक्रमण (1740) कर दिया। यह आस्ट्रिया पर चतुर्दिक् आक्रमण का संकेत था जिसे पाकर सभी विरोधी राज्यों ने उसकी ओर अपनी सेनायें संचालित कर दीं। फ्रेडेरिक ने फ्रांस और बवेरिया मे मिलकर आस्ट्रियन प्रदेशों पर अधिकार की योजना प्रस्तुत की। इसके द्वारा बवेरिया के निर्वाचक को जर्मन-सम्राट् बनाना और फ्रेडेरिक को साइलेशिया देना निश्चित हुआ। फ्रांस की निगाह आस्ट्रियन नेदरलैंड्स पर थी। स्पेन का बूरबों परिवार भी मिलान की डची प्राप्त करने की चेष्टा में था और यह उसके लिए अनुकूल अवसर था। सैक्सोनी का ड्यूक आस्ट्रिया और प्रशा को भिड़ायें रखकर अपने प्रदेश तथा पोलैंड में अपने हित-साधन के लिये प्रयत्नशील था, अतः वह भी इस स्थिति में उदासीन न रहकर आस्ट्रिया की कठिनाइयों से लाभ उठाना चाहता था। ठीक यही दशा सवाय के ड्यूक की थी जो इटली में बूरबों और हैप्सबर्ग के बीच सन्तुलन बनाये रखना चाहता था। उसने भी प्रारम्भ में आस्ट्रिया के विरोधियों का साथ दिया। इस प्रकार आस्ट्रिया के विरुद्ध बने संघ में प्रशा, फ्रांस, बवेरिया, सैक्सोनी और सवाय सम्मिलित थे।

इस यूरोपीय संघर्ष से इंगलैंड का तटस्थ रहना भी सम्भव न था, फलतः स्पेन के साथ चलने वाला उसका व्यापारिक युद्ध (1739) इसका एक अंग बन गया। वस्तुतः इंगलैंड को आस्ट्रियन नेदरलैंड्स में कुछ व्यापारिक सुविधायें प्राप्त थीं जिनकी रक्षा उस प्रदेश पर फ्रांस का अधिकार हो जाने से कदापि संभव न थी। यही कारण था कि इंगलैंड ने नेदरलैंड्स की ओर फ्रांस के बढ़ाव का सदा विरोध किया। अतः इस युद्ध में धन और सेना द्वारा मेरिया थेरेसा की सहायता करके इंगलैंड एकओर 'उत्तराधिकार-स्वीकृति-पत्र' के लिए दिये हुए अपने आश्वासन की और दूसरी ओर फ्रांस के विरुद्ध नेदरलैंड्स की और प्रशा के विरुद्ध हनोवर की रक्षा कर सकता था। साथ ही औपनिवेशिक साम्राज्य के लिये फ्रांस के साथ चलने वाली प्रतिस्पर्धा में भी सफलता की संभावना थी। फलतः इंगलैंड ने इस युद्ध में आस्ट्रिया का साथ दिया। हालैंड ने भी फ्रांस केसम्भावित आक्रमण से अपनी रक्षा के लिये इंगलैंड और आस्ट्रिया के साथ सहयोग किया।

इस प्रकार रूस को छोड़कर यूरोप की सभी प्रमुख शक्तियों ने इस युद्ध में भाग लिया जो आठ वर्षों (1740-48)तक चलता रहा। परन्तु इसके बावजूद यह अधिक भयंकर या नाशकारी न सिद्ध हो सका। सैक्सोनी ने, जिसकाप्रशा की अपेक्षा आस्ट्रिया की ओर अधिक आकर्षण था, शीघ्र ही उत्कोच स्वीकार कर आस्ट्रिया के साथ सन्धि कर ली। स्पेन अपनेहितों की रक्षा के लिए केवल इटली में ही युद्ध करने के लिये प्रस्तुत था। सवाय के ड्यूक ने इस बात से भयभीत होकर कि विजय के फलस्वरूप इटली में

बूरबों-परिवारका प्रभाव बढ़ जायेगा, संघ ने सम्बन्ध-विच्छेद कर आस्ट्रिया का साथ देना स्वीकार किया। उधर हालैंड भी केवल अपनी रक्षा से ही संतुष्ट था। यही कारण था। कि इस युद्धकी भीषणता अधिक न बढ़ सकी।

थटनायें—जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, साइलेशिया के आक्रमण से इस संघर्ष का प्रारम्भ हुआ और फ्रेडेरिक के नेतृत्व में प्रशा की सेना ने इस देश में प्रवेश कर उसकी राजधानी ब्रेसला (Breslau) पर अधिकार कर लिया। दूसरी ओर पश्चिम की दिशा से फ्रांस और बवेरिया की सम्मिलित सेनायें आस्ट्रिया और बोहेमिया पर आक्रमण करने के लिए बढ़ीं। अनुभवहीन मेरिया थेरेसा घोर विपन्नावस्था में थी जिससे त्राण पाने के निमित्त वह भागकर हंगेरी पहुँची। परन्तु इस विषम परिस्थिति में भी अपने हृदय और मस्तिक पर उसका अधिकार बना रहा। उसने तुरन्त हंगेरी की मैगेरी की मैगयार प्रजा से सहायता की याचना की और उसकी प्रजा ने भी उसे निराश न किया। हैप्सबर्ग-राजवंश की रक्षा और सहायता के लिये अधिकाधिक संख्या में हंगेरियन, आस्ट्रियन और बोहेमियन सैनिकों की भर्ती होने लगी ओर उन्हें थोड़ी-बहुत शिक्षा देकर विभिन्न मोर्चों पर भेजना प्रारम्भ हुआ। परन्तु युद्ध के प्रारम्भिक काल में यह सारी तैयारी ओर प्रयत्न निष्पल सिद्ध हुए और प्रत्येक क्षेत्र में आस्ट्रिया की पराजय होती रही। फ्रेडेरिक ने 1741 ई०में मोलवित्स (Mollwitz) के क्षेत्र में आस्ट्रिया की सेना पर पूर्ण विजय प्राप्त की जिससे साइलेशिया के प्रान्त पर उसका अधिकार दृढ़ हो गया। उसी वर्ष फ्रांस ओर बवेरिया की सेना ने बोहेमिया पर अधिकार कर लिया और दूसरे वर्ष (1742) सम्राट् के निर्बाचन में बवेरिया का निर्वाचक चार्ल्स जर्मन-सम्राट घोषित हुआ।

इस घोर पराजय और निराशा के काल में मेरिया थेरेसा केभाग्य ने उसका साथ दिया। उसके उत्साह और अथिक परिश्रम ने उसके सैनिकों में नवजीवन का संचार कियाऔर उन्होंने हारी बाजी जीत के रूप में परिणत करनी आरम्भ की। शीघ्र ही उसकी सेना ने बोहेमिया से शत्रुओं को मार भगयाया और अब वह बवेरिया की ओर बढ़ी। एक साथ विभिन्न क्षेत्रों में शत्रुओं का सामाना कठिन समझकर मेरिया थेरेसा ने फ्रेडेरिक को साइलेशिया का प्रान्त देकर उसके साथ ब्रेसला की सन्धि (1742) कर ली। इस सन्धि के पश्चात् उत्तरी मोर्चे से छुट्टी पाकर मेरिया थेरेसा ने और अधिक शक्ति और उत्साह के साथ फ्रांस और बवेरिया के विरुद्ध युद्ध का संचालन प्रारम्भ किया। उसने आगे बढ़कर बवेरिया की राजधानी म्यहूनिक पर ठीक उसी समय अधिकार किया जिस समय फैंकफर्ट में बवेरिया के निर्वाचक का चार्ल्स सप्तम के नाम से पवित्र रोमन सम्राट् के रूप में राज्यतिलक हो रहा था। शीघ्र ही उसने सम्पूर्ण बवेरिया को

अधिकृत किया और फ्रांसीसी सेनायें राइन की ओर भाग खड़ी हुई। मेरिया की इस विजय से फ्रेडेरिक को अपनी स्थिति की रक्षा के लिये चिन्ता हुई और 1744 ई० में दूसरी बार वह युद्ध-क्षेत्र में आ उतरा। उसके नवीन आक्रमण से फ्रांस और बवेरिया की सेनाओं को कुछ फुरसत मिली और उसने स्वयं 1745 ई० में होयनफ्रीडबर्ग के युद्ध-क्षेत्र में आस्ट्रिया की सेना को बुरी तरह पराजित किया। अतः बाध्य होकर दूसरी बार मेरिया थेरेसा ने फ्रेडेरिक को साइलेशिया देना स्वीकार कर उसके साथ सन्धि (1745) की।

फ्रेडेरिक की स्वार्थ-परायणता से जर्मनी में तो युद्ध का प्रायः अन्त हो गया, परन्तु नेदरलैंड्स और इटली अभी भी युद्ध के क्रीड़ा-स्थल बने रहे। फ्रांसीसियों ने आस्ट्रिया के आक्रमण से अल्सेस और लोरेन की रक्षा तो की ही, अब उन्होंने आगेबढ़कर आस्ट्रियन नेदरलैंड्स के विस्तृत भूभाग पर भी अधिकार कर लिया और हालैंड भी युद्ध की लपेट में आ गया। परन्तु उपनिवेशों और सामुद्रिक युद्धों में उसे इंगलैंड के विरुद्ध सफलता न प्राप्त हो सकी। इटली के क्षेत्र में आस्ट्रिया और सवाय की सेना ने फ्रान्स और स्पेनकी सम्मिलित सेनाओं को पराजित किया। अपनी इन पराजयों से हतोत्साह होकर फ्रान्स और स्पेन ने सन्धि की वार्ता प्रारम्भ की।

एक्सलाशापेल की सन्धि (Peace of Aix-la chapelle)—सन् 1748 ई० में एक्सनाशापेल की सन्धि द्वारा आस्ट्रियाके उत्तराधिकार के युद्ध का अन्त हो गया। इस सन्धि द्वारा साइलेशिया पर फ्रेडेरिक का और आस्ट्रिया के सिंहासन पर मेरिया थेरेसा का अधिकार स्वीकृत हुआ। अन्य सभी क्षेत्रों में युद्ध के पूर्व की स्थिति मान्य हुई। बवेरिया के निर्वाचक को अपना सम्पूर्ण राज्य प्राप्त हुआ। इस बीच बवेरिया के सम्राट् चार्ल्स संप्तम की मृत्यु (1745) हो चुकी थी, अतः इस रिक्त स्थान पर मेरिया थेरेसा का पति और लोरेन का राजकुमार फ्रांसिस सम्राट् निर्वाचित हुआ, जिससे जर्मन साम्राज्य में हैप्सबग-परिवार का प्राधान्य पुनः स्थापित हुआ। इस भयंकर अग्नि-परीक्षा में आस्ट्रिया की सफलता का प्रमुख श्रेय महारानी मेरिया थेरेसा के अदम्य साहस और उत्साह को ही है। परन्तु उसने इस सफलता की प्राप्ति साइलेशिया के विस्तृत प्रदेश को खोकर की जिसकीदु:खद स्मृति उसे आजीवन बनी रही। इस युद्ध में सबसे अधिक लाभ फ्रेडेरिक को हुआ जिसने साइलेशिया के धनी और विस्तृत प्रदेश को प्राप्त कर प्रशा के धन और जनशक्ति में पर्याप्त वृद्धि की। परन्तु इससे भी अधिक उसके गौरव में वृद्धि और अब प्रशा की गणना यूरोप के प्रधान राज्यों में होने लगी। इस मार्यादा-वृद्धि का कारण फ्रेडेरिक का राज्य-विस्तार नहीं था, क्योंकि साइलेशिया को मिलाकर भी प्रशा का राज्य बहुत विस्तृत न था, वास्तव में प्रथा की दृष्टि से इस युद्ध की प्रधान विशेषता यही है कि इन युद्धों के पश्चात् इसकी संगठित सेना और सुदृढ़ कोषबल तथा फ्रेडेरिक के व्यक्तिगत साहस, निर्भीकता एवं कुशल सैनिक नेतृत्व की धाक सारे यूरोप में छा गयी

और अब प्रशा यूरोपीय राजनीति में भय और सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। दूसरी ओर फ्रांस को इस युद्ध या सन्धि से कोई लाभ न हुआ और अपने अपार धन-जन का व्यय उसके लिए निष्फल सिद्ध हुआ।

उत्तराधिकार के युद्ध के पश्चात् मेरिया थेरेसा आस्ट्रिया केसाम्राज्य की स्वामिनी अवश्य स्वीकार की गयी, परन्तु अन्य दृष्टियों में यूरोप के निर्णयात्मक युद्धों में इसकी गणना नहीं जा सकती। वास्तव में इस युद्ध द्वारा जर्मनी के नेतृत्व के लिए प्रशा और आस्ट्रिया के संघर्ष का सूत्रपात-मात्र हुआ। दूसरी ओर विश्व-व्यापी व्यापारिक हितों की रक्षा और साम्राज्य विस्तार के लिए इंगलैंड और फ्रांस के बीच चलने वाले संघर्ष का भी कुछ निर्णय न हो सका।

कूटनीतिक क्रान्ति

सभी व्यावहारिक कलाओं में कूटनीति अत्याधिक रूढ़िवादी है। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में पुरानी कूटनीतिक परम्परा के निर्वाह के लिए ही फ्रांस आस्ट्रिया का शत्रु और इंगलैंड उसका मित्र था। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, इस युद्ध के अन्तिम वर्षों में यूरोप दो दलों में विभक्त था। एक ओर तो आस्ट्रिया इंगलैंड और हालैंड थे। इसी दल में सैक्सोनी और सवाय भी सम्मिलित थे और रूस तथा आस्ट्रिया की भी रक्षात्मक सन्धि हो चुकी थी। दूसरी ओर फ्रांस, प्रशा और स्पेन थे। परन्तु इस युद्ध में अपार धन-जन की क्षति के बाद भी जब कोई फल न निकला तो स्वाभाविक रूप से इस कूटनीतिक परम्परा की उपादेयता में लोगों को सन्देह होने लगा। आखिरकार इंगलैंड की मित्रता से आस्ट्रिया को क्या लाभ पहुँचा, सिवाय इसके कि इंगलैंड ने उस पर यथाशक्ति दबाव डालकर साइलेशिया का प्रान्त छोड़ने के लिए उसे बाध्य किया। दूसरी ओर, अपने परम्परागत शत्रु आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजवंश को अपमानित या जर्मनी में उसके प्रभाव को कम करने के अतिरिक्त प्रशा के अभ्युदय में साथ देने से फ्रांस को क्या प्राप्त हुआ? पुनः इंगलैंड को ही क्या सबल प्रशा की अपेक्षा आस्ट्रिया से मित्रता करके फ्रांस के साथ व्यापारिक और औपनिवेशिक साम्राज्य के लिए चलने वाले संघर्ष में अधिक सहायता की सम्भावना हो सकती थी? एक्सलाशापेल की सन्धि के पश्चात् इस प्रकार के सन्देह और असन्तोष तत्कालीन राजनीतिज्ञों के हृदय को उद्विग्न करने लगे और इन्हीं के समाधान के फलस्वरूप आठ वर्षों के पश्चात् यूरोप ने इस कूटनीतिक रूढ़िवादिता का अन्त करके नवीन संघों की स्थापना की जिसे तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में, कूटनीतिक क्रांति (Diplomatic Revolution) की संज्ञा प्राप्त हुई।

इस कूटनीतिक क्रान्ति में केवल राजनीतिक असन्तोष ही मुखरित नहीं हुआ, प्रत्युत तत्कालीन शासकों का व्यक्तित्व भीं इसमें पर्याप्त सहायक हुआ। संयोगवश उस समय आस्ट्रिया रूस और फ्रांस में स्त्रियों का प्राधान्य था जिसके विरुद्ध प्रशा के स्त्री-द्वेषी राजा फ्रेड़ेरिक ने अपनी अश्लील वाक्-प्रगल्भता का पूर्ण प्रयोग किया। हृदयवेधी तानों और व्यंग्य बाणों से न तो धर्मभीरु और पुण्यात्मा मेरिया थेरेसा वंचित थी और न तो लुई पंचदश की सर्वसत्ता सम्पन्न प्रेमिका पोंपादूर याआचरणहीन जारिन एलाजाबेथ ही। इस प्रकार आखिल यूरोप में गूँजने वाले उसके व्यंग्यपूर्ण अट्टाहसों से वियना, वर्साई और सेंट पीटर्सबर्ग के राजदरबार सर्वथा क्षुब्ध और उद्विग्न थे, और वे इस 'उपद्रवकारी दुष्ट' तथा यूरोप में सर्वाधिक भयंकर एवं कुत्सित राजकुमार' कोदण्डित करने के लिए कृत-संकल्प थे।

आस्ट्रिया और इंगलैंड—आस्ट्रियाऔर इंगलैंड पुराने मित्र थे, परन्तु इस मित्रता में युद्ध-काल मेंऔर उसके पश्चात् विशेष रूपसे शैथिल्य दीखने लगा था। मेरिया थेरेसा साइलेशिया लेने के लिए कृतसंकल्प थी, क्योंकि इसके अभाव से हैप्सबर्ग राजवंश की प्रतिष्ठा और आस्ट्रियन साम्राज्य में जर्मन तत्तव की प्रधानता पर गहरा आधात पहुँच रहा था। साथ ही इस कैथलिक मतावलम्बी रानी को अपने राज्य का भूभाग एक प्रोटेस्टेंट राजा को देने पर हृदय से क्षोभ था। परन्तु इंगलैंड का राजा जार्ज द्वितीय इस भय से कि कहीं फ्रेडेरिक उसकी जन्मभूमि हनोवर को आक्रान्त कर दे, उसका विरोध करने के लिए प्रस्तुत न था। यही कारण है कि यद्यपि 1750 ई० में इंगलैंड आस्ट्रिया और रूस के संघ में सम्मिलित हो गया, परन्तु उसने फ्रेडेरिक द्वितीय के विरुद्ध उनकी किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता करना स्वीकार कर दिया। दूसरी ओर मेरिया थेरेसा के पुत्र जोसेफ के सम्राट् निर्वाचित होने में इंगलैंड से पर्याप्त सहायता की आशा की थी, परन्तु इस सम्बन्ध में भी इंगलैंड ने जिस धींगाधींगी और सुस्ती से परिचय दिया उससे मेरिया थेरेसा का धैर्य छूट रहा था।

आस्ट्रिया की मैत्री से इंगलैंड में भी असन्तोष की अभिव्यक्ति हो रही थी और विलियम पिट जैसे राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में यह बात बराबर चक्कर काट रही थी कि उनका देश इन महाद्वीपी-युद्धों में धन का व्यर्थ अपव्यय कर रहा हे। इंगलैंड का हित केवल आस्ट्रियन नेदरलैंड्स में था जहाँ वह फ्रांस का प्रभाव नहीं बढ़ने देना चाहता था। फलतः जार्ज द्वितीय ने मेरिया थेरेसा के सामने पर्याप्त आस्ट्रियन सेना के साथ फ्लैंडर्स में सहयोग करने का प्रस्ताव रखा जिससे नेदरलैंड्स की सुरक्षा और फ्रांस के प्रस्तावित आक्रमण से हनोवर की रक्षा सम्भव हो सके। मेरिया थेरेसा ने हनोवर की रक्षा के लिए रूस के साथ मैत्री की सलाह दी और रूस तथा इंगलैंड की 1755 ई० की सन्धि

द्वारा जारिना एलिजबेथ ने आवश्यकता पड़ने पर हनोवर की रक्षा के लिए 55,000 सैनिकों को भेजना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब जार्ज द्वितीय ने नेदरलैंड्स में आस्ट्रिया की सहायता की माँग फिर दुहराई तो इस आधार पर, कि नेदरलैंड्स में सेना भेजने पर प्रशा का प्रतिरोध करने की उसकी शक्ति कम हो जायेगी, मेरिया थेरेसा ने इसे स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार पारस्परिक हितों की विषमता इन दोनों देशों के सम्बन्ध के विच्छेद का कारण हुई। फ्रांस का विरोध इंगलैंड का और प्रशा का विरोध आस्ट्रिया का प्रधान उद्देश्य था और इन उद्देश्यों में एकरूपता का असम्भव थी। फलतः इंगलैंड के लिए प्रशा की मैत्री के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया।

काउण्ट कोनित्ज और फ्रांस—सोलहवीं शताब्दी से ही फ्रांस केराजनीतिक सम्बन्धों का आधार हैप्सबर्ग-राजवंश का विरोध था और आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध तक इस नीति में कभी कोई स्थायी परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु इस युद्ध के बाद शीघ्र ही इस नीति में मौलिक परिवर्तन हुआ जिसका प्रधान कारण आस्ट्रिया के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कोनित्ज (Kaunitz, 1711/94) की सफल नीति है। यह अपने समय का यूरोप का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ था। इसे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था और इसकी देश-भक्ति उच्चकोटि की थी। अत्यधिक धैर्य एवं गम्भीरता के साथ वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करता और अपने देश की गौरव-वृद्धि के निमित्त अपनी समस्त शक्ति साधन और प्रतिभा का प्रयोग करता था। वह रोप, ट्यूरिन और ब्रूसेल्ज में आस्ट्रिया का राजदूत रह चुका था और एक्सलाशापेल की सन्धि में उसने अपने देश का प्रतिनिधित्व किया था। सन् 1749 ई० में वह साम्राज्य परिषद् का सदस्य बनाया गया और तब से अपने जीवन के अन्त तक उसने अपने देश की नीति को प्रभावित किया।

कोनित्ज के विचार से प्रशा आस्ट्रिया का सबसे बड़ा और भयानक शत्रुथा और उसकी शत्रुता का ध्यान रखते हुए साइलेशिया पर यथाशीघ्र पुनः अधिकार करना और अपने राज्य की सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था करना आस्ट्रिया के लिए अत्यावश्यक था। इस अभीष्ट की पूर्ति के लिये सहायता अपेक्षित थी। उसका कहना था कि आस्ट्रिया के मित्रों में सैक्सोनी दुर्बल था, रूस की मित्रता पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता; क्योंकि वहाँ की नीति जारों की व्यक्तिगत इच्छा पर आधारित थी और इंगलैंड की यूरोपीय राजनीति की अपेक्षा अपने औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना में अधिक अभिरुचि थी। उसकी यह दृढ़ धारणा थी कि प्रशा के विरुद्ध इंगलैंड की मित्रता पर आश्रित रहना आस्ट्रिया के लिए व्यर्थ था। इसके लिए उसका ध्यान आस्ट्रिया के परम्परागत शत्रु फ्रांस की ओर आकृष्ट हुआ। उसने यह स्वीकार किया कि इस परम्परागत शत्रुता से दोनों ने अधिक क्षति उठाई है और अब दोनों के हितों में एकरूपता

स्थापित की जा सकती है उसने 1748 ई० में फ्रांस को ब्राबैंट और फ्लैंडर्स देकर उसकी सहायता से साइलेशिया प्राप्त करने की असफल चेष्टा की थी, परन्तु इससे वह हतोत्साह न हुआ। उसने प्रशा की शक्ति को कम करने के लिये एक नवीन संघ बनाने का प्रयत्न किया जिसमें फ्रांस का स्थान प्रमुख रहा। वह आस्ट्रिया के जर्मन प्रान्तों का संगठन चाहता था और इसके लिए वह आस्ट्रियन नेदरलैंड्स और मिलान को छोड़ने के लिए भी प्रस्तुत था। वस्तुतः प्रशा की शक्ति छिन्न-भिन्न करके जर्मनी में आस्ट्रिया के प्रभुत्तव की स्थापना उसे अभिप्रेत थी। मेरिया थेरेसा उसके इन विचारों से पूर्ण सहमत थी।

जब कोनित्ज की फ्रांस में राजदूत(1750-53 ई०) के रूप में नियुक्ति हुई तो उसने फ्रांस में मैत्री स्थापित करने की चेष्टा की। उन दिनों फ्रेडेरिक के आक्षेपों और व्यंग्यों से लुई और उसकी प्रेमिका मदाम द पोंपादूर दोनों ही क्षुब्ध थे। परन्तु इसके बावजूद परम्परागत शत्रु आस्ट्रिया की मित्रता लुई के गले के नीचे न उतर रही थी। दूसरे, 1756 ई० में समाप्त होने वाली प्रशा के साथ की सन्धि भी वह बीच में तोड़ने के लिये प्रसतुत न था। परन्तु कोनित्ज को पोंपादूर की मित्रता से पर्याप्त उत्साह मिला जो फ्रेडेरिक से अत्यधिक जलती थी। इसी बीच 1752 ई० में आस्ट्रिया, स्पेन, नेपुल्स और सार्डीनिया के बीच एक सन्धि हुई जिसके द्वारा प्रत्येक ने इटली में पूर्ववत् स्थिति बनाये रखने की प्रतिज्ञा की।

वेस्टमिन्स्टर की संधि (1756 ई०) —सन् 1755 ई० तक इंगलैंड और आस्ट्रिया का सम्बन्ध समाप्त हो चुका था, हालैंड ने फ्रांस के साथ सन्धि कर ली थी और यूरोप में केवल रूस उसका मित्र रह गया था, यद्यपि रूस के साथ हुई 1755 की सन्धि में हनोवर की रक्षा पर अधिक जोर दिया गया था, परन्तु रूस इसकी अपेक्षा प्रशा पर आक्रमण करने के लिये अधिक उत्सुक था। उधर फ्रांस की मित्रता पर प्रशा का विश्वास कम होता जा रहा था। उसे इस बात का भय था कि फ्रांस की मित्रता के फलस्वरूप उसे पर एक ओर से इंगलैंड और दूसरी ओर से रूस के आक्रमण की सम्भवना अधिक है। फ्रेडेरिक ने इंगलैंड और रूस की सन्धि (1755) के प्रभाव और रूसे के प्रशा पर आक्रमण की आशंका को कम करने के लिए इंगलैंड के साथ संघ बनाना अधिक आवश्यक समझा। फलतः इंगलैंड और प्रशा ने आत्मरक्षा की भावना से अनुप्राणित होकर जनवरी सन् 1756 ई० में वेस्टमिन्स्टर की सन्धि कर ली। इस सन्धि द्वारा दोनों ने जर्मनी की तटस्थता की रक्षा एवं देश में विदेशी सेनाओं के प्रवेश को रोकने का निश्चय किया, इस प्रकार फ्रांसीसी आक्रमण से हनोवर की और रूसी आक्रमण से प्रशा की रक्षा का प्रश्न स्वतः हल हो गया।

साम्राज्य की स्वीकृति के बिना जर्मनी के सम्बन्ध में की गई यह सन्धि आस्ट्रिया को बहुत बुरी लगी और प्रशा पर रूसी आक्रमण की संभावना कम होते देख उसे घोर निराशा हुई। दूसरी ओर फ्रांसने फ्रेडेरिक के इस कार्य को उसके द्वारा पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद का रूप दिया और मित्रवत् सम्बन्ध बनाये रखने के उसके आश्वासनों को अस्वीकार कर दिया उधर रूस के विचार से इंगलैंड का यह कार्य विश्वासघातपूर्ण था।

वर्साई की सन्धि—वेस्टमिन्स्टर की सन्धि ने आस्ट्रिया के साथ सन्धि करने की फ्रांस की हिचकिचाहट को दूर कर दिया और अब स्त्री-द्वेषी फ्रेडरिक के विरुद्ध एलिजबेथ, मेरिया थेरेसा और पोंपादूर के त्रिगुट निर्माण में विलम्ब की आशंका भी समाप्त हो गयी। जारिना एलिजबेथ से पर्याप्त सहायता का आश्वासन प्राप्त कर फ्रांस और आस्ट्रिया ने मई, सन् 1756 ई० में वर्साई की सन्धि कर ली। इसके द्वारा इंगलैंड और फ्रांस के युद्ध में आस्ट्रिया के तटस्थ रहना और फ्रांस ने आस्ट्रिया के किसी भी भूभाग पर आक्रमण न करना स्वीकार किया। दोनों ही राज्यों ने आक्रमण-काल में एक-दूसरे के राज्य की रक्षा का आश्वासन दिया, और यद्यपि इंगलैंड के किसी यूरोपीय मित्र द्वारा आक्रान्त होने पर आस्ट्रिया फ्रांस की सहायता के लिए प्रतिश्रुत हुआ, परन्तु उसने इंगलैंड के साथ युद्ध में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार प्रशा के आक्रमण पर फ्रांस तो आस्ट्रिया की सहायता के लिए बाध्य था, परन्तु स्वयं इंगलैंड द्वारा आक्रान्त होने पर उसे आस्ट्रिया से कोई सहायता न मिल सकती थी। इस सन्धि द्वारा स्पेन, नेपुल्स और परमा को भी इस संघ में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित किया गया। फ्रान्स और आस्ट्रिया के इस रक्षात्मक संघ द्वारा इन दोनों देशों की परम्परागत शत्रुता का अन्त हो गया।

इस संघ को जारिना एलिजबेथ का समर्थन तो प्राप्त था, परन्तु कोनित्ज के प्रयत्नों के बावजूद वह प्रारम्भ में इसमें सम्मिलित न हो सकी। इसका कारण यही था कि कुछ दिनों पूर्व लुई पंचदश ने पोलैंड में हस्तक्षेप और रूस के विरुद्ध स्वीडेन और टर्की का उभाड़ने का प्रयत्न किया था। परन्तु जब फ्रेडेरिक द्वितीय ने सैक्सोनी पर आक्रमण (अगस्त, 1756 ई०) कर दिया तो इस परिवर्तित स्थिति में जारिना ने भी जनवरी, सन् 1757 ई० में बर्साई की सन्धि को स्वीकार कर लिया। पोमरेनिया प्राप्त करने की आशा से मार्च में स्वीडेन भी इस संघ में सम्मिलित हो गया।

एक वर्ष बाद सप्त वर्षीय युद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर वर्साई की दूसरी सन्धि (मई, 1757 ई०)ने इस रक्षात्मक रूप को आक्रामक स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार यूरोप के रूढ़िवादी संघों में आमूल परिवर्तन उपस्थित हुआ और शताब्दियों के मित्र सहसा शत्रु तथा शत्रु मित्र बन गये, वस्तुतः फ्रांस और आस्ट्रिया जैसे दो परम्परागत शत्रुओं की यह आश्चर्यजनक मित्रता थी जिसके द्वारा फांस को प्रसन्न करने के लिये मेरिया थेरेसा ने इंगलैंड और हालैंड का साथ छोड़ दिया और लुई पंचदश ने मेरिया थेरेसा की

अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये प्रशा, और साथ ही प्रोटेस्टेंट जर्मनी का परित्याग कर दिया इसी अर्थ में यूरोप के इन दोनों नवीन संघों के निर्माण को कूटनीतिक क्रांति के नाम से पुकारा गया है। इन संघों में एक में तो इंगलैंड और प्रशा के दो राज्य थे और दूसरे में फ्रांस, आस्ट्रिया, रूस और स्वीडेन के राज्य थे। इसी दूसरे संघ के साथ स्पेन, नेपुल्स् सार्डीनिया और परमा के राज्यों की रक्षात्मक संधि थी और जर्मनी के राज्य सैक्सोनी की सहानुभूतिपूर्ण मित्रता थी।

कूटनीतिक क्रांति का प्रभाव—जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, राष्ट्रीय और व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति का ध्यान रखकर ही इन संघों का निर्माण हुआ था जिसने शीघ्र ही यूरोप की शान्ति और सन्तुलन को खतरे में डाल दिया और परिणाम की दृष्टि से अत्यधिक भयावह सिद्ध हुआ। परन्तु यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा फ्रांस के लिए यह नवीन संघ-रचना अधिक अहितकर सिद्ध हुई। फ्रांस ने आस्ट्रिया के साथ संघ बनाकर एक ओर जर्मनी के अपने पुराने प्रोटेस्टेंट मित्रों और नवीन मित्र प्रशा का साथ छोड़ा और दूसरी ओर आस्ट्रिया की सहायता से रूस के साथ मित्रता कर उसे पोलैंड में अपने हितों का परित्याग करना पड़ा। साथ ही टर्की के साथ भी उसके पुराने संबंधों में कमी आयी। वस्तुत: इससे यूरोपीय राजनीति में फ्रांस का गौरव बहुत कम हो गया और प्रशा के छिन्न-भिन्न होने की अवस्था में भी अपार धन-जन की क्षति के बदले नेदरलैंड्स के कुछ थोड़े से नगरों के अतिरिक्त उसे और कोई भूभाग मिलने की सम्भावना नहीं रही गयी। इस समय फ्रांस और इंगलैंड के बीच उपनिवेशों के लिये तीव्र संघर्ष चल रहा था। ऐसी स्थिति में उसके लिये यूरोपीय युद्धों से सर्वथा अलग रहकर इंगलैंड के विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग अधिक वांछनीय था। यूरोप में फ्रांस की स्थिति पर्याप्त रूप से दृढ़ थी और उस पर किसी ओर से आक्रमण की आशंका न थी। परन्तु तिस पर भी यूरोपीय राजनीति में हस्तक्षेप कर उसने अपना हित-साधन तो न किया, उल्टे उसके शत्रु इंगलैंड का विशेष लाभ हुआ। इस प्रकार फ्रांस ने स्वयं अपने प्रति मूर्खतापूर्ण देश-द्रोह और घोर पागलपन का काम किया जिसकी उपमा इतिहास में कठिनाई से मिल सकती है।

यद्यपि इस संघ की सहायता से भी आस्ट्रिया के प्रधान उदेश्य की पूर्ति न हो सकी और उसे अन्त में साइलेशिया का परित्याग करना ही पड़ा, परन्तु इटली में फ्रांसीसी हस्तक्षेप का अन्त हो गया और वहाँ के राजवंश आस्ट्रिया के प्रभाव के अंतर्गत आ गये। आस्ट्रिया के घोर शत्रु फ्रेडेरिक द्वितीय की स्थिति पर्याप्त रूप से दृढ़ हो गयी। उसने तथा इंगलैंड ने इस नवीन मैत्री से बहुत लाभ उठाया। उपनिवेशों में चलने वाले युद्धों में भाग लेने के लिए फ्रांसीसी सेनायें पर्याप्त संख्या में यूरोप से बाहर चली गयीं जिनका फ्रेडेरिक के विरुद्ध प्रयोग हुआ होता और और दूसरी ओर फ्रेडेरिक के युद्धों के कारण फ्रांस इंगलैंड के विरुद्ध अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करने में अत्यन्त असमर्थ रहा।

सप्तवर्षीय युद्ध

युद्ध का प्रारम्भ—इस युद्ध के पूर्व 1754 ई० से ही इंगलैंड और फ्रांस के उपनिवेशों में परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो गया था और मई, सन् 1756 ई० में इन दोनों देशों के बीच नियमतः युद्ध की घोषणा हो गयी। परन्तु यह संघर्ष अमेरिका और भारत तथा समुद्रों तक ही सीमित था और यूरोप इससे अभी तक प्रभावित न हो सकता था। प्रारम्भ में फ्रेडेरिक द्वितीय ने यूरोप, और विशेषतः जर्मनी को इस युद्ध की लपेट से बचाने की चेष्टा की, क्योंकि उसकी प्रतिद्वन्द्वी मेरिया थेरेसा अपनी कूटनीतिक सफलता के फलस्वरूप साइलेशिया लेने के लिये युद्ध पर आरूढ़ थी। परन्तु जब वर्साई की सन्धि (1756) के अनुसार फ्रांस और आस्ट्रिया में मित्रता हो गयी औरदूसरी तरफ उसकी घोर शत्रु जारिना एलिजबेथ थेरेसा का साथ देने के लिये प्रस्तुत थी ही,तो ऐसी स्थिति में फ्रेडेरिक ने रक्षात्मक के स्थान पर आक्रामण नीति अपनाने में ही अपना हित समझा। उसने विरोधी संध के युद्ध संबन्धी कार्यक्रम के पूर्ण होने के पूर्व ही आस्ट्रिया के प्रान्त बोहेमिया पर आक्रमण करना निश्चित किया और इसके लिए उसने मार्ग में स्थित सैक्सोनी पर अगस्त में आक्रमण कर लिया। इसमें उसका उद्देश्य था अपनी पिछली पंक्ति की रक्षा और सैक्सोनी की सेना पर अपना अधिकार। इस प्रकार एक तटस्थ राज्य पर इस अप्रत्याशित आक्रमण ने यूरोप में युद्ध की ज्वाला सुलगा दी जो प्रायः सात वर्षों तक प्रज्वलित होती रही और जिसमें धीरे-धीरे यूरोप के प्रायः सभी राज्य सम्मिलित हो गये। वस्तुतः युद्ध में भाग लेने वाले राज्यों की संख्या तथा कुशल सैनिक नेतृत्व की दृष्टि से इस यद्ध की गणना उस समय के प्रथम कोटि के युद्धों में की जाती है और इसे स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध के समकक्ष स्थान दिया जाता है।

फ्रेडेरिक द्वितीय को आशा थी कि सैक्सोनी उसका विरोध न कर सकेगा, परन्तु उसकी आशा पूरी न हो सकी। वहाँ के शासक आगस्टस तृतीय ने उसका घोर प्रतिरोध किया और प्रायः एक महीने एक मोर्चे पर डटा रहा। परन्तु अन्त में फ्रेडेरिक की विजय हुई, आगस्टस ने भागकर वारसा में शरण ली और उसकी सेना को बाध्य होकर फ्रेडेरिक की सेना में सम्मिलित होना पड़ा। इस प्रकार फ्रेडेरिक का सैक्सोनी पर अधिकार तो हो गया, लेकिन इससे आस्ट्रिया की रक्षा हो गयी। उसने इस अवसर से लाभ उठाकर अपनी पूरी तैयारी कर ली जिससे बाध्य होकर फ्रेडेरिक द्वितीय को बोहेमिया का आक्रमण स्थगित करना पड़ा।

प्रमुख यूरोपीय घटनायें—प्रथम आघात सहन कर लेने के पश्चात् यूरोपीय संघ ने अपनी चेतना सँभाली और पूरी सैनिक तैयारी के बाद इसकी सेनायें चारों ओर से प्रशा

की ओर चल पड़ी। आस्ट्रिया ने साइलेशिया पर, रूस ने पूर्वी प्रशा पर, स्वीडेन ने उत्तरी ब्रैण्डेनबर्ग पर और फ्रांस ने पश्चिम से तथा शाही सेना ने दक्षिण की ओर से धावा बोल दिया। इस घोर आपत्ति-काल में फ्रेडेरिक द्वितीय ने जिस कुशल सैनिक नेतृत्व का परिचय दिया उसके आधार पर उसकी गणना विश्व के श्रेष्ठतम सेनापतियों में होती है और उसकी 'महान् की उपाधि भी चरितार्थ होती है। उसके विरोधियों ने अपनी बहुसंख्यक सेना के आधार पर उसे धीरे-धीरे अपने घेरे में लेना आरम्भ किया जिससे उसका श्वासावरोध किया जा सके। इस विपन्न स्थिति में फ्रेडेरिक को प्रारम्भ में अत्यधिक घबराहट हुई और वह अपनी बहन के साथ आत्म-हत्या के लिए भी प्रस्तुत हो गया। परन्तु दूसरे ही क्षण युद्धाह्वान ने उसकी सुप्त सैनिक चेतना को जागृत किया और वह शत्रुओं के समस्त कार्यक्रमों को नष्ट करने पर आरूढ़ हो गया। वह विद्युत-गति से फ्रांसीसी सेना की ओर मुड़ा और रासबाख (Rossbach) नामक स्थान पर उन्हें करारी हार दी। फ्रांसीसी सेनापति ने लुई पंचदश को इस पराजय का विवरण इस प्रकार दिया है। "हमारी सेना सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गयी है; मैं कह नहीं सकता कि हमारे अफसरों में कितने मारे गये, कितने बन्दी हुए या खो गये।" पश्चिम दिशा में पराजित कर वह उसी वेग से पुनः साइलेशिया की ओर मुड़ा और ल्वातन (Leuthen) के युद्ध में आस्ट्रिया की सेना पर टूट पड़ा। आस्ट्रियन सेनापति ने बड़ी धीरता के साथ फ्रेडेरिक का सामना किया, परन्तु उसके कुशल नेतृत्व के सामने उसकी एक न चली और आस्ट्रियन सेना के एक तिहाई सैनिक बन्दी हुए और शेष भाग निकले।

रासबाख और ल्वातन की विजयें फ्रेडेरिक की अदभुत शक्ति, साहस और युद्ध-कौशल की परिचायक हैं। नेपोलियन बोनापार्ट के शब्दों में तो ल्वातन का युद्ध "सैन्य-संचालन, व्यूह-रचना और संकल्प का आदर्श है।" वस्तुतः प्रशा की सेना की विजय का रहस्य उसका वह असाधारण सेनानी है जिसने अपनी थकी-माँदी और संख्या में क्षीण सेना में अपनी वाक्पटुता और नवजीवन- संचार करने वाली अपील से यह विश्वास-सा उत्पन्न कर दिया था कि युद्ध में देवता भी उनकी सहायता कर रहे हैं। बड़ा-से-बड़ा प्रहार भी न तो सेनापति को साहसहीन बना सका और न उसके वीर सैनिकों को ही जिन पर उसका जादू चल चुका था इसके पश्चात् यद्यपि उसकी सेना की संख्या-एक-तिहाई रह गयी और उसे वर्षों तक लगातार भीषण आपत्तियों का सामना करना पड़ा, परन्तु उसने अनुपम वीरता एवं साहस के साथ प्रशा के अस्तित्व की रक्षा की। शत्रु ने बर्लिन को लूटा और उस पर अधिकार कर लिया या उसके देश को तहस-नहस किया, परन्तु उससे प्रशा की आत्मा विनष्ट न हो सकी, क्योंकि वह तो उस वीर पुरुष के शरीर में थी जिसमें होयेनज़ोलर्न राजवंश का शौर्य और साहस पूंजीभूत हो उठा था।

पूर्व में रूस की सेना ने प्रशा पर अधिकार कर लिया था। परन्तु रूसी सेनापति अपनी विजय का लाभ उठाने की अपेक्षा जाड़ा व्यतीत करने के लिये पोलैंड की ओर चल पड़ा और उसके पीछे हटते ही स्वीडेन की सेना भी पोमैरैनिया से भाग खड़ी हुई। इस प्रकार फ्रेडेरिक को प्रत्येक क्षेत्र में विजय तो अवश्य प्राप्त हुई, परन्तु उसकी सेना अत्यधिक क्षीण हो गयी। धन तो उसे इंगलैंड से मिल रहा था, परन्तु सैनिकों की समस्या गम्भीर थी। उसने शत्रु-देशों से सैनिकों को लेना प्रारम्भ किया और युद्ध-बन्दी भी सेना में भर्ती किये गये, परन्तु इस सेना के बल पर आक्रामक युद्ध असम्भव था। अतः उसको बाध्य होकर युद्ध के शेष पाँच वर्षों में रक्षात्मक नीति का ही आश्रय लेना पड़ा।

रासबाल की पराजय के पश्चात् फ्रांसीसियों ने हनोवर को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया। परन्तु इस दिशा में भी उन्हें कोई सफलता न मिल सकी। इंगलैंड हनोवर की रक्षा के लिए कृत-संकल्प था। उतः उसने पर्याप्त धन से फ्रेडेरिक के भतीजे और इस क्षेत्र के सेनापति ब्रंजविक के ड्यूक की सहायता की जिसने नई सेनाओं का संगठन कर फ्राँसीसियों को अनेक युद्धों में पराजित किया और क्रमशः उन्हें जर्मनी के बाहर ढकेल दिया। लुई पंचदश ने पराजय से तथा अमेरिका और भारत में अपनी सेनाओं की घोर असफलता से बाध्य होकर स्पेन के पूरबो राजा से सहायता माँगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पुरबों राजवंशों का 'परावारिक संघ' बना जिसके फ्रांस,स्पेन और नेपुल्स सम्मिलित थे और अब (1762) स्पेन भी इस युद्ध की अग्नि में कूद पड़ा। परन्तु उसमें युद्ध की स्थिति में कोई अन्तर न आ सका।

उत्तर की दिशा में फ्रेडेरिक को स्वीडन की ओर से भी कोई भय न था, क्योंकि स्वीडेन की दुर्बल सरकार सफलतापूर्वक युद्ध-संचालन में सर्वथा असमर्थ थी। परन्तु इससे फ्रेडेरिक की कठिनाइयों का अन्त होने वाला न था। अभी भी उसे आस्ट्रिया और रूस की सेनाओं का सामना करना था जिनकी संख्या उसकी सेना की अपेक्षा कई गुनी थी। परन्तु उसने धैर्य और साहस से काम लिया और सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि ये दोनों सेनायें आपस में मिल न सकें। उसने रूसियों को जार्नडार्फ (Zorndorf) के क्षेत्र में पीछे हटने के लिये (1758) बाध्य किया परन्तु दूसरे वर्ष कुनर्सडार्फ (Kunersdorf) के भीषण युद्ध में उसकी सेना पराजित हुई और रूसी सेना ने आगे बढ़कर बर्लिन पर भी अधिकार कर लिया। थोड़े समय के लिये फ्रेडेरिक विचलित हो उठा। लेकिन शीघ्र ही उसने एक नवीन सेना का संगठन किया और किसी प्रकार अपने राज्य की रक्षा की। इसी समय फ्रेडेरिक की आर्थिक समस्या भी गंभीर हो उठी, क्योंकि इंगलैंड जार्ज तृतीय के सिहांसनारोहण (1760) के पश्चात् वहाँ से मिलने वाली आर्थिक सहायता बन्द हो

गयी और इंगलैंड की नयी सरकार प्रशा का साथ छोड़कर फ्रांस के साथ सन्धि की बातें करने लगी।

फ्रेडेरिक की रक्षा—युद्ध के अन्तिम वर्षों में फ्रेडेरिक के सामने यह प्रश्न अपने नग्न रूप में उपस्थित था कि क्या वह यूरोप की धन-जन सम्पन्न शक्तियों के सामने अपनी सीमित शक्ति और साधनों के बल पर अधिक दिनों तक टिक सकेगा? परन्तु अन्त में उसे विजय मिली ही।इसका रहस्य जितना उसके युद्ध-कौशल और अटूट साहस में निहित है जिसके द्वारा उसने अनेक बार शत्रुओं का पराजित किया, उतना ही उसके शत्रु आस्ट्रिया ओर रूस के सेनापतियों के पारस्परिक द्वेष, उनमें एकता का अभाव, उनकी दीर्घ-सूत्रता और आवश्यकता से अधिक सावधानी में भी है। इस युद्ध में कुछ रूसी सेनापतियों की राजभक्ति भी सन्देहात्मक थी और कुछ में नैतिकता या समयानुकूल कार्य करने की बुद्धि का घोर अभाव था। सन् 1759 ई० के अभियान में यदि रूसी सेनापति साल्टिकाफ (Soltikov) ने कुनर्सडार्फ की विजय का पूरा लाभ उठाया होता तो आस्ट्रिया के सेनापति डॉन (Daun) ने अपनी विजय के बाद असाधारण सावधानी दिखलायी होती तो प्रशा की पराजय निश्चित थी और फ्रेडेरिक द्वितीय को बाध्य होकर विष-पान का आश्रय लेना पड़ा होता जिसे वह अपमानजनक सन्धि से अधिक महत्व देता था। वस्तुतः इस युद्ध में रूसी चरित्र ने उद्देश्यहीनता एवं उद्योगशीलता के अभाव का परिचय दिया। उन्होंने अनेक बार प्रशा को आक्रान्त किया, उसके नगरों को अधिकृत किया और तीन प्रसिद्ध युद्धों में अपूरणीय क्षति पहुँचाई लेकिन वे अपनी वियज का पूरा लाभ न उठा सके। परन्तु रूसी जारिना फ्रेडेरिक के विनाश के लिये कृत-संकल्प थी। सन् 1761 ई० में आस्ट्रिया और फ्रांस धैर्य छोड़ रहे थे, जारिना ने उन्हें साहस प्रदान किया और उसकी सेना ने युद्ध निर्णयार्थ पूर्वी पोमैरैनिया पर आक्रमण कर कोलबर्ग (Kolbcerg) नगर को अधिकृत (दिसम्बर,1761 ई०) किया। परन्तु संयोगवश 5जनवरी सन् 1762 ई० को सहसा जारिना एलिजबेथ की मृत्यु हो गयी। इस समय घोर क्लान्त, धूलि-धूसरित रूक्ष आकृतिपूर्ण, निराश तथा अपने जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में आवृत फ्रेडेरिक अपने समान ही थके-माँदे अपने सैनिकों के साथ साइलेशिया की पहाड़ियों पर ढंगा हुआ पड़ा था। जारिना की मृत्यु से मानों उसे जीवन-दान मिल गया। उसका उत्तराधिकारी पीटर तृतीय फ्रेडेरिक का अत्यधिक प्रशंसक और समर्थक था उसने गद्दी पर बैठने केसाथ ही फ्रेडेरिक के साथ सन्धि कर ली। वह तो फ्रेडेरिक को सैनिक सहायता भी देने के लिये प्रस्तुत था, परन्तु इसी बीच वह गद्दी से उतार दिया गया, और उसकी हत्या भीं कर दी गयी। उसकी उत्तराधिकारिणी कैथेरीन द्वितीय युद्ध से तटस्थ रहना चाहती थी। अतः उसने अपने पति द्वारा की गयी सन्धि को स्वीकार कर फ्रेडेरिक द्वितीय को उपकृत किया।

रूस के युद्ध से अलग हो जाने के बाद ही स्वीडेन से भी सन्धि हो गयी। फ्रांस मेरिया थेरेसा की सहायता करने में असमर्थ था और जहाँ यूरोप के तीन बड़े राज्यों की सम्मिलित सेनायें फ्रेडेरिक का कुछ न बिगाड़ सकीं, वहाँ मेरिया थेरेसा अकेले उसे पराजित करने में सर्वथा अक्षम थी। सन् 1762 ई० के दो युद्धों ने, जिनमें आस्ट्रिया की सेनायें पराजित हुई, इस बात को पुष्ट कर दिया। इसी वर्ष फ्रांस और इंगलैंड ने भी सन्धि की आशा में युद्ध स्थगित कर दिया। फलतः मेरिया थेरेसा को कठोर होकर भाग्य का निर्णय स्वीकार करना पड़ा।

हूबरटसबर्ग की सन्धि—15 फरवरी सन्1763 ई० में प्रशा, आस्ट्रिया और सैक्सोनी ने हूबरटसबर्ग (Huvertusburg) की सन्धि कर ली जिसके द्वारा यूरोप में युद्ध के पूर्व स्थिति स्वीकृत हुई। मेरिया थेरेसा ने तीसरी, और अन्तिम बार साइलेशिया पर फ्रेडेरिक के अधिकार को स्वीकार किया और फ्रेडेरिक ने आर्च ड्यूक जोसेफ के सम्राट्-पद के निर्वाचन में अनुकूल मत-प्रदान का आश्वासन दिया। सैक्सोनी का प्रान्त आगस्टस तृतीय को पुनःवापस दे दिया गया। इसी समय इंगलैंड और फांस के बीच पेरिस की सन्धि हो गयी। इसके द्वारा इंगलैंड, फ्रांस और स्पेन के युद्धों का अन्त हो गया और फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य का अधिकांश इंगलैंड को प्राप्त हुआ जिसके द्वारा उसके विश्व-विस्तृत साम्राज्य की स्थापना हुई और समुद्रों पर उसका एकाधिकार स्थापित हो गया।

इस युद्ध के फलस्वरूप प्रशा यूरोप के प्रथम कोटि के राष्ट्रों में गिना जाने लगा और अब उसका स्थान आस्ट्रिया के समकक्ष हो गया। वस्तुतः जिस प्रकार दक्षिणी जर्मनी का नेतृत्व आस्ट्रिया के हाथ में था, उसी प्रकार उत्तरी जर्मनी में प्रशा की प्रधानता स्थापित हो गयी और आस्ट्रिया को अपमान का घूँट पीकर रह जाना पड़ा। इस युद्ध में जर्मनी को अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी और उसके प्रायः दस लाख सैनिक खेत रहे। प्रशा की जनसंख्या तो पाँच लाख कम हो गयी और वहाँ के सरदार तथा किसान बार-बार लूटे जाने के कारण इतने अधिक निर्धन हो गये कि उनके पास दैनिक आवश्यकतओं की पूर्ति के साधनों का भी अभाव हो गया। चारों ओर धोर अराजकता छा गयी और लूट-पाट का बाजार गर्म हो गया। इस युद्ध से आस्ट्रिया का तो इतना ही अपमान हुआ कि प्रशा से साइलेशिया का प्रान्त न ले सका, परन्तु फ्रांस का अपमान तो असीम था। वह द्वितीय कोटि के राज्यों में गिना जाने लगा और वहां की सरकार तथा सरदारों की घोर अयोग्यता अपने नग्न रूप में सबके सम्मुख उपस्थिति हुई। इस युद्ध में सर्वाधिक लाभ इंगलैंड का हुआ। वह एक विस्तृत औपनिवेशिक साम्राज्य का स्वामी एवं समुद्र का एकाधिकारी बन गया।

मेरिया थेरेसा के शासन-सुधार

यदि युद्धक्षेत्र में महारानी मेरिया थेरेसा फ्रेडेरिक महान् की शत्रु थी, तो शान्ति-कालीन कार्यों में उसकी प्रतिद्वन्द्वी भी थी। उसकी गणना यूरोप के 'उद्बुद्ध' शासकों में नही की जा सकती, क्योंकि कैथलिक धर्म के प्रति उसके हृदय में सच्ची आस्था थी और तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक विचारधारा से वह सशंक थी, साथ ही वह शासन के किसी भी क्षेत्र में व्यापक परिवर्तनों की विरोधी थी, परन्तु थी वह उदारमना; और प्रजा की भलाई तथा राज्य का उत्थान वह अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझती थी। प्रारम्भ में अपने पति सम्राट् फ्रांसिस प्रथा (1745-65 ई०) और उसके बाद अपने पुत्र सम्राट् जोसेफ द्वितीय (1765-90 ई०) की सहायता से उसने अपने राज्य में कुछ सुधार-कार्य किया। शासन-कार्य में वह स्वेच्छाचारी विचारों की पोषक थी और इसी दृष्टि से उसने शासन के केन्द्रीकरण और उसकी बुराइयों के निराकरण का प्रयत्न प्रारम्भ किया,परन्तु अपने राजवंश की पुरानी परम्पराओं, कैथलिक धर्म के प्रति सच्ची आस्था तथा इस विश्वास से कि सरदार वर्ग उसकी शक्ति के महत्वपूर्ण आधार हैं, आदि इन सबके कारण उसके सुधार-कार्य अधिक सफल न हो सके।

शासन में केन्द्रीयकरण की नीति को कार्यन्वित करने के निमित्त उसने आस्ट्रिया और बोहेमिया में एक राज्य-परिषद् की स्थापना की जिसका काम शासन का निरीक्षण और परामर्श देना था। वियना में केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की स्थापना हुई और साम्राज्य के अनेक प्रान्तों की स्थानीय पार्लियामेंटें स्थगित कर दी गयीं। राजधानी में एक सर्वोच्च न्यायालय की और कानून के संकलन के लिए एक आयोग की स्थापना हुई। फौजदारी के विधान में अनेक संशोंधन किये गये और शारीरिक यातना के प्रयोग को कम किया गया। सेना पर प्रान्तीय परिषदों (estates) का अधिकार समाप्त कर उसे केन्द्रीय शासन के अधीन किया गया। युद्ध-विभाग का पुर्नसंगठन हुआ और शासकीय अधिकारियों को सेना-विभाग से अलग कर दिया गया। सैनिक अधिकारियों की भाषा जर्मन स्वीकृत हुई और शासन-क्षेत्र में भी इसका प्रयोग बढ़ने लगा। सेना में वर्दी की एकरूपता और अनुशासन पर जोर दिया जाने लगा और सैनिक शिक्षण-केन्द्रो की स्थापना हुई। वह राज्य में रोमन कैथलिक धर्म की प्रधानता को अक्षुण्ण रखना चाहती थी, परन्तु उसने जेसूइटों का दमन किया, मठों की वृद्धि पर रोक लगायी ओर धार्मिक संस्थाओं के विशेशाधिकार कम किये। शिक्षा को केन्द्रीय शासन के अधीन किया गया। विश्वविद्यालयों तथा प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों का नये सिरे से संगठन हुआ और अच्छे नागरिकों का निर्माण शिक्षा का प्रधान उद्देश्य निश्चित् किया गया। उसने किसानों की दशा में भी सुधार की चेष्टा की, परन्तु सरदार-वर्ग के विरोध के फलस्वरूप उसे सामन्तों के प्रति उनकी सेवाओं में थोड़ी-सी कमी करने के अतिरिक्त और अधिक

सफलता न प्राप्त हो सकी। उसने संगीत और चित्रकला को भी पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया।

जोसेफ द्वितीय

जोसेफ द्वितीय ने प्रथम पन्द्रह वर्ष (1765-80 ई०)तक तो अपनी माता मेरिया थेरेसा के साथ शासन यिा और उसकी मृत्यु के पश्चात् दस वर्ष (1780-90 ई०) वह आस्ट्रिया के साम्राज्य का एकमात्र अधिकारी रहा।वह अपनी माता के विपरीत उद्बुद्ध निरंकुश तन्त्र (Enlightened Despotism) का प्रबल पोषकऔर समर्थक था और यही कारण है कि जब तक वह अपनी माता के साथ शासन करता रहा, प्रायःमाँ-बेटे में मतभेद हो जाया करता था और एक बार माता ने, तो दूसरी बार पुत्र ने, पद-त्याग की धमकी भी दी। वह बोल्तेर और रूसो का प्रशंसक था और तर्क तथा सुधार में प्रशा के राजा फ्रेडेरिक द्वितीय से भी आगे बढ़ा हुआ था। उसका कहना था कि 'मैंने दार्शनिकता को अपने साम्राज्य का नियामक बनाया है; उसके तर्कपूर्ण सिद्धान्त आस्ट्रिया का नव-निर्माण करेंगे। वह रूसों के जनतान्त्रिक प्रभुसत्ता के सिद्धान्तके अतिरिक्त और सभी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना चाहता था। वह 'सुधारों की बाढ़' लाना चाहता था और शीघ्रातिशीघ्र "सम्पूर्ण राज्य का एक राजनीतिक इकाई के रूप में संगठन, समस्त विशेषाधिकरों का अन्त, राष्ट्रों की सीमाओं का उच्छेद ओर उनके स्थान पर अखिल साम्राज्य का एकीकरण, न्याय-विभाग के नियमों की एकरूपता, सर्वसाधारण के लिये वैधानिक समानता और अपने स्वेच्छाचारी शासन के अन्तर्गत प्रजातान्त्रिक सरलता की समता" स्थापित करना चाहता था।

इस प्रकार जोसेफ द्वितीय के विचार निःसन्देह अत्युच्च थे और इस क्षेत्र में वह अपने समकालीन शासकों से आगे था परन्तु उसका मूल्यांकन उसके आदर्शों पर नहीं, प्रत्युत कार्यों पर आश्रित है और सुधारवादी होते हुए भी वह इन्हें कार्योन्वित करने में सर्वथा अक्षम था। उसके आदर्श वास्तविक जीवन से नहीं, अपितु फ्रांस के तत्कालीन दार्शनिकों के विचारों से अनुप्राणित थे। दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि उसे अपने सिद्धतों की व्यवहारिकता में इतना अटूट विश्विास था कि वह किसी से परामर्श लेनेके लिए भी प्रस्तुत न था। उसने परम्परा, विरोध और राजनीतिक औचित्य का ध्यान छोड़कर सुधार-पथ का अनुसरण किया और अपने सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के लिस इतना अधीर हो उठा कि उसके लिए किसी भी प्रकार का विलम्ब असह्य हो गया।

आर्थिक सुधार—जोसेफ धार्मिक क्षेत्र में राज्य की प्रधानता स्थापित करना चाहता था और पोप के हस्तक्षेप को सहन करने के लिए प्रस्तुत न था। स्वयं पोप ने

अपनी मुलाकात में उससे अपने धार्मिक विचारों के परिवर्तन के लिए कहा परन्तु वह असफल रहा। इस सम्बन्ध में जोसेफ का यह कहना था कि "हममें से प्रत्येक अपना जीविकोंपार्जन करना चाहता है। वह चर्च के अधिकारों की रक्षा चाहता है और मैं राज्य के अधिकारों का पोषक हूँ।" वस्तुतः वह चर्च को राजय का एक विभाग बनाना चाहता था। उसने अपने साम्राज्य में पोप के अधिकारों को दूर करने के लिए बिशपों के रोम में अपील करने के अधिकार का अन्त कर दिया और वे बिना उसकी स्वीकृति के पोप के आदेशों को प्रकाशित करने के अधिकार से वंचित कर दिये गए। उसने विशपों को स्वयं नियुक्त करना और चर्च की भूमि का अधिकृत करना प्रारम्भ किया। किसी भी प्रकार का धन आस्ट्रिया से रोम नहीं भेजा जा सकता था। उसने अनेक मठों को बन्द कर दिया और शेष को पोप की आज्ञा के पालन से मुक्त कर दिया। परम्परागत धार्मिक शिक्षण-संस्थाओं को बन्दकर उसने उनके स्थान पर पादरी-वर्ग के लिए राजकीय विद्यालयों की स्थापना की। उसने सहिष्णुता के अध्यादेश (1781) द्वारा अपनी समस्त ईसाई प्रजा को पूर्ण राजनीतिक एवं धार्मिक अधिकार प्रदान किया। यहूदियों और नास्तिकों के साथ भी उसने सहिष्णुता की नीति अपनायी ओर उन्हें व्यापक अधिकार प्रदान किया। उसने चर्चों में प्रयोग के लिये नवीन प्रार्थना-पुस्तकें प्रकाशित करायीं, पूजा-विधि में परिवर्तन किया और चर्चों से पाश्वे-वेदिकाओं और चित्रों को अलग कराया।

इन विचारों में अनेक समयानुकूल थे और वे सरलता से मान्य भी हो गये होते परन्तु सम्पूर्ण धार्मिक व्यवस्था में सहसा सुधार उपस्थित कर उसने शक्तिशाली पादरी-वर्ग त श्रद्धालु एवं धर्मभीरू जनता को रुष्ट कर दिया। साथ ही रोमन कैथलिक को, जो उसके साम्राज्य में एकता का प्रधान साधन था, दुर्बल कर उसने अपनी कठिनाइयाँ बहुत अधिक बढ़ा ली।

शासन-सुधार—उसने राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में भी भे सुधार किये वे उसकी अव्यावहारिक बुद्धि के परिचायक हैं। उसके शासन-सम्बन्धी सुधारोंको दो कोटि में रखा जा सकता है। एक तो अपनी स्वेच्छाचारिता की पूर्ति एवं केन्द्र की सबलता के लिये वह प्रान्तीय परिषदों और स्थानीय स्वतंत्रताओं का अन्त कर समस्त साम्राज्य में एक प्रकार की शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहता था। दूसरे, सर्व-साधारण के उत्थान और सरदारों के विशेषाधिकारों का अन्त कर सबको राजनीतिक दृष्टि से समान स्तर पर लाने के लिए प्रयत्नशील था। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, उसकी माता तो क्रमानुसार साधारण सुधारों की पक्षपाती थी, परन्तु जोसेफ 'सुधारों में बाढ़' लाना चाहता था। मेरिया थेरेसा ने बड़ी बुद्धमानी के साथ हंगेरी, लंबार्डी और नेदरलैंड्स की स्थानीय परम्पराओं और स्वायत्त-शासन के प्राचीन सिद्धान्तों की रक्षा की थी और इस प्रकार वह

अपनी प्रजा की श्रद्धा और विश्वास का पात्र बनी रही। परन्तु जोसेफ ने अपने समस्त साम्राज्य के लिये एक प्रकार की शासन-व्यवस्था की घोषणा की। उसने साम्राज्य को तेरह प्रान्तों (Governments) में, प्रत्येक प्रान्त को अनेक मण्डलों (Circles) में और प्रत्येक मण्डल को जिलों या नगरों में विभाजित किया। उसके कार्य-क्रम में मण्डलों की प्रधानता थी और शासन के सारे विभाग उन्हीं के अधीन थे। इन अधिकारियों की नियुक्ति केन्द्र से ही होती थी। इस प्रकार उसने स्थानीय विशेशाधिकारों का अन्त कर सम्राज्य की राजधानी वियना को समस्त शासन का केन्द्र बनाया। जर्मन भाषा साम्राज्य की राजभाषा स्वीकृत हुई। उसने सेना पर अपना एकाधिकार स्थापित करने तथा उसे राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने के लिये अनिवार्य सैनिक सेवा के सिद्धान्त को स्वीकार किया और किसानों को एक निश्चित अवधि तक अनिवार्य सैनिक सेवा के लिये बाध्य किया। उसने सेना में तोपखाने का विशेष संगठन किया। वस्तुतःशासन-क्षेत्र में प्रान्तों के हितों की अपेक्षा सर्वसाधारण के लाभ और साम्राज्य की एकता की ओर उसका विशेष ध्यान था। निःसन्देह सैद्धान्तिक रूप में तो उसका वह कार्य स्तुत्य था, परन्तु व्यावहारिक रूप में घोर असफल।

उसने अपनी केन्द्रीकरण तथा सुधार की नीति को नेदरलैंड्स में भी लागू किया जिसके परिणामस्वरूप उस प्रान्त में विद्रोह हो गया। वस्तुतः सुधारवादी सम्राट् के विरुद्ध रूढ़िवादी प्रजा का यह विद्रोह अपने ढंग का अनूठा है। जोसेफ के धार्मिक सुधारों और प्रशासनीय अध्यादेशों का उस प्रान्त में घोर विरोध हुआ। प्रशासनीय अध्यादेश तो वापस ले लिये गये परन्तु धार्मिक सुधारों की शाही मान्यता बनी रही। फलतः जनता के विरोध का अन्त करने के लिये सरकार का दमन-चक्र प्रारम्भ हुआ। फ्रांस में बस्तीय के पतन (1789) ने उत्तेजना प्रदान की और नेदरलैंड्स की जनता ने विद्रोहका झण्डा (1789) ऊँचा किया। आस्ट्रियन कर्मचारी देश से खदेड़ दिये गये और शाही प्रतिनिधि स्वयं भाग निकला। देश की स्टेट्स-जनरल ने जोसेफ को पदच्युत कर प्रजातंत्र की घोषणाकी और दूसरे महीने बेल्जियम के संयुक्त प्रान्तों के संघ की स्थापना हुई। इस विद्रोह के कारण जोसेफ तुर्कों के विरुद्ध युद्ध में प्राप्त अपनी सफलताओं का पूर्ण प्रयाग न कर सका और दूसरी ओर उसकी दुर्बलता के कारण हैप्सबर्ग वंश के शत्रुओं को आक्रमण का अवसर प्राप्त हुआ।

नेदरलैंड्स की भाँति हंगेरी में इन सुधारों का उग्र विरोध हुआ। वस्तुतः हंगेरी के सरदार देश के जर्मनीकरण और अपने परम्परागत विशेषाधिकाकरों परआक्षेप से क्षुब्ध थे। अतः सरदार-वर्ग के घोर विरोध तथा टर्की के साथ चलने वाले युद्ध के सफल संचालन की आवश्यकता से बाध्य होकर जोसेफ ने दास-प्रथा के अन्त से सम्बन्ध रखने वाले

अध्यादेश को छोड़कर शेष सभी अध्यादेशों को वापस ले लिया। इसी प्रकार टीरोल में भी उसे असफलता का ही उपहार प्राप्त हुआ।

सबको राजनीतिक समानता का अधिकार प्रदान कर समाज के नव-निर्माण का उसका प्रयत्न भी निष्फल सिद्ध हुआ। उसने सभी दासों (Serfs) को स्वतंत्रता प्रदानकी। अब उन्हें विवाह के लिये सरदारों की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं रह गयी, सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त हुआ, एक स्थान पर जाने की स्वतंत्रता प्राप्त हुई और उन्हें धन देकर सरदारों के यहाँ सप्ताह में चार दिन की बेगार से मुक्ति मिली। सरदारों और किसानों में करों का समान वितरण किया गया और सबसे राजस्व के रूप में भूमि की उपज का तेरह प्रतिशत वसूल किया जाने लगा। वह किसानों को और भी अनेक सुविधायें प्रदान करना चाहता था। उसने सर्वसाधारण के लिये निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की और शिक्षा का पुर्नसंगठन किया गया उसने उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन प्रदान किया और प्रजा के सुख और समृद्धि के साधन प्रस्तुत किये।

जोसेफ द्वितीय केइन कार्यों की सूक्ष्म समीक्षा से यह स्पष्ट था कि वह अपने समय के 'उद्‌बुद्ध' शासकों में सर्वोपरि था। वह स्वेच्छाचारी और सबल केन्द्रीय शासन द्वारा सर्व-साधारण का हित- साधन करना चाहता थाऔर उसकी शासन-नीति लोक-कल्याण और तर्क पर आधारित थी। परन्तु उसका यह दुर्भाग्य था कि वह दासों के अतिरिक्त समाज के किसी भी अन्य वर्ग को सन्तुष्ट न कर सका। पादरी-वर्ग उसकी धार्मिक-नीति का विरोधी था और सामन्त-वर्ग अपने विशेषाधिकारों से वंचित होने के कारण उसे घृणा की दृष्टि से देखता था। मध्यम वर्ग उसकी निरंकुशता तथा उद्योग-धन्धों में उसके हस्तक्षेप से असन्तुष्ट था। किसानों ने भी उसके प्रयत्नों का उल्टा अर्थ लगाया और अनिवार्य सैनिक सेवा के प्रति क्षोभ प्रकट किया। जोसेफ द्वितीय की इस असफलता के अनेक कारण थे। एक तो सुधारों के उत्साह में उसने काल और परिस्थिति को पूर्ण रूप से समझने की चेष्टा न की और दूसरे उसके अनेक सुधार समय से बहुत आगे थे। 'सुधारों की बाढ़' ने भी उन पर असफलता की मुहर लगा दी। इस असफलता में अधारता और उतावलापन कम सहायक सिद्ध न हुए। साधारणतः राजकर्मचारीभी उसके सुधारों को समझने और कार्यान्वित करने में अक्षम और असमर्थ रहे।

बाह्य नीति—जोसेफ द्वितीय आक्रामक बाह्य नीति का पोषक था। वह सर्वप्रथम अपने विखरे हुए साम्राज्य को एक राजनीतिक ईकाई के रूप में परिवर्तित करना और दूसरे, पूर्व की ओर अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए टर्की के सीमावर्ती प्रान्तों को अधिकृत करना चाहता था। अपने प्रथम अभिप्राय की पूर्ति के लिए वह बहुत पहलें से

पश्चिमी सीमा पर स्थित बवेरिया को आस्ट्रिया के अधीन करने का बड़ा इच्छुक था। इस भू-क्षेत्र पर अधिकार हो जाने से आस्ट्रिया के दक्षिणी प्रदेशों और बोहेमिया में तो सीधा सम्बन्ध हो ही जाता, साथ ही आस्ट्रिया और टीरोल भी एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाते। इसमें जहाँ एक ओर तो आस्ट्रिया के साम्राज्य के संगठन की उसकी अभिलाषा पूरी होती, वहाँ दूसरी ओर जर्मन राकुमारों पर उसके प्रभाव में वृद्धि होती और प्रशा के प्रधान जर्मन राज्य होने की सम्भावना में न्यूनता आ जाती। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसने बवेरिया के निर्वाचक मैक्सिमिलियन जोसेफ की बहन से, जो उसकी उत्तराधिकारिणी भी थी, विवाह किया। परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हुई तो पैलेटाइन का निर्वाचक उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसी समय और अनेक शासकों ने भी उत्तराधिकार का अधिकार दिखलाया जिसमें मेरिया थेरेसा ने बोहेमिया और आस्ट्रिया से सटे हुए कुछ भागों पर अपना दावा पेश किया। नवीन निर्वाचक ने एक सभा में आस्ट्रिया के अधिकार को स्वीकार कर लिया और आस्ट्रिया की सेना ने तुरन्त इन भू-भागों को अधिकृत कर लिया। फ्रेडेरिक द्वितीय ने इसका विरोध किया; क्योंकि आस्ट्रिया के शक्ति-संगठन से प्रशा और जर्मनी के अन्य राजकुमारों की स्थिति खतरे में पड़ सकती थी। इस प्रकार आस्ट्रिया के मनमाने व्यवहार के विपरीत उसने जर्मन राजकुमारों का सहायक और मित्र होने का भाव प्रदर्शित किया। फलतः युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसे मेरिया थेरेसा बचाना चाहती थीं । परन्तु जोसेफ द्वितीय अपने नवीन अधिकारों की पूर्ति के लिए आरूढ़ था। परिणामस्वरूप बवेरिया के उत्तराधिकार के लिए प्रशा और आस्ट्रिया में युद्ध (1778-79 ई0 में) छिड़ गया। प्रशा ने तत्काल बोहेमिया पर आक्रमण कर दिया, परन्तु आस्ट्रिया की सबल स्थिति के कारण युद्ध न हो सका। आस्ट्रिया को अपने मित्र फ्रांस और रूस से सहायता-आशा थी, लेकिन इस दिशा में उसे निराश होना पड़ा। इस परिस्थिति में जोसेफ द्वितीय को बाध्य होकर टेशेन की सन्धि (Peace of Teschen- 1779 ई0) स्वीकार करनी पड़ी जिसके द्वारा आस्ट्रिया को बवेरिया का एक छोटा-सा भू-भाग अवश्य प्राप्त हुआ परन्तु उसे अपने नवीन अधिकृत प्रदेशों को वापस करना पड़ा। आस्ट्रिया के विरूद्ध फ्रेडरिक द्वितीय की यह बड़ी भारी राजनीतिक विजय थी, क्योंकि इस संघर्ष में उसने आस्ट्रिया की आक्रामक नीति के विरुद्ध जर्मन राजकुमारों की रक्षा का भाव प्रदर्शित किया था। इस असफलता के फलस्वरूप आस्ट्रिया और फ्रांस की मित्रता को आघात पहुँचा, परन्तु रूस के प्रति जोसेफ द्वितीय का आकर्षण पहले की अपेक्षा और अधिक हो गया।

बवेरिया के उत्तराधिकार का प्रश्न तो निर्णीत हो गया, परन्तु उस प्रान्त सम्बन्धी वर्षों पुरानी अपनी अभिलाषा को जोसेफ भूल न सका। अतः सन् 1785 ई0 में उसने

एक बार पुनः बवेरिया के निर्वाचक के सामने एक प्रस्ताव उपस्थित किया जिसमें आस्ट्रियन नेदरलैंड्स और बवेरिया के आपस में परिवर्तन तथा इसके फलस्वरूप निर्वाचक को बर्गण्डी के राजा की उपाधि से अलंकृत करने का सुझाव था। यदि जोसेफ अपने इस प्रयत्न में सफल हो गया होता तो आस्ट्रिया का साम्राज्य एक राजनीतिक इकाई के रूप में परिणित हो जाता और उसकी शक्ति में भी पर्याप्त वृद्धि हो गयी होती। परन्तु स्वयं बवेरिया और बेल्जियम ने तो इस राज्य-परिवर्तन की नीति का विरोध किया ही, आस्ट्रिया के पुराने प्रतिद्वन्द्वी फ्रेडेरिक द्वितीय ने एक बार फिर जोसेफ की अभिलाषा-पूर्ति में बाधा पहुँचायी। वह किसी भी रूप में बवेरिया और आस्ट्रिया के एकीकरण की नीति का विरोधी था। अतः उसने इसके विरोध तथा जर्मन राजकुमारों के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा के निमित्त उनके एक संघ की स्थापना (1785) की। इस संघ-निर्माण का फल यह हुआ कि जोसेफ द्वितीय इस बार भी बवेरिया पर अधिकार के अपने स्वप्न को पूरा न कर सका।

जोसेफ द्वितीय ने राज्य-विस्तार की दृष्टि से पूर्व में टर्की की ओर ध्यान दिया और कुचुक कैनार्जी की सन्धि (1774) के पश्चात् टर्की की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसने बुकोविना पर अधिकार (1775) कर लिया। जब टर्की ने 1787 ई० में रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तो जोसेफ ने भी माल्डेविया तथा वालेकिया के प्रान्तों को प्राप्त करने के निमित्त टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दीं। इस युद्ध में आस्ट्रिया की सेना ने माल्डेविया एवं सार्विया को आक्रान्त और बेलग्रेट को अधिकृत किया तथा वालेकिया के मार्ग भी उसके अधिकार में आ गये। परन्तु इसी बीच जोसेफ द्वितीय की मृत्यु (1790) हो गयी जिसके फलस्वरूप युद्ध में शिथिलता उत्पन्न हो गयी। कुछ ही महीनों बाद आस्ट्रिया और टर्की में विराम सन्धि हो गयी और आस्ट्रिया इस युद्ध से विरत हो गया। दूसरे वर्ष इन दोनों देशों में सिस्टोवा (Sistova)की सन्धि हो गयी जिसके अनुसार माल्डेविया और वालेकिया पर टर्की का अधिकार स्वीकृत हुआ। इस प्रकार इस दिशा में भी जोसेफ की नीति पूर्णतः असफल सिद्ध हुई।

चरित्र—जोसेफ द्वितीय अपने समय के उद्बुद्ध निरंकुश शासकों में सर्वाधिक उत्साही परन्तु असफल शासक सिद्ध हुआ। वस्तुतः व्यापक आन्तरिक सुधारों तथा आक्रामक बाह्य नीति के समन्वय की चेष्टा उसकी घोर असफलता का प्रधान कारण सिद्ध हुई । एक साथ ही अधिकाधिक सुधारों का प्रयत्न उसकी असफलता में विशेष रूप से सहायक हुआ। फलतःदेश के सभी वर्गों ने सुधारों का उग्र विरोध किया, जिसके फलस्वरूप अपनी मृत्यु के समय उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि "अपने सम्पूर्ण

प्रयत्नों के बाद मैंने केवल थोड़े से लोगों को सुखी और बहुतों को अकृतज्ञ बनाया है।" इसी समय उसने अपने अधिकांश सुधारों को समाप्त करने का आदेश दिया । इस प्रकार जन-साधारण के कल्याण की मधुर आशा अन्त में जाकर घोर निराशा में परिणत हुई जिसकी अभिव्यक्ति उसके ही आदेश से उसकी समाधि पर अंकित उस स्मरण-लेख से होती है जो इस प्रकार है— "यह उस मनुष्य की समाधि है जो अपने सुन्दरतम अभिप्रायों के होते हुए भी कभी किसी क्षेत्र में सफल न हो सका।" आन्तरिक सुधारों की भाँति उसकी बाह्य नीति भी घोर असफल सिद्ध हुई । उसके प्रतिद्वन्द्वी फ्रेडेरिक महान् ने उसे बार-बार कूटनीतिक पराजय दी और उसकी मृत्यु के समय तो प्रशा आस्ट्रिया पर आक्रमण की प्रतीक्षा में था, टर्की के साथ युद्ध चल रहा था जिसका असफल अन्त हुआ और हालैण्ड तथा इंगलैंण्ड आस्ट्रिया को सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे। फ्रांस के सम्बन्ध में पहले से ही शिथिलता आ गयी थी और राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप रहे-सहे सम्बन्ध का भी अन्त हो गया। रूस अपने ही युद्धों में व्यस्त रहने के कारण उसे सहायता देने में प्रायः असमर्थ था। वस्तुतः जोसेफ द्वितीय में उच्चादर्शों और घोर असफलताओं का विचित्र समन्वय दिखलाई पड़ता है जिसका जोड़ इतिहास में कठिनाई से मिल सकेगा।

अध्याय 14.

अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड

कैबिनेट-प्रथा

अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड के शासन में कुछ ऐसी विषमताएँ दिखाई पड़ती हैं जो समकालीन यूरोप से सर्वथा भिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं। इसी प्रकार इसी शताब्दी में इंगलैंड के औपनिवेशिक साम्राज्य की नींव इतनी सुदृढ़ हो गयी कि आगे चलकर साम्राज्य की दौड़ में अन्य यूरोपीय राज्यों की अपेक्षा वह बहुत आगे निकलग गया। जहाँ तक कैबिनेट-प्रथा का सम्बन्ध है इस शताब्दी के पूर्व इसके भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। इस ओर किसी विचारक या दार्शनिक का ध्यान भी न आकृष्ट हो सका। वस्तुतः यह प्रथा इंगलैंड के उन राजनीतिज्ञों की व्यावहारिक योग्यता की देन है जिन्होंने समय-समय पर अपने योग्यतानुकूल प्रत्येक वैधानिक समस्या को हल करने की चेष्टा की है।

इंगलैंड में राजतंत्र की पुनर्स्थापना (1660) के समय प्रिवी कौंसिल के शासन सम्बन्धी अधिकारों को ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया और पार्लियामेंट द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति के लिए भी कोई प्रयत्न नहीं हुआ। परन्तु गृह-युद्ध (1642-48 ई०) से इतना स्पष्ट हो गया था कि पार्लियामेंट से अच्छा सम्बन्ध बनाये रखना राजा के लिए श्रेयस्कर है और इसके लिए यह आवश्यक था कि उसकी नीति और उसके द्वारा मन्त्रियों का चुनाव पार्लियामेंट को मान्य हो। इसका यह अर्थ था कि अन्ततोगत्वा शासन- विभाग की एक निश्चित रूप-रेखा हो, राजनीतिक विचारों में समानता हो और शासन के प्रत्येक कार्य के लिए उसका सामूहिक दायित्व हो। आगे चलकर कैबिनेट शासन द्वारा ही इसका स्वरूप विकसित हो सका। परन्तु अपने प्रारम्भिक रूप में कैबिनेट स्वयं पुरानी प्रिवी कौंसिल से उत्पन्न होकर कालान्तर में प्रौढ़ता प्राप्त कर सकी थी। ट्यूडर राजाओं ने सुचारु रूप से शासन का संचालन करने के लिए कौंसिल को समितियों (Committees) में विभाजित किया था। प्रथम दो स्टुअर्ट राजाओं के समय में इन समितियों का स्वरूप और विकसित हुआ। इसमें कुछ तो स्थायी समितियाँ थीं और कुछ आवश्यकता के अनुकूल बना ली जाती थीं। कैबिनेट शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बेकन ने किया था और दीर्घ पार्लियामेंट के द्वितीय विरोध-प्रदर्शन के समय इस शब्द का प्रयोग तिरस्कार के अर्थ में हुआ था। चार्ल्स द्वितीय ने भी समिति-प्रथा को जारी रखा और यह कहा जाता है

कि उसकी कबैलनाम की बाह्य-समिति से ही कैबिनेट का प्रादुर्भाव हुआ। प्रतीत यह होता है कि कौंसिल के सदस्यों की उस अन्तरंग सभा से कैबिनेट का जन्म हुआ, जिससे शासन सम्बन्धी कार्यों में राजा परामर्श लिया करता था। इस अन्तरंग सभा के सदस्यों के लिए यह आवश्यक न था कि उसने विचार-समता हो और उनमें सामूहिक उत्तरदायित्व का भी सवाल न था। यह भी जरूरी न था कि इस सभा के विचार पार्लियामेंट के अनुकूल ही हों। मन्त्रियों को अपने सहयोगियोंके चुनाव का भी अधिकार न था और अपने परामर्श के समान्य होने पर उनके पद-त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता था। चार्ल्स द्वितीय के शासन के अन्तिम वर्षों में परामर्शदाताओं की यह अन्तरंग सभा बहुत जनप्रिय न होते हुए भी एक मान्य संस्था बन गयी थी।

सन् 1688 ई० की क्रान्ति के बाद राजा के स्थान पर पार्लियामेंट राजनीतिक अधिकारों का केन्द्र बन गयी थी। परन्तु अभी उसे शासन का अवसर न मिल सका, कयोंकि विलियम तृतीय अपने कूंटनीतिक और सैनिक अधिकारों को इस बड़ी सभा के हाथों में छोड़नें के लिए प्रस्तुत न थां। अतः जब तक वह जीवित रहा, उसने पार्लियामेंट को स्वामी नहीं, अपितु मित्र समझा और उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करता रहा। परन्तु महारानी एन के समय में परिस्थिति में थोड़ा-सा अन्तर हो गया। इस समय रानी की इच्छा-शक्ति और शासन सम्बन्धी ज्ञान के अभाव में यह स्पष्ट होने लगा कि मन्त्रियों की शक्ति राजा या रानी की इच्छा की अपेक्षा पार्लियामेंट पर अधिक आश्रित है। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण स्पेन के उत्तराधिकार के अन्तिम वर्षों में हुआ पार्लियामेंट का वह चुनाव है जिसके द्वारा लोक सभा (House of Commons) में टोरियों का बहुमत हुआ था और जिसके फलस्वरूप देश की आन्तरिक और बाह्य नीति में व्यापक परिवर्तन भी हुआ था।

एन के बाद हनोवर-वंश के प्रथम दो राजा निर्बल सिद्ध हुए, क्योंकि वे इंगलैंड की राजनीति से अपरिचित थे, इंगलैंड की अपेक्षा हनोवर में उनकी दिलचस्पी अधिक थी और वे अंग्रेजी न, याकम, जानने के कारण कौंसिल की कार्यवाही में विशेष रुचि नहीं रखते थे। अतः अब प्रश्न यह था कि राजा का स्थान ले कौंन? पार्लियामेंट इसके लिये आवश्यकता से अधिक बड़ी संस्था थी। इसके लिए तो एक छोटी पूर्ण संगठित संस्था की आवश्यकता थी जो महत्वपूर्ण विषयों में शीघ्र निर्णय ले सके और साथ-साथ ही वह पार्लियामेंट के बहुमत के अनुकूल हो। प्रधानमंत्री और कैविनेट-प्रथा इस प्रश्न के सवाभाविक उत्तर हैं। वस्तुतः प्रधानमंत्री का पद तो तत्कालीन राजीनतिक आवश्यकता की देन है, और जैसे-जैसे राज्य की शक्ति कम होती गयीं, वह क्रमशः देश

का वास्तविक शासक बनता गया। लोकसभा में बहुमत-प्राप्त दल का नेता प्रधानमंत्री होने लगा और इसी दल से मन्त्रियों की नियुक्ति होने लगी। कैबिनेट-प्रथा में यद्यपि मंत्री राज्य के विभिन्न-भागों के प्रधान हुआ करते हैं, परन्तु कुछ अर्थों में प्रत्येक मन्त्री सभी विभागों के कार्यों के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। उसे सभी कार्यों के लिये अपनी स्वीकृति देनी आवश्यक है और असहमति की अवस्था में या तो वह चुप रहे या पद-त्याग करे। कैबिनेट-प्रथा के संगठन का यही मौलिक सिद्धान्त है। कैबिनेट की एकता का आधार प्रधानमंत्री होता है जिसके नेतृत्स में कैबिनेटके मन्त्री सामान्य नीति का अनुसरण करते हैं।

इंगलैंड में इस प्रथा का क्रमिक विकास हुआ है और कोई व्यक्ति-विशेष इसका जन्मदाता नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह बात निःसन्दिग्ध है कि इसके संगठन में बालपोल (1721-42) का हाथ सर्वाधिक है। उसने इसके लिए न तो कोई नियम बनाया और न कोई घोषणा की, परन्तु उसके दीर्घकालीन शासन में यह प्रथा नियिंमानुकूल कार्य करने लग गयी। इसके लिए दलों का निश्चित संगठन आवश्यक था और इस क्षेत्र में भी अपने सहायकों में एकता और विचार-साम्य स्थापित कर उसने पर्याप्त योग दिया। जार्ज तृतीय ने इस प्रथा में परिवर्तन करना चाहा, क्योंकि उसे बचपन से ही उसकी माता ने 'वास्तविक राजा' होने की शिक्षा दी थी। उसने शासनाधिकार हाथ में लेते ही (1760) लुई चुतुर्दश की भाँति मन्त्रियों को विभागीय कार्यों तक सीमित रखकर अपना प्रधानमंत्री स्वयं होना चाहा। उसने बहुमत-प्राप्त ह्विग शासन को पदच्युत किया जिसका इंगलैंड में घोर विरोध हुआ। अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम का दायित्व बहुत-कुछ उसी पर है। परन्तु इस युद्ध में इंगलैंड की पराजय ही उसके समस्त कार्यक्रम की विफलता का कारण बन गयी और छोटे-पिट के नेतृत्व में पुरानी प्रथा पुनः मान्य हुई। इस प्रकार कैबिनेट-प्रथा को भंग करने का जार्ज तृतीय का प्रयास विफल सिद्ध हुआ और वह 'वास्तविक राजा' न बन सका।

इस काल में पार्लियामेंट के सुधार की चर्चा चल रही थी जिससे यह देश की सच्ची प्रतिनिधि संस्था बन सके। चैटम और पिट तथा और दूसरे लोग भी इसके पक्ष में थे, परतु फ्रांस की क्रान्ति के कारण यह विचार कार्यान्वित न हो सका। किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विपरीत 'आतंक का राज्य' (Reign of Terror) एक बहुत बड़ी दलील़ था। वाटरलू के युद्ध के पश्चात् जब राजनीतिक परिस्थिति में सुधार और स्थिरता आयी, तभी सुधारवादी विचार कार्यान्वित किया जा सका।

औपनिवेशिक साम्राज्य

अठारवीं शताब्दी में इंगलैंड की बाह्य नीति का आधार उसके साम्राज्य का विकास है। इस क्षेत्र में तत्कालीन राजनीतिज्ञों का ध्यान उपनिवेशों और भारतीय समस्याओं की ओर सर्वाधिक था। वस्तुतः इस शताब्दी में कोई ऐसा युद्ध न हुआ जिसमें इंगलैंड ने साम्राज्य-स्थापना के विचार से भाग न लिया हो। उसने यूरोपीय देशों में भू-भाग प्राप्त करने की अपेक्षा अपनी समस्त शक्ति साम्राज्य संगठन या विस्तार में ही लगायी। अमेरिका और भारत दोनों देशों में ही इंगलैंड की अपेक्षा फ्रांस का अधिकार अधिक सुदृढ़ हो गया था और दोनों देशों की प्रतिद्वन्द्विता और द्वेष का कारण था। अतः अठारहवीं शताब्दीके प्रायः प्रत्येक युद्ध में इन दूरस्थ देशों पर अधिकार स्थापित करने के लिए इंगलैंड स्थायी रूप से फ्रांस का विरोधी था।

इस संघर्ष का प्रारम्भ बड़े शान्तिपूर्ण ढंग से हुआ। जार्ज प्रथम के शासनकाल (1714-27 ई०) में इंगलैंड अपनी आन्तरिक कठिनाइयों में इतना अधिक लिप्त था कि उसे बाह्य मामलों में ध्यान देने का अवसर ही कम मिला। इस समय इंगलैंड के राजनीतिज्ञों के सामने दो प्रमुख समस्यायें थीं। स्टुअर्टों से हनोवर वंश की रक्षा तथा शान्ति एवं हल्के करों द्वारा इस नये राजवंश को देश की मान्यता प्राप्त करना। वालपोल स्वभाव से शान्तिप्रिय था जो साम्राज्यवादी गौरव की ओर आकृष्ट न हो सका। उसने फ्रांस के मुख्यमंत्री कार्डिनल फ्लेरो के साथ अच्छा सम्बन्ध स्थापित किया था। वस्तुतः वह इंगलैंड की राजनीति का संचालन मुख्यतः व्यापारिक ढंग से करना चाहता था। यही कारण है कि उस समय इंगलैंड के बहुत से लोग उसकी बाह्य नीति के विरोधी बन गये थे क्योंकि वे इस नीति को इंगलैंड के गौरव के प्रतिकूल समझते थे। उसने 1739 ई० में अपनी इच्छा के विपरीत स्पेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी। इसी प्रकार आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध के प्रारम्भ में वालपोल ने शान्तिवादी नीति का ही अवलम्बन लिया और जब 1742 ई० में वह अपने पद से अलग हो गया तो इंगलैंड ने फ्रांस के विरुद्ध आस्ट्रिया का साथ दिया। इस युद्ध में इंगलैंड की सेना या नीति कोई महत्वपूर्ण योग न दे सकी और न तो अस्ट्रिया की महारानी मेरिया थेरेसा के जीवन ओर मरण के संग्राम में अधिक सहायता ही पहुँचा सकी।

सप्तवर्षीय युद्ध— आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध इंगलैंड और फ्रांस के बीच उपनिवेशों की स्थापना, उनके संगठन एवं साम्राज्य के विस्तार के लिए होने वालें भीषण और निर्णयात्मक युद्ध की भूमिका के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक साम्राज्य या उपनिवेश के लिए इंगलैंड और फ्रांस का संघर्ष सदैव अनिर्णयात्मक ही रहा और यद्यपि इंगलैंड को इस काल में कुछ सफलतायें मिल चुकी थीं, परन्तु उन्हें गौरवपूर्ण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इन दो देशों के बीच दो प्रश्नों का निर्णयात्मक उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका था। पहला प्रश्न तो यह था कि क्या मिसोसिपी की विस्तृत घाटी पर एकमात्र फ्रांस का ही अधिकार होगा और इंगलैंड को समुद्रतट के एक पतले भूभाग से ही सन्तोष करना होगा? दूसरा प्रश्न भारत से सम्बन्धित था। क्या फ्रांसीसी राजनीतिक और शासक डूप्ले को भारत में एकमात्र फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने का अवसर दिया जाये? साथ ही समुद्रों पर अधिकार का प्रश्न भी इन्हीं प्रश्नों से सम्बन्धित था और वस्तुतः इनमें कार्य और कारण का-सा सम्बन्ध था। यद्यपि साधारण रूप से इंगलैंड की जलसेना फ्रांस की जलसेना की अपेक्षा बलवान थी परन्तु अभी तक समुद्र पर उसका एकमात्र अधिकार नहीं स्थापित हो सका था। फलतः दोनों ही देश, और विशेष से इंगलैंड, निर्णयात्मक युद्ध द्वारा इस स्थितिका अन्त करने के लिए कृत-संकल्प थे, क्योंकि इसी निर्णय पर उनका भावी उत्थान या पतन अवलम्बित था।

इंगलैंड और फ्रांस के औपनिवेशिक युद्ध का प्रारम्भ (1754) अमेरिका में ओहायो घाटी को लेकर हुआ। युद्ध के प्रारम्भिक वर्ष में भाग्य इंगलैंड का साथ न दे सका। जब यूरोप मं सप्तवर्षीय युद्ध (1756-63 ई०) छिड़ा तब भी इंगलैंड को अनेक यूरोपीय क्षेत्रों में असफल ही होना पड़ा और उसके मित्र और सहायक फ्रेडेरिक महान् की भी पराजय (1756) हुई। उधर फ्रांसीसी सेनापति ने 1756 ई० में अनेक अमरीकी क्षेत्रों में इंगलैंड को पराजित किया जिससे अंग्रेजो की स्थिति काफी डाँवाडोल हो गयी।

सन् 1757 ई० में जब बड़ा पिट (William Pitt, the Elder) मंत्रिमण्डल में आया और बाह्य नीति तथा युद्ध का संचालन उसके दृढ़ हाथों में सौंपा गया तो अंग्रेजी सेना में नवजीवन का संचार हुआ। वह स्वयं तो उत्साही था ही, उसने दूसरों को भी उत्साही बनाया। उसने भली-भाँति समझ लिया कि अमेरिका जर्मनी में ही जीता जा सकता है। अतः उसने प्रशा को अधिकाधिक सहायता देनी प्रारम्भ की जिससे फ्रांस यूरोप में ही उलझा रहे और स्वयं अपनी जल-सेना द्वारा फ्रांसीसी सरकार को अमेरिका या भारत में सैनिक सहायता भेजने से रोकने की भरपूर चेष्टा प्रारम्भ की। इसके अतिरिक्त अधिकाधिक सैनिकों की भर्ती करके उन्हें अमेरिका में भेजना शुरु किया, जिससे विभिन्न फ्रांसीसी क्षेत्रों पर एक साथ आक्रमण किया जा सके। इसके परिणाम स्वरूप अनेक फ्रांसीसी दुर्गों और छावनियों पर अधिकार हो गया। अब अंग्रेजी सेना ने

फ्रांसीसियों के केन्द्र पर आक्रमण प्रारम्भ किया और 1751 ई० में जनरल वुल्फ क्वीबेक (Quebec) की ओर बढ़ा। यह एक प्राकृतिक दुर्ग था जिसकी रक्षा के लिये सुदृढ़ फ्रेन्च सेना मौजूद थी। कार्य बहुत कठिन था, परन्तु वुल्फ, जो स्वयं सैनिक क्षेत्र में अमर कीर्ति का भूखा था, इसे लेने के लिए कृत-संकल्प था। युद्ध में अंग्रेजी और फ्रेंच सेना दोनों ने असीम साहस और दृढ़ता का परिचय दिया और शुरू में तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अंग्रेजी सेना घिर जायेगी, परन्तु वुल्फ की योग्यता ने अन्त में पराजय को विजय के रूप में परिणत कर दिया। वुल्फ स्वयं इस युद्ध में मारा गया, किन्तु मृत्यु के पूर्व विजय के समाचार से उसका हृदय प्रफुल्लित हो उठा था। शीघ्र ही क्वीबेक ने आत्म-समर्पण किया और यहीं से अमेरिका में फ्रांसीसी साम्राज्य के अन्त का प्रारम्भ हुआ। सन् 1780 ई० में माट्रियल का पतन हुआ और अंग्रेजों ने न्यू फ्रांस पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त की।

भारतवर्ष में इस युद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व डूप्ले की कूटनीति से फ्रांसीसियों की स्थिति पर्याप्त रूप से दृढ़ हो गयी थी और कर्नाटक का नवाब उसके हाथ की कठपुतली बना हुआ था। 1751 ई० में राबर्ट क्लाइव ने अर्काट के घेरे में असीम साहस और वीरता की परिचय दिया। उसने 1754 ई० तक कर्नाटक में अपना स्थिति पर्याप्त रूप से सुधार ली जिसके फलस्वरूप डूप्ले के इरादों का प्रायः अन्त ही हो गया और वह फ्रांस वापस बुला लिया गया। सप्तवर्षीय युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद क्लाइव ने बंगाल में फ्रांसीसियों से चन्द्र नगर छीन लिया। इस प्रदेश में उसकी सबसे शानदार विजय बंगाल के नवाब सिराजुद्दोला के विरुद्ध हुई। 1957 ई० में प्लासी के युद्ध में उसने नवाब को पराजित कर अभूतपूर्व विजय प्राप्त की। इस विजय के फलस्वरूप बँगाल में अंग्रेजों की स्थिति सुदृढ़ हो गयी और उन्होंने मीर जाफर को नवाब बनाकर उस पर अपना पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया। मछलीपट्टम पर अधिकार और वांडेवाश की विजय ने पूर्वी पट पर अंग्रेजों की प्रधानता स्थापित कर दी और यहाँ से फ्रेंच प्रभाव प्रायः उठ गया।

पेरिस की सन्धि (1763)—क्वीबेक के पतन और बांडेवाश की पराजय ने अमेरिका और भारत दोनों में फ्रांसीसियों के भाग्य का निर्णय कर दिया और यहीं से इन दोनों के बीच औपनिवेशिक साम्राज्य के लिये चलने वाले संघर्ष का निर्णय भी अंग्रेजों के पक्ष में हो गया। युद्ध 1763 ई० तक चलता रहा और, यद्यपि बड़ा पिट अब प्रधानमंत्री नहीं रह गया था, परन्तु इससे युद्ध के अन्तिम परिणाम में कोई अन्तर नहीं हुआ। अन्त में पेरिस की सन्धि द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। फ्राँस अपने अमरीकी अपनिवेशों में केवल न्यू फाउंडलैंड के समुद्र-तट पर स्थित दो साधाराण द्वीपों, वेस्टिइंडीज के कुछ द्वीपों और दक्षिण अमेरिका में गिनी पर अपना अधिकार कायम रख सका। दूसरी तरफ

इंगलैड को फ्रांस से सम्पूर्ण सेंट लारेंस की घाटी, मिसीसिपी नदी के पूर्व का समस्त भू-प्रदेश और वेस्टइंडीज में ग्रेनाडा का द्वीप आदि प्राप्त हुए। इंगलैंड को स्पेन से फ्लोरिडा मिला। स्पेन को और हानि न उठानी पड़ी और उसे अंग्रेजों ने क्यूबा और फिलिपाइन्स वापस कर दिया तथा फ्रांस ने उसे पश्चिमी लूजियाना भी दे दिया। इस प्रकार फ्रांस के अमरीकी उपनिवेश का प्रायः अन्त हो गया। भारतवर्ष में फ्रांसीसियों को उनके सभी स्थान वापस कर दिये गये, परन्तु उन्हें वहाँ दुर्ग बनाने या सेना रखने की मनाही कर दी गयी। दूसरे शब्दों में, फ्रांसीसी भारत साम्राज्य-संस्थापक के रूप में नहीं, अपितु व्यापारी के रूप में ही रह सकते थे।

इस प्रकार उपनिवेशों और साम्राज्य के लिये इंगलैंड और फ्रांस के दीर्घकालीन संघर्ष का अन्त इंगलैंड के पक्ष में हुआ। फ्रांस को पराजय के साथ अपमानित भी होना पड़ा और अपने बहुमूल्य उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। इसका रानीतिक प्रभाव तो उसके लिये घातक हुआ ही, साथ ही इन देशों के साथ चलने वाले व्यापार पर भी गहरा आघात पहुँचा और फ्रांस को अपूरणीय आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। दूसरी ओर इन विजयों ने इंगलैंड की गौरव-वृद्धि के साथ उसके साम्राज्य और व्यापार दोनों को ही बढ़ाया और समुंद्र पर उसकी प्रधानता पूर्णतः स्थापित हो गयी। इस युद्ध के बाद फ्रांस ही क्या, यूरोप का कोई भी दूसरा देश ऐसा नहीं रह गया जो सामुंद्रिक शक्ति में उसकी समता कर सके।

अमरीकी स्वतंत्रता का संग्राम

अठारहवीं शताब्दी में अमेरिका की स्वतंत्रता प्राप्ति एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना है जिससे आगे लाभ उठाकर इंगलैंड स्वतंत्रता के आधार पर साम्राज्य की एकता कायम रखने में समर्थ हो सका। परन्तु इस शताब्दी में उसके राजनीतिज्ञ यह समझने में विल्कुल असमर्थ रह कि साम्राज्य के अंतर्गत भी स्वतंत्रता संभव हो सकती है। इस दृष्टि से अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास बहुत ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। अत्यधिक शक्ति और साधन-संपन्न इंगलैंड के विरुद्ध पन्द्रह लाख औपनिवेशकों की सफलता स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये अदम्य उत्साहऔर साहस की कहानी है।

संघर्ष के कारण—अमरीकी स्वतंत्रता का संघर्ष इसलिये नहीं हुआ कि ब्रिटिश उपनिवेशों की दशा अन्य यूरोपीय राज्यों के उपनिवेदशों की अपेक्षा खराब थी। वास्तविक स्थिति तो यह थी कि इंगलैंड का व्यवहार अपने उपनिवेशकों के साथ काफी अच्छा था। उनकी विधान-सभाओं को नियम-निर्माण और कर लगाने के पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। यद्यपि इन उपनिवेशों के राज्यपाल राजा द्वारा नियुक्त होते थे, किन्तु

उनके नियंत्रण की परिधि बहुत सीमित थी। उनके वेतन पर भी कई उपनिवेशों की विधान-सभाओं का अधिकार था, अतः वे अपने राज्यपालों को अपने इच्छानुसार चलने के लिये बाध्य कर सकती थीं। इसी प्रकार ब्रिटिश उपनिवेशों को शासन संबंधी काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। परन्तु व्यापारिक क्षेत्र में मातृ-देश की स्वार्थपूर्ण नीति से उपनिवेशों के हित पर गहरा आघात पहुँचता था। उदाहरणार्थ, उन्हें ऐसे कारखानों के स्थापित करने की स्वतंत्रता नहीं थी जिनसे इंगलैंड के व्यापार को क्षति पहुँचती हो। उनको अपने निर्यात की वस्तुएँ या तो अंग्रेजी जहाजों में या ऐसे जहाजों में जिनके मल्लाह अंग्रेज थे, भेजनी पड़ती थीं। कुछ प्रमुख चीजें, जैसे कपास और तंबाकू, केवल इंगलैंड को ही भेजी जा सकती थीं। यूरोप से इन उपनिवेशों को भेजे जाने वाले सामान को इंगलैंड के मार्ग से जाना आवश्यक था और वहाँ पर उन पर चुंगी देनी पड़ती थी। 1733 ई० के शीरे के एक कानून (Molasses Act) द्वारा अंग्रेजी उपनिवेशों में फ्रांसीसी वेस्टइंडीज के शीरे का आयात इसलिये रोक दिया गया कि वहाँ का शीरा ब्रिटेन अधिकृत वेस्टइंडीजसे आने वाले शीरे से अधिक सस्ता पड़ता था। वही एक प्रश्न इंगलैंड और उसके उपनिवेशों में संघर्ष लाने के लिये पर्याप्त हुआ होता यदि चोरी के व्यापार पर अंग्रेजों का प्रतिबन्ध शिथिल न रहता।

व्यवहारतः इंगलैंड और उपनिवेशों के मार्ग 1763 ई० से पृथक होने प्रारंभ हुए। एक ओर तो अंग्रेजों ने कोई सुसम्बद्ध साम्राज्य-नीति निर्धारित नहीं की थी, अंग्रेजों की कनाडा- विजय से अमेरिका- स्थित उपनिवेशों को फ्रांस के राज्य में मिलाये जाने का भय जाता रहा और इससे उनमें स्वतंत्रता प्राप्ति की भावना जागृत हुई। दूसरे युद्ध में व्यय के कारण इंगलैंड नू उपनिवेशों पर कर लगाने का निश्चय किया जिससे उसके संघटित विरोध का मार्ग प्रशस्त हो गया। उपनिवेश चिरकाल से स्वतंत्रता भोगने के अभ्यासी थे और वे अपने विकास की वर्तमान अवस्था में अपनी स्वतंत्रता में कमी नहीं, प्रत्युत वृद्धि चाहते थे, वे अपने मातृ-देश इंगलैंड के स्वतंत्रता संबंधी आदर्शों से पर्याप्त प्रभावित भी थे। अतः अब से वे उसके द्वारा नियंत्रणों की परिधि को विस्तृत करने के पूर्ण विरोधी हो गये।

कर के प्रश्न पर संघर्ष प्रारंभ हुआ। सप्तवर्षीय युद्ध के कारण इंगलैंड का राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया था। इंगलैंड के प्रधान मंत्री जार्ज ग्रेनविल ने निर्णय किया कि अपनी रक्षा का भार उपनिवेश भी वहन करें। इस आशय से 1765 ई० में स्टाम्प ऐक्ट पास किया गया जिसके अनुसार समस्त कानूनी कागजों पर टिकट लगाना आवश्यक घोषित हुआ। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये अमेरिका-वासियों ने प्रथम अन्तौपनिवेशिक

सभा की। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् एक प्रस्ताव द्वारा उद्घोषणा की गयी कि 'स्टाम्प ऐक्ट की प्रवृत्ति स्पष्टतः उपनिवेशों के अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं का दमन करने की है। इस प्रकार एक महत्वपूर्ण सांविधानिक प्रश्न प्रतिनिधित्व की समस्या पर जाकर केन्द्रित हो गया। औपनिवेशिकों का मत था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट जिसमें उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीँ था। इस तरह का कोई कर उन पर नहीं लगा सकती। अब उन्होंने 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' का प्रश्न उठाया। विरोध की उग्रता देखकर ब्रिटिश सरकार ने 1766 ई० में स्टाम्प ऐक्ट रद्द कर दिया। परंतु वह केवल विश्राम मात्र था। 1667 ई० में अमेरिका में आने वाले कागज, शीशा और चाय पर चुंगी लगा दी गयी। इस निर्णय का भी प्रबल विरोध हुआ। तंग में 1770 ई०में चाय-कर को छोड़कर सब कर हटा दिये गये। चाय-कर इस कारण रखा गया कि जार्ज तृतीय के कथनानुसार अधिकार-रक्षार्थ एक कर का रहना आवश्यक था। यह सरासर भूल थी; क्योंकि इससे औपनिवेशिकों में असंतोष और उत्तेजना की ज्वाला प्रज्वलित हुई। खिंचाव के ऐसे वातावरण में छोटी-छोटी घटनायें भी स्थिति को गंभीर बनाने में सहायक होती हैं। 1772 ई० में एक राजकीय जहाज को, जो चोर-व्यापार के दमन के लिये रखा गया था, अमरीकियों ने जला दिया और 1773 ई० में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोस्टन जहाज बंदरगाह में पहुँचे तो कुछ लोगों ने मोंहाक इंडियनों के वेश में जहाजों पर चढ़कर चाय की 340 पेटियाँ समुंद्र में फेंद दीं।

अब इंगलैंड के सामने एक गहरी समस्या आयी। यदि वह चाय के विनाश की अपेक्षा करता तो इसका अर्थ यह लगाया जाता कि उपनिवेशों पर उसका कोई अधिकार नहीं है। परन्तु इतनी आसानी से वह हार मानने के लिये प्रस्तुत न था। उपद्रवी औपनिवेशिकों के दमनार्थ बहुत-से कानून बनाये गये। एक कानून द्वारा, जब तक चाय का मूल्य न दिया जाय, बोस्टन का बन्दरगाह बन्द कर दिया गया। इसके परिणाम-स्वरूप हजारों बोस्टन-निवासी बेकार हो गये। अन्य नियमों द्वारा राजा कोमैसेच्युसेट्स के कौंसिलर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। वे अब तक निर्वाचित होते थे। जो जूरी अभी तक नगर-सभाओं द्वारा चुने जाते थे, अब वे शेरिफों द्वारा बुलाये जाने लगे। ये शेरिफ राज्यपालों के एजेण्ट होते थे। नगर-सभायें अब केवल राज्यपालों की अनुमति से ही हो सकती थीं। गेज नामक एक सैनिक मैसेच्युसेट्स राज्यपल नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिये बहुत-सी सेना भेजी गयी। परन्तु दमन की इन कार्यवाइयों से मैसेच्युसेट्स दबा नहीं। उसके पड़ोसी उपनिवेशों ने उसकी सहायता की। जार्जिया को छोड़कर अन्य उपनिवेशों के प्रतिनिधियों की एक सभा फिलाडेलफिया में हुई जिसके एक प्रस्ताव में दमनकारी कानूनों को अनावश्यक बताया गया। इसने 'अधिकारों और

शिकायतों की एक घोषणा' तैयार की और ब्रिटिश पार्लियामेंट की वैधानिक सत्ता को स्वीकार करने से इंकार किया। इस कांग्रेस का महत्वपूर्ण कार्य 'असोसियेशन' का संगठन था जिसका काम व्यापारिक बहिष्कार को पुर्नजीवितत् करके प्रत्येक नगर में आयात, निर्यात तथा खपत की निरीक्षण समितियाँ संघटित करना था। स्थिति की भीषणता देखकर यद्यपि लार्ड नार्थ ने समझौते का प्रयत्न किया, परन्तु अब देर हो गयी थी। 1775 ई० में लेक्सिंगटन में दोनों पक्षों की मुठभेड़ से युद्ध प्रारम्भ हो गया।

अमरीकी स्वतंत्रता का युद्ध ब्रिटिश प्राधिकारी वर्ग की दूरदर्शिता और कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण हुआ। वे इसके सैद्धान्तिक रूप को समझने में सर्वथा असमर्थ रहे। चाय-कर के कायम रखने का उनका निश्चय उनकी घोर मूर्खता का पूर्ण परिचायक है। इससे अनुमानत: लगभग 16 हजार पौंड की आमदनी होती, परन्तु इस निश्चय के द्वारा अंग्रेजों ने अमरीकी लोकमत को अपने विरुद्ध कर लिया। युद्ध का काफी दायित्व जार्ज तृतीय पर भी है। वह शक्ति द्वारा विद्रोही औपनिवेशिकों से निपटने के पक्ष में था। सितंबर, 1774 ई० में उसने फिलाडेलफिया के क्वेकरों का एक प्रार्थनापत्र ठुकराते हुए लिखा-'अब पासा हाथ से निकल चुका है, उपनिवेशों को या तो झुकना पड़ेगा या वे जीत जायँगे।' राजा और उसके सत्तारूढ़ परामर्शदाताओं से भिन्न मत रखने वालों ने, जिनमें बड़े पिट और बर्क के नाम उल्लेखनीय हैं, औपनिवेशिकों के साथ उचित नीति अपनाने की सलाह दी, परन्तु उस पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। पिट का विचार था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट को उपनिवेशों पर आन्तरिक कर लगाने का कोई अधिकार न था और उसने घोषणा की कि यदि अमेरिका के लोग इसका विरोध न करते तो उनकी मनोवृत्ति दासों की तरह होती। बर्क ने कहा कि अंग्रेज जाति से उत्पन्न औपनिवेशिक कभी भी दासता स्वीकार नहीं कर सकते। उनके शब्दों में 'राजनीति से उदारता प्राय: वास्तविक बुद्धिमानी होती है और एक महान् साम्राज्य तथा छोटे मस्तिष्क का साथ नहीं चलता।' 4 जुलाई, 1776 ई० के दिन 'स्वतंत्रता की घोषणा' हुई जिसके द्वारा तेरह उपनिवेशों ने इंगलैंड से सम्बन्ध-विच्छेद करने का निश्चय किया। इस घोषणा ने न केवल एक नये राष्ट्र के जन्म की सूचना दी बल्कि उसने मानव-स्वतंत्रता के उन नवीन सिद्धान्तों की नींव डाली जिससे बहुत-से देशों को प्रेरणा मिली। इसके राजनीतिक आदर्श इस प्रकार थे—'हम इन सत्यों को स्वयं-सिद्ध मानते हैं कि सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं। उनके सृष्टा ने उन्हें कुछ अनपहरणीय अधिकारों से सम्पन्न किया है और उनमें जीवन, स्वतंत्रता और सुख-प्राप्ति के प्रयत्न भी हैं। इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए ही मनुष्यों में शासन-तंत्रों की स्थापना होती है और उनको उचित शासनाधिकार भी शासितों की अनुमति से प्राप्त होते हैं। इस घोषणा से अमरीकी क्रान्ति

लोक-प्रिय इच्छाओं की प्रतिनिधि बन गयी और उसे सार्वजनिक भावना का बल प्राप्त हुआ।

युद्ध की प्रमुख घटनाएँ—क्रान्ति का युद्ध आठ साल तक चला। लड़ाई प्रायः प्रत्येक उपनिवेश में हुई। अमेरिका-निवासियों का सौभाग्य था कि उन्हें जार्ज वाशिंगटन जैसे दृढ़-संकल्प, शान्त और गम्भीर स्वाभाव के एक महान् व्यक्ति का नेतृत्व प्राप्त था। उत्साह और शान्ति उसमें सन्तुलित थे। एक मार्ग का निश्चय कर लेने पर वह उस पर एकाग्रता और स्थिरता से चला जाता था। अमरीकियों के उत्साह और कुशल नेतृत्व के अतिरिक्त उन्हें फ्रांस और स्पेन की सहायता भी प्राप्त हुई, जिसके अभाव में सम्भवतः उनकी सफलता संदिग्ध बनी रहती। फ्रांस ने सप्तवर्षीय युद्ध की पराजय का बदला ब्रिटेन के विरुद्ध औपनिवेशिकों की सहायता करके लिया।

स्वतंत्रता की घोषणा के पश्चात् औपनिवेशिकों को कई बड़ी असफलताओं का सामना करना पड़ा। अंग्रेजों का न्यूयार्क और फिलाडेलफिया पर अधिकार हो गया, परन्तु 1777 ई० में अन्त में अमरीकियों की बहुत बड़ी विजय हुई। 17 अक्टूबर को सैराटोगा में जनरल बरगोइन ने अपनी सम्पूर्ण सेना, जिसमें करीब पाँच हजार सिपाही थे, अमरीकी जनरल गेट्स को समर्पित कर दी। यह घटना युद्ध के इतिहास में निर्णायक सिद्ध हुई। अंग्रेजों की इस पराजय से प्रोत्साहित होकर उनका शत्रु फ्रांस भी अमेरिका की ओर से लड़ाई में आ कूदा। 1779 ई० में स्पेन ने भी इंगलैंड के विरुद्ध लड़ाई घोषित कर दी। ब्रिटिश व्यापार को भी फ्रेंच और अमरीकी विध्नकारी जहाजों की कार्रवाई के कारण अत्यधिक हानि पहुँची। यूरोपीय देशों के हस्तक्षेप ने अमरीकी संघर्ष को एक अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस समय इंगलैंड को एक घोर संकटपूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ा। अपने शासकों की मूर्खतापूर्ण नीति के परिणाम-स्वरूप वह मित्ररहित हो अकेले युद्ध कर रहा था। भारत में भी मराठों और हैदरअली के युद्धों ने एक भयावह स्थिति प्रस्तुत कर दी थी। परिस्थिति अनुकूल देखकर हालैंड ने भी अपने पुराने व्यापारिक प्रतिद्वन्दी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

फ्रंच बेड़े की कार्रवाई के भय से 1778 ई० में अंग्रेजों ने फिलाडेलफिया खाली कर दिया। उन्हें ओहायों घाटी में अनेक बार नीचा देखना पड़ा। इससे उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में अमरीकी आधिपत्य निर्विध्न हो गया, परन्तु दक्षिण में उन्होंने लड़ाई जारी रखी। 1780 ई० में उन्होंने प्रसिद्ध दखिणी बन्दगाह चार्ल्सटन पर अधिकार कर लिया

और कुछ समय के लिए कैरोलाइना प्रदेश भी उनके हाथ में आ गया। पुनः 1781 में वाशिंगटन और रोशाम्बों की सेनाओं ने लार्ड कार्नवालिस की सेना को वर्जिनिया तट पर यार्कटाउन में बन्द कर दिया और उसे आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य किया। तत्पश्चात् क्रान्ति को रोकने के सैनिक प्रयत्नों का अन्त हो गया। 1783 ई० में वर्साई की सन्धि द्वारा इंगलैंड ने उपनिवेशों की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली और इस प्रकार एक नये राष्ट्र संयुक्त राज्य अमेरिका की सृष्टि हुई।

अमरीकी क्रान्ति से स्वतंत्रता की लहर के फैलने में बड़ी सहायता मिली। विशेषतःफ्रांस में लोगों को विश्वास होने लगा कि उनके दार्शनिकों के विचार कार्यान्वित हो सकते हैं और यह मनोवृत्ति 1789 ई० की क्रान्ति का एक प्रधान कारण बन गयी। इसके अतिरिक्त अमरीकी युद्ध के खर्च ने फ्रांस की आर्थिक स्थिति को बिगाड़ कर क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अमरीकी सफलता के परिणाम-स्वरूप इंगलैंड में जार्ज तृतीय द्वारा व्यक्तिगत शासन के स्थापित करने का अन्तिम प्रयास विफल हो गया और इस प्रकार यद्यपि उसके साम्राज्य का एक अंग टूट गया, किन्तु उसका संविधान सुरक्षित रह गया।

अध्याय 15

फ्रांस क्रान्ति की ओर

लुई पंचदश

हम ऊपर देख चुके हैं कि यूरोपीय इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध 'लुई चुतुर्दश के काल' के नाम से विख्यात है। इस काल में यूरोपीय राजनीति के रंगमंच का प्रधान अभिनेता लुई चतुर्दश था जिसने फ्रांस में तो निरंकुश राजतंत्र को अपनी चरम सीमा तक पहुँचाया ही, साथ ही समस्त यूरोप में फ्रांस और बूरबों-राजवंश की प्रधानता स्थापित करने का सतत प्रयत्न करता रहा। इसमें तो संदेह नहीं कि अपने शासनकाल में उसे अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई, परन्तु अपने अनेक युद्धों और व्ययशील कार्यों द्वारा उसने देश को घोर क्षति पहुँचायी। स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध के परिणाम-स्वरूप बूरबों-परिवार स्पेन के विस्तृत साम्राज्य का स्वामी अवश्य हो गया, परन्तु अपार धन-जन खोकर फ्रांस को केवल निर्धनता, निर्बलता और निराशा का अभिशाप मात्र ही प्राप्त हुआ। जिस समय (1715) लई चुतुर्दश[१] ने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की, उस समय फ्रांस का राजकोष रिक्त था, देश ऋण के भार से बोझिल था और बाह्यरूप से फ्रांस अब भी शक्तिमान् और महान् प्रतीत हो रहा था, परन्तु अब यूरोप में फ्रेंच सेना की अजेयता का सिक्का उठ चुका था। वस्तुतः इस समय फ्रांस की स्थिति धावन-प्रतियोगिता के थके और क्लान्त अश्व की भाँति थी और उसे एक तेजस्वी, कुशल एवं अनुभवशील शासक की नितान्त आवश्यकता थी जो देश को समृद्धिशाली बनाते हुए उसके गौरव की रक्षा कर सके। परन्तु दुर्भाग्यवश उसे शासक के रूप में पंचवर्षीय बालक लुई पंचदश जो लुई चतुर्दश का प्रपौत्र था और जो अठारहवीं शताब्दी के प्रायः मध्य तक देश के शासन की बागडोर अपने हाथों में ग्रहण न कर सका। इस अवधि में आरम्भ के आठ वर्ष तक तो 'शासन-यंत्र' का संचालन उसके पितृव्य ओर्लेआँ के ड्यूक के और शेष बीस वर्ष कार्डिनल फ्लेरी के हाथों में रहा।

ओर्लेआँ का शासन— लुई चुतर्दश ने अपनी मृत्यु के समय ओर्लेआँ के ड्यूक (Duke of Orleans) को अपने पंचवर्षीय उत्तराधिकारी लुई पंचदश का रीजेण्ट और स्वयं ओर्लेआँ के अधिकारों को सीमित रखने के लिये पन्द्रह सदस्यों की एक परिषद्

---

१. लुई चतुर्दश चेकाल के लिं पृष्ठ 195-228 देखिये।

की स्थापना की थी। परन्तु पार्लियामेंट ने शीघ्र ही इस वसीतयनामें में परिवर्तन कर उसे सर्वसत्ता-सम्पन्न रीजेण्ट स्वीकार कर लिया। ओर्लेआँ ने पार्लियामेंट के इस निर्णय को स्वीकार कर उसके राजनीतिक महत्व को पुनः मान्यता प्रदान की। इस प्रकार 'राज्य राजा की सम्पत्ति है' इस बूरबों सिद्धान्त का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। ओर्लेआँ शिक्षित, प्रतिभावान् और सहिष्णु विचारों का व्यक्ति था, परन्तु साथ ही आलसी, विलास-प्रिय और व्यभिचारी भी था। अपनी स्वाभाविक दुर्बलता और स्वार्थ-प्रियता के कारण वह बालक लुई पंचदश की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था न कर सका। उसने लुई चुतुर्दश की शासन-नीति में परिवर्तन किया और परिषदों की स्थापना द्वारा केन्द्रीय शक्ति को दुर्बल और पार्लियामेंटों को सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की। सेना की संख्या कम की गई और जेसूइटों का निष्कासन हुआ। उसने देश की आर्थिक दशा सुधारने की भी चेष्टा की। इसके लिये उसने एडिनबरा के निवासी जॉन लॉ नामक एक अर्थशास्त्री को नियुक्त किया। जॉन लॉ का विश्वास था कि साख धन-वृद्धि का कारण है और कागज के बहुसंख्यक नोटों द्वारा व्यापार को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। उसने उद्योग-धन्धों और कृषि के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने रीजेण्ट के आदेश से एक बैंक (Banque Generale) की स्थापना की जिसे कागजी मुद्रा के जारी करने का अधिकार दिया गया। प्रारम्भ में यह प्रयत्न इतना अधिक सफल दिखाई दिया कि इसे सरकार ने लेकर रायल बैंक का नाम दिया। इसी समय मिसीसिपी कम्पनी (Mississippe Company, 1717 ई०) की स्थापना हुई जिसे जूजियाना के व्यापार का अधिकार मिला। शीघ्र ही इसने फ्रांसीसी व्यापार पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। देखते-देखते इसके हिस्से मुँह माँगे दामों पर बिकने लगे। परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी और कम्पनी का दिवाला पिट गया जिससे बहुतों का सर्वनाश हो गया। इसी समय रायल बैंक ने भी असीम कागजी नोटों के प्रचलन के कारण धन का भुगतान बन्द कर दिया। इन असफलताओं का दुष्परिणाम देश के लिये भयावह हुआ और उसका आर्थिक विघटन उसे विनाश की ओर ले जाने में सहायक हुआ।

ओर्लेआँ की गृह-नीति की असफलता के और भी अनेक कारण थे। वस्तुतः वह देश की उन्नति में सहायक होने की अपेक्षा व्यक्तिगत शक्ति के बढ़ाने के लिये अधिक प्रयत्नशील था। उसने और उसके साथियों ने पूरी लूट-खसोट की और सरकारी धन का अपव्यय किया। अपनी आन्तरिक दुर्बलता के कारण पार्लियामेंट भी उसका अधिक विरोध न कर सकी। उधर जेन्सेनिस्टों और जेसूइटों में भीषण कलह उठ खड़ा हुआ

जिसने देश की शान्ति को खतरे में डाल दिया। फलतः उसकी नीति के प्रति सरदारों के एक दल का विरोध क्रमशः शक्ति-संचय करता गया और स्वयं उसकी अत्यधिक विलासप्रियता उसकी कार्य-शीलता को क्षीण-से-क्षीणतर बनाने लगी। अपने शासन के अन्तिम वर्षों में उसने अपनी नीति बदलकर लुई चतुर्दश की निरंकुशता की नीति अपनायी, परन्तु इसमें वह अधिक सफल-मनोरथ न हो सका। सन 1723 ई० में ओर्लेआँ की मृत्यु हो गयी।

कार्डिनल फ्लेरी— ओर्लेंआँ के ड्यूक के पश्चात् शासनाधिकार कार्डिनल फ्लेरी (Cardinal Fleury) के हाथों में आया। इस समय उसकी अवस्था सत्तर वर्ष की थी और इस वृद्धावस्था में बीस वर्षों तक (1723-43 ई०) उसने शासन का संचालन किया। वस्तुतः इस समय फ्रांस की आन्तरिक स्थिति अत्यधिक चंचल और अस्त-व्यस्त हो चुकी थी और उसे सुधारने के लिये एक सशक्त शासक की आवश्यकता थी। फ्लेरी अपनी वृद्धावस्था-जन्य दुर्बलता के कारण परिस्थिति पर पूर्ण रूप से अधिकार पाने में तो असफल रहा, परन्तु उसने ईमानदारी और लगन के साथ शासन का कार्य प्रारम्भ किया। वह विनीत एवं मितव्ययी थी और बाह्य देशों के साथ शान्तिपूर्ण व्यवहार तथा आन्तरिक सुधारों द्वारा देश की आर्थिक राजनीतिक अव्यवस्था का अन्त करना चाहता था। देश के आर्थिक सुधारों के प्रति उसे विशेष दिलचस्पी थी। उसने सरकारी खर्च को कम किया और उद्योग-धन्धें तथा उत्पादन और व्यापार को उन्नतिशील बनाया। इस प्रकार सरकारी आय-व्यय कुछ अंशों तक नियन्त्रित हो सका और मध्यम वर्ग को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु अपनी अत्यधिक अवस्था के कारण वह कोई महत्तवपूर्ण आर्थिक सुधार करने में सर्वथा असमर्थ रहा। इनके निर्माण में किसानों से जो बेगार ली गयी उससे यह वर्ग बहुत ही क्रुद्ध और असन्तुष्ट हुआ।

पोलैंड के उत्तराधिकार का युद्ध)— (1733-38 ई०) यद्यपि फ्लेरी परराष्ट्र-नीति में शान्ति का समर्थक था, परन्तु उसे अन्ततोगत्वा बूरबों-राजवंश की महत्वाकांक्षी नीति का शिकार होना ही पड़ा। बूरबों और हैप्सबर्ग राजवंश परम्परागत शत्रु थे और चूँकि दोनों का उद्देश्य यूरोपीय जगत् पर अपनी प्रधानता स्थापित करना था, अतः किसी भी देश की स्थिति के सम्बन्ध में मतवैभिन्य होने के कारण दोनों का संघर्ष अनिवार्य हो जाता था। जहाँ तक पोलैंड के उत्तराधिकार के युद्ध का सम्बन्ध है, इसमें आस्ट्रिया की अपेक्षा फ्रांस ही अग्रसर था और पोलैंड से सम्बन्ध रखते हुए भी यह मुख्यतः बूरबों और हैप्सबर्ग राजवंशों का युद्ध था।

लुई पंचदश का विवाह एक पोलिश सरदार स्टैनिसलास लेस्कजिंस्की (Stanislaus Leszczyniks) की पुत्री के साथ हुआ था, जो बहुत दिनों से स्वीडेन की सहायता से सैक्सन राजा आगस्टस द्वितीय को पोलैंड से हटाकर स्वयं राजा होना चाहता था। जब 1733 ई० में आगस्टस की मृत्यु हो गयी तो स्टैनिलास ने शीघ्र वारसा पहुँचकर पोलैंड के राजा के रूप में अपना निर्वाचन करा लिया। उसके राज्याधिकार से पोलैंड में फ्रांस का प्रभाव बढ़ने की आशंका थी जिसे रूस नहीं चाहता था। अतः रूस ने हस्तक्षेप कर पोलिश निर्वाचकों को उसे हटाकर आगस्टस द्वितीय के पुत्र आगस्टस तृतीय को राजा निर्वाचित करने के लिए बाध्य किया। इस पर अपने श्वसुर की सहायता के लिये लुई पंचदश ने एक सेना पोलैंड भेजी जिसके फलस्वरूप पोलैंड के उत्तराधिकार का युद्ध प्रारम्भ हो गया।

बूरबों-राजवंश की पारिवारिक महत्वाकांक्षाओं के कारण इस युद्ध का बाह्य रूप बहुत व्यापक हो गया। स्पेन का बूरबों राजा फिलिप पंचम इटली के स्पेनी प्रान्तों पर हैप्सबर्ग-अधिकार को कभी हृदय से स्वीकार न कर सका था, और इसीलिए यूट्रेक्ट की सन्धि (1713) के पश्चात् अपनी महारानी एलिजबेथ फार्नेस के उभाड़ने पर इस सन्धि को भंग करने की कोशिशें करता चला आ रहा था। प्रारम्भ में ओर्लेआँ और फ्लेरी दोनों ने आस्ट्रिया और इंगलैंड के साथ सहयोग कर उसकी आकांक्षाओं को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया, परन्तु अन्ततोगत्वा फ्रांस के राष्ट्रीय हितों ने विजय पायी। दूसरी तरफ आस्ट्रिया के सम्राट चार्ल्स षष्ठ ने आगस्टस तृतीय की सहायता कर फ्रांस को अप्रसन्न कर दिया। साथ ही लोरेन के ड्यूक फ्रांसिस के साथ आस्ट्रिया की राजकुमारी मेरिया थेरेसा के विवाह से भी फ्रांस में असन्तोष था, क्योंकि फ्रांस लोरेन को अधिकृत करना चाहता था, परन्तु इस विवाह से उस पर हैप्सबर्ग-प्रभाव की प्रधानता दिखाई पड़ने लगी। अतः जब आस्ट्रिया ने इस उत्तराधिकार के युद्ध में रूस और आगस्टस तृतीय की सहायता की तैयारी प्रारम्भ की तो शान्ति-प्रिय नीति के पोषक फ्लेरी ने भी आस्ट्रिया को दबाने के लिए स्पेन के साथ सन्धि कर ली। इस प्रकार इस्कूरियल की सन्धि (Theaty of Escurial-1733 ई०) द्वारा स्पेन और फ्रांस में 'प्रथम पारिवारिक संघ' (First Family Compact) की स्थापना हुई जिसके द्वारा इन देशों ने 'शाश्वत तथा अविच्छिन्न एकता' की शपथ ली। इस सन्धि में इन दोनों देशों ने आस्ट्रिया के उत्तराधिकार को अस्वीकार, इटली में युद्ध के निमित्त अपनी सेनाओं के सहयोग, स्पेन के लिए जिब्राल्टर की पुनः प्राप्ति, इंगलैंड की व्यापारिक नीति के नियन्त्रण और एक दूसरे के राज्य की

रक्षा करने का निश्चय किया। स्पेन पर बूरबों-वंश की स्थापना के बाद इन देशों पर अपनी प्रधानता स्थापित रखना चाहता था। इस प्रकार पोलैंड के उत्तराधिकार का युद्ध एक ओर रूस और आस्ट्रिया तथा दूसरी ओर फ्रांस और स्पेन इन दोनों का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष बन गया।

युद्ध में भाग लेने वाले देशों की दृष्टि से यह युद्ध जितना बड़ा दिखाई पड़ता है उतना व्यापक और व्यय-साध्य नहीं सिद्ध हुआ, परन्तु इसका अन्त बहुत-कुछ बूरबों-परिवार के हित में ही हुआ और वियना की सन्धि (1738) द्वारा यूरोप में इस वंश की मर्यादा में पर्याप्त बृद्धि हुई। यह सत्य है कि आस्ट्रिया और रूस को इस बात का संतोष था कि आगस्टस तृतीय पोलैंड के सिंहासन पर बना रहा, परन्तु स्टैनिसलास को अपने जीवन-काल के लिये लोरेन की डची प्रदान की गयी और उसके बाद आस्ट्रिया ने उस पर लुई पञ्चदश के अधिकार को मान्यता प्रदान की । साथ ही उसने नेपुल्स और सिसिली तथा अन्त में परमा (1748) भी स्पेन-देना स्वीकार किया। फिलिप पञ्चम ने अपने पुत्र चार्ल्स को नेपुल्स और सिसिली का तथा दूसरे पुत्र को परमा की डची का स्वामी बनाया। इस प्रकार फ्रांस और स्पेन के अतिरिक्त एक तीसरा बूरबों-राजकुमार नेपुल्स और सिसिली के राज्य का अधिकारी हुआ। स्टैनिसलास की मृत्यु के बाद 1766 ई० में लोरेन फ्रांसके अधिकार में आ गया और 1768 ई० में फ्रांस ने जिनोआ से कार्सिका क़ा द्वीप भी खरीद लिया। लोरेन पर अधिकार कर फ्रांस .राइन ने राइन नदी की ओर बढ़ने में एक महत्वपूर्ण चरण उठाया।

लुई का शासन—कार्डिनल फ्लेरी की मृत्यु के पश्चात् 1743 ई० में लुई पंचदश ने शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में ली और जीवन-पर्यन्त व्यक्तिगत शाासन का प्रदर्शन करता रहा। इसके विषय में कहा गया है कि सही रास्ते पर भली भांति विचार कर लेने के पश्चात् भी प्रायः सदैव ही अपने मंत्रियों या प्रेमिकाओं के कहने पर उसने सखेद गलत रास्ता ही अपनाया। वस्तुतः इसमें सद्‌गुणों का अभाव न था और प्रारम्भ में तो प्रजा ने उसे 'सर्वप्रिय लुई' (Louis, the Well Beloved) कहना प्रारम्भ किया था, परन्तु स्वभावतः वह चपल और चंचल था। उसमें प्रतिभा थी, परन्तु उस पर अकर्मण्यता का गहन आवरण था। आनन्द और खेल-कूद में उसकी विशेष रुचि थी और 'महत्वपूर्ण कार्यों के लिये उसे एक दिन भी निकालना कठिन था। बर्साई दरबार के आडम्बरपूर्ण शिष्टाचार और राजनीति की पेचदगियों से त्राण पाने के लिये वह अपना समय आमोद-प्रमोद, आखेट या उत्सवों में बिताना चाहता था। अपनी प्रेमिकाओं

(Mistresses) के प्रेम-पाश में आबद्ध वह अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में जनता की सहानुभूति खो बैठा था और उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहता था। परिणामतः तत्कालीन समस्त बुराइयों के लिये जनता ने उस पर ही दोषारोपण प्रारम्भ किया। लुई चतुर्दश के शासन के अन्तिम वर्षों से फ्रांस जिन बुराइयों और व्याधियों का शिकार हुआ था, उन्हें दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसके विपरीत इनमें वृद्धि ही होती गयी। परिणामस्वरूप बर्साई और राजा के बीच की खाई और चौड़ी होती गयी, उच्च वर्गों के विशेषाधिकारों और अनुपयोगिता में तथा केन्द्रीय सरकार की निरंकुशता एवं उदेश्यहीनता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी और सबके ऊपर लम्बे और व्यय-साध्य युद्धों की परम्परा ने तो देश का प्रायः सत्यानाश ही कर दिया।

लुई की शासन-नीति और कार्यों पर उसकी प्रेमिकाओं का विशेष प्रभाव था। इसमें शातोरु (Choteauroux) पोंपादूर (Pompadour)और बारी (barry) इन तीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी पोंपादूर का उस पर सबसे अधिक प्रभाव था और वह केवल उसकी प्रेमिका ही नहीं अपितु प्रायः बीस वर्षों (1845-64 ई०) तक उसकी प्रधान मंत्री भी रही और अपने प्रभाव-काल में उसने बूरबों-राजवंश तथा फ्रांस का घोर अहित किया। यह एक राजकर्मचारी की पत्नी थी, पर थी, सुन्दर एवं प्रतिभाशाली। उसने सरदारों के उग्रतम विरोध के बावजूद राज-दरबार में अपनी मर्यादा और पद की बड़ी योग्यता के साथ रक्षा की और 'राज्य में राजा तो पूर्णतः नगण्य बन गया।' विदेशी राजदूत उसके प्रति सम्मान प्रकट करने और फ्रेंच मंत्री उन्नति के लिए उसका अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। उसके संकेत पर मंत्रियों की नियुक्ति या निष्कासन हुआ करता था। सन् 1756 ई० में वह फ्रांस को इसलिए युद्ध से अलग रखना चाहती थी कि युद्ध से राजा के आमोद-प्रमोद और अकर्मण्यता में, जिनके बल पर राज-दरबार में उसकी मर्यादा और अस्तित्व कायम थे, बाधा उत्पन्न होगी। परन्तु अन्त में फ्रेडेरिक द्वारा अपने प्रति किये गये अपमानजनक आक्षेपों के कारण ही उसने प्रशा के विरुद्ध युद्ध का समर्थन किया। आस्ट्रिया और फ्रांस की सन्धि (1756) में उसका ही और कोनित्ज (Kaunitz) का हाथ था। उसके ही संकेत पर फ्रांस की बहनीति निर्धारित होती थी जो अन्त में देश के उपनिवेशों की हानि, आर्थिक अव्यवस्था और जमानत के आमूल परिवर्तन'. का कारण हुई।[२]

---

२. लुई पंचदश केसमय में होने वाली आस्ट्रिया के उत्तराधिकार और सप्तवर्षीय युद्धों के लिये 330-4 तथा 342-49 पृष्ठ देखिये।

यूरोप में फ्रांस की प्रभुता और बूरबों-वंश की प्रधानता का सिक्का इतना अधिक जमा हुआ था कि शासन की आन्तरिक दुर्बलता और युद्ध-भूमि में सेनाओं की पराजय भी उसके गौरव को अधिक कम न कर सकीं। यूरोपीय लोगों की दृष्टि में फ्रांस वैभव-सम्पन्न देश था और उसके सैनिक अपनी वीरता और साहस के लिये विख्यात थे। वर्साई के सौन्दर्य तथा साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में फ्रांस समस्त यूरोप में अद्वितीय था। बूरबो-राजवंश ईर्ष्या भय और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और यूरोप तथा अमेरिका के विस्तृत भू-खण्ड इस परिवार के अधीन थे। परन्तु ये सब बाह्य प्रदर्शन की बातें थीं,वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत थी। फ्रांस और बूरबों-राजवंश के लिये प्रलय का साज सज रहा था और संयोगवश लुई पंचदश इस स्थिति से अनभिज्ञ न था। परन्तु उसका कहना था कि यह प्रलय मेरे बाद ही होगा (After me,the deluge)।

लुई षोडश

जब 1774 ई॰ में लुई पंचदश की मृत्यु हो गयी तो उसका पौत्र लुई, षोडश फ्रांस के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। इस समय इसकी अवस्था बीस वर्ष की थी। यद्यपि यह पवित्र आचरण वाला और सदाशय व्यक्ति था, परन्तु उसमें बुद्धि, दृढ़ता और आत्म-विश्वास का अभाव था। साथ ही सौन्दर्यहीन, अकर्मण्य तथा युक्ति से काम लेने में असमर्थ भी था। इसे आखेट से प्रेम था और यह अपना समय लोहारगिरी और ताले बनाने में लगाया करता था। यह राज-दरबार के शिष्टाचार के पालन तथा शासन-कार्य के संचालन में अक्षम एवं असमर्थ था। इसका विवाह आस्ट्रिया की महारानी मेरिया थेरेसा की अठारह वर्षीय पुत्री मेरी आँत्वानेत (MarieAntoinette) के साथ हुआ था जो अतीव सुन्दरी,चपल, अभिमानी, अमितव्ययी और विवेकहीन थी। फ्रांसीसी उसे सदा विदेशी और 'आस्ट्रियन' के नाम से पुकारते रहे और उसे फ्रांस और आस्ट्रिया के उस विनाशकारी संघ का, जिसका निर्माण मदाम द पोंपादूर ने सप्तवर्षीय युद्ध के पूर्व (1756) किया था, जीवित प्रतीक समझते थे। यदि उसमें अपनी माता की राजनीतिक प्रतिभा और बुद्धिमत्ता होती तो वह अपने दुर्बल पति की पर्याप्त सहायता कर सकी होती। परन्तु राज्य की गुरुतर समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक गाम्भीर्य का उसमें सर्वथा अभाव था और दुर्भाग्यवश इसने अपने पति पर जो कुछ भी प्रभाव डाला वह जन-हित के विपरीत सिद्ध हुआ।

लुई षोडश ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही जन-कल्याण की ओर ध्यान दिया। प्रबुद्ध विचारधारा से अति दूर वर्साई के सुखद और शीतल वातावरण में बैठे हुए

इस बूरबों राजा ने 'सदाशय निरंकुशता' का अभिनय करने का विचार किया। उसके सामने सबसे प्रधान समस्या अर्थ-विभाग की थी जहाँ सर्वाधिक अव्यवस्था थी। शासन-तंत्र की शिथिलता को दूर करने के लिए इस विभाग का तुरन्त सुधार परमावश्यक था। इस विभाग की तीन प्रमुख समस्यायें थीं-पिछले शासन से चला आता हुआ बहुत बड़ा ऋण, राजकोष का वार्षिक घाटा तथा और अधिक कर-भार वहन करने में असमर्थ और क्रुद्ध प्रजा।

तुर्गो (Turgot)—लुई ने इस गहन समस्या को सुलझाने के विचार से अपने पितामह के मंत्रियों को अलग कर अर्थ-विभाग का गुरुतर उत्तरयित्त्व तुर्गो को सौंपा जो वोल्तेर का मित्र और फ्रांसीसी विश्व-कोश के लेखकों में था। सहसा नवीन आशा का संचार हुआ और सुधार की बात वातावरण में गूँज उठी। युवक राजा इससे सुन्दर नियुक्ति न कर सकता था। क्योंकिं तुर्गो अर्थशास्त्र का ज्ञाता तो था ही, कुशल शासक भी था। इसके पूर्व एक दशक से ऊपर तक वह इंटेडेंट के रूप में सफलतापूर्वक शासन और सुधार-कार्य कर चुका था। इसने अर्थ-विभाग का कार्य-भार ग्रहण करने के साथ ही एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति समस्त स्थिति का पर्यवेक्षण कर शीघ्र ही राष्ट्रीय निर्माण का एक कार्य-क्रम प्रस्तुत किया। इसके विचार से राजस्व के क्षेत्र में सामन्तवादी विशेषाधिकारों का अन्त, करों में कमी और यथासम्भव उनका समान वितरण, सड़कों के निर्माण के लिए किसानों से ली जाने वाली बेगार का अंत, व्यापार और उद्योग-धन्धों का अनावश्यक नियंत्रणों से छुटकारा तथा खाद्य पदार्थों पर से करों का उठाना आदि फ्रांस की तात्कालिक आवश्यकतायें थीं। यह अभिनव कार्यक्रम परम्परा के सर्वथा विपरीत था और इसका चारों ओर घोर विरोध हुआ। सरदार और पुजारी वर्ग के लोग कर देने के लिए प्रस्तुत न थे, दरबारियों ने अपनी पेंशनों में की जाने वाली कमी का उग्र प्रतिरोध किया, एकाधिकारी उद्योग-पतियों में खलबली मच गयी, कर-संग्रह करने वाले कर्मचारी सुधारवादी अर्थ-मंत्री से भयभीत हो उठे और किसानों ने भी उसके विचारों को समझने में भूल की। पार्लिमेंट ने प्रारम्भ में ही उसके सुधार-सम्बन्धी नियमों को पंजीबद्ध करने से अस्वीकार कर दिया, परन्तु अन्त में राजा के हस्तक्षेप से झुकना पड़ा। यहाँ तक तो सब कुछ ठीक चलता रहा, और यदि वह अपने विचारों में दृढ़ रहता तो अन्ततोगत्वा विशेषाधिकारों के समर्थकों को भी झुकना पड़ा होता। परन्तु एक ओर दृढ़ता और स्थिरता का उसमें अभाव था और दूसरी ओर दरबारियों नें उसके सामने तुर्गो की शिकायतों का ताँता बाँध दिया। उसके मलिन मुखमण्डल को देखकर उसकी सारी दृढ़ता अदृश्य हो

गयी अन्त में दो ही वर्षों के भीतर (1774-76 ई०) उसने दरबारियों के दुराग्रह से इस कुशल राजनीतिज्ञ को अपने पद से बंचित कर दिया। तुर्गो के अध्यादेशों की वापसी पर विशेषाधिकारयुक्त वर्गों ने असीम प्रसन्नता मनायी और पुनः पुरानी बुराइयों का नग्न नर्तकप्रारम्भ हुआ।

नेकर (Necker) तुर्गो के हटाने से ही समस्या नहीं सुलझ सकती थी, अतः लुई ने अर्थ-विभाग का दायित्व जेनेवा-निवासी नेकर को सौंपा (1776-81 ई०)जो कुशल बैंकर और सफल व्यापारी था। उसे अर्थ-विभाग की अव्यवस्था को दूर करने में कुछ प्रारम्भिक सफलता प्राप्त हुई, परन्तु इसी समय (1778) अमरीकी स्वतंत्रता के युद्ध में इंगलैंड के विरुद्ध देश के भाग लेने के कारण इस साधारण बचत का भी अन्त हो गया। युद्धके संचालन के लिए उसे ऋण का आश्रय लेना पड़ा। उसने अपने साथी बैंकरों से धन उधार लिया, कर संग्रह में सुधार किया, व्यय कम किया और अर्थ-विभाग के हिसाबों की जाँच करवायी। राजकोष की आर्थिक स्थिति पर उसने 1781 ई० में एक रिपोर्ट भी प्रस्तुत की जिससे सर्वसाधारण को राज-कोष के गुप्त भेदों की जानकारी सम्भव हो सकी। नेकर की चुतुर्दिक् बड़ी प्रशंसा हुई। परन्तु इस समय राज-दरबार में उसे हटाने का षडयन्त्र चल रहा था और इसका नेतृत्व स्वयं महारानी मेरी आँत्वानेत कर रही थी। जहाँ एक ओर अथ-मंत्री घाटा पूरा करने के लिए सचेष्ट था, वहाँ महारानी आभूषणों के क्रय और उपहारों के वितरण में धन का घोर अपव्यय कर रही थी। अतः जब उसके मित्रों ने अर्थ-मंत्री की कृपणता की शिकायत की तो महारानी ने पदच्युत करने की माँग की और दयालु तथा स्त्रैण लुई ने उसकी माँग अविलम्ब पूरी कर दी (1881), क्योंकि वह अपनी सुन्दर परन्तु दायित्तवहीन रानी तथा सरदारों को अपने आमोद-प्रमोद से वंचित नहीं करना चाहता था।

आर्थिक संकट—जिस समय देश के सम्मुख घोर आर्थिक संकट उपस्थित था और उससे छुटकारे का कोई भी उपाय नहीं सूझ रहा था, फ्रांसीसी सरकार ने अमरीकी स्वतंत्रता के युद्ध (1778-83 ई०) में भाग लेकर बड़ी मूर्खता की। इसमें संदेह नहीं कि अमेरिकी के संयुक्त देश स्वतंत्र हो गये, इंगलैंड पराजित हुआ, फ्रांस ने सप्तवर्षीय युद्ध की अपनी पराजय का बदला चुकाया और फ्रांसीसी सैनिकों ने अपनी वीरता और शौर्य का परिचय दिया, परन्तु इससे फ्राँस ने क्या लाभा उठाया? रिक्त राजकोष की दशा बिगड़ गयी, ऋण, का बोझ पहले से भी बढ़ गया और आर्थिक संकट विनाश का दृश्य उपस्थित करने लगा। इस समय देश के सम्मुख अर्थ-विभाग की समस्या सर्वोपरि थी

और इसी के समाधान में उसका कल्याण था। परन्तु आय और व्यय में किस प्रकार संतुलन स्थापित किया जाये या व्यय को कम करके आमदनी को किस प्रकार बढ़ाया जाये इस गुरुतर प्रश्न का उत्तर दुष्कर हो रहा था। यह बात न थी कि फ्रांस जैसे देश के लिए सरकारी व्यय बहुत अधिक हो। करों के संतुलित वितरण में समस्या का स्पष्ट समाधान दृष्टिगोचर हो रहा था। विशेषाधिकारयुक्त उच्चवर्ग यदि करों का भार वहन करने के लिए प्रस्तुत हो जाता तो स्थिति बहुत-कुछ सुधर सकती थी। एक के बाद दूसरे अर्थमंत्री ने राजा के सम्मुख यह सुझाव उपस्थित किया, परन्तु न तो उच्च वर्ग अपना विशेषाधिकार छोड़ने को प्रस्तुत था और न बुद्धिहीन राजा को ही स्थिति की गम्भीरता का समुचित ज्ञान हो रहा था। उच्चवर्ग के लोग सोचते थे कि यदि जन-साधारण की भाँति करों का भार वहन करना हुआ तो उच्चवर्गीय होने से लाभ क्या? इस परिस्थिति में अस्थायी सुधार ही सम्भव थे, समस्या का वास्तविक समाधान दुष्कर था।

कालोन—इस समस्या को सुलझाने के लिए एक के बाद दूसरा अर्थ-मंत्री नियुक्त होने लगा। सन 1783 ई० में कालोन (Calonne) अर्थ-मंत्री (1783-87 ई०) नियुक्त हुआ। वह राजदरबार का कृपापात्र था। उसने अत्यधिक व्यय द्वारा देश की आर्थिक स्थिति पर आवरण डालना चाहा और सड़कों, बन्दरगाहों तथा राजदरबार पर बहुत धन व्यय किया। उस समय स्थिति में भी सुधार था। अमरीकी युद्ध के पश्चात शान्ति, अमेरिका के साथ व्यापार, इंगलैंड के साथ व्यापारिक सन्धि (1786) और अच्छी फसलों के कारण सरकारी आय बढ़ गयी थी। परन्तु यह आमदनी व्यय का साथ न दे सकी और अन्त में उसे भारी ऋण का आश्रय देना पड़ा। यह स्थिति भी एक सीमा तक ही सम्भव थी और ऋण का मिलना भी दुष्कर हो गया। सन् 1786 ई० में ब्याज पर लिया गया सरकारी ऋण 600,000,000 डालर था और सरकार को प्रतिवर्ष 25,000,000 डालर ऋण लेना पड़ रहा था। फलतः कालोन को भी बाध्य होकर तुर्गों की नीति का अवलम्बन लेना पड़ा। परन्तु यह जानकर कि पार्लियामेंट उससे इस सुझाव का विरोध करेगी, उसने राजा को देश के प्रधान व्यक्तियों की एक सभा (Assembly of Notables) बुलाने की सलाह दी।

प्रधानों की सभा—राजा ने 1787 ई० में प्रधानों की इस सभा को बुलाया, जिसके 145 सदस्यों में उच्चवर्ग के ही लोग अधिक थे। इस सभा ने कालोन के आर्थिक प्रस्तावों का विरोध किया और उसे अर्थ-मंत्री के पद से हटा दिया (1787) अब इस पर तूलूज (Toulouse)का आर्चबिशप (Brienne) नियुक्त किया गया। परन्तु देश के प्रधानों

की सभा स्वयं त्याग के लिए प्रस्तुत न थी। इसने सड़कों के निर्माण के लिये ली जाने वाली बेगार बन्द कर दी, प्रान्तीय परिषदों की स्थापना की स्वीकृति दी और करों की समस्या को सुलझाने के लिये स्टेट्स-जनरल की बैठक बुलाने की सम्मति दी। ब्रिएन के कर-सम्बन्धी प्रस्तावों को अस्वीकार करने पर यह सभा भी भंग कर दी गयी।

ब्रिएन—शासनाधिकार हाथ में आते ही ब्रिएन ने लोगों को आशान्वित किया। उसने नये ऋण और करों द्वारा संकटपूर्ण स्थिति का अन्त करना चाहा। इस पर उसे पेरिस की पार्लिमेंट के भीषण प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। पार्लिमेंट ने नये ऋण या करों के प्रस्ताव को पंजीबद्ध करना अस्वीकार कर दिया। वस्तुतः उसका यह कार्य अवरोधात्मक था जिसके द्वारा आर्थिक सुधारों की क्षीण आशा का भी लोप कर डाला। पार्लिमेंट का यह कहना था कि कर वही लगा सकते हैं जिन्हें कर देना पड़ता है और इसी आधार पर उसने भी स्टेट्स-जनरल की माँग की। इस माँग में देश का जनमत भी उसके साथ था, जिससे उत्साहित होकर वह अधिकारों की विज्ञप्ति भी तैयार करने लगी। पार्लिमेंट के ये कार्य सरकार के लिए क्रान्तिकारी प्रतीत हुए। अतः सरकार ने पहले तो उसे धमकाना चाहा और अन्त में बरखास्त कर दिया। राजा के इस कार्य का चारों ओर विरोध प्रारम्भ हुआ। सेना ने भी पदच्युत न्यायाधीशों को बन्दी बनाने से इन्कार कर दिया। उत्तेजित जनता पेरिस और दूसरे नगरों में एकत्र होकर स्टेट्स-जनरल की माँग करने लगी। इस माँग का स्वर शीघ्रता से उच्च-से-उच्चतर होने लगा और अब उसकी उपेक्षा प्रायः असम्भव हो गयी। राजा ने यह देखकर कि अब सेना पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता, देश की माँग के सामने झुकना ही श्रेयस्कर समझा। उसने ब्रिएन को पदच्युत किया (1788) पार्लिमेंट की पुनः स्थापना की और स्टेट्स-जनरल की बैठक बुलाने की विज्ञप्ति निकाली। इस समय तक तुर्गो की मुत्यु हो चुकी थी और सुधारकों में नेंकर ही प्रमुख था, अतः राजा ने इसे बुलाकर पुन मुख्यमंत्री नियुक्त किया।

स्टेट्स-जनरल—फ्रांस के लिए स्टेट्स-जनरल का अधिवेशन कोई नवीन घटना न थी। यद्यपि पिछले पौने दो सौ वर्षों से उसका कोई अधिवेशन न हुआ था और राजाओं ने इसके बिना ही शासन का कार्य सम्पन्न किया था, परन्तु तिस पर भी यह संस्था सैद्धान्तिक रूप में फ्रांस शासन का एक अंग थी। इस संस्था का प्रथम अधिवेशन 1302 ई० में फ्रांस के तत्कालीन राजा फिलिप सुन्दर ने बुलवायी थी और तब से 1614 ई० तक समय-समय पर इसके अधिवेशन होते रहे। इस संस्था के तीन अंग थे-प्रथम वर्ग पादरी लोगों का था, द्वितीय वर्ग सामन्तों का था और तृतीय वर्ग में जन-साधारण के प्रतिनिधि होते थे। प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि अलग-अलग भवनों में बैठते, अलग-अलग

विचार करते तथा मत देते थे। किसी भी प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए दो भवन की अनुमति पर्याप्त थी। प्रायः पादरी और सामन्त वर्गों के प्रतिनिधि एकमत होकर तृतीय वर्ग के प्रस्तावों या माँगों को अमान्य कर दिया करते थे। यह सभा केवल परामर्शदात्री थी और न तो इसे कानून बनाने का अधिकार था और न आय-व्यय पर ही इसका नियंत्रण था। इसका अस्तित्व राजा की इच्छा पर आधारित था और इसे बुलाना, स्थगित करना या भंग करना उसके ही अधीन था। राजा प्रायः इसके नियमों के प्रतिकूल भी आचरण करते-रहते थे। सन् 1614 ई० के बाद राजाओं ने इसका कोई भी अधिवेशन नहीं किया था और इसके बिना ही कार्य करते आ रहे थे। इस प्रकार पौने दो सौ वर्षों (1614-1789 ई०) तक कोई अधिवेशन न होने के कारण यह प्रायः मृत संस्था बन चुकी थी परन्तु अब परिस्थिति और जनमत से बाध्य होकर राजा को इसका अधिवेशन बुलाना ही पड़ा जिसका स्पष्ट अर्थ था कि देश में निरंकुश शासन असफल हो चुका था और अब राजा को जनता के प्रतिनिधियों के परामर्श की आवश्यकता थी। साधारणतः वैधानिक दृष्टिकोण से इस सभा का अधिवेशन एक मामूली घटना थी और यदि पहले की भाँति इस बार भी जनता के प्रतिनिधि राजा को केवल परामर्श देकर और आर्थिक समस्या का हल बताकर बिदा हो जाते तो इस अधिवेशन का कोई महत्व न रहता। परन्तु बात ऐसी न थी। इस वार देश के प्रतिनिधियों ने अपने भाग्य का निर्माण स्वयं अपने हाथों में लिया और देश की पुरातन व्यवस्था का अन्त कर एक नवीन व्यवस्था के निर्माण का संकल्प किया। इस अधिवेशन की यही प्रमुख विशेषता थी और इसीलिये फ्रांस के इतिहास में यह एक क्रान्तिकारी घटना सिद्ध हुई। वस्तुतः स्टेट्स-जनरल की यह बैठक स्वयं एक क्रान्ति थी जिससे एक युग का अन्त और दूसरे का सूत्रपात हुआ।

फ्रांस की क्रान्ति के कारण

हम ऊपर देख चुके हैं कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रांसीसी सरकार की आर्थिक दशा अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। अनेक व्ययशील युद्धों, राजदरबार के व्यय-साध्य जीवन और करों के असमान वितरणतथा इस क्षेत्र में उच्च वर्गों के विशेषाधिकार के कारण अर्थ-विभाग का संगठन प्रायः असम्भव हो गया था। एक के बाद दूसरे अर्थ-मंत्री ने इस स्थिति में सुधार करने और राज-कोष को सम्पन्न बनाने की यथासाध्य चेष्टा की, परन्तु उच्च वर्ग और पार्लियामेंट के विरोध तथा राजा से आवश्यक सहयोग के अभाव में उन्हें सदैव विफल मनोरथ होना पड़ा। राजा के दृढ़ सहयोग से ही करों के क्षेत्र में मौलिक परिवर्तन सम्भव था। लेकिन लुई षोडश में दृढ़ता एवं निर्णयात्मक बुद्धि का अभाव था, अतः वह उनकी सहायता न कर सका दूसरे,

दरबार का व्यवशील जीवन, और विशेषकर महारानी मेरी आँत्वानेत की अपरिमित व्यवशीलता, उनके मार्ग में बाधक थी। फलतः सभी अर्थ-मंत्रियों के प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए और जब कभी उन्होंने व्यापक आर्थिक सुधारों कीयोजना प्रस्तुत की तोउन्हें पदच्युत होना पड़ा। फजूलखर्ची के दुष्परिणाम के रूप में ऋण का भार प्रतिवर्ष बढ़ता गया और नौबत यहाँ तक आ गयी कि सरकार के लिए ऋण का मिलना अर्थाभाव में उसका दिन-प्रति-दिन का काम चलना भी कठिन हो गया। इस परिस्थिति में प्रायः मृतवत् संस्था सटेट्स-जनरल का अधिवेशन स्वतः एक क्रान्ति बन गया। इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति का तात्कालिक कारण मुख्यतः आर्थिक था, क्योंकि उस विषम परिस्थिति में एकमात्र क्रान्ति द्वारा ही देश के आर्थिक संकट को दूर किया जा सकता था।

फ्रांस का यह आर्थिक विघटन एक स्वतंत्र वस्तु न था। इसके पीछे शताब्दियों का घोर असन्तोष था जो क्रमशः जोर पकड़ता हुआ सहसा क्रान्ति के रूप में फूट निकला। देश में निरंकुश किन्तु निर्बल राजतंत्र, कर्त्तव्यहीन और पथभ्रष्ट चर्च, राजाश्रित, श्रीहीन और अत्याचारी सामन्त वर्ग शिक्षित, सम्पन्न किन्तु अधिकार-वंचित और असन्तुष्ट मध्यम वर्ग, राजस्व-भार-पीड़ित और पद-दलित कृषक-वर्ग, ऋण-भार-बोझिल एवं रिक्त राजकोष, अनुशासनहीन और भ्रष्ट नौकरशाही तथा देश में फैली घोर अराजकता आदि ऐसी बातें थीं जो देश को बरबस क्रान्ति की ओर खींच रही थीं। वस्तुतः उपर्युक्त समस्त बुराइयों का आधार देश की वह व्यवस्था थी जो अब समयानुकूल न रही गयी थी। शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से लोगों का बौद्धिक स्तर पर्याप्त ऊँचा उठ चुका था। देश में दार्शनिकों और विचारकों का वर्ग नव-निर्माण का मधुर सन्देश वहन कर रहा था जिसके फलस्वरूप जन-साधारण में नव-जागृति और नव-चेतना का संचार हो रहा था। इस प्रकार समाज का बहुसंख्यक वर्ग देश की जीर्ण-शीर्ण और पुरातन व्यवस्था का अन्त कर नव-निर्माण के लिए चंचल और व्यग्र था। ऐसी दशा में क्रान्ति मे देर भले ही हो, परन्तु उसे रोकना कठिन था। अतः इस स्थिति के समुचित ज्ञान के लिये हमें उस व्यवस्था की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है जो फ्रांस की क्रांतिः का मौलिक कारण भी और जिसे देश के इतिहास में 'पुरातन व्यवस्था' (ancient Regime) की संज्ञा प्रदान की गयी है।

पुरातन व्यवस्था

अठारहवीं शताब्दी में 'तर्क' के पुजारी विचारकों, वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों का लक्ष्य 'प्रगति' थी और तर्क को कसौटी पर खरा उतरने पर ही प्रत्येक वस्तु या

विचारधारा को अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत थे। उनका समस्त दृष्टिकोण बौद्धिक था और पुरानी प्रथा या रूढ़िवादी विचार उन्हें सर्वथा अमान्य था। दैवी शक्ति में विश्वास रखने वाला धर्म या राजा का अधिकार भी उन्हें अग्राह्य था। इस प्रकार तत्कालीन यूरोपीय समाज या राजनीति उनकी उद्‌बुद्ध विचारधारा (Enlightement) के प्रतिकूल थी। परन्तु 18वीं शताब्दी की समस्त यूरोप की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का आधार वे पुरातन प्रथायें थीं जो मध्यकाल से अक्षुण्ण चली आ रही थीं और जिनकी मान्यता के लिये तर्क या बुद्धि की नहीं अपितु श्रद्धा और अन्ध-विश्वास की आवश्यकता थी इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था और प्रत्येक वर्ग के अधिकार, शक्ति या साधन एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। यद्यपि थोड़े-बहुत अन्तरों के साथ यह व्यवस्था सार्वभौम थी, परन्तु अठारहवीं शताब्दी के फ्रांस के विचारकों और दार्शनिकों ने फ्रांसीसी जनता के सामने अपने देश की इस जीर्ण-शीर्ण एवं पुरातन व्यवस्था का नग्न रूप प्रस्तुत किया और साथ ही इसकी बुराइयों का निराकरण कर जनता का ध्यान नव-निर्माण की ओर भी आकृष्ट किया। संक्षेप में इस पुरातन व्यवस्था की रूप-रेखा निम्नांकित थी-

राजीनतिक व्यवस्था—इस पुरातन व्यवस्था में शीर्ष स्थान का अधिकारी राजा था। इसका पद वंशानुगत और अधिकार दैवी था और वह अपने कार्यों के लिए ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी न था। शासन के क्षेत्र में वह निरंकुशता के सिद्धान्त का पोषक था और उसकी इच्छा ही कानून थी। वस्तुतः निरंकुश राजतंत्र को लुई चतुर्दश ने अपनी सीमा पर पहुँचाया था और शासन-सम्बन्धी उसके सिद्धान्त यूरोप के लिए अनुकरण का विषय बने हुए थे। उसके मरने के बाद भी उसके सिद्धान्तों की परम्परा ज्यों-की-त्यों बनी रही और लुई पंचदश या षोडश ने अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अभाव में इसे अपरिवर्तित रूप में स्वीकार किया। फ्रांस के ये राजा राज्य को अपनी व्यक्तिगत या पारिवारिक सम्पत्ति समझते थे और वे राष्ट्र के समस्त साधनों का उपयोग अपने परिवार की उन्नति के लिये ही किया करते थे। उसकी दृष्टि में राष्ट्र की अपेक्षा परिवार प्रधान था और उसका गौरव या उत्थान राष्ट्र का उत्थान समझा जाता था। राजा फ्रांसीसी जनता को राष्ट्र के रूप में नहीं, अपितु अधिकारविहीन प्रजा के रूप में समझता था जिस पर उसका ही सर्वाधिकार था। उसके इच्छानुसार नियम का निर्माण, राजस्व का संग्रह और राजकीय आय का व्यय होता था। किसी देश के साथ युद्ध या सन्धि उसकी इच्छा पर निर्भर थी और राष्ट्र-हित का ध्यान रखकर नहीं, अपितु पारिवारिक गौरव को

दृष्टिगत करके ही इनका आश्रय ग्रहण किया जाता था। इन महत्वूपर्ण कार्यों के लिये उसे प्रजा से परामर्श की आवश्यकता न थी। पड़ोसी राज्य इंगलैंड की भाँति उसके कार्यों पर अंकुश रखने वाली पार्लियामेंट की तरह की कोई प्रतिनिधि संस्था भी फ्रांस में न थी। पुरानी सामन्तीय संस्था स्टेट्स जनरल का अन्तिम अधिवेशन 1614 ई० में हुआ था और उसके पश्चात् निरंकुश राजतंत्र की प्रौढ़ता के पोषक राजाओं ने इसका अधिवेशन बुलाना ही बन्द कर दिया था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि नियंत्रण रखने की बात तो दूर थी, देश के राजनीतिक जीवन में इसकी समृति हो गयी थी।

राजा के स्वेच्छाचार को कुछ अंशों में नियन्त्रित रखने वाली दूसरी संस्था पार्लिमेंटस (Parlements) थीं, परन्तु ये देश की प्रतिनिधि संस्था नहीं, वरन् सर्वोच्च न्यायालय थीं। समस्त देश में इनकी संख्या तेरह थी जिनमें सर्व-प्रधान और सबसे अधिक शक्तिमान् पेरिस की पार्लिमेंट थी। इन न्यायालयों की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि इनके सदस्यों के पद परम्परा से वंशानुगत हो गये थे और धन द्वारा अपने पदों को क्रय कर इन न्यायाधीशों ने भी अन्य वर्गों की भाँति कुलीनता प्राप्त कर ली थी। न्याय के अतिरिक्त नवीन राज्यादेशों या नियमों को पंजीबद्ध करना पेरिस की पार्लिमेंट का विशेषाधिकार था और बिना पंजीबद्ध हुए उनकी वैधानिकता अग्राह्य थी। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी से पार्लिमेंट का यह विशेषाधिकार भी जाता रहा और अब वे राजाज्ञा का उल्लंघन या विरोध नहीं कर सकती थीं। फलतः यह नियंत्रण भी निरंकुश राजतंत्र का शिकार बन गया था।

साधारण जनता को भी किसी प्रकार की व्यक्तिगत स्वतंत्रता या भाषण लेखन अथवा प्रकाशन का अधिकार न था। ये सभी अधिकार अनियंत्रित राजशक्ति से नियंत्रित थे और स्वत्वविहीन मूक जनता को अपने ऊपर होने वाले अत्याचार के विरोध में किसी प्रकार की आवाज उठाने का अधिकार न था। बिना अभियोग के ही राजा किसी भी व्यक्ति को बन्दी बना सकता या सजा दे सकता था। यह अधिकार इतना असीमित था। कि केवल राजा ही नहीं, अपितु उसका कोई भी कृपापात्र राजदरबारी इसका अपनी इच्छानुसार उपयोग कर सकता था। इसके लिये उन्हें केवल ऐसे पत्रों (Lettres de cachet) की आवश्यकता होती थी जो राजा की ओर से किसी भी व्यक्ति को बन्दी या दण्डित करने के निमित्त प्रदान किये जा सकते थे। राजा के कृपापात्र ऐसे पत्रों को प्राप्त कर लेते थे जिनमें बन्दी किये जाने वाले व्यक्ति के नाम का स्थान रिक्त रहता था। वे जिसे बन्दी बनाना या दण्डित करना चाहते उसका नाम लिखकर उसे मनमाना दण्ड

दिला सकते थे। इस दशा में न तो किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित थी और न वह न्याय की आशा ही कर सकता था।

राज्य का समस्त शासन भी घोर अव्यवस्थित एवं शिथिल था और लुई पंचदश या लुई षोडश में शासन की क्षमता का सर्वथा अभाव था। लुई पंचदश तो राज-काज से ऊबकर विलास या आखेट में अपना समय व्यतीत किया करता था और लुई षोडश स्वभाव एवं शक्ति से शासन-संचालन में असमर्थ था और निर्णय लेने या किसी निर्णय को कार्यान्वित करने की क्षमता का उसमें घोर अभाव था। फलतः शासन-कार्य स्वार्थी और लोलुप सरदारों या प्रेमिकाओं के परामर्श से चलता था जिसमें निपुणता या लोकोपकारिता की भावना आ ही नहीं सकती थी। सबसे ऊपर शासन व्यय-साध्य बन गया था और बिना किसी उद्देश्य के असीम धन-राशि पानी की तरह बहाई जाती थी। वर्साई का राजमहल आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा का केन्द्र था, जहाँ फ्रांस के साधारण जीवन की गन्ध भी नहीं पहुँच सकती थी। राजधानी देश का प्रतीक नहीं, अपितु वैभव और विलास का केन्द्र थी। चाटुकार और स्तवक दरबारियों की संख्या प्रायः दो सहस्त्र थी जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य राजा की व्यक्तिगत सेवा और विलास था। राज-परिवार के सेवकों की संख्या भी सोलह सहस्त्र के लगभग थी। इस पारिवारिक अपव्यय के अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष एक बड़ी धन-राशि राजदरबारियों और कृपापात्रों को पारितोषिक या पेंशनें देने में व्यय की जाती थी। इस व्यय-साध्य और निरर्थक परम्परा से राजदरबार का जीवन और वहाँ का समस्त वातावरण अत्यन्त दूषित बन गया था। लुई षोडश की महारानी आँत्वानेत का व्यक्तिगत व्यय तो सभी सीमायें पार कर चुका था। वस्तुतः वर्साई के इस असीम धन-राशि के घोर अपव्यय और देश के साधारण जीवन में तनिक भी सामंजस्य नहीं रह गया था।

फ्रांस का निरंकुश राजतंत्र किसी नियम या व्यवस्था पर आधारित न थी। राजा पूर्ण स्वेच्छाचारी तो अवश्य था, परन्तु शासन के संचालन के लिये वह नौकरशाही पर अवलम्बित था जिसके अधिकार और क्षेत्र अनिश्चित् थे। मध्यकाल से ही देश प्रांतों में बँटा था जिन्हें गवर्नमेंट कहते थें। उच्च वर्ग के लोग इन प्रांतों के गवर्नर हुआ करते थे,परन्तु सत्रहवीं शताब्दी से ही इनका कोई काम नहीं नहीं रह गया था। ये केवल ऊँची तनख्याहें लेते और राजधानी में विलास का जीवन व्यतीत किया करते थे। कुछ प्रांतों में प्रान्तीय परिषदें (Estates) भी थीं। प्रांतों के उपविभाग जिले थे जो बैलिफ (Bailiffs) और सेनेशल (Seneschals) के अधीन थे। अठारहवीं शताब्दी में ये पद भी दायित्वहीन होकर केवल अलंकार की वस्तु रह गये थे। देश के वास्तविक शासन के लिए रीशलू के समय से उसका विभाजन जनरलिटी (Generality) में किया गया था

जिसके प्रधान इण्टेण्डेण्ट हुआ करते थे। राजा मध्य वर्ग के लोगों में से इन कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। ये केवल राजा के आदेशों का पालन करते थे और इन्हें जनता की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देने की स्वतंत्रता न थी। फलतः ये और इनके अधीनस्थ कर्मचारी जनता में अत्यधिक अप्रिय थे। इनके अतिरिक्त न्याय, धर्म और शिक्षा की दृष्टि से भी देश के और दूसरे अनेक भाग थे। अधिकांश नगरों में नगर सभायें थीं और जितनी नगर-सभायें थीं उतने ही प्रकार के निर्वाचन के नियम तथा अन्य दूसरे अधिकार थे। नाममात्र के लिये भी स्थानीय स्वशासन का अस्तित्व न था, जहाँ जनता को किसी प्रकार की राजनीतिक शिक्षा या प्रशासनीय अनुभव प्राप्त हो सके। समस्त देश के भिन्न-भिन्न मांगों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के तथा तौल और बटखरे थे। देश के भीतर चुंगी और करों में भी एकरूपता न थी। राजय में सैकड़ों प्रकार के नियम और कानून प्रचलित थे जो थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। इस प्रकार यद्यपि देश का शासन पूर्णतः केन्द्रित था, परन्तु उसमें प्रशासनीय एकता या एकरूपता का घोर अभाव था और शासन से लोकरंजन का तत्व तो कोसों दूर था।

सामाजिक व्यवस्था—फ्रांस के सामाजिक विभाजन का आधार पुरानी सामन्तवादी व्यवस्था थी जो मध्यकाल से ज्यों-की-त्यों चली आ रही थी। सर्वसाधारण की दृष्टि में इस सामाजिक वर्गीकरण के मौलिक सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण कोरी मूर्खता या घोर अधार्मिकता थी। समाज के इस विभाजन की आधार-शिला वे अधिकार थे जिनके अनुसार उसमें दो प्रमुख वर्ग थे-अधिकारयुक्त और अधिकारहीन। अधिकारयुक्त वर्ग के भी दो अंग थे-पादरी वर्ग (Clergy) और सरदार वर्ग (Nobles), जिन्हें साधारण रूप से प्रथम और द्वितीय वर्ग के नाम से पुकारा जाता था। फ्रांस में पादरी वर्ग की संख्या 1,30,000 और सरदार वर्ग की 1,50,000 थी। दूसरी ओर अधिकारहीन वर्ग की संख्या प्रायः ढाई करोड़ थी। इस प्रकार अधिकारयुक्त वर्गों की सम्मिलित संख्या अधिकारहीन वर्ग केवल शतांश के लगभग थी। परन्तु संख्या में नगण्य होते हुये भी समाज में अधिकारयुक्त वर्ग की स्थिति बहुत ऊँची थी और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इनमें और अधिकारहीन वर्ग में घोर असमानता थी जो इस दूसरे वर्ग की आँखों की किरकिरी बनी हुई थी।

सरदार-वर्ग—इस वर्ग के लोग समाज में उच्च स्थान और सम्मान के अधिकारी थे। समस्त भूमिका प्रायः पंचमांश इनके अधीन था। इसके अतिरिक्त सेना, शासन और चर्च के सभी पद इसी वर्ग को प्राप्त थे। इस वर्ग के लोग अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक योग्य और सुसंस्कृत समझे जाते थे और सर्वसाधारण जनता उन्हें बड़े सम्मान और आदर के साथ 'मेरे स्वामी' आदि उपाधियों से सम्बोधित करती थी। अपनी कुलीनता के

आधार पर खेल-तमाशों या गिर्जाघरों में इन्हें सर्वोच्च स्थान मिलते और सुसंस्कृत समाज या राज-दरबार में इनका पूर्ण प्रवेश था। स्थायी विशाल सम्पत्ति तथा शासन के प्रत्येक विभाग में उच्च पदों के एकाधिकार के अतिरिक्त इन्हें पेंशन और उपहार के रूप में राजा और रानी से बड़ी रक़ंमें बराबर मिला करती थीं। धन-सम्पन्न होते हुए भी अनेक अंशों में यह वर्ग प्रत्यक्ष करों से मुक्त था और सदैव अप्रत्यक्ष करों से भी बचने का उपाय किया करता था। मध्य काल से चले आते हुए इनके सामन्तीय अधिकार अब भी बने हुए थे, यद्यपि जनता की रक्षा और शान्ति-स्थापना के कर्त्तव्य समाप्त हो चुके थे; क्योंकि रीशलू और लुई चतुर्दश की नीति के फलस्वरूप इनका पालन राज्य की ओर से होने लगा था। इस दशा में इनकी पूर्व उपादेयता नष्ट हो चुकी थी।

सरदार-वर्ग का एक अंग राजा का विशेष कृपापात्र बनकर वर्साई के राज-दरबार का अलंकार बना हुआ था। वहां पर शान-शौकत के साथ रहने, भोग-विलास, आनंद और मनोरंजन तथा शिष्टाचार-प्रदर्शन के अतिरिक्त इनका और कोई कार्य नहीं रह गया था। इनका चारित्रिक स्तर अत्यन्त निम्न था और व्यभिचार इनके चरित्र का प्रधान अंग था। राजदरबार के षड्यंत्रों या शिष्टाचार की नवीनतम विधियों के आविष्कार में यह प्राय: अपनी अकुंठित मेधा का परिचय दिया करते थे। वर्साई इनका प्रधान और स्थायी क्रीड़ा-क्षेत्र था, फलत: अपनी जागीरों से ये सदैव अनुपस्थित रहा करते थे। वहाँ पर इनके गुमाश्ते इनका प्रतिनिधित्व करते और राजस्व या अन्य करों की वसूली में निरीह जनता के ऊपर अनके अत्याचार तथा अपने अनुपस्थित स्वामी के लिए यथाशक्ति अधिकाधिक धन-संग्रह किया करते थे।

इस वर्ग का दूसरा अंग अपनी जागीरों का प्रबन्ध स्वयं देखता था। इनमें कुछ तो पर्याप्त वैभवशाली थे जो उच्च सरकारी या चर्च के पदों पर नियुक्त थे या वैज्ञानिक ढंग से खेती कराते थे। परन्तु अधिकांश निर्धन और प्रभावहीन थे, और यद्यपि सेना या चर्च से इनकी नियुक्तियाँ भी होती थीं, परन्तु वर्साई की राजनीति या समाज में इनका स्थान नगण्य था। इनकी अवस्था किसानों से अच्छी न थी, परन्तु जन्म के आधार पर ये अपनी कुलीनता के पोषक और समर्थक थे और इनसे अपने विशेषाधिकार प्राप्त करने में न चूकते थे। समाज में यह वर्ग बोझ-सदृश था जिसका विशेषाधिकार किसानों को बहुत खलता था। कुछ लोगों ने तो साधारण स्थिति में जन्म लेकर भी राज-कृपा से कुलीनता प्राप्त कर ली और उन्हें भी सरदार वर्ग की भाँति अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हो गये थे। जब से सरदार वर्ग के सामन्तीय कर्त्तव्यों का लोप हो गया था, तब से यह वर्ग पोषक और समाज का अभिशाप बनकर सर्वसाधारण का घृणापात्र बना हुआ था। परन्तु घृणा-

समन्वित यह दुर्भावना केवल बड़े,लोभी और स्वार्थी सरदारों के प्रति ही थी, छोटे और साधारण सरदार तो स्वयं असन्तुष्ट और देश की प्रचलित व्यवस्था मे सुधार के पक्षपाती थे।

पादरी वर्ग—देश में दूसरा अधिकारयुक्त वर्ग पादरियों का था। धन, वैभव, अधिकार और सम्मान में यह वर्ग सरदारों के समकक्ष था और अप्रियता में तो उससे भी आगे बढ़ा हुआ था। चर्च के पास अपार संपत्ति थी और देश की भूमि का पंचमांश इसके अधीन था। इसके अतिरिक्त चर्च की भूमि जोतने वाले किसानों से अनेक सामन्तीय कर तथा उपहार एवं सर्वसाधारण से प्राप्त 'दशमांश' (Tithes)कर आदि इसकी आय के प्रधान स्रोत थे। अपार सम्पत्ति का स्वामी चर्च करमुक्त था और उसे प्रतिवर्ष नाममात्र के लिए साधारण धन-राजकोष में जमा करना पड़ता था जो उसकी आय के शतांश से भी कम था। आर्चबिशप, विशप या एवाटों की नियुक्तियाँ निर्वाचन के आधार पर होती थीं और वे सभी पद प्रायः सरदारों के ज्येष्ठतर पुत्रों के लिये सुरक्षित थे। ये लोग चर्च की सम्पत्ति और सामाजिक सम्मान एवं प्रभाव के लोभ से पादरी-पद की दीक्षा लिया करते थे और इन्हें वैधानिक दृष्टि से अविवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। 'चर्च के ये राजकुमार' बड़ी शान-शौकत से भोग-विलास या आमोद-प्रमोद में जीवन-यापन करते थे। अपने पद के धार्मिक कर्त्तव्यों तथा दीनों एवं पीड़ितों की सेवा से इन्हें कोई मतलब न था। सरदारों की भांति राज-दरबार की विलासिता इनके जीवन का प्रधान अंग थी।

जहाँ एक ओर रोहाँ कार्डिनल (Cadrinal deRohan) उसके ही समान चर्च के दूसरे उच्च पदाधिकारी अपने ऐश्वर्य, विलास एवं अपव्ययिता के कारण वर्साई के दरबार के श्रृंगार बने हुए थे, वहां अपने पेट की ज्वाला शान्त करने में सचेष्ट निम्नवर्गीय निर्धन पादरी दान-पुण्य आदि के लिये सर्वथा असमर्थ थे। कर्त्तव्यनिष्ठ यही वर्ग जनता का वास्तविक सेवक, सहायक, मित्र और पथ-प्रदर्शक था, परन्तु था असहाय और अपनी हेय दशा से घोर असन्तुष्ट। इनकी स्थिति भी सर्वसाधारण के समान थी और दोनों ही की एक-दूसरे के साथ सच्ची सहानुभूति थी।

सर्वसाधारण वर्ग—अधिकारयुक्त प्रथम और द्वितीय वर्ग के बाद समाज का तृतीय वर्ग (Third Estate) सर्वसाधारण लोगों का था जो अधिकारहीन था। इसमें राज्य की 19 प्रतिशत जनता थी। इस वर्ग में कई प्रकार के लोग थे, जैसे उच्च मध्यम वर्ग के लोग, शिल्पी, मजदूर और कृषक। वस्तुतः मृतप्राय समाज का जीवित अंग मध्यम वर्ग ही था जो व्यापार और पूँजी के विकास का प्रतीक और समाज तथा राष्ट्र का धन-कुबेर था। अठारहवीं शताब्दी में उद्योग-धन्धों में अभूतपूर्व उन्नति हुई, बड़ी मात्रा में

उत्पादन-कार्य बढ़ा और उसी मात्रा में पूँजी और व्यापार की उन्नति हुई। इस विकास ने मध्यम वर्ग की संख्या और महत्वाकांक्षा दोनों में वृद्धि की। इस वर्ग के अन्तर्गत व्यापारी, साहूकार, मिलों के मालिक, श्रेणियों के स्वामी, डाक्टर, वकील, शिक्षक और सरकारी नौकर आदि थे। यह वर्ग शिक्षित, समुन्नत, मेधावी और अध्यवसायी था। अर्थ, उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में सर्वशक्तिमान् यह वर्ग सम्मान और विशेषाधिकार में उच्च वर्गों के समकक्ष स्थान का इच्छुक था। वस्तुतः सरदारों या चर्च के पदाधिकारियों की भाँति राज्य या चर्च में ऊँचे-से ऊँचे पद और सम्मान की प्राप्ति अथवा उसके अभाव में निम्नवर्ग के सहयोग में इनके विनाश के लिये यह वर्ग कृत-संकल्प था। फ्रांस के अधिकांश विचारक, लेखक और दार्शनिक इसी वर्ग के थे जो असमानता पर आधारति देश की दूषित व्यवस्था के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक लोकमत तैयार कर रहे थे। इस वर्ग के 'उद्बुद्ध' लोगों की महत्वाकांक्षायें राजनीतिक थीं और वे देश की राजनीति राजकर एवं राजकोष पर नियंत्रण तथा जन-सत्ता के सिद्धांत के पोषक थे।

देश में शिल्पियों और मजदूरों की दशा बुरी थी। यह वर्ग अधिकारहीन तो था ही, पर साथ ही निर्धन और पराश्रित भी था। ये लोग मध्यम वर्ग के पूँजीपतियों और मिल-मालिकों की दशा पर अश्रित थे जो श्रेणियों और निगमों के संचालक थे और उनके द्वारा देश के उद्योग-धन्धों और व्यापार पर पूर्ण नियंत्रण रखते थे। फलतः कारीगरों, और उनसे भी बढ़कर मजदूरों की दशा अत्यधिक दयनीय थी।

देश के कृषक सबसे बुरी दशा में थे। इनकी संख्या प्रायः दो करोड़ थी, जिनमें दस लाख तो अर्द्ध-दास थे, पर शेष स्वतंत्र थे। इनके खेती के ढ़ंग पुराने समय से चले आ रहे थे, जिनमें साधारण उपज के लिये भी अत्यधिक परिश्रम अपेक्षित था। भूमि का तृतीयांश प्रतिवर्ष बेकार रहता था। जाड़ों में चारे के अभाव में जानवर मार डाले जाते थे, खाद का प्रयोग कम होता था। 'खुले-खेतों' की प्रथा थी जो उन्नति में घोर बाधक थीं। इस प्रकार किसानों की आय स्वयं अधिक न थी और उसके ऊपर करों का सारा भार उन्हीं के सिर पर था। पुरातन व्यवस्था के तीनों स्तम्भ-सरदार, पादरी और राजा-इसी के आधार पर खड़े थे। उन्हें जमींदार, चर्च और राजा को अनेक प्रकार के कर और उपहार देने पड़ते थे। दासों को निंधारित अन्न और मुर्गियाँ देने के अतिरिक्त सप्ताह में तीन दिन जमींदार के खेत में बेगार करनी पड़ती और स्वतंत्र किसानों को इसके बदले में धन देना पड़ता था। खेती की बिक्री का पंचमांश जमींदार का होता था। क़िसानों के मरने पर दूनाकर वसूल होता था। 'सैनिक रक्षा' के लिये भी, जिसकी अब आवश्यकता ही नहीं

रह गयी थी, किसानों को वार्षिक कर देना पड़ता था। उन्हें अपना अनाज जमींदार की चक्की में पिसाना पड़ता, अपना तेल उसके कोल्हू में परेना पड़ता, अपनी रोटी उसके तन्दूर से सेंकनी पड़ती और अपने जानवर का वध उसके बूचड़खाने में करना पड़ता था। इन सबके लिये उन्हें प्रायः मीलों जाना पड़ता और अपने समय तथा धन का निरर्थक व्यय करना होता था। उन्हें काल्पनिक अभियोगों के लिये अदालतों में हाजिर होना या सड़कों पर बेगार करनी होती थी। भूखे किसानों के खेतों में जमींदार का शिकार घुस आता, परन्तु वह न तो उसे निकाल सकता और न मार सकता था। इसके विपरीत शिकारी आते और उनकी आँखें के सामने उनकी खड़ी खेती रौंद दी जाती, परन्तु उन्हें चूँ तक करने का अधिकार न था। उन्हें चर्च को भी 'दशमांश' देना पड़ता था। उन कानूनों के निर्माण में उनका कोई हाथ न था जिनके तोड़नें पर उन्हें भारी जुर्माने या मृत्यु-दण्ड की सजा मिलती थी। उन करों के लगाने में उनसे कोई राय न ली जाती जिनका सर्वाधिक भार उन्हीं पर था।

आर्थिक व्यवस्था—अठारहवीं शताब्दी में अनेक खर्चीले युद्धों तथा दूसरे विभिन्न व्यय-साध्य कार्यों के कारण देश का आर्थिक संगठन शिथिल हो गया था। राज-परिवार की अपव्ययिता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि राज्य की आय का एक बड़ा भाग इस पर ही व्यय होता था। आमदनी का प्रायः आधा भाग राष्ट्रीय ऋण के ब्याज के रूप में चला जाता था। इसके ऊपर प्रतिवर्ष ऋण का बोझ बढ़ता ही जाता था। राष्ट्रीय आय और व्यय का सन्तुलन असम्भव न था, परन्तु इसके लिये राजस्व में मौलिक परिवर्तन अपेक्षित था और यही बात सम्भव होती हुई भी असम्भव हो रही थी। मध्यकाल से ही समाज की भाँति देश की आर्थिक व्यवस्था भी घोर असमानता और पक्षपात के दूषित सिद्धांत पर आश्रित थी। समय-समय पर अनेक अर्थ-मंत्रियों ने इस असमानता को दूर या कम करने की चेष्टा की, परन्तु आवश्यक परिवर्तनों से अप्रभावित उच्च वर्ग और राज्य, या दूसरे शब्दों में पुरातन व्यवस्था के तीनों स्तम्भ, उनकी सफलता में सदैव बाधक सिद्ध हुए।

देश में दो प्रकार के कर थे-प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष कर भूमि, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा आय पर लिये जाते थे। सरदार और पादरी वर्ग के लोग इनमें से कुछ करों से सर्वथा और अन्य से अंशतः मुक्त थे, क्योंकि उनके प्रभाव के कारण राजकर्मचारी उन पर नाममात्र का ही कर लगाया करते थे। परोक्ष करों से भी बचने का प्रायः सफल प्रयास किया करते थे। इस प्रकार वैभव सम्पन्न तथा कर देने में समर्थ उच्च वर्ग पर करों का

भार नहीं के बराबर था और जब कभी इन पर क़र बढ़ाने का प्रयत्न हुआ, एक वर्ग ने इसका घोर विरोध किया। यह कमी तृतीय वर्ग से, और विशेषतः किसानों से पूरी की जाती थी, जिससे उनके करों का बोझ उनके साधनों की सीमा पार कर गया था।

राजकरों में सर्वप्रधान भूमिकर (Taille) था। इसकी मात्रा तो निश्चित् न थी, परन्तु इसे किसानों के भूमि और गृह के मूल्य के अनुपात में ही समझा जाता था। व्यावहारिक रूप में कर-निर्धारण करने वाले राज-कर्मचारी जितना अधिक हो सकता था, करों की मात्रा निश्चित किया करते थे। दूसरी ओर चतुर किसान यह सोचकर, कि उनकी सम्पत्ति का अधिक मूल्यांकन न हो सके, अपने हाथों अपने मकान नष्ट कर निर्धन होने का स्वाँग किया करते थे। इस प्रकार क़र-निर्धारण के कारण प्रति वर्ष पर्याप्त मात्रा में राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट होती रहती थी। दूसरा प्रत्यक्ष कर अत्यन्त साधारण था जो सभी को देना पड़ता था। आय-कर आमदनी का बीसवाँ अंश था। प्रत्येक कर की वसूली ठेकेदार किया करते थे जो एक निश्चित रकम के बदले करों की वसूली का ठेका प्राप्त कर लिया करते और निरीह किसानों से कर के रूप में मनमाना धन वसूल किया करते थे। करों के संग्रह का यह नियम किसानों के लिए घोर दुःखदायी था।

परोक्ष करों में मुख्य नमक, शराब और तम्बाकू [illegible] लिये जाने वाले कर थे। नमक-कर (Gabelle) विशेष रूप से कष्ट-प्रद था। इसके व्यापार का एकाधिकार एक कंपनी को प्राप्त था और नियमानुसार सात वर्ष और उससे अधिक अवस्था वाले प्रत्येक व्यक्ति को खाने के लिये वर्ष भर में सात पौंड नमक अवश्य खरीदना पड़ता था जो दसगुना अधिक मूल्य पर बिकता था। इसके अतिरिक्त पुशुओं को खिलाने या अन्य कामों के लिए उन्हें अतिरिक्त नमक खरीदना पड़ता था। जो व्यक्ति नियमित मात्रा में नमक का क्रय नहीं करता उसे, तथा अनियमित ढ़ंग पर नमक का व्यापार करने वालों को, राज्य से कठोर दण्ड मिलता था। सड़कों का निर्माण या जीर्णोद्वार किसानों का उत्तरदायित्व था जिसे सड़क-कर (Corvee) कहते थे। इसकेअनुसार प्रत्येक किसान को इस कार्य में साल में अनेक सप्ताह बेगार देनी पड़ती थी। इन सारे करों के भुगतान में किसानों को अपनी आय का प्रायः 80 प्रतिशत देना पड़ जाता था और अपने भरण-पोषण के लिये जो अल्पांश शेष रहता उसी पर उसे सन्तोष करना पड़ता था। भूखे किसानों को मांस या दूसरे स्वादिष्ट पदार्थ तो प्रायः अलभ्य थे, उन्हें अपने पेट की क्षुधा शान्त करने के लिये फल-फूल का आश्रय लेना पड़ता और अकाल में तो हजारों काल के गाल हो जाते थे। बिना खिड़कियों के चूने वाली छतों से युक्त एक कमरे के मकान उनके निवास स्थान थे। इस

प्रकार सर्वथा पीड़ित और आर्त किसानों के ऊपर ही राजाओं के युद्धों, राज-प्रसादों तथा दरबार की शान-शौकत और सजावट का गुरुतर भार था। जो सम्पन्न थे वे तो कुछ नहीं या नहीं के बराबर ही कर देते थे। राजस्व के असमान और पक्षपातपूर्ण वितरण की इस नीति के परिणामस्वरूप सर्व-साधारण जनता तो दुखी और असन्तुष्ट थी ही, साथ ही राज-कोष में राष्ट्रीय आय का उचित अंश भी नहीं संगृहीत हो पाता था। राज्य की आर्थिक कठिनाइयों का यह प्रधान कारण था।

राज्य की व्यापार-नीति भी उसकी उन्नति के लिये घातक थी। वस्तुओं के उत्पादन और वितरण पर मध्यकाल से चली आ रही श्रेणियों के नियंत्रण थे। देश के भीतर विभिन्न भागों में वस्तुओं के ले जाने पर प्रत्येक प्रान्त की सीमा पर चुंगी देनी पड़ती थी जिसके फलस्वरूप उनका मूल्य अधिक बढ़ जाता था। इन नियंत्रणों के कारण न तो राज्य में पूर्ण रूप से वस्तुओं का उत्पादन हो जाता था और न व्यापार में ही विशेष उन्नति हो पाती थी। उद्योग और व्यापार सम्बन्धी राज्य की यह नीति चारों ओर कटु आलोचना का विषय थी और इससे राष्ट्रीय सम्पत्ति का पूर्ण विकास सर्वथा अवरुद्ध था।

अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम का प्रभाव— इसी समय अमेरिका ने इंगलैंड के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता का युद्ध (1776-83 ई०) छेड़ दिया जिसमें अपनी पराजय का बदला लेने के निमित्त फ्रांस ने इंगलैण्ड के विरुद्ध अमरीकी उपनिवेशों का साथ दिया। अमेरिका को सफलता मिली और वह स्वतंत्र हो गया। उधर फ्रांस ने भी अपनी पराजय का प्रतिशोध लिया, परन्तु उसकी यह नीति शासन के लिये घोर अहितकर सिद्ध हुई। राष्ट्र का आर्थिक जीवन पहले से ही छिन्न-भिन्न था, इस युद्ध के कारण उसकी दशा और भी बिगड़ गयी। अपरिमित धन व्यय हुआ, परन्तु उससे देश का कोई लाभ न हुआ। दूसरी ओर फ्रांस के सैनिकों ने अमरीकी लोगों को अत्याचार के विरुद्ध कर मुक्ति पाते तथा अपने ही देश के विचारकों के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करते देखा था। उन पर इस युद्ध का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। अतः इस नवीन चेतना से अनुप्राणित होकर वे घर लौटे और अपने देशवासियों को उन्होंने इसका संदेश सुनाया। इस अभिनव सन्देश ने उनकी सुप्त भावना को जागृत और अद्बुद्ध किया जिससे उनमें भी देश के निरंकुश शासन का अन्त करके एक नवीन राष्ट्र के निर्माण के निमित्त पर्याप्त शक्ति, साहस और उत्साह का संचार हुआ। इस प्रकार फ्रांस की 'पुरातन व्यवस्था' पर अमरीकी स्वातंत्र्य-संग्राम की सफलता का आघात सांघातिक सिद्ध हुआ और निकट क्षितिज पर क्रांति की रूप-रेखा स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, फ्रांस में चारों ओर पक्षपात, असमानता, अन्याय और अत्याचार का प्राबल्य था। इससे देश में घोर असन्तोष था जो मौन नहीं, अपितु पूर्णतः मुखरित था। इसके पूर्व लोगों का यह विश्वास था कि ईश्वर ने जिसे जिस स्थिति में उत्पन्न किया है उसमें ही उसे सन्तोष करना चाहिये। परन्तु फ्रांस के अठारहवीं शताब्दी के विचारकों और लेखकों ने इस अन्ध-विश्वास पर आश्रित मध्यकालीन मनोवृत्ति को गहरा धक्का देकर अपने अधिकारों के प्रति सर्वसाधारण की उदासीनता को दूर कर दिया जिससे उनमें नवीन चेतना एवं नवस्फूर्ति दृष्टिगोचर होने लगी। अतः इस जीर्ण-शीर्ण और पुरातन व्यवस्था के स्थान पर फ्रांस में नव-निर्माण का संदेश वहन करने वाली तत्कालीन दार्शनिक विचारधारा का परिचय आवश्यक है।

बौद्धिक क्रान्ति

विश्व-इतिहास के शायद ही किसी काल में लेखकों ने मानव-विचार और कार्यों को इतना अधिक प्रभावित किया हो जितना उन्होंने 18वीं शताब्दी मेंयूरोप को और विशेषकर फ्रांस को प्रभावित किया। यह आन्दोलन अत्यन्त व्यापक और विस्तृत था। विज्ञान, साहित्य, धर्म, समाज ओर राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने जो नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया उसे क्रान्ति की संज्ञा दी जा सकती है। उन्होंने सरकार के दैवी रूप, समाज की घोर असमानता, धार्मिक असहिष्णुता और आर्थिक नियंत्रण की तीक्ष्ण आलोचना की। इस शताब्दी में विज्ञान ने विचारों को पूर्णतः प्रभावित किया वह सुख का निश्चित मार्ग और मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी शक्ति समझा जाने लगा। शिक्षा, शासन-पद्धति, धर्म और नैतिकता का औचित्य तर्क के आधार पर स्थिर किया गया। इन लेखकों ने शताब्दियों यसे प्रतिष्ठित मान्यताओं को अपदस्थ कर अधिकार, अत्याचार और अंधविश्वास पर आधारित संस्थाओं और विचारों की श्रृंखला से मानव-मस्तिष्क को उन्मुक्त किया। उन्होंने शासक-वर्ग से अत्याचार और असहिष्णुता को दूर करने की अपील की। इसमें सन्देह नहीं कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रेडेरिक महान्, कैथेरीन द्वितीय और जोसेफ द्वितीय आदि शासक अनेक विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ थे। 1768 ई० में विश्वकोश के सम्पादक दीदरों (Diderot)ने कहा 'यूरोप में कोई भी ऐसा राजकुमार नहीं जो दार्शनिक न हो'।

क्रान्ति की विशेषतायें—यद्यपि 18वीं शताब्दी के लेखकों के विचारों में एक रूपता का अभाव था, किन्तु पर्याप्त बातों में समानता भी परिलक्षित होती है। प्रथम तो प्रायः सभी प्रचलिज व्यवस्था के विरोधी तथा चर्च और तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के

दोषों को दूर करने के समर्थक थे। इस आन्दोलन की दूसरी विशेषता उनका मानव हितवादी दृष्टिकोण है। उन्हें इस दृष्टि से जो व्यवस्था अनुचित और अन्यायपूर्ण जान पड़ी उसके सुधार की आवश्यकता पर उन्होंने जोर दिया। इस आधार पर विचारकों ने धार्मिक असहिष्णुता, न्यायालयों की कार्य-विधि में यंत्रणाओं के प्रयोग और कठोर दंड की व्यवस्था की निन्दा की। कानूनों की असमानता की ओर संभवत: उनका ध्यान बहुत अधिक गया। 1764 ई० में इटली के एक प्रसिद्ध लेखक बेकारिया (Beccaria) ने यंत्रणाओं और कठोर दंडों की कड़ी आलोचना की। वह मृत्यु-दंड तक के हटाने के पक्ष में था। उसके शब्दों में, दंड की निश्चयता से जितनी सफलता के साथ अपराधों का निवारण हो सकता है उतनी उनकी कठोरता से नहीं। इस युग की तीसरी विशेषता विचारकों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। मध्यकालीन यूरोप में भौतिक, रसायन, चिकित्सा और ज्योतिष शास्त्रों का अध्ययन अत्यन्त उपेक्षित दशा में था। तत्कालीन धार्मिक वातावरण प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में प्रवेश कर उसकी विभिन्न बातों की आनुसंधानिक प्रवृत्ति के अनुकूल न था। 18वीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने बताया कि प्रकृति एक ऐसी विस्तृत एवं जटिल, किन्तु सुन्दर, मशीन है जो शाश्वत और अपरिवर्तनीय नियमों से संचालित होती है और यदि मनुष्य उसका अध्ययन कर उसके रहस्यों का पता लगा ले तो वह दुष्परिणामों से बच सकता है और अपने भाग्य का निर्माता हो सकता है। बुद्धिवाद की चौथी विशेषता दार्शनिकों का विशाल दृष्टिकोण है। वे शान्तिवादी एवं विश्ववादी थे। उन्होंने युद्ध के स्थान पर शान्ति और संकीर्ण राष्ट्रीयता के स्थान पर विश्ववादिता का समर्थन किया। वे सोचते थे कि हमने ऐसे सामान्य नियमों का पता लगा लिया है जो संपूर्ण मानवमात्र के लिये लागू हो सकते हैं। निस्संदेह ऐसे दार्शनिकों को अपने को विश्व-नागरिक समझना स्वाभाविक था। इस बुद्धिवादी युग का प्रतिनिधि वाल्तेर विश्ववाद का समर्थक था। उसने कहा कि 'दुःख की बात है कि अच्छा राष्ट्रप्रेमी होने पर प्राय: लोग अवशिष्ट मानव-जगत् के शत्रु हो जाते हैं।' इस स्कूल के विचारकों ने मानव-अधिकार की प्राप्ति के आन्दोलनों में काफी दिलचस्पी दिखाई। बुद्धिवाद की पाँचवीं विशेषता तर्क का अत्यधिक महत्व है। बुद्धि का प्रयोग प्रकृति के नियमों के अनुसंधान में किया गया और उनके अनुसार व्यक्ति को कार्य करना आवश्यक बताया गया। दार्शनिकों का कहना था कि तर्क के प्रयोग और प्राकृतिक नियमों के पालन से ही मानव- समाज की शीघ्र उन्नति और अन्तिम पूर्णता संभव है।

विश्वकोश-अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद का धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी बातों पर गहरा प्रभाव पड़ा। तत्कालीन फ्रांस के दार्शनिकों ने ज्ञान के विभिन्न अंगों पर अपने विचार विश्कोश (1751-72 ई०) में व्यक्त किये। सत्रह जिल्दों में(प्रत्येक दो स्तंभों के लगभग 900 पृष्ठों में) इस कोश का निर्माण विविध विषयों की जानकारी कराने और जनमत का मार्ग प्रदर्शन कराने केउद्देश्यसे किया गया था। इस विश्वकोश का रूपान्तर प्रायः सभी यूरोपीय भाषाओं में हुआ। फलतः फ्रांसीसी लेखकों द्वारा प्रतिपादित नये दर्शन और विज्ञान का प्रचार अन्य देशों में हुआ। इससे पुरातन व्यवस्था के आलोचकों की पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई। लेखकों ने प्रचलित संस्थाओं, विश्वास, अन्याय, करों की असमानता, युद्ध, न्याय संबंधी भ्रष्टाचार और प्राधिकार पर आधारित विचारों की आलोचना की। मानव-स्वतंत्रता, धार्मिक तथा राजनीतिक बुराइयों का अन्त, विज्ञान और तर्क की श्रेष्ठता, उनके विचारों के प्रधान विषय थे। उनका कथन था कि विज्ञान और सहिष्णुता ने मनुष्य को धर्मिक सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक सुखी बनाया है। दीदरों ने बताया कि ज्ञान से ही नैतिकता और सुख की प्राप्ति होती है।

विश्वकोण का प्रकाशन 1751 ई० में प्रारम्भ हुआ और एक साल के बाद ही फ्रांस की सरकार ने उसको बन्द करने की आज्ञा निकाली, परन्तु कुछ समय के पश्चात् उसके प्रकाशन का कार्य पुनः आरम्भ हो गया। 1759 ई० में लेखकों की आलोचना से डरकर सरकार ने फिर इसका प्रकाशन बन्द कर दिया, परन्तु गुप्त रीति से यह कार्य चलता रहा। विश्वकोश के संपादक दीदरो ने अनेक कष्ट सहकर बड़े परिश्रम से कार्य जारी रखा। उसके सहयोगी दालॉबैर (D' Alembert) ने सरकारी नृशंसता और दमन से ऊबकर 1759 ई० में कोश से अपना संबंध त्याग दिया। तुर्गो (Turgot) ने भी लेख भेजना बन्द कर दिया। ऐसी कठिनाइयों में भी, जब पुलिस का सदा भय रहता था, दीदरो ने साहस न छोड़ा। उसने स्वयं सैकड़ों लेख लिखे, जो उच्च और साधारण दोनों ही कोटि के थे। कहते हैं कि इस कार्य के लिये उसको केवल 120 पौंड औसत वार्षिक वेतन मिला। इतने कम वेतन पर और ऐसी परिस्थिति में कार्य करना दीदरो के साहस, परिश्रम और कर्त्तव्य-निष्ठा का द्योतक है। अपनी लड़की के दहेज के लिये उसे अपना पुस्तकालय तक बेचना पड़ा जिसे रूस कीजारिना कैथेरीन द्वितीय ने एक हजार पौंड में खरीदा।

विश्वकोश के लिये गणित, विज्ञान, समाज-शास्त्र और दर्शन आदि विषयों के जिन तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों ने लेख लिखे उनमें दीदरों, दालॉबैर, तुर्गों, बोल्तेर, रूसो

(केवल प्रारम्भ) में और मीराबो (क्रान्तिकालीन मीराबो का पिता) आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। द्रीदरो ने फ्रांस के श्रेष्ठ लेखकों का सहयोग प्राप्त कर एक विशालकाय साहित्य का भवन खड़ा किया। विश्वकोश के सभी लेख समान योग्यता के नहीं हैं-कुछ तो अत्यन्त उच्च कोटि के हैं, पर अधिकांश साधारण श्रेणी के। प्राचारार्थ लिखे जाने के कारण भी उनमें शब्दाडम्बर का अधिक्य और शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव दिखाई देता है। दार्शनिकों को जो बातें प्रिय थी उनकी उन्होंने प्रशंसा की और जो अप्रिय थीं उनकी निन्दा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी लेख पक्षपातपूर्ण हैं। दीदरो ने भरसक यह प्रयत्न किया किसामान्य जानकारी के हेतु यह प्रयास यह प्रयास निष्पक्ष ढंग पर हो। अनेक अपूर्णताओं के बावजूद भी तत्कालीन ज्ञान से सम्बद्ध और विस्तृत रूप में यह विश्वकोश अत्यन्त महत्व का है।

विश्वकोशकार धर्म के मामले में प्रायः ईश्वरवाद (Deism) में विश्वास करते थे। वे विज्ञान द्वारा-न चर्च और बाइबिल से-उन शाश्वत नियमों का, जिनसे संसार का कार्य चलता है, पता लगाने के पक्ष में थे। राजनीतिक क्षेत्र में वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समर्थक और राजा के हाथ में शक्ति के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनके मत में ब्रिटेन, जहाँ राजा की शक्ति सीमित थी, श्रेष्ठ सरकार का एक उत्कृष्ट नमूना था। आर्थिक क्षेत्र में वे सामन्तीय प्रणाली और व्यापारिक नियंत्रणों के विरुद्ध थे।

ईश्वरवाद—बुद्धिवाद युग का धार्मिक रूप ईश्वरवाद के रूप में प्रकट हुआ। ईसाई धर्म के प्रति संदेहात्मक प्रवृत्ति पहले इंगलैंड में प्रारम्भ हुई। दार्शनिक लॉक और वैज्ञानिक न्यूटन के विचारों से इस आन्दोलन को प्रेरणा प्राप्त हुई। यद्यपि उनके मतावलंबी ईसाई धर्म का अन्त नहीं चाहते थे, परन्तु उसके सम्बन्ध में उनके विचार निःसन्देह क्रांतिकारी थे। उन्होंने अनेक परम्परागत विचारों को, जैसे ईसा मसीह का दैवत्व, चर्च के दैवी अधिकार, चमत्कार, बाइबिल की ईश्वरीय प्रेरणा आदि को अस्वीकार कर दिया। वे ईश्वर की उपसना के लिए चर्च इत्यादि बाह्य प्रसाधनों को अनावश्यक समझते थे। 18वीं शताब्दी में उच्च वर्ग और राजनीतिज्ञों पर इस आन्दोन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध कवि पोप ने लिखा कि मानव-जगत का उचित अध्ययन मनुष्य है।

बुद्धिवादियों ने ईश्वर को महान् सृष्टा स्वीकार किया, परन्तु वे दैवी प्रकाशन, चमत्कार और भविष्यवाणी में विश्वास नहीं करते थे। उनके मतानुसार इन बातों का उस ईश्वर के साथ सामंजस्य नहीं होता जो सार्वभौम नियमों के अनुसार चलने वाली

विश्व-मशीन का निर्माता है। उन्होंने एक ऐसे निगूढ़ ईश्वर की कल्पना की जो बुद्धिग्राह्य है, परन्तु धार्मिक भावुकता को जागृत नहीं करता। वस्तुओं की सृष्टि कर वह उन नैसर्गिक नियमों से बद्ध हो जाता है जिन्हें वह मानव और भौतिक जगत् के लिये निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में ईश्वर का रूप बहुत-कुछ एक वैधानिक राजा की तरह है जो प्राकृतिक जगत् के संचालन में हस्तक्षेप नहीं करता। बुद्धिवादियों के मत में लोगों का विचार, कि ईश्वर पायी को भूकंप, प्रचंड आँधी आदि के द्वारा दंड देता है, मूर्खतापूर्ण है। ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसा विचार रखने के कारण ईश्वरवाद को अनुपस्थिति ईश्वर का सिद्धांत कहा गया है। इस मत के अनुयायी प्रकृति के ईश्वर में विश्वास करते थे, परन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार कर अपने को नास्तिक घोषित किया।

ईश्वरवाद बुद्धिवाद की उपज था। इसने धार्मिक सहिष्णुता, मौलिक सद्‌गुणों और संयम पर बड़ा जोर दिया। बुद्धि पर आश्रित होने के कारण यह मनुष्य को अपनी शक्ति में विश्वास उत्पन्न करने में काफी सहायक हुआ। दार्शनिकों की दृष्टि में मनुष्य ऐसा असहाय व्यक्ति नहीं जिसकी रक्षा के लिये ईश्वरीय कृपा की आवश्यकता हो। वह अपनें जीवन का स्वयं निर्माता है और बुद्धि द्वारा अपना सुधार कर सकता है। इस प्रकार बुद्धिवाद ने धर्म के कुछ मौलिक गुणों की संवृद्धि की और लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, परन्तु साथ ही इसने प्रचलित धर्म के प्रति शिक्षित वर्ग में अनादर और संदेह की भावना को भी बल प्रदान किया।

धार्मिक क्षेत्र में बौद्धिक क्रान्ति का प्रभाव काफी स्पष्ट था। यद्यपि विद्या के पुर्नजागरण और धर्म-सुधार ने मध्यकालीन चर्च के एकता और शक्ति के ऊपर गहरा आघात किया था, किन्तु इसके साथ ही सोलहवीं शताब्दी और सत्रहवीं के पूर्वार्द्ध में धार्मिक असहिष्णुता के कारण यूरोप का इतिहास शक्त-रंचित हो गया था। आवश्यकता इस बात की थी कि किस प्रकार यूरोपीय जीवन में सहिष्णुता की भावना का सन्निवेश हो। इस दृष्टि से निःसन्देह बौद्धिक आन्दोलन ने एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की। असहिष्णुता का स्थान सहिष्णुता ने लिया और संकीर्णता का विशालता ने। धर्म के इस सहिष्णु वातावरण में कैथलिक चर्च का एक प्रबल स्तम्भ जैसूइट संघ अपनी रक्षा करने में असम रहा। यहाँ तक कि स्पेन और पुर्तगाल ऐसे कैथलिक देशों में भी उसका दमन किया गया गया। 1773 ई० में पोप को भी बाध्य होकर अपने एक आदेश द्वारा इसे भंग करना, पड़ा, परन्तु 1814 ई० में फ्रांस की क्रांति की असफलता-जन्य स्थिति में उसने फिर संघ को अपनी स्वीकृति प्रदान की।

आर्थिक विचार—फ्रांस के जिन विद्वानों ने आर्थिक विषयों पर विचार प्रकट किये उनमें केने (Quesnay), तुर्गो और मीराबों के नाम प्रसिद्ध है। इन विचारकों का विश्वास था कि धन का एकमात्र स्रोत प्रकृति (ग्रीक में Physis) है और इसलिए वे 'फिजियोक्रैट्स' (Physiocrats) के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने कृषि, वन और खनिज पदार्थ को धन का प्रधान साधन बताया। केने ने समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया-किसान जो धन का उत्पादन करते हैं, भूमि के मालिक और कारीगर तथा व्यापारी वर्ग। उसका कथन था कि व्यापार से राष्ट्र के धन में वास्तविक वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उद्योगों में केवल प्रस्तुत वस्तुओं के रूप का परिवर्तन होता है। इन लेखकों का विचार था कि राज्य की सारी आवश्यकताएँ केवल भूमि-कर से पूर्ण हो सकती हैं। वे किसानों की दशा में सुधार के समर्थक थे, क्योंकि निर्धन किसानों से राज्य निर्धन होता है। इस प्रकार उन्होंने कृषि को सर्वाधिक महत्व दिया और व्यापार को गौण बताया।

अठारहवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने समाज में एक एक 'प्राकृतिक व्यवस्था' की कल्पना की जिसमें नियंत्रणों की परिधि बहुत ही छोटी रखी गयी। यह सिद्धांत, जो मुक्त व्यापार (laissez faire) के नाम से प्रसिद्ध है, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी से प्रचलित रक्षण की नीति-जो गलत धारणा पर स्थित थी-के विरुद्ध प्रतिष्ठित किया गया। इन लेखकों का कहना था कि राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में ही व्यक्ति आत्म-निर्भर होकर धन की अधिकतम वृद्धि कर सकता है। उसके अनुसार राज्य के कार्य सम्पत्ति-अधिकार की रक्षा और स्वतंत्रता कायम रखने तक सीमित रहना चाहिये।

जो बातें फ्रांसीसी लेखकों ने अस्पष्ट ढंग से कही थीं, उन्हें प्रसिद्ध विद्वान ऐडम स्मिथ ने अपने ग्रन्थ 'राष्ट्रों का धन' (Wealth of Nations, 1776 ई०) में सुसम्बद्ध और स्पष्ट रूप में व्यक्ति किया। वह मुक्त व्यापार का जोरदार समर्थक था, परन्तु धन के सम्बन्ध में उसके विचार फ्रांसीसी लेखकों से भिन्न थे। उसके मतानुसार श्रम, न कि भूमि, धन का मूल साधन है।

फ्रांसीसी लेखकों का यह मत कि भूमि-कर राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। भूमि धन के साधनों में केवल एक साधन है और कोई एक कर राज्य के लिये सर्वथा अपर्याप्त है। दूसरे, उनका यह विचार, कि व्यापारिक उत्पादन मात्रा में उतना ही होता है जितना उसमें कच्चा माल लगता है, बिल्कुल अपूर्ण और अधूरा है। इन दोषों के बावजूद उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने कृषि के महत्व और स्वतंत्र व्यापार की आवश्यकता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। व्यापारिकक्षेत्र में रक्षण-नीति के प्रबल्य का खंडन अत्यावश्यक था।

बौद्धिक क्रांति की कुछ दुर्बलतायें—इस काल के अधिकांश लेखकों की कृतियों में कल्पानात्मक बातों का आधिक्य और ऐतिहासिकता का अभाव है। उनकी आलोचनाओं का विनाशात्मक रूप जितना प्रबल है उतना उनके द्वारा प्रतिपादित विकल्पों का रचनात्मक रूप नहीं। इसका कारण यह है कि दार्शनिकों ने समाज के नव-निर्माण में जितनी रुचि दिखाई उतनी दार्शनिक सूक्ष्मता के विश्लेषण में नहीं। अनेक फ्रांसीसी लेखक ब्रिटेन की शासन-प्रणाली की श्रेष्ठता से प्रभावित हुए थे और कुछ हद तक उस प्रकार की संस्थायें अपने देश में भी स्थापित करना चाहते थे। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि जिस व्यवस्था के वे इतने प्रशंसक थे उसका ठीक ज्ञान उन्हें नहीं था। दूसरे, इन लेखकों में राजनीतिक शिक्षा और वास्तविक अनुभव का काफी अभाव था। उन्होंने अपने देश की शासन-प्रणाली को बहुत-कुछ दूर से देखा था। अत: समाज और सरकार के पुनर्निर्माण की उनकी योजनाओं में रचनात्मक और व्यावहारिक सुझावों का अभाव है। तीसरे, उनका कथन था कि जैसे प्रकृति के कार्य निश्चित और विचारयुक्त नियमों के अनुसार चलते हैं वैसे ही मानव-समाज का भी रूप है। वे समझते थे कि समाज की नवीन समाज की स्थापना सन्निकट है, क्योंकि उन्होंने भौतिक विज्ञान के अनुसन्धान का सफल तरीका ढूँढ़ लिया है। परन्तु उनका यह निष्कर्ष सही नहीं था, क्योंकि भौतिक विज्ञान की पद्धति उतनी ही सफलता के साथ समाज-विज्ञान के क्षेत्र में कार्यान्वित नहीं हो सकती। वास्तव में उन्हें मानव-सुख के मार्ग की बाधाओं की भयंकारता का अंदाजा नहीं था।

क्रान्ति की देन—यद्यपि दार्शनिकों की आलोचना का निषेधात्मक रूप बड़ा प्रबल था, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि उनके उद्देश्य रचनात्मक नहीं थे। उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्रता और समानता का जो आदर्श प्रस्तुत किया वे आज अनेक देशों में स्वीकृत हो गये हैं।उनके द्वारा प्रतिपादित समानता का सिद्धान्त सामाजिक व्यवस्था के लिये नि:सन्देह काफी व्यावहारिक है, क्योंकि इसकी अस्वीकृति का विकल्प कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा बहुसंख्यकों पर अत्याचार है। यद्यपि उन्होंने चर्च के सिद्धान्तों पर गहरा प्रहार किया, परन्तु वे व्यक्ति के गौरव एवं पूर्णता में दृढ़ विश्वास रखते थे। यूरोप के समझदार लोगों का विश्वास हो गया कि यदि पुरातन व्यवस्था की बुराइयाँ दूर हो जायँ तो मनुष्य उन्नति कर सकता है। दीदरो ने कहा—'यदि कानून अच्छे हैं तो आचार भी अच्छा है। दार्शनिकों का यह कथन यथार्थ है कि कोई भी विचार, धार्मिक अथवा लौकिक, तभी स्वीकृत होना चाहिये जब वह तर्क और प्रमाण के आधार पर सत्य सिद्ध

हो। वे लोग, जो राजनीतिक और आंध्यात्मिक क्षेत्र में अन्तिम सत्य की ज्ञान-प्राप्ति का दावा करते हैं, समाज के लिये निःसन्देह अत्यन्त खतरनाक होते हैं। यह ठीक है कि तत्कालीन फ्रांस में शिक्षा का प्रसार सीमित होने के कारण इन दार्शनिक विचारों से उच्च और मध्यम वर्गों के लोग अधिक प्रभावित हुए, किन्तु विचार एक बार उन्मुक्त होकर निर्धारित परिधि के भीतर बद्ध नहीं रह सकते थे। प्रचलित धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना तथा नवीन युग के आगमन की अस्पष्ट किन्तु मधुर आशा-सम्बन्धी विचारों का समस्त वर्गों में व्यापक प्रसार पूर्ण स्वभाविक था।

फ्रांस के कुछ प्रमुख लेखक

मोंतेस्क्यू (Montesquieu, 1689-1755 ई०)—कानून और राजनीतिक विषयों पर प्रभावोंत्पादक और मौलिक विचार प्रस्तुत करने वाले लेखकों में मोंतेस्क्यू का स्थान बहुत ऊँचा है। वह 1689 ई० में बोर्दो के समीप एक उच्च कुल में पैदा हुआ था। जीवन के साधारण कष्ट और चिन्ताओं से वह बिल्कुल मुक्त रहा। 1716 ई० में वह बोर्दो की पार्लिमेंट का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। उसने काफी भ्रमण भी किया। इंग्लैंड से लौटकर अपना अनुभव बातते हुए उसने लिखा कि 'सीमित राजतंत्र होने के कारण वह संसार का सबसे स्वतंत्र देश है।' विचार और दृष्टिकोण में मोंतेस्क्यू क्रानितकारी नहीं थी। उसने चर्च और राज्य की निरंकुशता के दोषों की आलोचना संयत ढंग पर की उसके 'परशियन पत्रों' (Persian Letters) में-जो गुप्त नाम से 1721 ई० में प्रकाशित हुए थे तत्कालीन फ्रांस की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक दुर्बलताओं पर व्यंग्य है। उनमें यूरोप में भ्रमण करने वाले दो काल्पनिक ईरानी यात्रियों के पर्यवेक्षण का विवरण है। 1748 ई० में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'कानूनों का तत्व' (The Spirit of the Laws) प्रकाशित हुई। इसकी लोकप्रियता का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि अठारह माह में इसके बाईस संस्करण निकले। इस ग्रन्थ में शासन-प्रणाली के सिद्धान्त तथा कानून और संविधान के विकास का विश्लेषण है। मोंतेस्क्यू के निष्कर्ष ऐतिहासिक तथ्यों के वैज्ञानिक अध्ययन पर अवलंबित हैं। विचार और विषय-निरूपण की पद्धति, दोनों की दृष्टि से यह ग्रन्थ राज्य-शास्त्र के प्रति एक अमूल्य देन है। मौलिकता, सुस्पष्टता और व्यपकता से संपुष्ट इस ग्रन्थ की गणना अठारहवीं शताब्दी के महान् ग्रन्थों में की गयी है।

राज्य-व्यवस्था केसम्बन्ध में मोंतेस्क्यू शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का समर्थक था। उसका कथन था कि सरकारी अत्याचार को रोकने के लिये कार्यपालिका, विधान-सभा और न्यायपालिका के कार्य पृथक्-पृथक् होने चाहिये, क्योंकि शक्ति का केन्द्रीकरण

अत्याचार का द्वार उन्मुक्त करता है। वह इंगलैंड की शासन-प्रणाली से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसके मत मे वहाँ की स्वतंत्रता सरकार के विभिन्न अंगों को निश्चित कार्य-परिधि में रखने से ही संभव हुई थी। परन्तु स्मरण रहे कि मौंतेस्क्यू का ब्रिटिश विधान-सम्बन्धी ज्ञान दोषपूर्ण था, क्योंकि वहाँ की कैबिनेट-प्रणाली शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल थी। परन्तु इस दोषपूर्ण पर्यवेक्षण से मौंतेस्क्यू के मूल विचारों का सैद्धान्तिक आधार निर्बल नहीं होता। स्वतंत्रता की रक्षा के लिये शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त की आवश्यकता निर्विवाद है। मानव-इतिहास के अध्ययन के आधार पर उसने यह भी बताया कि सभी राष्ट्रों के लिये किसी एक प्रकार की आदर्श शासन-प्रणाली उपयुक्त नहीं हो सकती। उसके मतानुसार प्राकृतिक स्थिति और मानसिक विशेषताओं के आधार पर ही किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो सकती है। मौंतेस्क्यू का शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त 1787 ई० में अमेरिका के संविधान में अपनाया गया। 1791ई० में फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने भी इस सिद्धान्त के अनुसार एक सांविधानिक योजना तैयार की।

वोल्तेर (1694-1778 ई०)—लोकप्रियता और प्रभाव की दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी के लेखकों में बोल्तेर का स्थान शीर्षस्थ है। वह इस शताब्दी के बुद्धिवाद का प्रतिनिधि था जिसके प्रचार में उसका प्रमुख हाथ रहा। उसका जन्म 1694 ई० में हुआ था और वह अपने माँ-बाप की पाँचवी सन्तान था। सात वर्ष की अल्पावस्था में ही उसकी माता की मृत्यु हो गयी। उसकी शिक्षा जेसूइटों द्वारा संचालित एक कालेज में हुई। अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उसने साहित्यिक जीवन को वरण किया। 1717 ई० में रीजेण्ट ओर्लेआँ पर आपत्तिजनक लेख लिखने के संदेह में उसे बस्तीय के कारागार में कुछ समय तक रहना पड़ा। 1726 ई० में एक उच्चवर्गीय व्यक्ति को द्वन्द्व की चुनौती देने के कारण उसको फिर बस्तीय में जाना पड़ा, परन्तु उसकी प्रार्थना पर इंगलैंड में उसका निष्कासन कर दिया गया। तीन वर्ष (1726-29 ई०) के बाद जब वह लौटा तो उसने अपने पत्रों में लिखा कि इंगलैंड ही ऐसा देश है जहाँ स्वतंत्र भाषण, लेख और धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार सबको प्राप्त हैं, जहाँ राज्य मनमाना कर नहीं लगाता, और जहाँ लोग राजा की शक्ति नियन्त्रित करने में सफल हुए हैं।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बोल्तेर यूरोप के सर्वाधिक सम्मानित व्यक्तियों में था। दो वर्ष (1751-53) तक वह प्रशा में फ्रेडेरिक द्वितीय के शिक्षक के रूप में रहा, परन्तु व्यवहार-कुशलता की कमी और अन्य कारणों से उसे प्रशा छोड़ना पड़ा। उसके

प्रशंसकों में रूस की जारिना कैथेरीन द्वितीय और आस्ट्रिया के जोसेफ द्वितीय के नाम प्रसिद्ध हैं। उसने अ..नी शैली और अत्यन्त व्यापक साहित्य-सेवा से अपने जीवन-काल में ही यूरोप के स..ा देशों में अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनकी स्पष्ट, सुबोध और व्यंग्यात्मक शैली का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ता है। वास्तव में उसके व्यापक प्रभाव और लोकप्रियता में उसकी शैली का विशेष हाथ है।

नाटक, काव्य, दर्शन, इतिहास और उपन्यास पर बोल्तेर के लिखे हुए ग्रन्थों की संख्या लगभग एक ही है, परन्तु उसकी अधिकांश रचनाओं में मौलिकता और गांभीर्य का अभाव है। वास्तव में लेखक के रूप में उसका कार्य मुख्यतः आलोचनात्मक था, अतः उसके ग्रन्थों में रचनात्मक योजनाओं का अभाव दिखायी देता है। उदाहरणार्थ, वह ब्रिटिश स्वतंत्रता का प्रशंसक था, परन्तु फ्रांस में उसे कैसे स्थापित किया जाए यह बतलाने में वह असमर्थ रहा। ऐतिहासिक अध्ययन के प्रति उसकी देन निस्संदेह अमूल्य है। सांस्कृतिक तथा सामाजिक वास्तविकताओं पर जोर देकर उसने इतिहास का क्षेत्र काफी व्यापक बनाया। उसका 'लुई चुतुर्दश का युग' नामक ग्रन्थ दोषपूर्ण होने पर भी इस व्यापक ऐतिहासिक दृष्टिकोण का एक अच्छा नमूना है।

बोल्तेर विचार, भाषण, लेख और कार्य की स्वतंत्रता का समर्थक था। वह स्वतंत्रता को सब रोगों की एकमात्र दवा और उन्नति का प्रधान साधन समझता था। इस आधार पर, लोकतंत्रवादी न होने पर भी, उसके फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था के भ्रष्टाचार और दुर्बलताओं की आलाचना की। वह दास-वृत्ति और सामन्तीय अधिकारों का कट्ट्र विरोधी था। परन्तु जो संस्था उसके प्रहारों का प्रधान लक्ष्य बनी वह था चर्च। वोल्तेर चर्च को रूढ़िवादिता,मध्यकालीनता और असहिष्णुता का प्रतीक तथा प्रगति का शुत्र समझता था। उसके मत में अंध-विश्वासों पर स्थित यह संस्था मानव-विचारों को दासता की श्रृंखला में बद्ध करने के लिए थी। चर्च के सम्बन्ध में 'कलंकित को कुचल दो' (Ecrasez Pinfame) इन शब्दों का प्रयोग बोल्तेर की शत्रुवत भावना का पूर्ण द्योतक है। यद्यपि चर्च ने अपनी पूरी शक्ति के साथ उससे संघर्ष लिया, परन्तु अठारहवीं शताब्दी में वह उसे नष्ट करने में अक्षम रहा। बोल्तेर के चर्च सम्बन्धी विचारों का रूप बहुत-कुछ क्रान्तिकारी था। यद्यपि वह नास्तिक नहीं था, किन्तु व्यवहार में उसका ईश्वरवाद ईसाई धर्म के प्रमुख सिद्धांतों के नष्ट करने का प्रयास बन गया।

बोल्तेर को अपने देश के अत्याचार ओर असमानताओं का शिकार होना पड़ा था, अतः अत्याचार, अन्याय, असहिष्णुता ओर अन्ध-विश्वास का उसके प्रहारों का लक्ष्य होना काफी स्वाभाविक था। पुरातन व्यवस्था के दमन-चक्र से उत्पीड़ित फ्रेंच जनता के

हितों के समर्थन में वह सतत प्रयत्नशील रहा। वह अपने आश्रितों के प्रति उदार था। परन्तु वह मिथ्याभिमानी था और उसे शत्रु पर प्रहार तथा धन-प्राप्ति के साधनों के औचित्य में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यद्यपि राजनीतिक और सामाजिक विषयों में उसके विचारों में अस्पष्टता थीं, किन्तु उसकी आलोचना ने प्राधिकार पर स्थित संस्थाओं के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना को दुर्बल बनाने में बड़ा काम किया।

जाँ जाक रूसो (1712-78 ई॰)- राजनीति, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में रूसों का अत्याधिक प्रभाव पड़ा। वह जिनेवा के एक घड़ीसाज का लड़का था। वस्तुतः वह सब कुछ था जो उसे नहीं होना चाहिए था। उसमें दायित्व संतुलन संयम और अनुशासन का नितान्त अभाव था उसका अनियन्त्रित जीवन अव्यवस्थित मानसिक दशा के स्तर पर आ गया था। विश्वकोशकार दालौंबैर ने कहा- 'जौ जाक एक जंगली जानवर हैं जिसे कठघरे के छड़ों के ही बीच देखना चाहिये।' परन्तु आवारा रूसो फ्रांस की क्रान्ति का पैगम्बर बना। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'सामाजिक अनुबन्ध' (Social Contract, 1761 ई॰) क्रान्ति की बाइबिल हो गयी। उसमें प्रतिपादित जनतन्त्रवादी सिद्धान्त फ्रांस के ही लिये नहीं, अपितु संसार के लिए महत्त्व का हैं।

रूसो का भावुक स्वभाव तत्कालीन बौद्धिक और विज्ञानपरक दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। उसने बुद्धि के स्थान पर मानव-भाव को और विज्ञान के अध्ययन के स्थान पर प्रकृति के सौन्दर्य-प्रेम को श्रेष्ठता प्रदान की। उसने कहा कि अति प्राचीन काल में जब समाज और राज्य का निर्माण नहीं हुआ था, मनुष्य मूर्णतः स्वतंत्र था, परन्तु सभ्यता के जन्म से उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता का अन्त हो गया। रूसों के मत मे समाज की असमानता व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्थापना के कारण हुई, जिसने अत्यल्पसंख्यक महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के हित में मानव-जाति को कष्ट और दासता की बेड़ी में बाँध दिया। उसका कथन था कि विज्ञान और कला से मनुष्य की अवनति हुई है न कि प्रगति। रूसो के प्रकृति सम्बन्धी इस दृष्टिकोण से 'एमील' (Emile, 1762ई०), जो शिक्षण-पद्धति पर अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक है, अत्यधिक प्रभावित हुई है। उसने बताया कि बालकों की शिक्षा उनकी इच्छा और प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर दी जानी चाहिए। उन्हें ऐसी व्यावहारिक और उपयोगी बातें सीखनी चाहिए जो जीवन में उनके काम आ सके, न कि उनके ऊपर ऐसे विषय लादे जायँ जिन्हें भुलवाने के सिवाय उनको कोई चारा न रह जाये।

रूसो ने कहा कि यद्यपि प्राकृतिक स्थिति की पुनर्थापना नहीं हो सकती, किन्तु लोकेच्छा (General Will) पर अवलम्बित आदर्श राज्य में एक नयी नैतिक औरं वास्तविक स्वतंत्रता संभव है। उसने इस आदर्श राज्य की कल्पना अनुबन्ध के आधार पर की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति और अधिकारों को एक समूह को सुपुर्द करता है और जिसमें वह सबके साथ संयुक्त होकर भी अपनी ही व्यक्तिगत आज्ञा का पालन करता है और पूर्ववत् स्वतंत्र रहता है। रूसो के आदर्श राज्य की अपनी इच्छा शक्ति और व्यक्तित्व है, जिनमें व्यक्ति की इच्छा और उद्देश्य सन्निविष्ट रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति राज्य की सामान्य इच्छा के विरुद्ध आचरण करता है तो वह रूसों के शब्दों में स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जा सकता है। रूसों का यह लोकेच्छा का सिद्धान्त, जिसके अनुसार राज्य की शक्ति जनता में निहित होती है, जनतंत्र का मूलाधार है। राज्य के शासक अपने अधिकारों के लिए ईश्वर के प्रति नहीं, बल्कि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनके कार्यों से असन्तुष्ट होकर जनता उन्हें उपदस्थ कर सकती है। कानून किसी विशिष्ट व्यक्ति की इच्छा की नहीं, बल्कि जनसत्ता की मूर्त अभिव्यक्ति है; रूसों का आदर्श राज्य लोकेच्छा पर आश्रित प्रत्यक्ष जनवाद है जिसमें जनता की स्वीकृति से नियमों का निर्माण होता है। परन्तु इसके साथ ही हमें यह याद रखना चाहिए कि उसने राज्य को एक ऐसी आदर्श संस्था का रूप दिया जिसकी इच्दा के अधीन व्यक्ति इस सीमा तक रख दिया गया। कि राज्य से पृथक् उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह जाता। अर्थात् राज्य साध्य और व्यक्ति साधन हो गया।

रूसो के विचारों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर बहुत अधिक पड़ा। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रकृति-प्रेम उच्चवर्ग के लिए एक फैशन-सा हो गया। वर्साई के राज-दरबारी भी इसके प्रदर्शन में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे। जहाँ तक कि फ्रांस की रानी आँत्वानेत ने अपने लिए वर्साई के पार्क में एक छोटा-सा फार्म बनवाया, जहाँ वह एक साधारणा किसान की स्त्री की तरह अपने हाथ से मक्खन बनाने में आनन्द लेती थी। फ्रांस के क्रान्तिकारियों पर तो उसका प्रभाव सर्वाधिक पड़ा। उसके जनसत्ता सम्बन्धी विचार पुरातन व्यवस्था का अन्त करने के लिए अधिक उपयुक्त थे। उसकी पुस्तक 'सामाजिक अनुबन्ध' का प्रथम वाक्य-'मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है। परन्तु सर्वत्र श्रृंखलाओं से बद्ध है' -समाज के विकृत तथा आदर्श रूप पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। रूसो का केवल यह एक वाक्य क्रान्ति के लिये आवाहन था। इसका तात्पर्य यह है कि स्वतंत्र समाज की स्थापना के लिंए दासता की बेड़ियों को तोड़ना आवश्यक है। रूसो का

यह क्रान्तिकारी सन्देश अधिकार-विहीन और सन्तप्त जन-साधारण के लिए अत्यन्त आकर्षक सिद्ध हुआ। विचारों के अतिरिक्त इस पुस्तक की शैली ने भी प्रभाव-वृद्धि में बड़ा योग दिया। परन्तु जहाँ इससे क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को शक्ति प्राप्त हुई, वहीं इसमें प्रतिपादित राज्य के असीमित शक्ति-सम्बन्धी विचारों को कार्यान्वित कर क्रान्तिकारी नेताओं ने अपनी निरंकुशता का भी समर्थन किया। वस्तुतः रूसो ने मानव-समाज को शताब्दियों की दासता से मुक्त होने का मार्ग दिखाया। अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक सुधार के कार्यों में वोल्तेर और रूसो के स्थान कुछ अंशों में वैसे ही है जैसे धर्म-सुधार के कार्यों में इरैसमस और लूथर के। सामाजिक बुराइयों के प्रति वोल्तेर निःसन्देह सचेत था, किन्तु उसके पास नव-निर्माण की योजनाओं का अभाव था। इसके विपरीत रूसो सोचता था कि वह एक आर्दश समाज के निर्माण का नुस्खा पेश कर रहा है।

बौद्धिक आंदोलन का फ्रांस की क्रान्ति पर प्रभाव—यों तो यूरोप के प्रायः सभी देशों में बौद्धिक हुई, परन्तु फ्रांस इससे विशेष रूप से प्रभावित हुआ। तत्कालीन समाज की दार्शनिक आलोचना में अठारहवीं शताब्दी के फ्रांस ने यूरोप का नेतृत्व किया। मोंतेसक्यू, वोल्तेर, दीदरों और रूसो आदि प्रभावशाली लेखकों ने फ्रांस को ही नहीं, अपितु यूरोप को भी प्रभावित किया। उन्होंने अधिकार पर स्थित राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं की आलोचना कर, उनके सम्बन्ध में जो आदर और सम्मांन की भावना थी, उस पर गहरा आघात किया। इस आलोचना के प्रहार का प्रधान लक्ष्य प्राधिकार पर पूर्णतः अवलम्बित चर्च बना। नूतन विचारों और आलोचनाओं ने पुरातन अवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को निर्बल बनाने में ऐसा ही काम किया जैसे अम्ल किसी धातु को गला देता है। एक लेखक ने यहाँ तक कहा है-'इसके पूर्व के लोगों ने क्रांति को अपने हाथ का कार्य बनाया, वह उनके मस्तिष्क में सम्पन्न हो चुकी थी।'

फ्रांसीसी लेखकों का प्रभाव क्रान्ति-काल और 19वीं शताब्दी में स्पष्ट दिखायी देता है। रूसो द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्रता और जन-सत्ता सम्बन्धी विचारों ने क्रान्तिकारियों के हाथ में पुरातन व्यवस्था के अन्त करने के लिए एक अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र का काम किया। क्रान्ति के प्राथमिक चरण में मोंतेस्क्यू के शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त स्वतंत्रता की रक्षा के लिये कार्यान्तिवत किया गया। इसी समय क्रान्तिकारियों ने धार्मिक क्षेत्र में जो सुधार किये, उन पर दार्शनिकों के विचारों की स्प्ष्ट छाप परिलक्षित होती है। लेखकों ने जिस प्रगति के धर्म की, जिसे मानवतावाद कह सकते हैं,नींव डाली वह 19वीं शताब्दी के लोकतंत्र से पूर्णतः जुट गया।

फ्रांस की क्रान्ति इसलिये नहीं हुई कि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा अधिक विकृत थी। सच तो यह है कि फ्रांस कई दृष्टियों से बहुतों-से अच्छा था। उद्‌बुद्ध निरंकुश शासकों के प्रयत्नों के बावजूद भी मध्य और पूर्वी यूरोप में दास-वृत्ति का अन्त नहीं हुआ था। कई यूरोपीय देशों में अधिकारहीन किसान जमींदारों की अनुमति बिना जमीन बेच नहीं सकते थे। राजस्व का भी अधिक भार उन्हीं को वहन करना पड़ता था। उच्च वर्ग के अधिकार पूर्णतः सुरक्षित थे। इन बातों में फ्रांस निःसन्देह उनसे अच्छी दशा में था, परन्तु तिस पर भी वह क्रान्ति का शिकार बना। कारण यह था कि वहाँ की बौद्धिक क्रान्ति अन्य देशों की अपेक्षा की अपेक्षा अत्यधिक प्रबल थी और वहाँ के लोग इतने अधिक जागृत थे कि सुधारों की माँग रख सकते थे। क्रान्ति के लिये कष्टों की तीव्रता ही पर्याप्त नहीं होती, उस तीव्रता का पर्याप्त ज्ञान भी अत्यावश्यक है। वस्तुतः फ्रांस के दार्शनिकों ने वहाँ की जनता में चेतना लाकर क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया।
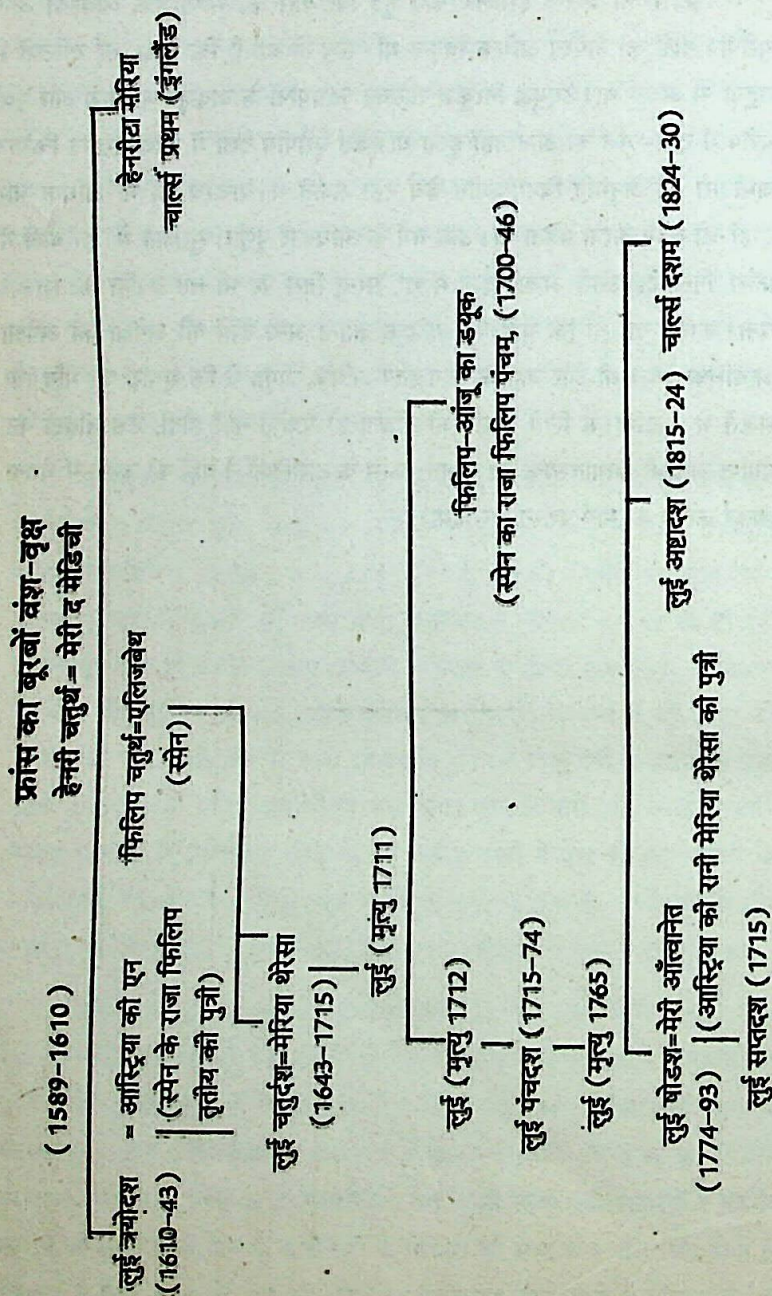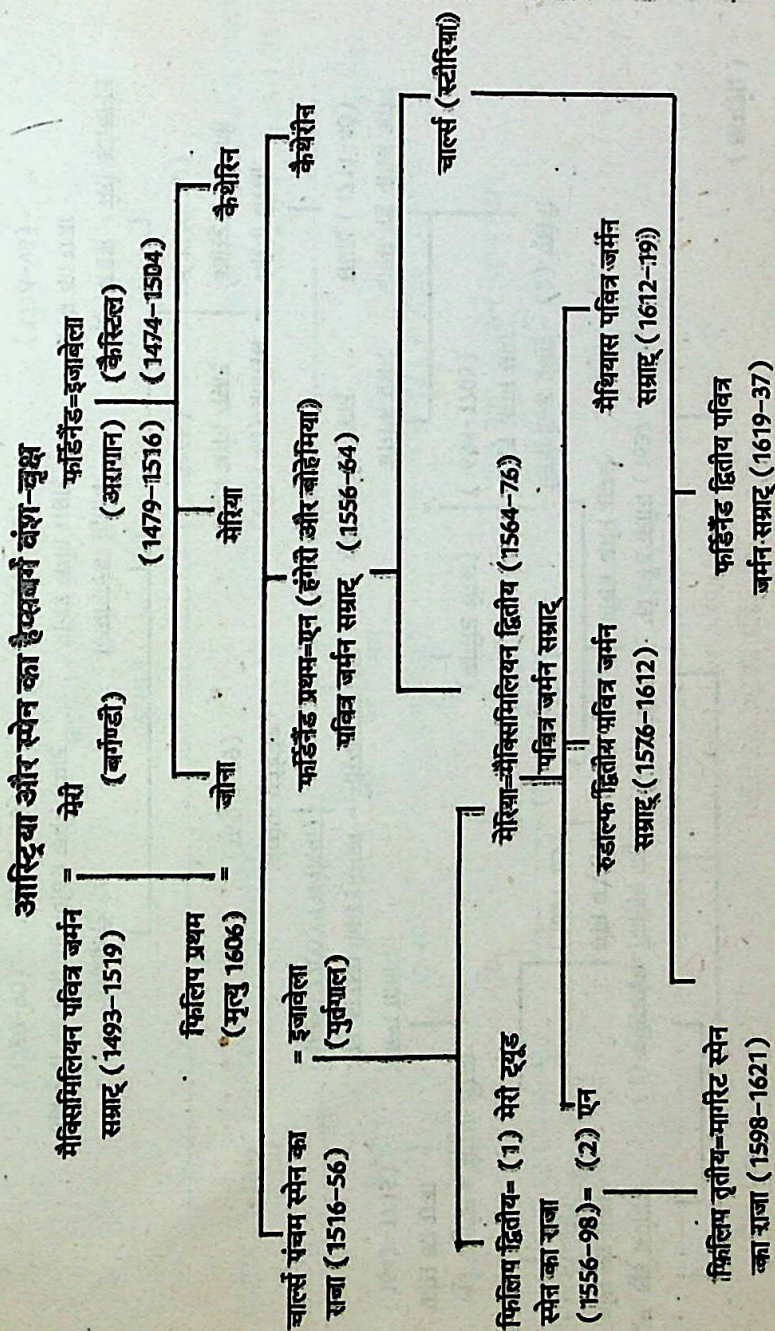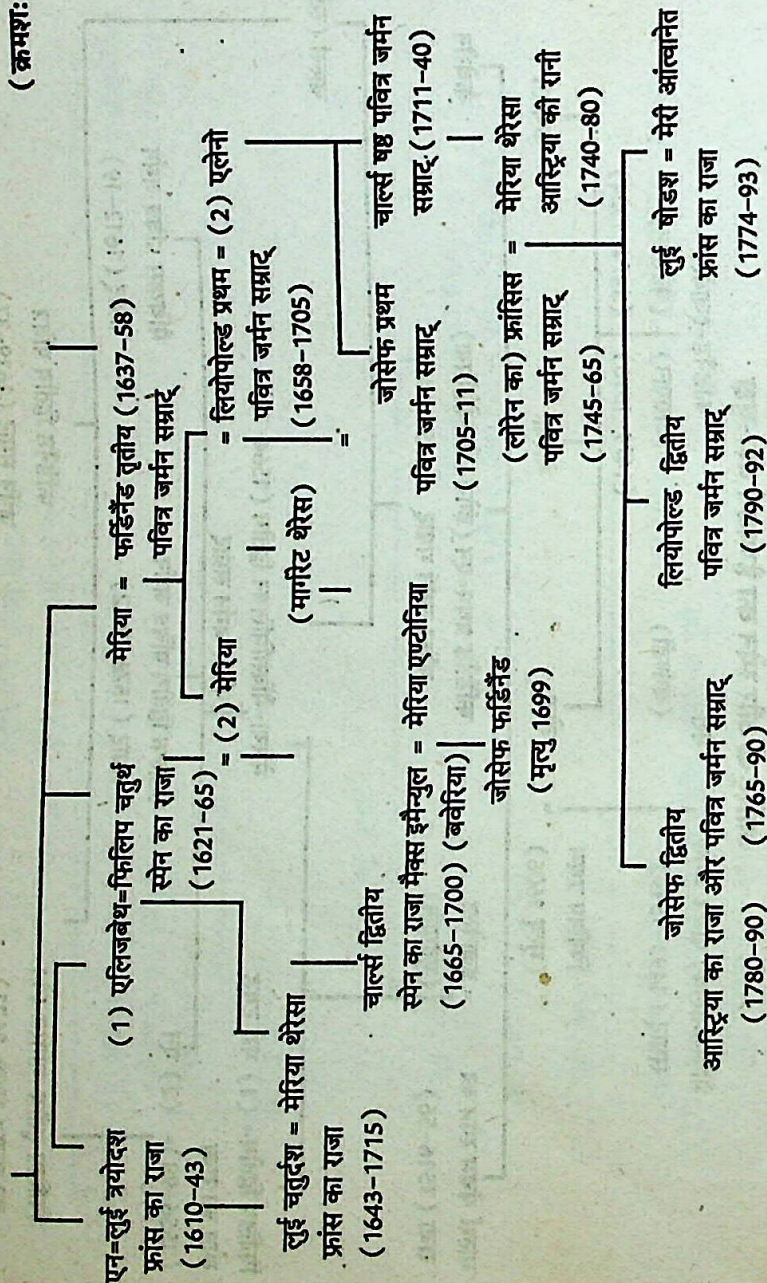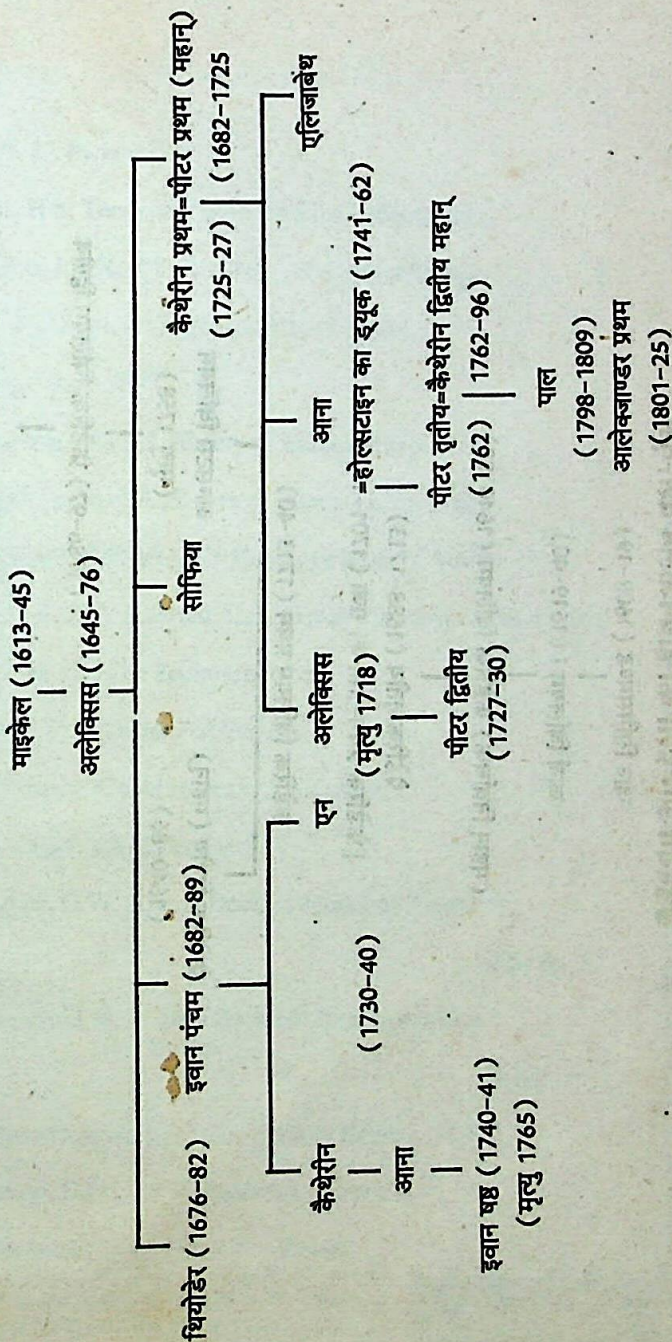
फ्रांस का बूरबों वंश-वृक्ष

आस्ट्रिया और स्पेन का हैप्सबर्ग वंश-वृक्ष

एन=लुई त्रयोदश
फ्रांस का राजा
(1610–43)
(1) एलिजबेथ=फिलिप चतुर्थ
स्पेन का राजा
(1621–65)
मेरिया = फर्डिनैंड तृतीय (1637–58)
पवित्र जर्मन सम्राट्
= (2) मेरिया
= लियोपोल्ड प्रथम = (2) एलेनो
पवित्र जर्मन सम्राट्
(1658–1705)
लुई चतुर्दश = मेरिया थेरेसा
फ्रांस का राजा
(1643–1715)
(मार्गरेट थेरेस)
चार्ल्स द्वितीय
स्पेन का राजा मैक्स इमैन्युल = मेरिया एण्टोनिया
(1665–1700) (बवेरिया)
जोसेफ फर्डिनैंड
(मृत्यु 1699)
जोसेफ प्रथम
पवित्र जर्मन सम्राट्
(1705–11)
चार्ल्स षष्ठ पवित्र जर्मन
सम्राट् (1711–40)
(लोरेन का) फ्रांसिस = मेरिया थेरेसा
पवित्र जर्मन सम्राट्
(1745–65)
आस्ट्रिया की रानी
(1740–80)
जोसेफ द्वितीय
आस्ट्रिया का राजा और पवित्र जर्मन सम्राट्
(1780–90) (1765–90)
लियोपोल्ड द्वितीय
पवित्र जर्मन सम्राट्
(1790–92)
लुई षोडश = मेरी आंत्वानेत
फ्रांस का राजा
(1774–93)

(क्रमशः)

रूस का रोमनाफ वंश-वृक्ष
माइकेल (1613-45)
अलेक्सिस (1645-76)
थियोडेर (1676-82)
इवान पंचम (1682-89)
सोफिया
कैथेरीन प्रथम=पीटर प्रथम (महान्)
(1725-27)
(1682-1725
कैथेरीन
आना
इवान षष्ठ (1740-41)
(मृत्यु 1765)
(1730-40)
एन
अलेक्सिस
(मृत्यु 1718)
पीटर द्वितीय
(1727-30)
आना
=होल्सटाइन का ड्यूक (1741-62)
पीटर तृतीय=कैथेरीन द्वितीय महान्
(1762)
1762-96)
पाल
(1798-1809)
आलेक्जाण्डर प्रथम
(1801-25)
एलिजाबेथ

ब्रैडेनबर्ग और प्रशा का होयेनजोलर्न वंश-वृक्ष

आधुनिक यूरोप का इतिहास

Lodge, R.-Richclieu.

Lucas. H.S. The Renaissance and the Reformation.

Merriott, J.A.R.-The Evolution of Modern Europe 1453-1932

Ogg, d.-Europe in the Seventeenth Century.

Ogg, D.-Louis XIV.

Reddaway, W.F,_A History of Europe, 1610-1715.

Reddaway. W.F.-A History of Europe, 1715-1814.

Robinson J.H.Readings in European History, Vol II.

Robinson, H.H. & Beard, C.A.-Development of Modern europe, Vol.I

Rousscau, J.J.-The Social Contract.

Schevill. F.-A History of Europe.

Seignobos, c.-Contemporary Civilization.

Sichel, Edith-The Renaisance.

southgate, G.W.-A Text Book of Moddern European History, 1453-1661

Southgate, G.W.-A Text Book of Modern European History, 1648-1848

Thompson.J.M.-Lectures on Foreign History, 1494-1789.

Wakeman, H.O.-The Asscendancy of France.

Waliszewaski K-Catherine I of Russia.

Warner, G.T., & Marten H.K.-Groundwork of British History.
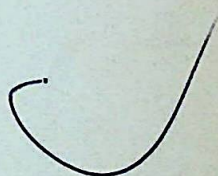
इतिहास पर हमारे प्रमुख प्रकाशन

डॉ0 रामवृक्ष सिंह डॉ0 अजय कुमार सिंह – प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास
(आदिकाल से 320ई0 तक)
डॉ0 रामवृक्ष सिंह डॉ0 रघुनाथ चन्द– प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास
(320 ई0 से 1200 ई0 तक)
डॉ0 रामवृक्ष सिंह डॉ0 अजय कुमार सिंह –प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास
(600 ई0पू0 से 550 ई0 तक)
डॉ0 रामवृक्ष सिंह डॉ0 रघुनाथ चन्द – प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास
(550 ई0 से 1200 ई0 तक)
डॉ0 रामवृक्ष सिंह डॉ0 रघुनाथ चन्द एवं डॉ0 अजय कुमार सिंह प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास
(आदिकाल से 1200 ई0 तक)
डॉ0 रामवृक्ष सिंह – दक्षिण भारत का राजनीतिक इतिहास
डॉ0 रामवृक्ष सिंह – गुप्त साम्राज्य
डॉ0 शिव स्वरूप सहाय – हिन्दू राज्य और समाज
डॉ0 शिव स्वरूप सहाय – विश्व की प्राचीन सभ्यताएँ
डॉ0 शिव स्वरूप सहाय – पुरातत्व के पृष्ठ
डॉ0 हीरा लाल सिंह, डॉ0 रामवृक्ष सिंह – आधुनिक यूरोप का इतिहास
(1453 ई0 से 1789 ई0 तक)
डॉ0 शिव स्वरूप सहाय – भारतीय कला
डॉ0 शिव स्वरूप सहाय – भारतीय पुरातत्व एवं प्रागैतिहासिक संस्कृतियाँ
डॉ0 अजय कुमार सिंह – उत्तर भारत में राजनयिक संबन्ध
डॉ0 शिव स्वरूप सहाय – प्राचीन भारतीय धर्म एवं आर्थिक जीवन
श्री नेत्र पांण्डेय – भारत का वृहत इतिहास–भाग 1
श्री नेत्र पाण्डेय – भारत का वृहत इतिहास–भाग 2

Rs. 85/=